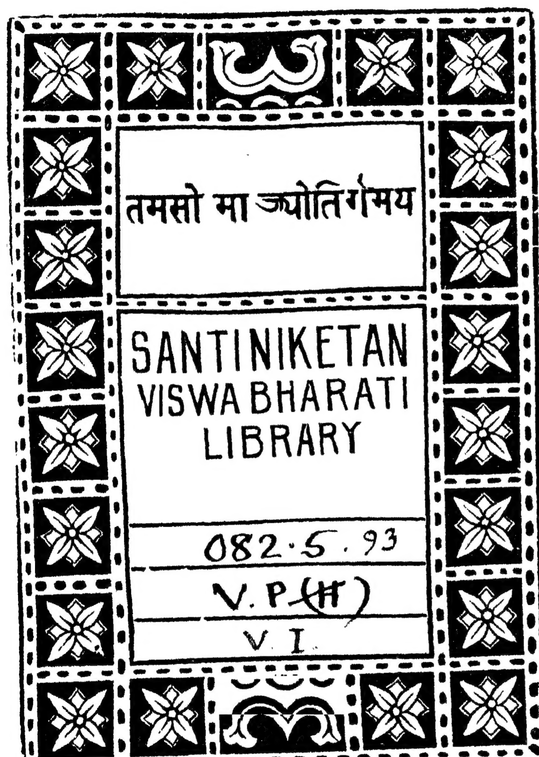

तमसो मा ज्योतिर्गमय
SANTINIKETAN
VISWA BHARATI
LIBRARY
082.5.93
V.P(H)
V.I.

विश्वभारती पत्रिका



प्रथम खण्ड की अनुक्रमणिका

पौष, १९९८—आश्विन, १९९९

सम्पादक

हजारीप्रसाद द्विवेदी

लेखकानुक्रमणिका

प्रथम खण्ड (पौष, १९९८—आश्विन, १९९९)

विषयानुक्रमणिका

विश्वभारती पत्रिका

खण्ड १, अंक ४ आश्विन १९९९ वि०

विषय-सूची

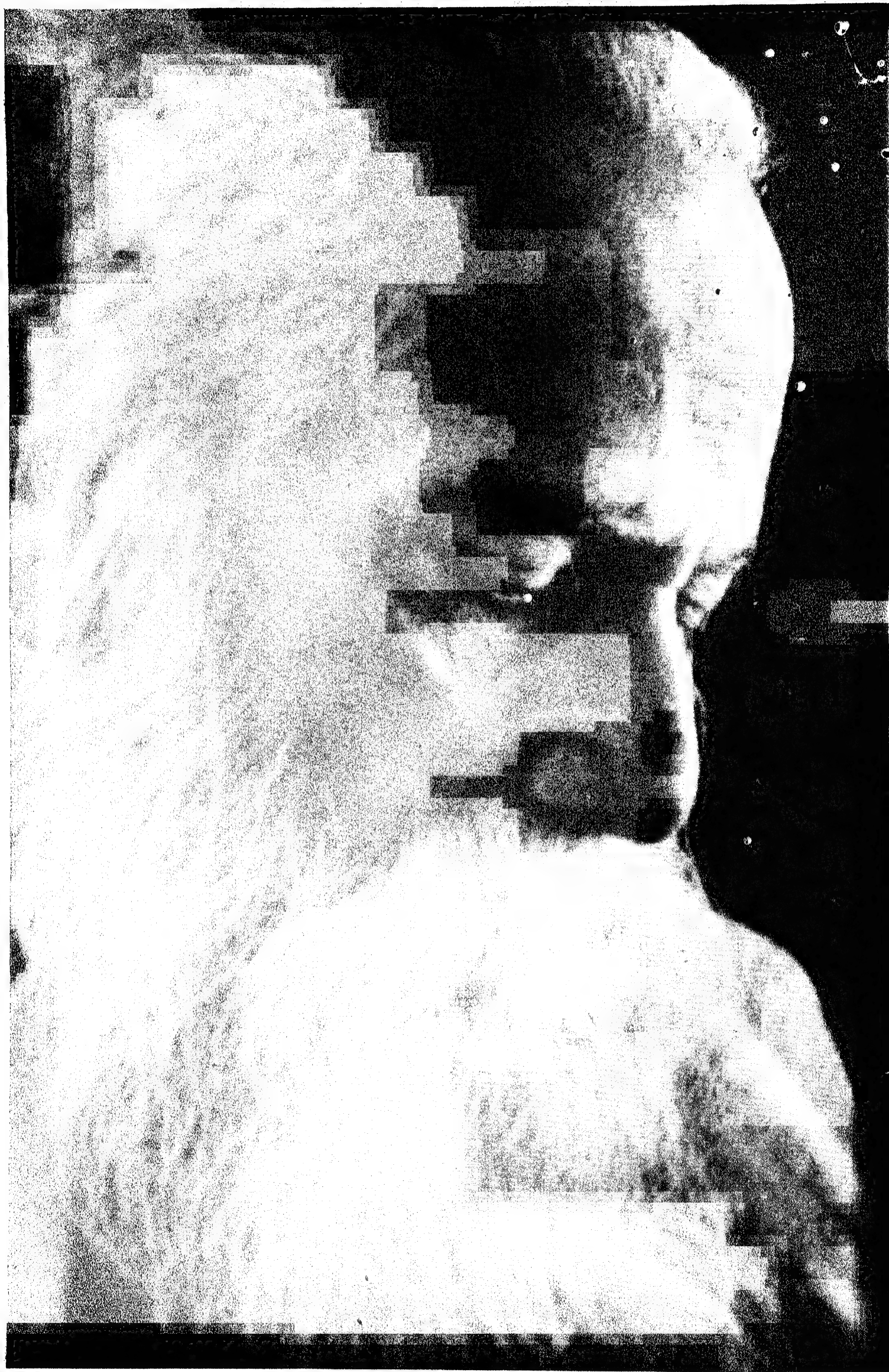


Photo by Prahasta
April 1941, Santiniketan

विश्वभारती पत्रिका

पौष, १९९८ | खण्ड १, अंक १ | जनवरी, १९४२

आमि चञ्चल हे

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आमि चञ्चल हे,
आमि सुदूरेर पियासी ।
दिन चले याय आमि आनमने
तारि आशा चेये थाकि वातायने,
ओगो प्राणे मने आमि ये ताहार परश पावार प्रयासी ।
आमि सुदूरेर पियासी ।
सुदूर, विपुल सुदूर, तुमि ये बाजाओ व्याकुल बाँशरि ।
मोर डाना नाइ, आछि एक ठाँइ, से कथा ये याइ पाशरि' ।

आमि उन्मना हे,
हे सुदूर, आमि उदासी ।
रौद्र-माखानो अलस वेलाय
तरु-मर्मरे, छायार खेलाय
की-मूरति तव नीलाकाशशायी नयने उठे गो आभासि' ।
हे सुदूर, आमि उदासी ।
सुदूर, विपुल सुदूर, तुमि ये बाजाओ व्याकुल बाँशरि ।
कक्षे आमार रुद्ध दुयार, से कथा ये याइ पाशरि' ॥

मैं चञ्चल हूँ

(पहले पृष्ठ की कविता की छाया)

मैं चञ्चल हूँ,
मैं सुदूर का प्यासा हूँ ।
दिन बीता जाता है, मैं अनमने भाव से
खिड़की पर बैठा हुआ उसीकी राह देखा करता हूँ,
प्राण-मन से उसीका स्पर्श पाने का प्रयासी हूँ ।
मैं सुदूर का प्यासा हूँ ।
हे सुदूर, विपुल सुदूर,
तुम तो व्याकुल बाँसुरी बजाया करते हो ।
मैं भूल ही जाता हूँ—
मेरे पंख नहीं हैं, मैं एक ही जगह बँधा पड़ा हूँ ।

मैं अधीर-उत्सुक हूँ
हे सुदूर, मैं उदास हूँ ।
धूप से सनी हुई अलस वेला में,
वृक्ष के मर्मर में, छाया के खेल में—
तुम्हारी नीलाकाशशायिनी न-जाने कौन-सी मूर्ति
आँखों में आभासित हो उठती है ।
हे सुदूर, मैं उदास हूँ ।
सुदूर, विपुल सुदूर,
तुम तो व्याकुल बाँसुरी बजाया करते हो ।
मैं भूल ही जाता हूँ—
मेरे घर का द्वार बंद है ।

एशिया की जागृति में ही यूरोप का परित्राण है

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

महामानव प्रत्येक युग में स्थान बदल बदल कर जागा करते हैं। ऐसा एक समय गया है जब शताब्दियों तक इस जाग्रत देवता का लीलाक्षेत्र एशिया ही रहा है। उस समय इसी महादेश में नई नई शक्तियों के मार्ग से मनुष्य का नया नया ऐश्वर्य प्रकाशित हुआ है। आज उस महामानव का उज्ज्वल परिचय पाश्चात्य देशों में मिलता है। हम लोग बहुत बार उसे जड़वाद-प्रधान कह कर छोटा बनाने की चेष्टा करते हैं। किन्तु एकमात्र जड़वाद की डोंगी पर चढ़ कर कोई जाति महत्त्व तक पहुंच ही नहीं सकती। विशुद्ध जड़वादी विशुद्ध बर्बर होता है। वही मनुष्य वैज्ञानिक सत्य को प्राप्त करने का अधिकारी है जो श्रद्धापूर्वक सत्य का पूरा मूल्य चुका सकता है। यह श्रद्धा आध्यात्मिक होती है; प्राणों की बाजी लगा देने वाली निष्ठा के साथ सत्य-साधना की शक्ति भी आध्यात्मिक होती है। पश्चिम की जातियों ने उस मोहमुक्त आध्यात्मिक शक्ति के द्वारा ही सत्य को जय किया है और इसी शक्ति ने उन्हें विजयी बनाया है। पृथ्वी में पश्चिमी महादेश के लोग ही आज उज्ज्वल तेज से प्रकाशमान हैं।

सचल प्राण की शक्ति जितनी ही दुर्बल होती है देह की जड़ता नाना आकारों में उतनी ही उत्कट हो उठती है। एक दिन धर्म-कर्म-ज्ञान में एशिया का चित्त प्राणवान् था, उसी प्राणधर्म के प्रभाव से उसकी आत्मसृष्टि विचित्र हो उठी थी। उसकी शक्ति जब क्लान्त और सुप्तिमग्न हो गई और उसकी सृष्टि का कार्य जब बंद हो गया तब उसका धर्म-कर्म भी अभ्यस्त-आचार की यंत्रवत् पुनरावृत्ति के रूप में निरर्थक हो उठा। इसीको जड़तत्त्व कहते हैं, यही मनुष्य का सब ओर से पराभव कराता है।

दूसरी तरफ, पश्चिमी जातियों में भी जो आज विपद् के लक्षण दिखाई दे रहे हैं वे भी इसी कारण से। वैज्ञानिक बुद्धि और शक्ति ने उन्हें प्रभावशाली बनाया है, यह प्रभाव सत्य का वरदान है। किन्तु सत्य के साथ मनुष्य का व्यवहार जब कलुषित हो जाता है तो वह सत्य ही उसे फिर कर मार डालता है। यूरोप दिन-ब-दिन विज्ञान को अपने लोभ का वाहन बनाकर उसे लगाम लगा कर वश में करना चाहता है। इस से लोभ की शक्ति प्रचण्ड हो उठी है और उसका आकार विराट् हो गया है। यूरोप जिस ईर्ष्या, हिंसा और मिथ्याचार को विश्वव्यापी बना रहा है उसीसे यूरोप की राष्ट्र-सत्ता आज विष-जीर्ण हो गई है।* प्रवृत्ति की प्रबलता भी मनुष्य के

जड़त्व का लक्षण है। जब प्रवृत्ति प्रबल हो उठती है तो मनुष्य की बुद्धि और इच्छा कल के पुतली की भांति चलाई जाती रहती हैं। इसीसे मनुष्यत्व का विनाश होता है। इसका कारण यंत्र नहीं है। इसका कारण आन्तरिक तामसिकता है। तामसिकता अर्थात् लोभ, हिंसा, पशुवृत्ति। बंधन से छूटा हुआ उन्मादग्रस्त पागल जब आत्मघात करता है तो इसका कारण बंधन से छुटकारा पाना नहीं होता, बल्कि उसकी उन्मत्तता होती है।

जब मेरी उमर कम थी तब मैंने यूरोपीय साहित्य को अत्यन्त गंभीर आंनन्द के साथ पढ़ा था। विज्ञान के विशुद्ध सत्य की चर्चा करने से उसके साधकों के प्रति मनही मन बड़ी भक्ति हुई थी। इस विज्ञान के भीतर से मनुष्य का जो परिचय आज सर्वत्र व्याप्त हो गया है उसीमें तो शाश्वत मनुष्य प्रकाशित हुआ है। इस प्रकाश को लोभान्ध मनुष्य अपमानित कर सकता है। इस पाप से वह हीनमति अपने-आपको ही नष्ट करेगा किन्तु उसकी महिमा को वह नष्ट नहीं कर सकता। उसी महत् और जाग्रत मनुष्य को देख सकने की आशा ले कर ही एक दिन घर से दूर देश के लिये निकल पड़ा था। मैं सन १९१२ ई० में यूरोप गया था।

यूरोप की इस यात्रा को मैं शुभ ही मानता हूं। क्यों कि हम एशिया के आदमी हैं, यूरोप के विरुद्ध नालिश करना हमारे रक्त में भिना हुआ है। जब से उसके जल-दस्यु और स्थल-दस्यु दुर्बल महादेश का रक्त चूसने निकल पड़े थे उस अट्ठारहवीं शताब्दी से ही ये लोग (यूरोप वाले) हमारे निकट स्वयं अपनी मानहानि करते आये हैं। इन्हें लाज शरम नहीं है, क्यों कि इन्हों ने हमें ऐसा भी नहीं समझा जिसके सामने लाज शरम किया जाय। किन्तु यूरोप में आ कर मैंने पहली बार एक बात आविष्कार की। वह यह कि सहज मनुष्य और 'नेशन' ये दोनों एक श्रेणी के आदमी नहीं हैं। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सहज शरीर और कवचाच्छन्न शरीर का धर्म विल्कुल अलग अलग होता है। एक में प्राण का स्वभाव प्रकाशित होता है और दूसरे में शरीर यंत्र की महज़ नक़ल करता रहता है। मैंने देखा कि सहज मनुष्य को अपना लेने में कहीं वाधा नहीं है। उसमें जो मनुष्यत्व दिखाई देता है वह कभी रमणीय होता है और कभी वरणीय। मैंने उसे प्रेम किया है, श्रद्धा की है और उसका भी प्रेम और श्रद्धा पा सका हूं। विदेश में जहां सभी अपरिचित हैं वहां इन्हीं अपरिचित लोगों में चिरकाल के 'मनुष्य' को इस प्रकार स्पष्ट देख सकना एक दुर्लभ सौभाग्य है।

किन्तु इसीलिये एक बात याद करके मन में पीड़ा अनुभव करता हूं। जिस देश में अधिकांश लोगों का मन पालिटिक्स (राजनीति) के यंत्र के भीतर चक्कर मारता रहता है उनका स्वभाव यंत्र के सांचे में ही पक्का बन जाता है। उनमें काम साध लेने की निपुणता भलीभांति लखाई देती है। इसी को यान्त्रिक जड़ता कहते हैं क्यों कि यंत्र की चरम सार्थकता काम-काज

की सफलता में ही है। पश्चिमी देशों में मानव-चरित्र का यह यांत्रिक विकार क्रमशः बढ़ता ही जा रहा है, यह साफ़ दिख जाता है। मनुष्य-रूपी यंत्र की कल्याण-बुद्धि जो क्रमशः जड़ होती आ रही है इसका सबूत हम पूर्व देशवासियों के निकट अब छिपा नहीं है। मुझे याद आ रहा है ईराक में एक सम्मान-योग्य शरीफ आदमी ने मुझसे पूछा था, 'अंग्रेज़ जाति के संबंध में आपके क्या विचार हैं'? मैंने कहा—उनमें जो 'बेस्ट' (सर्वोत्तम) हैं वे सम्पूर्ण मानवजाति में 'बेस्ट' (सर्वोत्तम) हैं।' उन्होंने जरा हंस कर पूछा, 'और जो लोग 'नेक्स्ट बेस्ट' (दूसरे दर्जे के उत्तम) हैं वे?' मैं चुप हो रहा। जवाब में असंयत भाषा मुंह से निकल पड़ने की आशंका थी। एशिया का अधिकांश कारबार इस 'नेक्स्ट बेस्ट' के साथ ही चलता है। उनकी संख्या अधिक है, प्रभाव भी अधिक है, उन्हींकी स्मृति बहु-व्यापक हो कर लोगों के मन में चिरकाल के लिये मुद्रित हो रही है। सहज मनुष्य का स्वभाव हम लोगों के लिये नहीं है और उनका स्वभाव अपने लोगों में भी दुर्लभ होता जा रहा है।

मैं देश लौट आया। उस के कुछ ही काल बाद यूरोप में महायुद्ध छिड़ गया। उस समय देखा गया कि इन्होंने विज्ञान को मनुष्य के महा सर्वनाश के कार्य में लगाया है। इस सर्वनाशी बुद्धि ने देश-देश में जो आग लगा दी उसकी लपटें आज शान्त हो गई हैं किन्तु उसके जले हुए कोयले की आंच अब भी मरी नहीं है। मनुष्य के इतिहास में इतना बड़ा दुर्योग कभी दिखाई नहीं दिया था। इसी को मैं जड़तत्व कहता हूं, इसके दबाव से मनुष्यत्व अभिभूत है, सामने विनाश को देख कर भी अपने को बचा नहीं पाता।

ईसी बीच दिख रहा है कि एशिया की नाड़ी चंचल हो उठी है। कारण यह है कि यूरोप का दबाव उस के बाहर से पड़ता हुआ होने पर भी एशिया के मन पर से वह दबाव उठ गया है। एक जमाना था जब उसने मार खाते रहने पर भी यूरोप को अपनेसे श्रेष्ठ मान लिया था। आज एशिया के एक किनारे से ले कर दूसरे किनारे तक कहीं भी उसके मन में अब श्रद्धा नहीं है। आज यद्यपि यूरोप की हिंस्र शक्ति कई गुना बढ़ गई है तोभी एशिया के चित्त से वह भय जिस के साथ संभ्रम का भाव मिला हुआ था दूर हो गया है। यूरोप के निकट अपना अगौरव स्वीकार कर लेना एशिया के लिये आज असंभव है क्योंकि यूरोप का गौरव उस के मन में आज अत्यन्त क्षीण हो गया है। सब जगह लोग ज़रा हंस कर ही पूंछते हैं—'But the next best? (लेकिन दूसरे दर्जे के सर्वोत्तम लोग कैसे हैं?)'

हम लोग मनुष्य इतिहास के युगान्तर काल में उत्पन्न हुए हैं। यूरोप की रंगभूमि में शायद पांचवें अंक का पर्दा गिर रहा है। एशिया में नवीन जगृति का लक्षण एक सिरे से दूसरे सिरे तक क्रमशः व्याप्त होता ही जा रहा है। मानवलोक के उदयगिरि—शिखर पर इस नवीन

प्रभात का दृश्य देखने योग्य वस्तु है—यह है मुक्ति का दृश्य। मुक्ति सिर्फ बाहर के बंधन से नहीं, अपने-आपकी शक्ति में अविश्वास के बंधन से।

मैं कहता हूं, एशिया अगर संपूर्ण रूप से न जाग सका तो यूरोप का परित्राण नहीं हो सकता। एशिया की दुर्बलता में ही यूरोप का मृत्युवाण है। इस एशिया के बँटवारे के लिये ही उस में आपसी ताल-ठुकौअल चल रही है, झूठ और फरेब से कलंकित कूट-कौशल की खुफियागिरी ज़ारी है। क्रमशः ही उस की समरसज्जा का भार बढ़ता जा रहा है और बिकाऊ माल के बाज़ार को बहुत विस्तृत कर के वह अगाध धन-समुद्र में पड़ा हुआ है और उसकी दारिद्र्य-तृष्णा दुःसह हो उठी है।

नवीन युग के मनुष्य के नव-जाग्रत् चैतन्य की अभ्यर्थना करने की इच्छा से ही मैं एक बार पूर्वी एशिया की ओर निकल पड़ा था। उस समय एशिया के सब से पूर्वी आकाश में जापान की जयपताका उड़ती दिखाई दी, इसने एशिया की अवसादच्छाया को, उदासी और थकान की मुरझान को हल्का कर दिया है। मैं ने मन ही मन आनंद अनुभव किया पर साथही मन में भय भी हुआ। मैं ने देखा कि जापान यूरोप के हथियार को हथिया कर एक तरफ जहाँ निरापद हुआ है वहा दूसरी ओर और भी गहरी विपत्ति की आशंका है। उसके रक्त में यूरोप की महामारी घुस गई है, जिसे इम्पीरियलिज्म (साम्राज्यवाद) कहते हैं। वह अपने चारों ओर विद्वेष को मथित कर के उसकाता जा रहा है। अपने पड़ोसी के मन में उसने ज्वाला सुलगा दी है। इस पड़ोसी की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। क्योंकि इस ज्वाला में भविष्य में होनेवाला अग्निकाण्ड भड़क उठने के सुयोग की राह देखा करता है। इतिहास में हमेशा हवा अनुकूल ही नहीं बहती। ऐसा दिन निश्चय ही आयेगा जब, आज जो दुर्बल है उसी को कौड़ी-कौड़ी का हिसाब चुकता कर देना पड़ेगा। किस प्रकार मिलना होता है, जापान ने यह बात नहीं सीखी ; परन्तु किस प्रकार मारा जा सकता है इसी शिक्षा में उसने यूरोप से हाथ की सफाई सीख ली। यह मार मिट्टी के नीचे सुरंग खोद कर एक दिन इसी (जापान) की छाती में झापट मार बैठेगी।

लेकिन मैं यह नहीं कहता कि यह बात इस लिये शोचनीय है कि इसमें राष्ट्रनीतिक हिसाब को ग़लती हुई है। मैं यह कहना चाहता हूं कि एशिया में यदि नवीन युग आया ही हुआ हो तो एशिया उसे नया बना कर अपनी भाषा देवे। ऐसा न कर के यदि यूरोप की नक़ल कर वह पशु-गर्जन ही करता रहा तो यह गर्जन सिंह-गर्जन होने पर भी उसीकी हार है। उधार लिया हुआ रास्ता यदि गड्ढे में गिरने का रास्ता हो तो फिर उसकी लज्जा दुगुनी हो जाती है। जो हो, एशिया का पश्चिम प्रान्त जो रह-रह कर कम्पित हो रहा है उसकी खबर दूर से सुनाई देती है। जब हम सोच रहे थे कि तुर्की इस बार अब-डूबा, अब-डूबा तभी अचानक दिखाई पड़े

कमाल पाशा। इस समय उनके बड़े साम्राज्य के जोड़ तोड़ कर जुटाए हुए अंश युद्ध के धक्के से टूट गए थे। वह अभिशाप तुर्की के लिये वरदान हो उठा। फिर तो मजबूती के साथ नये सिरे से राज्य को अपने स्वाभाविक ऐक्य के रूप में संगठित करना सहज हो गया क्यों कि उसकी परिधि छोटी थी। साम्राज्य कहते ही उसे हैं जिसमें ऐसे बहुत से लोगों को एक ही रस्सी में बांध कर कलेवर की मुटाई अस्वाभाविक रूप में बढ़ा ली जाती है जो आत्मीय नहीं हैं अर्थात् जिन-में अपनापन का संबंध नहीं है। दुःसमय में बंधन जब ढीला हो जाता है तब उन अनात्मीयों के संधान से अपनी आत्म-रक्षा कर सकना असंभव होता जाता है। तुर्की हल्का हो कर ही असल में कस गया। उस समय ग्रीस को उस पर ललकार कर इंगलैण्ड ने उसका पीछा किया। इंलैण्ड के राष्ट्रीय तख्त पर उन दिनों लायेड जार्ज और चर्चहिल विराजमान थे। सन ९१२१ ई० में इंग्लैण्ड में तात्कालिक मित्र-शक्ति ने एक बड़ी सभा बुलाई थी। उस सभा में अंगोरा के प्रतिनिधि बेकिर सामी ने तुर्की की ओर से जो प्रस्ताव किया था उसमें वह लोग अपना राष्ट्रीय स्वार्थ बहुत अंश में छोड़ने को ही राज़ी हो गए थे। किन्तु ग्रीस अपने सोलह आने दावे की ज़िद पर ही अड़ा रहा, इंग्लैण्ड ने पीछे से बढ़ावा दिया। अर्थात् कालनेमि मामा का लंका के भाग पाने का उत्साह तब भी काफी तेज़ था।

इसी गोलमाल के समय तुर्की ने फ्रांस से दोस्ती की। ईरान और अफ़गानिस्तान से भी उसका समझौता हो गया। अफगानिस्तान के संधिपत्र की दूसरी धारा में लिखा है—

संधि करनेवाले दल पूर्व के देशों की स्वतंत्रता स्वीकार करते हैं और उनकी निर्बाध स्वाधीनता, स्वतंत्र होने के अधिकार और अपनी मर्जी के अनुसार अपने अपने देश का शासन करने की बात का समर्थन करते हैं।

इधर ग्रीस और तुर्की में ठन गई। अब भी अंगोरा की ओर से रक्तपात निवारण के लिये बार-बार संधि का प्रस्ताव भेजा गया किन्तु इंग्लैण्ड और ग्रीस तुर्की के खिलाफ़ दृढ़ बने रहे। अन्त में ग्रीस के पराजय से ही सारी बातचीत ठंडी पड़ सकी। कमालपाशा के नेतृत्व में अंगोरा की राजधानी में नवीन तुर्की की प्राण-प्रतिष्ठा हुई।

नये तुर्किस्थान ने एक तरफ़ जिस प्रकार बलपूर्वक यूरोप को निरस्त किया उसी प्रकार दूसरी तरफ़ उसीको बलपूर्वक बाहर और भीतर से ग्रहण किया। कमालपाशा ने कहा कि मध्ययुग के अचलायतन से तुर्की को मुक्त करना होगा। आधुनिक यूरोप में मनुष्य के चित्त की इस मुक्ति को ही वे लोग श्रद्धा करते हैं। यह मोहमुक्त चित्त ही आज विश्व में विजयी हुआ है। पराभव की दुर्गति से आत्मरक्षा करनी है तो सब से पहले इस वैज्ञानिक चित्तवृत्ति का उद्बोधन होना चाहिए। तुर्किस्तान के विचार-विभाग के मंत्री ने कहा—"मध्ययुग के सिद्धान्तों के स्थान पर

व्यावहारिक कानून की प्रतिष्ठा करनी होगी। हम एक आधुनिक सभ्य राष्ट्र का निर्माण कर रहे हैं और हम समसामयिक प्रयोजनों को पूरा करना चाहते हैं, हमने जीवित रहने का संकल्प कर लिया है और कोई भी हमें इस संकल्प से विचलित नहीं कर सकता।" इस प्रकार परिपूर्ण भाव से और बुद्धि-संगत भाव से प्राण यात्रा के निर्वाह में मध्ययुग का पौराणिक अन्ध संस्कार बाधक होता है। आधुनिक लोक-व्यवहार में उसके प्रति निर्मम होना होगा, यही उनकी घोषणा थी।

युद्ध में विजय होने के बाद कमालपाशा ने जब स्मर्ना शहर में प्रवेश किया तो वहां उन्होंने एक सार्वजनिक सभा बुला कर स्त्रियों को संबोधित करके कहा—युद्ध में हमने बेशक विजय पाई है किन्तु यह विजय निरर्थक होगी यदि तुम लोग हमें सहायता न दो। तुम लोग शिक्षा के युद्ध में विजय प्राप्त करो। ऐसा करने पर तुम हम लोगों की अपेक्षा कहीं अधिक काम कर सकोगी। यदि तुम लोग आधुनिक प्राण-यात्रा के मार्ग में दृढ़ता के साथ आगे नहीं बढ़तीं और आधुनिक जीवन-निर्वाह-नीति ने तुम्हारे ऊपर जो उत्तरदायित्व अर्पण किया है उसे यदि तुमने ग्रहण नहीं किया तो सब कुछ निष्फल—बेकार हो जायगा।

इस युग में यूरोप ने सत्य की एक विशेष साधना में सिद्धि प्राप्त की है। उस साधना का फल किसी एक काल और एक जाति के मनुष्यों के लिये नहीं है बल्कि सभी काल और सभी जाति के मनुष्यों के लिये है। इसे जो नहीं ग्रहण करेगा वह अपने आप को ही वंचित करेगा। यह बात एशिया के पूर्वी प्रान्त में जापान ने स्वीकार कर लिया है और सब से पश्चिमी प्रान्त तुर्किस्तान ने भी अंगीकार कर लिया है। भौतिक जगत् के प्रति व्यवहार सच्चा होना चाहिए, यह आधुनिक वैज्ञानिक युग का अनुशासन है। इसे नहीं मानने से हम धोखा खायँगे। इस सत्य को व्यवहार करने की सीढ़ी है मन को संस्कारमुक्त कर के विशुद्ध प्रणाली से विश्व के अन्तर्निहित भौतिक तत्त्वों का उद्धार करना।

बात सही है। किन्तु और भी सोचने की बात रह जाती है। यूरोप ने जिस बात में सिद्धि प्राप्त की है उसपर हमारी दृष्टि बहुत दिनों से पड़ी है, वहां पर उसका जो ऐश्वर्य है वह विश्व के सामने प्रत्यक्ष है। किन्तु जिस बात में उसे सिद्धि प्राप्त नहीं हुई वह गहराई में है, जड़ में है, इसीलिये वह बहुत दिनों तक दुनिया की आंखों के ओझल रही है। यहीं उसने (यूरोप ने) विश्व की भयंकर क्षति की है और यह क्षति अब धीरे धीरे उसीकी ओर लौट रही है। यूरोप के जिस लोभ ने चीन को अफीम खिलाया है वह लोभ तो चीन की मृत्यु से ही नहीं मर जाता। हम बाहर से स्पष्ट देखें या नहीं वह निर्दय लोभ बेरहमी के साथ उसे दिन पर दिन मोहान्ध बनाता जा रहा है। केवल भौतिक जगत् में ही नहीं मनुष्य की दुनिया में भी निष्काम चित्त से सत्य का व्यवहार करना आत्मरक्षा का आखिरी और उत्तम उपाय है। उस सत्य-व्यवहार

की साधना पर से पश्चिमी जातियों की श्रद्धा प्रतिदिन कम होती जा रही है। इसी कारण से उनकी लज्जा भी दूर होती जा रही है, इसीलिये उसकी समस्त समस्या जटिल होती जा रही है और विनाश नज़दीक आता जा रहा है। यूरोपीय स्वभाव का अन्धभाव से अनुकरण करने वाला जापान सिद्धि-मद-मत्त हो कर नित्य तत्त्व की बात भूल रहा है, यह तो दिखाई ही दे रहा है किन्तु यह बात निश्चित रूप से जान रखनी चाहिये कि जो सनातन कल्याण तत्त्व है—चिरन्तन श्रेयस्तत्त्व है—वह अपना शासन भूल नहीं जायगा।

नवीन युग की पुकार पर पश्चिमी एशिया किस प्रकार जवाब दे रहा है यह अच्छी तरह जान लेना अच्छा है। अब भी वह समय नहीं आया जब इसे खूब बड़ा करके देखा जा सके। यहाँ-वहां ज़रा ज़रा-से लक्षण दिखाई दे रहे हैं, वे ऐसे नहीं हैं जो प्रबल हो कर नजरों से टकरा सकें। पर सत्य छोटा हो कर ही आता है। वही सत्य एशिया की उस दुर्बलता को झकझोरने लगा है, जहां अन्ध संस्कार और जड़ प्रथा के कारण उस के चलने फिरने का रास्ता बंद है। यह पथ अब भी साफ़ नहीं हुआ किन्तु देखा जा रहा है कि इसी ओर उसका मन चंचल हुआ है। एशिया के नाना देशों में यह बात चल रही है कि साम्प्रदायिक धर्म यदि मनुष्य के समस्त क्षेत्रों को ढक के बैठ जाय तो काम नहीं चल सकता। फिलस्तीन में शासन विभाग के एक ऊंचे ओहदे के अंग्रेज़ कर्मचारी की बिदाई सभा का आयोजन हुआ था। उस सभा में उक्त अंग्रेज कर्मचारी ने कहा कि—"फिलस्तीन मुसलमान देश है और इसकी सरकार भी मुसलमानों के हाथ में होनी चाहिये बशर्ते कि अल्पमतवाले यहूदी और ईसाइयों का भी प्रतिनिधित्व उसमें रहे।"

इस पर जेरुसलेम के मुफ्ती हाजी आमिन-अल-हुसेनी ने उत्तर दिया—"हमारे लिये यह मुसलमान-ग़ैर-मुसलमान का प्रश्न नहीं है बल्कि विशुद्ध अरब जाति का प्रश्न है। अपने अवस्थान-काल में आपने निःसंदेह देखा होगा कि इस देश में मुसलमान-अरब और ईसाई-अरब में कोई भेद नहीं है। हम ईसाइयों को अरब ही मानते हैं, अल्पमत जाति नहीं।"

मैं जानता हूं कि इस प्रकार की उदार बुद्धि सब के नहीं है, यहां तक कि अधिकांश लोगों के भी नहीं है, तौ भी वह छोटे-से बीज की नाईं छोटी-सी जगह घेर कर ही अपने आप को प्रकाशित करना चाहता है, यही आशा की बात है। आज यह छोटा है पर भविष्य में यह छोटा नहीं रह सकता।

और फिर एक अप्रसिद्ध कोने में क्या घट रहा है वह भी ध्यान देने योग्य है। सोवियट गवर्नमेंट ने रूसी तुर्किस्तान में अत्यल्प काल में ही एशिया की रेगिस्तानी जातियों में जो नवीन जीवन का संचार किया है वह देख कर विस्मित होना पड़ता है। इतनी जल्दी उन्हें जो सफलता मिली

है उसका कारण यह है कि इन के चित्त के उत्कर्ष-साधन के लिये और इनकी आत्मशक्ति पूर्णता देने के लिये वहाँ की सरकार को कम से कम लोभ की, और इसलिये ईर्ष्या की, वाधा नहीं है। मरुस्थल में विच्छिन्न और विक्षिप्त इन जातियों को अपना अपना रिपब्लिक स्थापन करने का अधिकार दिया गया है। इस के सिवा इन में शिक्षा विस्तार का आयोजन विशाल और विचित्र है। मैंने इस के पहले अन्यत्र लिखा है कि बहु-विस्तीर्ण सोवियट साम्राज्य में कहीं भी आज एक संप्रदाय से दूसरे संप्रदाय में मारामारी काटाकाटी का नामोनिशान नहीं है। जार के साम्राज्यवादी शासन में यह क्रिया नित्य ही होती रहती थी। मन में जिस स्वास्थ्य के रहने से मनुष्य के आत्मीय संबंध में विकार नहीं उपस्थित होता वह स्वास्थ्य शिक्षा और स्वतंत्रता से मिलता है। यह शिक्षा और स्वाधीनता नवीन वर्षा की बाढ़ के पानी के समान एशिया के नदी नालों में प्रवेश करने लगा है।

बहुत काल की दुर्गति के बाद आज एशिया के मनुष्य आत्मवमानना की दुर्गति से अपने को मुक्त करने के लिये खड़े हुए हैं। इस छुटकारे के प्रयास में दुःख और पीड़ा जितनी भी क्यों न हो, मनुष्य का गौरव पाने के लिये यह जो अपना सर्वस्व निछावर कर देने का व्रत है, इस से अधिक आनंद का विषय और कुछ नहीं हो सकता। हमारी इसी मुक्ति से सारा संसार मुक्ति पायेगा। यह बात निश्चित रूप से याद रखनी होगी कि यूरोप आज अपने घर में और घर के बाहर अपने ही बन्दियों के हाथों बंदी है। [सन् १९३२ ई०



अहिंसात्मक साध्य और साधन

डा० राजेन्द्र प्रसाद

देश की अवस्था पर विचार करने के समय हम बहुधा भूल जाया करते हैं कि हमारी दुरवस्था और दुर्गति के मूलभूत कारण हमारे में ही हैं। और जब तक हम उसे दूर न करेंगे हमारी दशा सुधर नहीं सकती। राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ह्रास का प्रधान कारण हमारी अपनी अकर्मण्यता, अदूरदर्शिता और जड़ता है। इसलिए देश की उन्नति के लिए जो भी कार्य्यक्रम बनाया जाय उसमें इन दुर्गुणों के दूर करने का उपाय अवश्य रहना चाहिए। गांधी जी ने अपने रचनात्मक कार्य्यक्रम में इसीपर ध्यान रखा है, और यद्यपि उन्होंने इसपर बहुत जोर दिया है पर कार्यकर्त्तागण ने उसको पूरा करने में उतना उत्साह नहीं दिखलाया है जितना चाहिए। इस प्रकार के विधायक कार्यक्रम के पूरा करने में बहुत धैर्य्य और मूक सेवा-शक्ति लगती है और हम प्रदर्शन की आतशबाज़ी अधिक पसन्द करते हैं। यदि हम विचार करके देखें तो इसमें आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हमारी प्रगति कम है—क्योंकि हमने अभी तक जनता की सेवा द्वारा प्रेम-पात्रता प्राप्त नहीं की है।

गांधी जी ने एक लम्बे लेख में विधायक कार्य्यक्रम के १३ भेद बतलाये थे जिनके अभाव के कारण ही हमारी पराधीनता है। (१) हिन्दू-मुस्लिम वा साम्प्रयायिक सद्भाव (२) अस्पृश्यता-निवारण (३) मद्यपान-निषेध (४) खादी (५) दूसरे ग्राम-उद्योग (६) ग्राम-सफाई (७) बुनियादी तालीम (८) प्रौढ़ शिक्षण (९) स्त्री-सेवा (१०) आरोग्य शिक्षण (११) राष्ट्रभाषा-प्रचार (१२) मातृभाषा-प्रेम (१३) आर्थिक समानता।

इनमें से प्रत्येक की उपयोगिता स्वयं सिद्ध है और यदि हम इनको पूरा कर सकें तो संसार में कोई शक्ति नहीं जो हमको अपने आधीन रख सकेगी। हमने इनकी उपेक्षा की है और इसलिए हम में कमज़ोरी आ गई है। एक एक के पूरा करने मे हमको वैयक्तिक और सामूहिक शक्ति पैदा करनी होगी और संगठन करना होगा जो सभी आगन्तुक उपाधियों को दबा सकेंगे। हमको यह भी याद रखना चाहिए कि यह कार्यक्रम अहिंसात्मक है और अगर हम अहिंसात्मक समाज का निर्माण करना चाहते हैं तो इसका पूरा करना अनिवार्य्य है। लोग पूछा करते हैं कि चर्खे का स्वराज्य-प्राप्ति से क्या सम्बन्ध है—अथवा अस्पृश्यता निवारण कैसे स्वराज्य स्थापन में सहायक हो सकता है। हम भूल जाते हैं कि हमारी पराधीनता के मूल कारणों में वह नैतिक

ह्रास ही सबसे बड़ा कारण है जिसने हमको अकर्मण्य और जड़ बना दिया है और हमारी पराधीनता इसी अकर्मण्यता और जड़ता का फल है। केवल बिना बुद्धि लगाये और बिना उत्साह और श्रद्धा के चर्खा चलाते रहना काफी नहीं है। चर्खा तो एक निमित्त-मात्र है। उसके द्वारा हम उन शक्तियों को जागृत करना चाहते हैं जिनके ह्रास से हमारी दुर्दशा हुई है। साथ ही हम आंखों के सामने उसके लाभ भी देख सकते हैं और उसका नाप भी ले सकते हैं। वह चीज़ भी इतनी सहज और सुगम है कि बड़े, छोटे, स्त्री, पुरुष, अमीर, ग़रीब सभी उसमें भाग ले सकते हैं और जब तक सब श्रेणियों और वर्गों में हम जागृति नहीं लायेंगे, काम पूरा नही होगा।

उपरोक्त सभी बातों की जड़ में अहिंसा भरी पड़ी है। आज की संसार की अर्थिक स्थिति का विश्लेषण किया जाय तो वह हिंसामूलक पाई जायगी। सभी देश जो उन्नत समझे जाते हैं दूसरे देशों को शोषण करके ही अपनी उन्नति कर सके हैं अथवा समृद्धि बढ़ा सके हैं। इस यंत्र-युग के धनोपार्जन का सबसे बड़ा साधन यंत्र है जो एक तरफ बहुतेरों के धंधे छीन लेता है तो दूसरी ओर जो थोड़े काम में लगाये जाते हैं उनकी मजदूरी इतनी नहीं होती जितनी यंत्र न होने पर मजदूरों को मिलती। जो बेकार हो जाते हैं उनकी मजदूरी पूंजी जुटाने वाले को ही बहुत करके मिलती है। फलतः पूंजीपति अपनी पूंजी के बल से बहुतेरों की मजदूरी अकेले ही ले लेता है और मज़दूर जो काम करते हैं और परिश्रम करते हैं, मुनाफे में से थोड़ा ही पाते हैं। शोषण इसीको कहते हैं और आज की सारी पश्चिमीय सभ्यता इसी पर बनी है। मज़दूर के शोषित होने का एकमात्र कारण यह है कि वह मज़दूर है और यंत्र के बिना वह कुछ कर नहीं सकता और यंत्र वह ले नहीं सकता—उसे दूसरे पर भरोसा करना पड़ता है। गांधी जी ने चर्खे को इस प्रकार के शोषण के विरुद्ध बगावत का चिह्न माना है। यंत्र में दोष नहीं है—वह तो निर्जीव है। पर मनुष्य ने उसे शोषण का साधन बना लिया है और वह उसके द्वारा बहुत अनर्थ करता है। जहां शोषण है वहां हिंसा है और जबतक मनुष्य की बुद्धि और वृत्ति अहिंसात्मक नहीं होगी शोषण किसी न किसी रूप में रहेगा ही। चर्खा भी एक प्रकार का बहुत ही सुन्दर और चमत्कारी यंत्र है। पर उसके द्वारा शोषण की सम्भावना नहीं के बराबर है। वह सुन्दर से सुन्दर और महीन से महीन सूत दे सकता है पर इतना नहीं कि उसका मालिक उसके द्वारा किसी का शोषण कर सके। उसकी उत्पत्ति परिमित है, और इसलिए उसमें शोषण की मात्रा नहीं के बराबर है। इस प्रकार वह समाज में शोषण के एक साधन को कम करता है और मनुष्य की मनोभावना अहिंसात्मक बनाता है।

इसी प्रकार आपस के वैमनस्य का कारण भी बहुत करके हिंसात्मक बुद्धि ही होती है। अस्पृश्यता में हिंसा के सिवा दूसरा कुछ है ही नहीं। अगर हम देश का उद्धार अहिंसात्मक

साधनों द्वारा ही करना चाहते हैं तो इसमें रचनात्मक कार्य्यक्रम के बिना हम सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। गांधी जी तो साध्य और साधन में भेद नहीं करते और अगर हमारा साधन अहिंसात्मक होगा तो फलतः जो स्वराज्य हम स्थापित कर सकेंगे वह भी अहिंसात्मक ही होगा—अर्थात् उसमें शोषण-वृत्ति नहीं रहेगी—उसके स्थान पर सेवावृत्ति ही प्रधान रहेगी। यह स्पष्ट है कि हिंसात्मक साधन द्वारा हम अहिंसात्मक समाज की रचना नहीं कर सकते। आज के सामाज में जो वैमनस्य फैला हुआ है जो समय समय पर फूट करके युद्ध के रूप में निकल आया करता है और जिसके द्वारा इतनी क्रूरता, निर्दयता और अमानुषिक व्यावहार किये जाते हैं उस समय तक दूर नहीं होगा जब तक यह भौतिक हिंसावृत्ति अर्थात शोषकवृत्ति दबाई न जाय और उसके स्थान पर सेवावृत्ति की स्थापना न हो जाय। गांधी जी के रचनात्मक कार्यक्रम की भित्ति इसी सेवावृत्ति पर दी गई है और वह केवल इसी समय के लिये नहीं आवश्यक है जब हम स्वराज्य-प्राप्ति के प्रयत्न में लगे हैं पर साथ ही साथ वह उस स्वराज्य की रूप-रेखा भी व्यक्त करता जायेगा और वास्तविक संगठन भी करता जायेगा जिसमें यह शोषण-वृत्ति नहीं रहेगी। मैंने उदाहरणार्थ केवल दो तीन विषयों को ही ले कर उसके महत्त्व को दिखलाने का प्रयत्न किया है। उसके अन्तर्गत विषय इसी तरह उसी भौतिक अहिंसा को जागृत करने और शोषक वृत्ति को दबाने के लिए ही बताये गये हैं और थोड़ा विचार करने पर उनकी उपयोगिता जान पड़ती है। हां, अगर हम इस अहिंसा को छोड़ देते हैं अथवा हिंसात्मक समाज का संगठन ही कायम रखना चाहते हैं तो हम मान लेंगे कि यह कार्यक्रम उतना उपयोगी नहीं होगा यद्यपि इसकी उपयोगिता उस अवस्था में भी काफी होगी।

लोग अकसर कह दिया करते हैं कि स्वराज्य चाहे जैसे हो प्राप्त कर लेना चाहिए और फिर हम जैसा चाहेंगे अपना प्रबन्ध कर लेंगे। इसमें दो भूलें हैं। एक तो हम यह मान लेते हैं। कि साधन और साध्य दो अलग वस्तु हैं और एक का दूसरे पर बहुत प्रभाव नहीं पड़ता। यह ठीक वैसा ही है जैसा कीचड़ से कीचड़ धोने का प्रयत्न। हिंसात्मक साधनों द्वारा प्राप्त कोई भी वस्तु अहिंसात्मक नहीं हो सकती और न रह सकती है। उसके प्राप्त करने में ही इतनी हिंसा लगती है कि उसे उससे मुक्त करना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर अवश्य हो जाता है। यदि आज हम भारतवर्ष को उन साधनों के द्वारा मुक्त कराने का प्रयत्न करें जो प्रचलित हैं—अर्थात् हथियारों द्वारा हम अपनी आज़ादी लेना चाहें—तो हो सकता है कि हम इसमें सफल हों। पर हमारे हथियार भी इतने जबर्दस्त और पैने होने चाहिए कि प्रतिद्वन्दी के हथियारों का मुकाबला कर सकें और हथियार चलाने वालों मे भी वह सब गुण और दुर्गुण आने चाहिए जो प्रतिद्वन्दी में मौजूद हैं। इनका प्राप्त करना ही इतना दुष्कर है कि हमें स्वराज्य-प्राप्ति तक स्वयं उनमें इतना

ओतप्रोत हो जायेंगे कि उनसे छुटकारा कठिन हो जायेगा। इसलिए गांधी जी ने साधन को ही निर्दोष बनाने का प्रयत्न किया और उन साधनों द्वारा हम जो प्राप्त करेंगे वह भी निर्दोष ही हो सकता है। दूसरी भूल यह होती है कि हम मान लेते हैं कि दूसरा रास्ता हमारे लिए अधिक सहज है। हिंसा और अहिंसा की बात छोड़ दी जाय तो आज जो कुछ संसार में देखने में आ रहा है उससे हम समझ सकते हैं कि आज की शक्तियों से मुकाबला करने के लिए बहुत बड़ी शक्ति की आवश्यकता होगी। यह एक प्रकार से आज असम्भव जान पड़ता है कि हम उन साधनों को जुटा सकेंगे जो योरोप के पास इस समय मौजूद हैं। इसमें सबसे बड़ी बाधा हमारी मनोवृत्ति होगी क्योंकि हमारी सारी संस्कृति ऐसी बनी है कि हम उसको पूरी तरह स्वीकार नहीं कर सकते। इसलिए हमारे लिए गांधी जी के कार्यक्रम के सिवा दूसरा कोई कार्यक्रम है भी नहीं। वही सब से अधिक सुलभ है और सब से अधिक कारगार भी होगा। रचनात्मक कार्यक्रम उसी का साधन है। और हमारे लिए आज की स्थिति में श्रेय और प्रेय दोनों दृष्टिकोणों से मान्य होना चाहिए।



आधुनिक काव्य

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आधुनिक विलायती कवियों के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए मुझसे अनुरोध किया गया है। काम सहज तो नहीं है, कारण पत्रा-पंजी मिलाकर 'आधुनिक' की सीमा निर्णय कौन करे? यह बात काल से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना भाव से रखती है।

नदी आगे की तरफ़ सीधी चलते-चलते हठात् टेढ़ी हो कर मुड़ जाती है। साहित्य भी इसी प्रकार बराबर सीधे नहीं चलता। जब वह मुड़ता है तब उस मोड़ को ही 'माडर्न' अथवा आधुनिक की संज्ञा दी जाती है। यह 'आधुनिक' समय के हिसाब से नहीं, मर्ज़ी के हिसाब से चलता है।

बचपन में जिस अँगरेज़ी कविता के साथ मेरा परिचय हुआ था, उसे उन दिनों आधुनिक माना जाता था। काव्यधारा ने उस समय नया मोड़ ग्रहण किया था; कवि बर्न्स से उसका प्रारंभ हुआ था। इसी झुकाव में एक साथ ही अनेक बड़े-बड़े कवि अवतीर्ण हुए, जैसे वर्ड्सवर्थ, कोलरीज, शेली, कीट्स।

समाज में सर्वसाधारण के बीच प्रचलित व्यवहार रीति को आचार कहा जाता है। किसी-किसी देश में यह आचार व्यक्तिगत अभिरुचि के स्वातंत्र्य और वैचित्र्य को सम्पूर्णतया दबाकर रखता है। मनुष्य वहाँ हो उठता है यंत्रचालित पुतला; उसकी चाल ढाल हो जाती है बेनुक़्स—बाक़ायदा। उसी सनातन अभ्यस्त चाल की ही समाज में खातिर की जाती है। साहित्य पर भी कभी-कभी दीर्घकाल तक आचार हावी हो जाता है—रचना में निर्दोष रीति का टीका-चन्दन लगाकर चलने से लोग उसे साधु मान लेते हैं। कवि बर्न्स के बाद अँगरेज़ी काव्य में जो युग शुरू हुआ, उसमें रीति का घेरा तोड़कर मनुष्य की मर्ज़ी आ उपस्थित हुई। 'कुमुद-कह्लार-सेवित सरोवर' कहने का अर्थ यही हुआ कि साधु कारखाने की बनी हुई सरकारी ढकनी के छिद्र-विशेष से ही सरोवर को देखा गया है। जब साहित्यक्षेत्र का कोई साहित्यिक उस ढकनी को ही दूर करके दृष्टि भरकर सरोवर की ओर ताकता है, जब ढकनी के साथ ही साथ वह एक ऐसी राह खोल देता है जिससे वही सरोवर नाना दृष्टि से, नाना भावों से, नानाविध हो उठता है, तब साधु विचार बुद्धि के लोग 'धिक्' 'धिक्' कह उठते हैं।

हम लोगों ने जिस समय अँगरेजी काव्य पढ़ना शुरू किया, उस समय इसी आचार-भ्रष्ट

व्यक्तिगत मर्ज़ी को ही साहित्य ने स्वीकार कर लिया था। पहले जो तर्जनध्वनि 'एडिनबरा रिव्यू' में उठी थी, वह तब तक शांत हो चुकी थी। जो हो, हमलोगों का वह समय आधुनिकता का एक युगान्तकाल था।

उस ज़माने में व्यक्तिगत मर्ज़ी और खुशी की दौड़ को ही आधुनिकता का लक्षण माना जाता था। वर्डस्वर्थ ने विश्वप्रकृति में जिस आनंदमय सत्ता की उपलब्धि की थी उसे अपने ही ढंग से प्रकाशित किया। शेली में थी प्लेटोनिक भावुकता, और उसीके साथ राष्ट्रगत और धर्मगत सब प्रकार की स्थूल बाधाओं के विरुद्ध विद्रोह। रूप-सौन्दर्य के ध्यान और सृष्टि को लेकर कीट्स ने काव्यरचना की थी। सब मिलाकर कहा जा सकता है कि उस युग में काव्य का स्रोत बाह्यिकता से आन्तरिकता की ओर मुड़ गया था।

कवि-चित्त की गभीर अनुभूति सुन्दर रूप लेकर भाषा में अपनी नित्यता प्रतिष्ठित करना चाहती है। प्रेम अपने को सजाना-सँवारना चाहता है। अंतरमें उसका जो आनन्द है, बाहर के जगत् में सौन्दर्य के भीतर वह उसे प्रमाणित करना चाहता है। मनुष्य का वह युग बीत गया जिसमें वह विपुल अवकाश लेकर अपनेसे संपर्कित जगत् को सजा डालता था। बाहर की यह सज्जा ही उसके भीतर के अनुराग को प्रकाशित करती थी। जहाँ अनुराग है वहाँ उपेक्षा ठहर ही नहीं सकती। इसीलिए उस युग में मनुष्य ने रोज़मर्रा के व्यवहार की चीज़ों को अपनी रुचि के आनन्द द्वारा विचित्र कर डाला था। अंतर की प्रेरणा से उसकी अँगुलियाँ सृष्टि-कुशली हो गई थीं। देश-देश में गाँव-गाँव में बासन-बर्तन, गृहसज्जा—देहसज्जा ने वर्ण द्वारा, रूप द्वारा मनुष्य के हृदय को उसके बाहरी उपकरणों के साथ बाँध दिया था। जीवनयात्रा के लिए रस जुटाने के निमित्त उसने न जाने कितने अनुष्ठान का आयोजन किया था! न जाने कितने नये-नये सुर; काठ, धातु, मिट्टी, पत्थर, रेशम, ऊन, कपास आदि को लेकर न जाने कितनी नव-नव शिल्पकलाएँ उद्भूत हुई थीं! उस युग में स्वामी ने अपनी स्त्री के परिचय में कहा है— प्रियशिष्याललिते कलाविधौ। घर-गिरिस्ती और दाम्पत्य-संसार की रचना के लिए बैङ्क में जमा रुपया ही प्रधान वस्तु नहीं थी; उससे कहीं अधिक प्रयोजन था ललितकला का। जैसे-तैसे माला गूँथ लेना-मात्र ही काफ़ी नहीं था; तरुणियाँ चीनांशुक के अंचलप्रान्त में चित्रवयन करना जानती थीं। नृत्यनिपुणता प्रधान शिक्षा थी और उसी के साथ थे वीणा, वेणु, गान। मनुष्य-मनुष्य के संबंध में आत्मिकता का सौन्दर्य बिखर रहा था।

शुरू शुरू में जिन अंगरेज़ कवियों के साथ हम लोगों का परिचय हुआ उन्होंने बाहर की दुनिया को अपने अंतर के साथ जोड़कर देखा था; बाह्य जगत् उनका अपना जगत् हो गया था। उनकी अपनी कल्पना, मन और रुचि ने उसे केवल मानविक और मानसिक कर दिया हो सो नहीं,

उसे विशेषरूप से विशेष कवि का मनोगत कर दिया था। वर्डस्वर्थ का जगत् था विशेषतया वर्डस्वर्थीय, शेली का शेलीय, बायरन का बायरनिक। रचना के इन्द्रजाल से वह पाठक का भी अपना जगत् बन जाता था। कवि-विशेष की दुनिया में हमें जो आनंद प्राप्त होता था, वह था मानों किसी घर-विशेष का रसमय आतिथ्य। फूल अपने वर्ण-गंध आदि के वैशिष्ट्य द्वारा मधुमक्खी के पास न्योता भेजता है ; वह निमंत्रण-लिपि कितनी मनोहर होती है। कवि के निमंत्रण में भी स्वभावतया ऐसी ही मनोहारिता रहती थी। जिस युग में मनुष्य के साथ मनुष्य का व्यक्तित्व-सम्बन्ध प्रधान रहता है, उस युग में व्यक्तिगत आमंत्रण को यत्नपूर्वक जगाए रखना पड़ता है, वेश-भूषा और शोभनरीति के द्वारा अपने परिचय को उज्ज्वल करने की मानों एक प्रतियोगिता सी होती रहती है।

इस तरह मालूम पड़ता है, उन्नीसवीं शताब्दी के शुरू के अंगरेजी काव्य में पहले का आचार-प्राधान्य, व्यक्ति के आत्मप्रकाश की ओर स्रोतस्विनी की धारा की भाँति मुड़ गया था। उन दिनों के लिए वही आधुनिकता थी।

किंतु आजकल उसी आधुनिकता को 'मिड-विक्टोरियन' प्राचीनता की संज्ञा दे कर बग़ल के कमरे में आराम-कुर्सी पर सुला रखने की व्यवस्था कर दी गई है। आज कटे-छँटे कपड़ों और कटी-छँटी ज़ुल्फ़ों में ही आधुनिकता मानी जाती है। क्षण क्षण पर गालों पर पाउडर और होठों पर रंग लगाना बंद हो गया हो सो नहीं, लेकिन अब वह प्रकाश्य में, उद्धत असंकोच से किया जाता है। आज का युग कहना चाहता है—मोह नामक वस्तु की अब हमें ज़रूरत नहीं रह गई। सृष्टिकर्त्ता की सृष्टि में पग-पग पर मोह है ; उस मोह का वैचित्र्य ही नाना रूपों के भीतर नाना सुर से झंकृत कर देता है। किन्तु विज्ञान ने उसके नाड़ी-नक्षत्र का विचार करके अच्छी तरह देख लिया है कि उसके मूल में मोह नहीं है ; है कार्बन और नाइट्रोजन, फिज़ियालाजी और साइकालाजी। हम लोग उस पुराने युग के कवि हैं ; हम लोग उन्हीं चीज़ों को गौण समझते थे और माया को ही समझते थे मुख्य। इसीलिए सृष्टिकर्त्ता के संग होड़ लगा कर छन्द-बन्ध, भाषा-भंगी सब के भीतर हमने माया फैला कर मोह उत्पन्न करने की चेष्टा की है, यह बात माननी ही पड़ेगी। इंगित-इशारे के भीतर कुछ छल और कुछ छलना छिपी हुई थी। लज्जा का जो आवरण सत्य के विरुद्ध नहीं है, बल्कि सत्य का आभरण ही है, उसे हम त्याग नहीं सके। उसके ईषत वाष्प के भीतर से हो कर जो रंगीन प्रकाश हमें मिला, उस प्रकाश में हमने ऊषा और संध्या की एक झलक देखी—नववधू के समान सकरुण। आधुनिक-दुःशासन जन-सभा में विश्वद्रौपदी का वस्त्र हरण कर रहा है—यह दृश्य हमारे निकट अभ्यस्त नहीं है। इसी अभ्यासपीड़ा के कारण ही क्या संकोच बोध होता है ? इस संकोच के भीतर क्या

कोई सत्य है ही नहीं ? सृष्टि का जो आवरण प्रकाश करता—आच्छन्न नहीं करती, उसे त्याग करने से क्या सौन्दर्य को कंगाल नहीं हो जाना पड़ता ?

किंतु आधुनिक काल के मन के भीतर भी हड़बड़ी मची है और समय का भी उसे अभाव है। जीविका जीवन से भी बड़ी हो उठी है। जिन्हें जल्दी और भड़भड़ी पड़ी हुई है ऐसे यंत्रों के भीड़भम्भड़ में ही आदमी को हाय-हाय करके काम काज निबटाना है और चीख-पुकार करके ही आमोद प्रमोद करना है। जो मनुष्य एक दिन शांत बैठे-बैठे अपनी दुनिया को अपना बना कर सृष्टि किया करता था, वही आज कारखाने पर सारा भार छोड़ कर केवल जरूरत के अनुसार सरकारी आदर्श पर खटाखट कामचलाऊ चीज़ पैदा करने का काण्ड खड़ा किए हुए है। भोज उठ गया है; केवल भोजन बाक़ी पड़ा है। मन के साथ मेल हुआ कि नहीं—यह बात सोचने-विचारने की किसी को फुर्सत ही नहीं है, कारण मन आज जीविका-जगन्नाथ के अति प्रकाण्ड रथ की असंख्य रस्सियों को पकड़कर खींचनेवालों के दल में जुटा हुआ है। संगीत की जगह उसके काठ से केवल सुना जाता है—'मारो ठेला हेंइयाँ'। जनता के जगत् में ही उसे अधिकांश समय काटना होता है। उसकी चित्तवृत्ति वास्तव-वागीश की चित्तवृत्ति हो गई है। धक्कामुक्की के भीतर असज्जित-कुत्सित को बचाकर चलने की प्रवृत्ति उस में नहीं है।

अस्तु, काव्य आज कौन-सा लक्ष्य रखकर किस रास्ते निकलेगा ? अपने मन मुताबिक पसन्द करना, चुन लेना, सजा डालना आज नहीं चलेगा। विज्ञान कभी चुनता नहीं, जो कुछ है, उसे 'है'—कहकर ही मान लेता है; व्यक्तिगत अभिरुचि के मूल्य से उसकी जाँच नहीं करता, व्यक्तिगत अनुराग के आग्रह से उसे सजाता-सँवारता नहीं। इस वैज्ञानिक मन का प्रधान आनन्द कौतूहल के भीतर है, आत्मीय संबंध के बंधन में नहीं। मैं किस इच्छा से करता हूं यह उसके निकट बड़ी चीज़ नहीं है; मुझे बाद देकर वस्तु स्वयं ठीक कैसी है—यही उसके लिए विचार्य्य है। मुझे बाद देने पर फिर मोह का आयोजन अनावश्यक हो जाता है।

इसीसे इस वैज्ञानिक युग की काव्य-व्यवस्था में जो व्यय-संकोच और हाथ की तंगी चली है, उसकी सब से अधिक बौछार जाकर पड़ी है प्रसाधन पर। छन्द, बन्दिश, भाषा आदि में ज़रूरत से ज्यादा पसंदगी अब समाप्त होने पर आ रही है। यह सहज भाव से नहीं हो रहा है; अतीतयुग का नशा काटने की धुन में कमर बाँध कर अस्वीकार कर चलना ही प्रथा हो रही है। पीछे कहीं अभ्यास के खिँचाव से निर्वाचन-बुद्धि दीवार लाँघ कर घर में न घुस आए, इसीलिए दीवार पर रूक्ष और असुन्दर ढँग से काँच जड़ने की चेष्टा की गई है। एक कविने लिखा है—I am the greatest laugher of all—मैं सबसे बड़ा हँसोड़ हूँ, सूर्य से बड़ा, ओक वृक्ष से बड़ा, मेढक से बड़ा, एपोलो देवता से बड़ा—Than the frog and Apollo—

यही हैं वे काँच के टुकड़े ; ताकि कहीं कोई यह न सोचने लगे कि कवि ने मीठे ढंग से बात को सजाकर कहा है। मेढक की जगह यदि समुद्र कहा गया होता, तो आज का युग आपत्ति कर सकता था कि यह तो बादस्तूर कवियाना बात हो गई। हो सकती है, किंतु उससे कहीं बढ़कर उल्टे ढंग की बादस्तूर कवियाना बात यह मेढक की हो गई है ! अर्थात् यह सहज लेखनी की लिखावट नहीं है, यह बेग़ारी करके पैर रगड़ देना है। यही आजका क़ायदा है।

किंतु बात यह है कि भद्र कविता में मेढक-जीव अछूत जाति का है—यह बात मानने के दिन बीत गए। सत्य की कोठी में मेढक बड़ा छोड़ छोटा हो ही नहीं सकता। मैं भी उसकी अवज्ञा नहीं करना चाहता। यहाँ तक कि यथास्थान कविप्रिया की हँसी के साथ मेढक की टर्र-टर्र हँसी को भी एकही पंक्ति में बिठाया जा सकता है—प्रिया के आपत्ति करने पर भी। किंतु बड़े से बड़े वैज्ञानिक साम्यतत्त्व में भी जो हँसी सूर्य की है, जो हँसी ओक वनस्पति की है, जो हँसी एपोलो है, वह मेढक की नहीं है। यहाँ उसे जबर्दस्ती लाया गया है केवल मोह भंग करने के लिए।

मोह का आवरण उठा देने पर जो जैसा है, ठीक वैसा ही देखना होगा। उन्नीसवीं सदी में जो कुछ माया के रंग से रंगीन था वह आज फीका हो आया है ; मिठास के उस अभ्यासमात्र से क्षुधा नहीं मिटती ; वस्तु चाहिए। 'घ्राणेन अर्द्ध भोजनं'—कहना बारह आना अत्युक्ति करना होगा। एक आधुनिका कवयित्री ने गत युग की सुन्दरी के साथ खूब स्पष्ट भाषा में जो संभाषण किया है, उसका अनुवाद किए देता हूं। अनुवाद में माधुरी संचार करना बेमौजूँ और बेमेल होगा—चेष्टा भी सफल नहीं होगी।

तुम सुन्दरी हो और बासी हो—
मानों पुरानी किसी रामलीला का सुर
बज रहा है उस युग की किसी सारंगी पर।
किम्वा, तुम हो पुराने अमल के
बैठकखाने में पड़ा रेशमी असबाब,
जिस पर पड़ रही है धूप।
तुम्हारी आँखों में आयुहीन मुहूर्त्त के झरे गुलाब की
पँखड़ियाँ हुई जा रही हैं जीर्ण।
तुम्हारे प्राणों की गंध है अस्पष्ट, बिखरी हुई,
बर्तन के भीतर ढँके हुए
पिसे मसाले के समान है उसका चटखारा।

तुम्हारे अति कोमल सुर का तनिक-सा आभास
मुझे लगता है भला,—
तुम्हारे उन मिले-जुले रंगों की ओर ताक कर
मेरा मन हो उठता है मत्त ।
और मेरा अपना तेज—
जैसे टकसाल का नया पैसा—
तुम्हारे पैरों के निकट दिया है मैंने फेंक ।
धूल में से उसे उठा लो,
उसकी चमचमाहट देखकर, संभव है,
तुम्हें मज़ा आ जाय ।

इस आधुनिक पैसे का दाम कम किंतु ताक़त अधिक है, और यह खूब स्पष्ट आवाज़ में 'ठन्' करके बज उठता है आज के ही सुर में। पुराने युग की जो माधुरी है उसमें एक तरह का नशा है, किंतु इसमें है स्पर्द्धा । इस में धुँधला कुछ भी नहीं है ।

आज के काव्य का विषय लालित्य द्वारा मनको भुला नहीं रखना चाहता ; तब फिर वह किस ज़ोर से खड़ा है ? यह ज़ोर है उसकी अपनी सुनिश्चित आत्मता का—जिसे अँगरेज़ी में कैरेक्टर कहते हैं । वह कहता है—अयमहं भोः, मुझे देखो । उन्हीं अँगरेज़ कवियित्री ने जिनका नाम एमी लायेल है, लाल चप्पलों की दूकान को लेकर एक कविता लिखी है । बात इतनी है कि साँझ के समय बरफ़ानी हवा का तेज़ झोंका बह रहा है और भीतर पालिश किए उस काँच के पीछे लंबी लाल चप्पलों की माला झूल रही है like stalactites of blood, flooding the eyes of passers-by with dripping color, jamming their crimson reflections against the windows of cabs aud tramcars, screaming their claret and salmon into the teeth of the sleet, plopping their little round maroon lights upon the tops of umbrellas. The row of white, sparkling shop fronts is gashed and bleeding, it bleeds red slippers। सब कुछ उन्हीं चट्टी-चप्पलों को लेकर ।

इसे ही कहा जाता है नैर्व्यक्तिक, impersonal, उस चप्पलों की माला पर विशेष आसक्ति का कोई कारण नहीं है ; न खरीदार को ही कोई चिंता है न दुकानदार को ही । किंतु ठहर कर देखने से मालूम पड़ा, संपूर्ण चित्रकी एक आत्मता है, जो जैसे ही प्रस्फुटित हुई कि उसकी तुच्छता फिर न रह पाई । जिन्हें अर्थ-संग्रह का ही लोभ है वे पूछेंगे, "अर्थ क्या हुआ,

महाशय, इसका ? चट्टी-चप्पलों को लेकर इतना हल्ला किसलिये ? मान लिया कि उनका रंग लाल ही सही, तब फिर ? उत्तर में कहना होता है—"देख ही न लो उसकी ओर।" "देखने से लाभ क्या होगा ?" इसका कोई जवाब नहीं है।

नन्दन-तत्त्व (aesthetics) के सम्बन्ध में एज़रा पाउण्ड की एक कविता है। इसका विषय इस प्रकार है ; एक लड़की चली जा रही थी रास्ते से हो कर ; एक लड़का था छोटा, पैबंद लगे हुए कपड़े पहने ; उसका मन जाग उठा और वह अपने को रोक नहीं पाया—कह उठा—"देख तो रे, कितनी सुन्दर है !" इस घटना के तीन बरस बाद उस लड़के के साथ फिर भेंट होती है। उस वर्ष बहुत-सारी सार्डिन मछलियाँ जाल में फँसी थीं ; लड़के के काका-भाई आदि बड़े-बड़े काठ के सन्दूकचों में मछलियों को सजा सजाकर रख रहे थे, ब्रेश्चियर के बाजार में बेचने के लिये। लड़का मछलियों को लेकर खुशी से उछल कूद रहा था। सयानों ने धमकाकर कहा—"चुप बैठ।" तब वह तृप्ति के साथ उन सजी हुई मछलियों पर अपना स्निग्ध हाथ फेरते-फेरते बारबार यही एक बात कहने लगा—"कितनी सुन्दर।" कवि कहते हैं सुनकर "I was mildly abashed."—मैं ज़रा लज्जित हो रहा।

सुन्दरी लड़की को भी देखो ; सार्डिन मछलियों को भी देखो ; और कुण्ठित मत होओ, एक ही भाषा में यह कहते हुए कि कितनी सुन्दर है। यह देखना नैर्व्यक्तिक है—खालिस देखना है। इसी पंक्ति में चप्पल-जूतों की दूकान को भी छोड़ नहीं दिया जा सकता।

काव्य में उन्नीसवीं शताब्दी में विषयी के आत्मता थी ; बीसवीं शताब्दी में विषय के आत्मता है। इसीलिए आज काव्यवस्तु की वास्तवता पर ही झोंक है, अलंकार पर नहीं। क्योंकि अलंकार व्यक्ति की ही निजी रुचिका प्रकाश करते हैं और खालिस वास्तवता का सारा ज़ोर होता है विषय के निज के प्रकाशन में।

साहित्य में आविर्भूत होने के पहले यह आधुनिकता चित्रों पर निर्भर कर रही थी। चित्रकला ललितकला का अंग है—इस बात को अस्वीकार करने के लिए उसने विविध प्रकार के उत्पात शुरू कर दिए। उसने कहा—आर्ट का काम मनोहारिता नहीं, मनोजयिता है ; उसका लक्षण लालित्य नहीं, याथार्थ्य है। मुख के भीतर उसने मोह और आकर्षण को नहीं माना, माना कैरेक्टर को, अर्थात् एक प्रकार की समग्रता की आत्मघोषणा को। अपने संबंध में वह मानों और कुछ भी कहना नहीं चाहता, अपना और कुछ भी परिचय नहीं देना चाहता ; केवल ज़ोर के साथ इतना ही कहना चाहता है कि मैं द्रष्टव्य हूँ। उसकी इस द्रष्टव्यता का ज़ोर हावभाव द्वारा नहीं, प्रकृति की नकलनवीसी द्वारा नहीं, आत्मगत सृष्टिसत्य के द्वारा है। यह सत्य धर्मनैतिक नहीं, व्यवहारनैतिक नहीं, भावरञ्जक नहीं ; यह केवल सृष्टिगत है। अर्थात् वह हो चुका है—

सिर्फ इसीलिए उसे स्वीकार करना पड़ता है। जिस तरह हम मयूर को मान लेते हैं, शकुनि को मान लेते हैं, सुअर को अस्वीकार नहीं कर पाते ; हरिण को भी इसी तरह मान लेना होगा।

कोई सुन्दर है कोई असुन्दर, कोई काम का है और कोई बेकाम, किंतु सृष्टिक्षेत्र में किसी को किसी भी सूत्र से बातिल नहीं क़रार दिया जा सकता ; अग्राह्य करना असंभव है। साहित्य, चित्रकला—इन में भी यही बात है। यदि किसी भी रूप की सृष्टि हो सकी है तब और कोई जवाबदेही नहीं रही, यदि नहीं हुई है, यदि उसकी सत्ता का ज़ोर उसमें नहीं है, है यदि केवल भाव-लालित्य, तब वह वर्जनीय है—त्याज्य है।

इसी कारण आज जिस साहित्य ने आधुनिक के धर्म को अंगीकार कर लिया है, वह प्राचीन समय के कौलीन्य-लक्षण को यत्नपूर्वक मिटा कर जाति बचाकर चलने को अवज्ञा की दृष्टि से देखता है, उसे भेद भाव और आचार-विचार नहीं है। इलियट का काव्य ऐसा ही हाल का काव्य है ; ब्रिजेज़ का काव्य ऐसा नहीं है। इलियट ने लिखा है—

कमरे से कमरे को जाने की राह में
गंध फैली है पकाए हुए मांस की—
उसीको लेकर सघन हो आई है शीतकाल की संध्या।
बजे हैं इस समय छः।
धूमिल दिनों की जली हुई बत्ती का छोर—
अंत में पहुँचकर हो गया है शेष।
बरसाती हवा का झोंका उड़ाकर ला रहा है
पार्लों के निकट, सूखे जीर्णपत्ते,
रद्दी अखबार के राशि-राशि फटे टुकड़े।
बौछार टकरा रही है टूटी झिलमिली पर,
चिमनियों के चोंगों पर ;
और राह के एक कोने में खड़ा है एकाकी
भाड़ा-गाड़ी का एक घोड़ा,
भाफ़ उठती है उसकी देह से और—
मिट्टी खोद रहा है वह खुर से।

इसके बाद बासी बियर शराब की गंध को लेकर जाग उठने वाले पंकिल प्रभात का वर्णन है। ऐसे ही प्रभात में लड़की को उद्देश्य करके कोई कह रहा है :—

कम्बल फेंक दिया है तुमने शय्या से—

चित और चुप पड़ी हुई हो अपेक्षा में ;
कभी ऊँघने लगती हो और देखती हो—
रात्रि प्रकाश कर रही है उन हज़ारों
मलिन विचारों के चित्रों को
जिन्हें लेकर तुम्हारा स्वभाव बना है।

इसके बाद पुरुष की खबर यह है :—

His soul stretched tight across the skies,
That fade behind a city block,
Or trampled by insistent feet
At four and five and six o'clock ;
And short square fingers stuffing pipes,
And evening newspapers, and eyes
Assured of certain certainties,
The conscience of a blackened street
Impatient to assume the world.

इसी धुँधली-धुँधली, कीचड़सनी, नाना बासी गंध और बिखरी आवर्जना से भरी, नितान्त मैली संध्या और मैले प्रभात के भीतर कवि के मन में एक विपरीत जाति की छवि जाग उठती है। वे कहते हैं :—

I am moved by fancies that are curled
Around these images, and cling :
The notion of some infinitely gentle
Infinitely suffering thing.

इसी जगह एपोलो के साथ मेंढक का मेल और टिक नहीं सका ; कूपमण्डूक के टर्र-टर्र शब्द ने एपोलो के हास्य को पीड़ा पहुँचाई। एक बात साफ़ है ; कवि नितांत ही वैज्ञानिक भाव से निर्विकार नहीं हैं ; कुत्सित संसार के प्रति उनकी वितृष्णा कुत्सित संसार की इस वर्णना के भीतर से ही प्रकाशित हो रही है। इसीसे कविताके उपसंहार में उन्होंने जो बात कही है वह इतनी कड़ी है :—

हँस लो, एक बार मुँह पर हाथ फेर कर—
देखो, घूम रहे हैं संसार-पिण्ड अंतरिक्ष में—

मानों पुरानी वृद्धाएँ एकत्र कर रही हैं चैलों का ईंधन,—
व्यर्थ और शून्य, ढेर के ढेर ।

इसी चैले एकत्र करनेवाले वृद्ध-जीर्ण संसार के प्रति कवि की अनभिरुचि स्पष्ट ही दिखाई पड़ रही है। पुरानी कविता के साथ प्रभेद इतना ही है कि रंगीन स्वप्न के द्वारा यहाँ काल्पनिक मनगढ़ंत-संसार में अपने को भुला रखने की इच्छा नहीं है। कवि इसी कीचड़-काचड़ के भीतर से ही काव्य को पैदल चलाकर लिए जा रहे हैं, धोबी के धुले कपड़ों पर ममता किए बगैर। कीचड़ पर अनुराग है इसलिए नहीं, बल्कि पंकिल संसार में नज़र भर कर पंक को भी जानना होगा, मानना होगा, इसलिए यदि उसके भीतर भी एपोलो की हँसी कहीं खिलखिला उठे तो अच्छा ही है, यदि ऐसा न हो सके तो मेढक के उछलमान अट्टहास्य की उपेक्षा करने की ज़रूरत नहीं। वह भी एक पदार्थ तो है—इस विश्व के साथ जोड़कर उसकी ओर भी तो टुक देख लिया जाय, उसके बारे में भी तो कुछ कहने को है। सुसज्जित भाषा के बैठकखाने में उसकी अभ्यर्थना शायद नहीं होगी किंतु अधिकांश जगत् उस बैठकखाने के बाहर है।

सुबह-सुबह हमारा प्रथम जागरण होता है; उस जागरण में हम प्रथम प्रथम अपनी उपलब्धि करते हैं, चैतन्य का नवीन चाञ्चल्य होता है। इस अवस्था को रोमांटिक कहा जा सकता है। अभी-जागा चैतन्य अपने को बाहर खोजते-पाते फिरने लगता है। मन विश्वसृष्टि में अपनी रचना, अपनी चिंता, अपनी वासना को रूप देता है। भीतर जिसे चाहता है, बाहर उसीको नाना माया-ममता के द्वारा गढ़ता है। इसके बाद धूप तेज़ होने लगती है, अभिज्ञता कठोर होने लगती है, सांसारिक आन्दोलन में पड़कर हमारे अधिकांश मायाजाल छिन्नभिन्न हो जाते हैं। तब अनाविल आलोक और अनावृत आकाश के भीतर स्पष्टतर वास्तव के साथ हमारा परिचय होने लगता है। इस परिचित की अभ्यर्थना अलग अलग कवि अलग-अलग तरीके से करते हैं। कोई देखता है इसे अविश्वास की आँखों से—विद्रोही भाव से; कोई इसे ऐसी अश्रद्धा करता है कि इसके प्रति रूढ़-निर्लज्जता का बर्ताव करते हुए हिचकता नहीं। फिर कुछ ऐसे भी हैं जो खर प्रकाश में इसकी अति प्रकाशित आकृति के गंभीर रहस्य की उपलब्धि करते हैं, ऐसा सोचते ही नहीं कि गूढ़ कुछ भी नहीं होता, कि जो प्रतीयमान है—ज्ञात और अनुभूत है—उसीके भीतर सब कुछ निःशेष पाया जा सकता है। पिछले यूरोपीय महायुद्ध में मनुष्य की अभिज्ञता कितनी कर्कश, कितनी निष्ठुर हो गई थी। उसकी युग-युग से प्रचलित इज्जत-आबरू इस सांघातिक संकट में पड़ कर एकबारगी छार-खार हो गई; सुदीर्घकाल से जिस समाज-स्थिति पर एकांत विश्वास करके वह आजतक निश्चिन्त था, वह सब पलभर में चूर चूर हो गई। मनुष्य जिस शोभन-रीति, कल्याण-नीति का सहारा लिए था, अपने विध्वस्तरूप को देखकर इतने

दिन जिसे भद्र कहकर जानता और मानता था, उसीको अब वह दुर्बल, आत्मप्रतारणा का कृत्रिम उपाय कहकर अवज्ञा करने में ही मानों एक प्रकार का उग्र आनंद अनुभव करने लगा ; विश्व-निन्दा को ही उसने आज सत्य-निष्ठा कहकर ग्रहण कर लिया।

किंतु यदि आधुनिकता में कोई तत्त्व है, यदि उस तत्त्व को नैर्व्यक्तिक नाम दिया जा सके, तब कहना पड़ेगा कि विश्व के प्रति यह उद्धत अविश्वास और कुत्सा से भरी दृष्टि—यह भी आकस्मिक विप्लव से उत्पन्न एक व्यक्तिगत चित्त-विकार है। यह भी एक मोह है, इसमें भी शांत-निरासक्त चित्त से, सहज भाव से, वास्तव को ग्रहण करने की गहराई नहीं है। बहुत लोग सोचते हैं कि यह उग्रता, यह प्रचलित संस्कार नष्ट करने के लिए, कालापहाड़की भांति, तालठोंक कर पीछे पड़ जाना, यही आधुनिकता है। मैं ऐसा नहीं मानता। इन्फ्लुएञ्जा आज हज़ारों आदमियों को आक्रमित करता है—यह देखकर भी यह नहीं कह सकता कि इन्फ्लुएञ्जा ही देह का आधुनिक स्वभाव है। यह भी बाह्य है। इन्फ्लुएञ्जा के अंतराल में ही देह का सहज देह-स्वभाव छुपा हुआ है। उसे भीतर ही देखना होगा।

विशुद्ध आधुनिकता तब क्या है ? मेरी समझ में विश्व को व्यक्तिगत आसक्तभाव से न देखकर उसे निर्विकार तद्गत-भाव से देखना ही आधुनिकता है। यह देखना ही उज्ज्वल, विशुद्ध देखना है ; इस मोहमुक्त दर्शन में ही विशुद्ध आनन्द है। आधुनिक विज्ञान जिस निरासक्त चित्त से वास्तव का विश्लेषण करता है, आधुनिक काव्य उसी निरासक्त चित्त से विश्व को समग्र दृष्टि द्वारा देखेगा—यही शाश्वत आधुनिकता है।

किंतु उसे आधुनिक कहना एकदम व्यर्थ है। निरासक्त, सहज दृष्टि का यह आनन्द काल-विशेष की वस्तु नहीं। जिसकी दृष्टि इस अनावृत जगत में सञ्चरण करना जानती है, उसीकी यह वस्तु है। चीनी कवि लि-पो हज़ार बरस से भी पूर्व कविता लिख रहे थे ; अथच वे आधुनिक थे ; उनकी दृष्टि विश्व को सद्य देखने वाली दृष्टि थी। चार लकीरों में—सादी भाषा में उन्होंने लिखा है—

क्यों रहता हूँ इन हरे-भरे पहाड़ों में मैं ?
हँसी आती है सवाल सुनकर ; उत्तर नहीं देता।
मन मेरा निस्तब्ध है।
जिस एक आकाश और एक पृथिवी पर निवास करता हूँ—
वह जगत् किसी व्यक्ति का नहीं।
पीच तरु पर फूल खिले हैं,
पानी की धारा बहती जा रही है ॥

और एक चित्र :—

नील पानी……निर्मल चाँद,
श्वेत चाँदनी में श्वेत सारस उड़ा चला जा रहा है।
वह सुनो, पानफल एकत्र करने लड़कियाँ जो आई थीं,
घर लौट रही हैं वे रात में गान गाते-गाते।

और एक :—

अनावृत देह लिए सोया हुआ हूँ वसंत-वन की हरियाली में।
इतना अलस हूँ कि सफेद परों के हलके पंखे को
डुलाने का भी मन नहीं होता,
टोपी रख दी है उस पहाड़ के सिरे पर,
पाइन वृक्ष के भीतर से हवा आ रही है
मेरे खाली माथे पर हाथ फेरने।

एक वधू की बात :—

मेरी छँटी हुई अलकें थीं ओछी, जिनसे माथा नहीं ढकता था।
मैं द्वार के सामने खेल रही थी, तोड़ रही थी फूल।
तुम आए, मेरे प्रिय, बाँस के खेल-घोड़े पर चढ़े,
कच्चे बेर बिखराते-छिटकाते।
चाङ्कान की गली में हम पास रहते थे।
वयस थी हमारी कच्ची, मन था आनंद भरा।
जब ब्याह हुआ तुम्हारे साथ, तब मैंने पैर रखे थे चौदह में।
ऐसी लाज लगती थी कि हँसने का साहस नहीं होता।
अँधियारे कोने में पड़ी रहती सिर गड़ाए,
तुम्हारे हज़ार पुकारने पर भी मुँह फिराती नहीं।
पंद्रहवीं लगते-लगते मेरी भौंहें हो गईं तिरछी,
मैं हँस पड़ी।
जब पहुँची सोलह में तब तुम चले गए दूर प्रवास में—
च्यूटाङ् पहाड़ के पथ पर, जहाँ पत्थरों के ढेर में से
चकराती भवँर खाता बह रहा था पानी।
पाँच महीने बीत गए, अब और नहीं सहा जाता।

द्वार के सामने के पथ पर से तुम्हें चले जाते देखा था,
वहाँ तुम्हारे पावों का चिह्न पड़ा सेवार की हरियाली पर—
इतनी घनी है वह सेवार कि झाड़े नहीं हटती।
अंत में प्रथम शारदीया हवा ने लाकर जमा कर दिया
उसपर झरे जीर्ण पत्तों का ढेर।
अब आठवाँ महीना चल रहा है,
पीली तितलियाँ हमारी पच्छिम की बगिया में घास के ऊपर
उड़ती-उड़ती फिर रही हैं।
मेरी छाती फटी जा रही है, भय होता है कहीं मेरा यह
रूप म्लान न हो जाए।
देखो, जब तीन तीन सूबे पार कर के तुम लौटोगे,
तब भूलना नहीं पहले से खबर भिजवाना।
चाङ्फेङ्शा की सुदीर्घ राह चलकर मैं आऊँगी,
भेंट होगी तुम्हारे साथ।
दूरी का खयाल कर ज़रा भी भय नहीं करूँगी।

इस कविता में सेंटिमेंट का सुर ज़रा भी चढ़ाया नहीं गया; इसी तरह बाद में व्यंग्य या अविश्वास का कटाक्षपात भी नहीं दिखाई देता। विषय अत्यंत प्रचलित है, फिर भी रस का अभाव ज़रा भी नहीं है। शैली वक्र करके इसीको व्यङ्ग्य करने से चीज़ आधुनिक हो जाती। कारण, सभी जिसे अनायास ही मान लेते हैं, आधुनिक लोग उसी की काव्य में अवज्ञा करते हैं। बहुत संभव है, आधुनिक कवि इसी कविता के उपसंहार में लिखता—'और तब लड़की सूखी चिङ्ड़ी मछली की बड़ी तलने लगी। किसके लिये?' इस प्रश्न के उत्तर में डेढ़ लाइन तक डाट् डाट् डाट्। उन दिनों का पाठक पूछता—'यह क्या हुआ?' आज का कवि उत्तर देता—'ऐसा ही तो हुआ करता है।' 'कुछ दूसरा भी तो हुआ करता है?' 'हाँ, होता है सही, लेकिन वह बहुत ज्यादा भद्र हो जाता। थोड़ी बहुत बदबू न रहने से उसका शौकीनी भाव मिटता नहीं, वह आधुनिक नहीं होता।' उन दिनों काव्य की बाबूगिरी सौजन्य के साथ विजड़ित थी। इन दिनों भी काव्य की बाबूगिरी है, सड़े मांस के विलास में।

चीनी कविता के बाज़ूसे विलायती कवियों की आधुनिकता सहज ही टिक नहीं सकती। वह आविल है। उनका मन पाठक को कोहनियों से धकियाता रहता है। वे जिस विश्व को देखते और दिखाते हैं, वह रबिश-जमा, धूल-उड़ाऊ, धँसक पड़ने वाला विश्व है। उनका चित्त

आज अस्वस्थ, असुखी, अव्यवस्थित जो है। ऐसी हालत में वे लोग विश्व-विषय से अपनेको विशुद्ध रूप में छुड़ा नहीं पाते। भग्न मूर्ति का लकड़ी का ढाँचा देखकर वे अट्टहास्य करते हैं;— कहते हैं, असल चीज़ आज पकड़ में आई है। उन्हीं ढेलों और काठ के ढाँचों को खोंचा मारमारकर कड़ी बात कहने को ही वे खालिस सत्य को ज़ोर के साथ स्वीकार करना कहते हैं।

इसी प्रसङ्ग में इलियट की एक कविता याद आती है। उसका विषय इस तरह है :— बुढ़िया मर गई है, वह बड़े घर की स्त्री है। यथानियम घर की झिलमिलियाँ गिरा दी गई हैं; शववाहक लोग बाक़ायदा हज़िर होकर समयोचित व्यवस्था करने में जुटे हुए हैं। और यहाँ दूसरी तरफ़ रसोई घर में घर का बड़ा खानसामा बैठा हुआ है डिनरटेबिल के एक किनारे; नंबर दो नौकरानी को गोद में खींचे हुए।

घटना विश्वासयोग्य और स्वाभाविक है—इसमें शक नहीं। किंतु पहले के स्वभाव के लोग कहेंगे—अच्छा, हुआ ही ऐसा तो क्या यह काफ़ी है? यह कविता लिखने की ग़रज़ ही क्या है और हम पढ़ने ही क्यों जाएँगे इसे? किसी लड़की की सुंदर हँसी की खबर यदि किसी कविता में मिले तो कहूँगा कि यह ख़बर देने लायक है, किंतु इसके बाद ही यह वर्णन मिले की डेण्टिस्ट आया और यंत्र-परीक्षा के बाद कह गया कि लड़की के दाँतों में कीड़े पड़गए हैं, तब कहना ही होगा कि यह भी खबर ही है सही, किंतु दुनियाँ को टेर टेर कर सुनाने योग्य तो नहीं है। अगर मालूम हो कि कोई इस समाचार का प्रचार करने के लिए विशेष ही उत्सुक है, तब शक होने लगेगा कि उसके मिज़ाज में भी कहीं कीड़े पड़ गए हैं। यदि कहाजाय कि पहले के कविगण चुने हुए विषयों पर ही कविता लिखते थे और आज के कविगण चुनाव नहीं करते, तो यह भी मानने योग्य नहीं; ये भी बराबर चुनाव करते हैं। ताज़े फूल को चुनलेना भी चुनना है और सूखे, कीट-खाए हुए फूल को चुनना भी चुनना ही है। फ़र्क़ सिर्फ़ यही है कि ये लोग हमेशा डरते रहते हैं कि पीछे कहीं कोई बदनाम न करे कि उन्हें चुनाव करने का शौक़ है। अघोरपंथी चुन चुन कर खराब चीजें खाते हैं, दूषित चीजें काम में लाते हैं, ताकि कोई बादमें यह न सिद्ध कर दे कि अच्छी चीजों की तरफ़ उनका पक्षपात है; नतीजा यह होता है कि खराब चीजों की तरफ़ ही उनका पक्षपात पक्का और प्रमाणित हो उठता है। काव्य में यदि अघोरपंथी साधना प्रचलित हो, तब शुचि वस्तुओं पर स्वाभाविक रुचि रखनेवाले कहाँ जाएँगे? किसी किसी पौधे के फूल-पत्तों में कीड़े लगते हैं और किसी किसी में नहीं लगते, तब सिर्फ पहले को प्राधान्य देने ही को वास्तव-साधना कहकर बहादुरी बतानी होगी?

एक कवि एक सम्भ्रान्त सज्जन की वर्णना कर रहे हैं :—

रिचर्ड कोडी जब शहर जाते,

तब, हम पाँव-पैदल चलनेवाले राही
ताकते रह जाते उनकी ओर।
भद्र जिसे कहते हैं, सिर से पैर तक वही थे वे,
राजपुत्र-जैसी छरहरी देह थी उनकी।
साधीसादी चाल-ढाल सीधीसादी वेश-भूषा—
किंतु जब बोल उठते, गुड मार्निङ्,
हमारी नाड़ी की चाल हो जाती तेज़।
चलते जब वे, तब आसपास सब झकाझक हो उठता।
धनी थे असम्भव रूप में।
व्यवहार में प्रसाद गुण था आश्चर्यजनक।
उनकी जो बात दिखती, उसीसे मन करता—
आहा, मैं यदि ऐसा ही होता!
और हम लोग जब यहाँ मर रहे हैं दौड़ दौड़ कर,
टक लगाए हैं कब होगी रोशनी,
भोजन की बेर मांस नहीं जुटता,
गले उतार लेते हैं किसी तरह मोटी रोटी को,
ऐसे ही समय एक दिन शांत वसंत रात्रि में
रिचर्ड कोडी गए घर और
सिर में मार ली एक गोली।

(मूल कविता निकट न रहने से स्मरण करके तर्जुमा किया गया है; भूल-चूक होना असंभव नहीं है।)

इस कविता में आधुनिकता का व्यङ्ग्य-कटाक्ष या अट्टहास नहीं, वरन् कुछ करुणा का आभास है। किंतु एक नीति की बात इसमें है जो आधुनिक नीति है; वह ऐसी कि जो स्वस्थ अथवा सुन्दर कहकर प्रतीयमान है, उसके भीतर शायद कोई एक सांघातिक रोग है। जो धनी जान पड़ता है उसके भीतर पर्दे की ओट शायद कोई उपवासी छुपा पड़ा है। जो पुराने ज़माने के वैराग्यपंथी हैं, उन्होंने भी ऐसी ही बात कही है। जो जीवित हैं उन्हें वे एक बार याद दिला देते हैं कि एक दिन बाँस के झूले पर झूलकर श्मशान जाना पड़ेगा। यूरोपीय उपदेष्टा सन्यासियों ने इस बात का वर्णन किया है कि मिट्टी के नीचे गलित देह को कीड़े किस तरह खाते हैं। जिस देह को सुंदर समझा था वह अस्थिमांसरक्त का कदर्य समावेश है—यह याद

दिलाकर हमारी ऊँघ तोड़ने की चेष्टा नीति शास्त्र में प्रायः देखी गई है। इसी तरह बारबार प्रत्यक्ष वास्तव के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न करदेना वैराग्य साधना का प्रशस्त उपाय है। किंतु कवि तो बैरागियों का चेला नहीं, वह तो अनुरागियों का ही पक्ष लेने आया है। तब यह आधुनिक युग क्या इतना जराजीर्ण है जो उस कवि को भी हवा लग गई श्मशान की और उसने कहना शुरू कर दिया कि जिसे महत् कहते हैं उसमें घुन लग चुका है, जिसे सुंदर कहकर आदर करते हैं उसी के भीतर अस्पृश्यता है ?

मन जिनका बूढ़ा हो गया है, विशुद्ध स्वाभाविकता का ज़ोर उनमें नहीं है। विपरीत पंथा लेकर वह मन अपनी अनुभूति-शून्यता को दूर करना चाहता है ; सड़ी गली चीजों की सारी विकृति लेकर वह अपने को उसकी तीव्र झार का नशा देना चाहता है ; लज्जा-घृणा का त्याग कर रहा है जिससे उसकी झुर्रियों के भीतर हँसी का प्रवाह बह सके।

मध्यविक्टोरीय युग ने वास्तव का सम्मान करके उसे श्रद्धेयरूप में ही अनुभव करना चाहा था ; यह युग वास्तव को अपमानित करके उसकी सारी इज्ज़त मिटा देने को ही साधना का विषय समझता है।

विश्व-विषय के प्रति अत्यधिक श्रद्धा को यदि सेंटिमेण्टलिज्म कहते हैं तो पीछे पड़कर विरुद्धता करने को भी वही एक ही नाम दिया जा सकता है। चाहे जिस वजह से हो, मनके इस तरह बिगड़ जाने पर दृष्टि सहज नहीं रहती। अतएव मध्यविक्टोरीय युग को यदि अतिभद्रता का पण्डा कहकर व्यंग्य किया जाय, तो एडवर्डीय युग को इसका उल्टा विशेषण देकर व्यङ्ग्य करना पड़ेगा। यह व्यापार स्वाभाविक नहीं इसलिए शाश्वत भी नहीं है। साइंसमें हो चाहे आर्ट में, निरासक्त मन ही सर्वश्रेष्ठ वाहन है ; यूरोप ने साइन्स में उसे पालिया है किंतु साहित्य में नहीं पाया।

[अनु०—मोहनलाल वाजपेयी।

शिल्पी रवीन्द्रनाथ

नन्दलाल वसु

१. रवींद्रनाथ के चित्रों को समझने की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को यह स्मरण रखना निहायत ज़रूरी है कि इन चित्रों को उन्होंने उस समय बनाना शुरू किया था जब सारे संसार में उनकी कवितायें, नाटक, कहानियाँ, निबंध और अन्यान्य साहित्यिक कृतियाँ अत्यधिक सम्मान पा चुकी थीं ; उनके धार्मिक प्रवचन और सामाजिक तथा राजनीतिक लेख संसार की मनीषा को नवीन और मौलिक चिन्तन-सामग्री दे चुके थे, उनके गानों के सुर समूचे देश को झंकृत कर चुके थे और शिक्षा के क्षेत्र में उनकी योजनायें संसार के मनीषियों का ध्यान पूर्णरूप से आकृष्ट कर चुकी थीं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि ये चित्र उस व्यक्ति के जीवन के संध्याकाल में बनाये गये हैं जिसकी साहित्यिक प्रतिभा अविसंवादी थी, जो मौलिक विचारक और मनस्वी थ, जो छंद और अलंकार का बादशाह और रस का अक्षय निर्झर था।

२. ऐतरेय ब्राह्मण में कहा गया है कि शिल्पी या कलाकार शिल्प या कला के द्वारा अपने आप को छन्दोमय बनाता है (छन्दोमयमात्मानं कुरुते)। रवीन्द्रनाथ चित्रांकन आरंभ करने के पहले सत्तरवर्ष की निरन्तर साधना के द्वारा अपने को अपने युग के किसी भी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा अधिक छन्दोमय बना चुके थे। छन्द काव्य की ही भाँति चित्रशिल्प की भी जान है। इसीलिये जब रवीन्द्रनाथ ने चित्र बना कर "खेलना" शुरू किया तो इस खेल के पीछे एक विशाल साधना थी। किन्तु उनकी साहित्यिक सफलतायें उन्हें केवल छन्दोमय बनाने में ही सहायक रही हों सो बात नहीं है। काव्य, नाटक, कहानी, उपन्यास आदि में सफलता प्राप्त करने का अर्थ है कि लिखने वाले को इस बात का पूरा ज्ञान है कि कहाँ कौनसी वस्तु कितनी मात्रा में रखनी चाहिये और कहाँ किस बात का कितना हिस्सा त्याग देना चाहिये। अर्थात् वह प्रमाण (proportion) की साधना में भी सिद्धहस्त है। यह प्रमाण की साधना चित्र-शिल्प का अत्यन्त आवश्यक अंग है। प्रमाण के उचित निर्वाह के विना चित्र अच्छे बन ही नहीं सकते। साहित्यिक सफलता का एक तीसरा अर्थ भी चित्र-शिल्प की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। नाटक, उपन्यास और कहानी आदि में लेखक भिन्न भिन्न पात्रों के रूप में स्वयं बोलता है। यह तभी हो सकता है जब वह भिन्न प्रकृति के पात्रों के साथ अपने आप को एक या अभिन्न कर सके। जो नाटककार अपने पात्रों में प्रवेश करके उनके साथ एक नहीं हो सकता वह सफल नहीं हो सकता। रवीन्द्रनाथ इस कला के माने हुए उस्ताद थे।

अब यही बात ठीक चित्र-शिल्प में भी लागू होती है। चित्रकार को चित्रणीय वस्तुके साथ एक हो जाना चाहिये। जब तक वह अपने साथ चित्रणीय वस्तु की एकता (Identity) नहीं स्थापित कर लेता तब तक सफल नहीं हो सकता। सो, चित्र बनाना शुरू करने के पहले (१) छन्द (२) प्रमाण और (३) ऐक्य की साधना में रवीन्द्रनाथ अपने युग के किसी भी दूसरे व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक सिद्ध हो चुके थे।

३. हाल ही में रवीन्द्रनाथ की अन्तिम वयस की लिखी हुई लोरियों का संग्रह 'छड़ा' (लोरी) नाम से प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक की भूमिका में उन्होंने एक कविता दी है जो इन लोरियों का रहस्य समझने में सहायक है। चित्र-शिल्प में रवीन्द्रनाथ के चित्रों का बहुत-कुछ वही स्थान है जो काव्य-साहित्य में लोरियों का। इसलिये लोरियों के विषय में उनकी यह कविता वस्तुतः उनके चित्रों को भी समझने में सहायक है। उनके चित्रों की विवेचना आरंभ करने के पहले यदि पाठक इस कविता का हिंदी रूपान्तर पढ़ लें तो उन्हें आगे की बातों के समझने में सहायता मिलेगी—

अलस मन के आकाश में
जब प्रदोष उतरता है
कर्म के रथ की घड़घड़ाहट
जिस क्षण रुक जाती है
अस्तव्यस्त छिन्न-चेतन
चिथड़ी बातों के झुंड
न जाने किस स्वप्नराज्य की
सुन लेते हैं पुकार,
दिन के बिलों को छोड़कर
जाने कहां से आ पड़ते हैं।
किसी में होता है भाव का आभास
किसी किसी में अर्थ भी नहीं होता
धुंधले मन की यह रचना है
जो अपने अनियम से ही चलती है
झिल्ली की झनकार पर अकारण ही
उसकी बैठक जम जाती है।
प्रदीप की ज़रा-सी रोशनी

जब अपनी शिखा कँपाती है
तब अचानक चारों ओर से
शब्दों के फतिंगे उस पर टूट पड़ते हैं।
स्पष्ट आलोक की सृष्टि की ओर
ताक कर जब देखता हूँ
तब मन में सन्देह होता है—
यह अचानक आया हुआ मतवालापन है क्या !
बाहर से देखता हूँ
एक नियम-घिरा अर्थ,
भीतर उसका क्या रहस्य है
यह कोई नहीं जानता।
मौज के स्रोत की धारा में
क्या-क्या सब डूब रहे हैं, उतरा रहे हैं,
जवाब नहीं देते, वह क्या हैं
कहाँ से आ रहे हैं;
केवल इतना ही जानता हूँ कि वे हैं;
बाकी सब कुछ अंधकार है।
एक के साथ खेल चल रहा है
दूसरे को बाँधने का,
बंधन को ही अर्थ कहता हूँ।
बंधन छिन्न होने पर वे
केवल शून्य में दिशा भूली हुई।
पागल वस्तु ओं के दल (हो रहते हैं)।

इन लोरियों के समान ही रवीन्द्रनाथ के चित्रों के विचित्र उपादान उनके साधना-पूत अचेतन मन के कोने से—जिसे वे स्वप्नराज्य कहते हैं—आकर एक ऐक्य में बँध जाते हैं और सारे चित्र को एक 'अर्थ' दे जाते है। इस बंधन से टूट ने पर वे "केवल शून्य में दिशा भूली हुई पागल वस्तुओं के दल" हो जाते हैं। यहां एक और बात स्मरण रखनी चाहिये। चित्र के 'अर्थ' से यहां 'प्रयोजन' या 'माने' का भाव नहीं है। शिल्प-शास्त्र में 'अर्थ' एक विशेष प्रकार की सृष्टि है। उदाहरणार्थ ताजमहल अनेक पत्थरों का समवाय है। पर शिल्पी ने

इस कौशल से इन पत्थरों को सजाया है कि सब मिलकर एक सौंदर्य की सृष्टि हो गये हैं। ताजमहल के कोई माने पूछे तो नहीं बताया जा सकता। पर उसका अर्थ है। यही 'अर्थ' यहां अपेक्षित है— 'माने' या 'प्रयोजन' नहीं। इस प्रबंध में 'अर्थ' शब्द के इस विशेष भाव को याद रखना चाहिये।

४. चित्र रचना का आरंभ—कविता लिखते समय जब कभी परिवर्तन की आवश्यकता होती थी तभी रवींद्रनाथ काट-कूट किया करते थे। मार्जित-रुचि होने के कारण वे इस काट-कूट को सुंदर बनाने का प्रयत्न करते थे। कभी फूल बना दिया, कभी पत्ता। फिर इन फूल पत्तों को मिला कर एक रूप देने की कोशिश की। रवीन्द्रनाथ के चित्र इन्हीं काट-कूटों और उनको सुंदर बनाने के परिणाम हैं। यों बहुत पहले उन्होंने बाक़ायदा चित्र भी बनाए थे जो सुरक्षित हैं; किंतु काटाकूटी के परिणाम स्वरूप चित्र-रचना की प्रवृत्ति परवर्तीकाल की ही है।

५. छन्द—जिस प्रकार काव्य में छंद या rhythm होता है उसी प्रकार चित्र में भी। प्रकृति के विभिन्न छन्दों को लेकर ही शिल्पी रूप की व्यंजना किया करता है। इन छंदों द्वारा ही चित्र प्राणवान् हो उठता है। रूप जैसा भी हो, अगर उस में प्राण-धर्म है तो वह कलाकार की साधना की वस्तु है, परन्तु प्राणहीन रूप कलाकार का लक्ष्य नहीं हो सकता। प्राण क्या है? शिल्पी जिस चीज़ को प्राण कहता है वह केवल लोक में प्रचलित प्राण के संकीर्ण अर्थ में नहीं। मृत्यु में भी एक प्रकार का प्राण होता है। किसी मरीवस्तु को सचमुच मरी हुई हम इसलिये देखते हैं कि उस में एक मरणधर्मा 'प्राण' होता है। विकासोन्मुख अंकुर को चित्रित करने में उत्तम शिल्पी पत्तों में एक विशेष प्रकार के छन्द का आरोप करेगा जब कि मुरझाये हुए पत्तों में दूसरे प्रकार का। यद्यपि एक जीवन की ओर जाने वाला छन्द है और दूसरा मृत्यु की ओर, किन्तु कलाकार के लिये अपने अपने स्थान पर दोनों आराध्य हैं; दोनों में 'प्राणधर्म' विद्यमान है।

६. रवीन्द्रनाथ के समस्त चित्रों में प्राण का इतना अधिक प्रकाश है कि इस युग के श्रेष्ठ चित्रकारों के चित्र भी उनकी बगल में रखने पर फीके पड़ जाते हैं। अगर इन चित्रों में और कोई गुण न भी होता तो भी केवल अपनी अखण्ड प्राणवत्ता के बल पर ही ये चित्र सम्मान पाते। एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि ये सभी चित्र जीवनोन्मुख प्राणवाले हैं; मरणोन्मुख 'प्राण'-वाले चित्र उनके हैं ही नहीं। इस प्रकार अखण्ड प्राणवत्ता में जीवनोन्मुखता उनके चित्रों की अपनी विशेषता है। समस्त जीवन-व्यापी छन्दः साधना ने रवीन्द्रनाथ को इतना छन्दोमय और प्राणमय बना दिया था कि उनके चित्रों में यह अपने-आप—बिना किसी Conscious effort या जानबूझकर की गई चेष्टा के, सहजही उद्वेल हो उठा है। भारतीय चित्रकला को रवीन्द्रनाथ की यह अनुपम देन है। यदि आजके भारतीय शिल्पी इस बात को रवीन्द्रनाथ से सीख सकें तो निश्चयही उपकृत होंगे।



७. अरूप की साधना—रवीन्द्रनाथ ने प्रकृति का गभीर पर्यवेक्षण किया था। वे प्रत्येक वस्तु के छन्द को—उसके अरूप या abstract धर्म को—परिपूर्ण भाव से स्वायत कर चुके थे। चित्र बनाते समय ये भाव सहज ही उनकी लेखनी पर आ जाते थे। चित्रांकन के समय वे तूलिका व्यवहार नहीं करते थे, कलम से ही काम चला लेते थे और रंग भरने के लिये तो उनका चोगानुमा कुर्ता ही काम कर देता था। उसी के एक छोर को रंग में डुबो कर रगड़ रगड़ कर रंग फुला देते थे। इन अरूप भावों के उपयुक्त रूप में ग्रथन या संयोजन में ही उनका कृतित्व है। पुराणों में तिलोत्तमा की कथा दी हुई है: समस्त देवियों के अंगों से तिल-तिल भर सर्वोत्तम सौंदर्य आहरण करके ही इस परमा सुंदरी अप्सरा का निर्माण हुआ था। निर्माता का कौशल उन तिल-तिल भर आहरण किये हुए सौंदर्य के उपयुक्त रूप से ग्रथन और संयोजन में ही था। अगर किसी अनाड़ी के हाथ वे सौंदर्यकण पड़ते तो वह एक भद्दा-सा ढूह बना दे सकता था। चतुर शिल्पी उन्हीं वस्तुओं को उपयुक्त स्थान में उपयुक्त मात्रा में रख कर अनुपम रूप की सृष्टि कर सकता है। रवींद्रनाथ के चित्रों में इस मात्रा और प्रमाण की बारीकी का परिचय मिलता है। इसी को शिल्प-शास्त्र में 'प्रमाण' या proportion कहा गया है।

८. अद्भुत-तत्त्व—प्रमाण लोकाचारमूलक भी होता है और शिल्पशास्त्रीय भी। हाथी, मछली, बकरी, बंदर इनकी लंबाई-चौड़ाई-ऊँचाई के प्रमाण के संबंध में साधारणतः सभी लोग जानते हैं। किसी चित्र में इनका यथारूप विनियोग हो तो दर्शक के मन में ठीकठीक की जो धारणा होती है वह लोकाचार-मूलक होती है। किन्तु मण्डन शिल्प (Decorative Art) के लिये एक ही गोमूत्रिका बेल में शिल्पियोंने हाथी, मछली, बकरी और बंदर का एक समान ही चित्रण किया है। यह 'प्रमाण' लोकाचार-मूलक तो नहीं है पर शिल्प-शास्त्र में मान्य है। परन्तु यदि एक हाथी को बहुत छोटा करके अंकित किया जाय और उसके पास ही एक मनुष्य को बहुत बड़ा करके, तो उसका प्रभाव चित्त को झकझोर देनेवाला होगा। यह चित्र 'अद्भुत' (Grotesque) दिखेगा। शिल्पी दर्शक के चित्त को झकझोर कर नये सिरे से नवीन भाव की उपलब्धि कराने के लिये इस शैली का आश्रय लिया करता है। रवीन्द्रनाथ के चित्रों में यह अद्भुत-तत्त्व स्वतःस्फूर्त हो कर प्रकट हुआ है। इनके अद्भुत दिखने का एक और भी कारण है। प्रायः हमें सील खाई हुई दीवारों पर अजीब आकार और शक्लें दिखाई देती हैं। टूटी हुई दीवारों पर प्रकृति के हाथ से नाना विचित्र रूप बन जाया करते हैं। भग्न दीवार की रेखायें अपने आप में भी एक प्रकार की विद्रूप-क्रूरता लिए हुए रहती हैं। अकसर उन्हीं अद्भुत दृश्यों और रूपों के आधार पर रवीन्द्रनाथ की कल्पना प्रेरित हुआ करती थी और रंगों

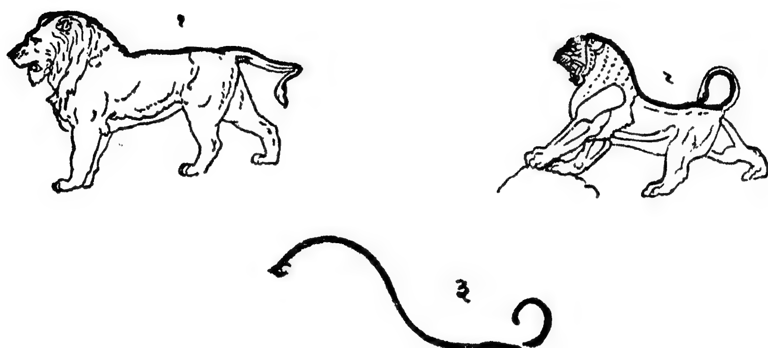
और रेखाओं के सहारे अद्भुत-तत्त्व को प्रकाशित किया करती थी। उदाहरण के लिये एक जीवाकृति इसी अंक में अन्यत्र देखी जा सकती है।

९. इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के चित्रों के पाँच मुख्य गुण हैं—(१) उद्वेल प्राणवत्ता (virility) (२) जीवनोन्मुखता, (३) प्रमाण-संयोजन (४) अद्भुत-तत्त्व और (५) अलंकरण भाव।

१०. भारतीय परम्परा से योग—अपनी कला में रवींद्रनाथ भारतीय परंपरा में ही पड़ते हैं। उनके चित्रों में प्रकाशन (expression) की अपेक्षा व्यंजन (suggestion) की ओर ही अधिक प्रवृत्ति है। यह जानी हुई बात है कि भारतीय कविगण ध्वनि या व्यंजना को काव्य का आत्मा मानते थे। रस सब से उत्तम ध्वनि या suggestion है। काव्य में शब्द और अभिधेय अर्थ गौण हैं, ध्वनि या व्यंग्य अर्थ ही प्रधान। भारतीय चित्रकार भी भारतीय कवि की भांति रेखा और रंग को गौण वस्तु मानता है, उनके द्वारा ध्वनित 'अर्थ' को प्रधान। इधर पश्चिमी देशों में चित्रों का वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। कौन-सी वस्तु का कौन-सा अंग किस प्रमाण में होने पर वस्तु ठीक-ठीक (वास्तव) दिखेगी इस बात की बहुत सूक्ष्म विवेचना की गई है। इसीलिये वहां के चित्रों में तीन डाइमेंशन स्पष्ट दिखाये जाते हैं। अर्थात् चित्र में लंबाई या चौड़ाई ही नहीं दिखाई जाती, ऊँचाई या मोटाई दिखाने के लिये आलोक और छाया का विधान भी किया जाता है। दूसरी तरफ़ भारतीय प्राचीन चित्र कागज या दीवार से चिपके हुए (flat) दिखाये गये हैं। उनमें दो से अधिक डाइमेंशन देखने को नहीं मिलते। रवीन्द्रनाथ के चित्र भी ऐसे ही हैं।

११. मैंने एक बार कहा था कि रवीन्द्रनाथ के चित्र real तो होते हैं पर realistic नहीं होते। बहुत से पाठकों ने इस बात को अच्छी तरह समझाने के लिये मुझसे अनुरोध किया था। पश्चिमी देशों में चित्रणीय वस्तु का इतना सूक्ष्म अध्ययन हुआ कि एक शिल्पि-संप्रदाय वस्तु को, वह जैसी है, वैसी ही दिखाने पर अड़ गया। यही रियलिस्टिक है। किन्तु एक सिंह अंकित करने वाला चित्रकार सिंह के सभी अंगों और चेष्टाओं को अंकित करके भी—अर्थात् सिंह की बनावट के प्रति पूर्ण ईमानदार रह कर भी—एक ऐसा सिंह बना दे सकता है जिसमें वह शौर्य-पराक्रम और अकुतोभय भाव नहीं आ सकता जो सिंहत्व की जान है। उसका अंकित यह सिंह रियलिस्टिक तो होगा पर रियल नहीं। दूसरी तरफ़ एक शिल्पी सिंह के अंगोपांग के चित्रण में ग़लती करके भी यदि ऐसी सिंह मूर्ति बना देता है जिसे देखकर दर्शक के मन में सिंहत्व का भाव जाग उठे, तो वह रियलिस्टिक न करके भी रियल सिंह को अंकित कर सका है। रवीन्द्रनाथ इसी श्रेणी के शिल्पी थे।

१२. औसत शिक्षित व्यक्ति को ऊपर की बात जरा अजीब लगेगी। सिंह की बनावट ठीक होने पर भी क्यों सिंह गलत हो गया और बनावट में गलती होने पर भी क्यों ठीक हो गया, यह बात ऊपर ऊपर से पहेली-जैसी लगती है। इस बात को यों समझा जाय :



ऊपर के चित्रों में नं० १ एक आधुनिक कलाकार का बनाया हुआ सिंह है। इसमें सभी अंग ठीक ठीक चित्रित हुए हैं। इसलिये इसे रियलिस्टिक कहा जा सकता है। चित्र नं० २ एक बहुत पुराने असीरियन कलाकार का अंकित सिंह है। इसका अंगविन्यास उतना यथार्थ नहीं है जितना प्रथम चित्र का है। फिर भी इसमें सिंहत्व पूर्णमात्रा में विद्यमान है। इस चित्रको देखनेवाले के मन में सिंह संबंधी सभी गुण जाग्रत हो जाते हैं। इसीलिये यह रियलिस्टिक न होकर भी रियल है। ऐसा यह इसलिये हुआ है कि सिंहत्व का जो छन्द है वह इसमें वर्तमान है। यह छन्द, नं० ३ के चित्र में दिखाया गया है। अनेक परिश्रम और अनुधावन के बाद कलाकारों ने इस छन्द का आविष्कार किया है। यही वह अरूप (abstract) धर्म है जो वस्तु के बिना भी सत्य है। रवीन्द्रनाथ के चित्रों में यह धर्म वर्तमान है। वह कभी वस्तु के साथ है और कभी वस्तु से अलग। इसी छन्द की यथार्थता के कारण अनेक चित्र रियलिस्टिक न हो कर भी रियल हैं।

१३ प्रत्येक चित्र के पाँच संयोजक तत्त्व होते हैं जो मिलकर उसे समग्रता प्रदान करते हैं : (१) आईडिया या विषय—चित्र का यथार्थ अभिप्राय (२) टेकनीक या रीतिनैपुण्य (३) बैलेंस या भिन्न भिन्न अंगों को यथास्थान नियोजित करना (४) इन सबका पृष्ठतल पर निर्वाह (surface quality या treatment) और (५) वह अकथनीय सूक्ष्म तत्त्व—प्राण (life movement) जो चित्र के सभी अंगों में समाया हुआ होता है। विश्लेषण के लिये

इन सब की हम मन में अलग अलग कल्पना कर सकते हैं किंतु चित्र में ये सब अखण्ड रूप से मिले हुए होते हैं।

साधारणतः शिल्पी विषय या आईडिया से शुरू करता है और पीछे उसे रूप देकर प्रस्तुत करना चाहता है—यही इस देश के और बाहर के शिल्पी प्रायः किया करते हैं। किंतु रवीन्द्रनाथ की सृष्टि अक्सर उसी समय शुरू हो जाती है जबकि विषय की ठीक-ठीक चेतन (conscious) कल्पना भी उनके मन में नहीं रहती। लगता है मानो केवल सृष्टि-नैपुण्य या architectural design या वर्ण-सन्निवेश ही उनका एकमात्र उद्देश्य रहा हो किंतु जब चित्र बन चुकता है तब मालूम होता है कि उसके सभी संयोजक तत्त्व एक ही विषय के भीतर बराबर लय हो गए हैं और चित्र प्राणों से छन्दित हो रहा है। यह केवल प्रतिभावान् के ही हाथों सम्पन्न हो सकता है। लोकाचारमूलक सृष्टि-रीति यद्यपि उलट गई होती है फिर भी उनके चित्र एकदम real होते हैं। यदि लोकरुचि उन चित्रों की ओर प्रश्नसूचक भाव से ताक उठती है तो उसका कारण यही है कि विषय को ही वह आज तक सबसे अधिक प्राधान्य देती आई है। चित्रकार अपने विषय की जो कल्पना लेकर शुरू करता है उसमें बराबर प्रतिक्षण न जाने कितने सूक्ष्म परिवर्तन घटित होते रहते हैं और अंत में मालूम पड़ता है कि उसकी मूल कल्पना शिल्प-सृष्टि के भीतर अप्रधान हो पड़ी है; एक नई कल्पना के भीतर सारे संयोजक तत्त्वों ने अपने को लीन कर दिया है। रवीन्द्रनाथ ने चेष्टा द्वारा विषय की अवज्ञा नहीं की। फिर भी उनके चित्रों में विषय उपेक्षित रहा है और इसीसे उनमें एक वैशिष्ट्य आगया है।

१४. एक बार बातचीत के सिलसिले में रवीन्द्रनाथ ने मुझसे कहा था कि सत्य की चाहे जो परिभाषा की जाय, उसका एक गुण यह होता है कि वह हमारे ध्यान को बरबस अपनी ओर खींच लेता है। और जितना ही हम उसकी ओर देखते हैं उतना ही अवशभाव से उसकी तरफ़ आकृष्ट होते जाते हैं। 'अद्भुत' चीज़ भी इसी तरह अपनी ओर हमारा ध्यान खींच लेती है किंतु उसका आकर्षण लगातार देखने से घटता जाता है और सत्य का आकर्षण बढ़ता जाता है। मैं मानता हूँ कि रवीन्द्रनाथ के चित्रों में एक अद्भुत तत्त्व ज़रूर है पर उनमें सत्य भी इतना अधिक है कि हम जितने ही निकट से उन्हें देखते हैं वे हमें उतनाही अधिक आकृष्ट करते हैं—'ज्यों ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि त्यों त्यों खरी निकरै-सी निकाई' (मतिराम)। ये चित्र स्वयं ही अपने भाष्य होने लगते हैं।

१५. प्राचीन भारतीय शिल्पी वस्तुवादी तो नहीं थे पर प्राणमयी सृष्टि के निर्माता जरूर थे। वे वस्तु के अंगोपांग को कभी कभी उतनी सूक्ष्मता के साथ नहीं उपस्थित कर सके जितना आधुनिक वैज्ञानिक शिल्प कर लेता है। उदाहरण के लिये, मानलिया जाय कि एक मकान के

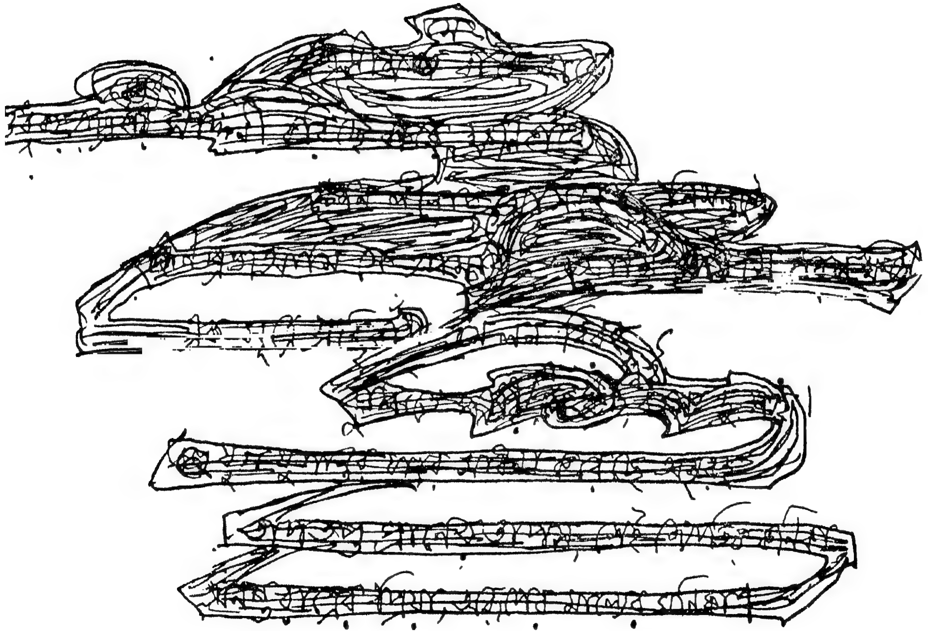
सामने खड़े हुए किसी मनुष्य को अंकित करना है। तो वास्तविकता का तक़ाज़ा यह है कि मनुष्य इस प्रमाण का बनाया जाय कि उसकी आँखें छत का समूचा अंश न देख सकें। कभी कभी भारतीय शिल्पियों ने इस नियम की अवहेलना की है, फिर भी उनके चित्र का सौन्दर्य अणुमात्र भी खंडित नहीं हुआ है, क्योंकि वे उस चीज़ को सफलता पूर्वक अंकित करके दिखा सके हैं जा मनुष्य में मनुष्यता ले आ देती है और मकान में मकान-पन। रवीन्द्रनाथ इसी श्रेणी में पड़ते हैं।

१६. रंगों का सामंजस्य—रवीन्द्रनाथ के रंग बहुत ही उज्ज्वल या bright होते हैं। वे जर्मनी द्वारा बनाए हुए पोलिकन के तरल रंगों का व्यवहार करते थे। प्राचीन भारतीय चित्रों में यह उज्ज्वलता बराबर रही है। भारतवर्ष गर्म देश है। यहाँ की प्रकृति में वह कुज्झटिका-च्छन्न फीकापन नहीं है जो यूरोप में साधारणतः पाया जाता है। यूरोप में फीकापन स्वाभाविक है। यूरोप में जब रवीन्द्रनाथ के चित्रों की प्रदर्शिनी हुई थी तो वहां के लोगों को उन चित्रों का उज्ज्वल गाढ़ रंग बहुत पसंद आया था; वे लोग भारतीय चित्रकार से ऐसी ही आशा करते थे। यद्यपि रवीन्द्रनाथ ने उज्ज्वल तीव्र रंगों का प्रयोग किया है परन्तु उनकी पहचान इतनी बारीक थी कि इन रंगों के सामंजस्य में भद्दापन विल्कुल नहीं आ पाया है। घटिया दर्जे के पटों में रंग की तीव्रता तो होती है परन्तु रंगों के मेल का ज्ञान न होने के कारण वे बहुत भद्दे दिखते हैं। रवीन्द्रनाथ गाढ़ नीले रंग को भी उसी की बग़ल में गाढ़तर काली रेखा देकर सुरुचिपूर्ण बना देते थे। रंगों के सामंजस्य के विषय में और भी बहुत-सी बातें मुझे कहनी हैं। वे इस छोटे प्रबंध में नहीं अँटेंगी। अगले किसी अंक में इस विषय पर फिर अपना मत प्रकट करने की कोशिश करूँगा।

१७. आदिम-गुण होते हुए भी बौद्धिक—यद्यपि इन चित्रों में आदिम (primitive) चित्रों के गुण वर्तमान हैं, विशेष करके इन के प्राकृत रूप (crude form) और उच्छल वीर्य (virility) इन्हें आदिम चित्रों के बहुत निकट ले आते हैं तथापि ये पूर्ण बौद्धिक (intellectual) हैं। इनके पीछे जो साधना काम करती है वह बहुत ही मार्जित, सुसंस्कृत और बुद्धिपूर्वा है। इस प्रकार ये चित्र जहाँ आदिम चित्रों के प्राकृत भाव (crudeness) और उच्छल वीर्य (virility) से परिपूर्ण हैं वहां परले दर्जे की बौद्धिक साधना से समर्थित हैं। उपर्युक्त दो गुणों ने उनकी बौद्धिकता को बहुत ही जीवन्त और वेगवान् बना दिया है।

१८. कवि ने अपने ही चित्रों के सम्बन्ध में 'चित्रलिपि' की भूमिका में जो कुछ कहा है उसका भाव इस प्रकार है: लोग अक्सर मुझसे मेरे चित्रोंका अर्थ पूछा करते हैं। मैं उसी प्रकार चुप रह जाता हूँ जिस प्रकार मेरे चित्र चुप रहा करते हैं, क्योंकि उनका काम अपने

आपको अभिव्यक्त करना है, अर्थ बताना नहीं। वे जैसा-कुछ दिखते हैं उस दिखने के पीछे कोई ऐसा अर्थ नहीं होता जो उनसे भिन्न हो और बाहर से आया हो और जिसे चिन्तन द्वारा खोजा या शब्दों द्वारा समझाया जा सके। उनके इस रूप में ही यदि उनका चरम मूल्य निहित रहा तो वे हमारे निकट स्थायी हो जाते हैं, अन्यथा हम उन्हें स्वीकार नहीं करते और भुला देते हैं, फिर भले ही उनमें कोई वैज्ञानिक तथ्य का प्रतिपादन हो या नैतिक औचित्य वर्तमान हो।



[कवि की काट-कूट का एक नमूना]

वे काम किए जा रहे हैं

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

अलस समय की धारा में बहता हुआ मन
शून्य की ओर ताकता हुआ चला जा रहा है।
उस महाशून्य के मार्ग में छाया के अंकित चित्र दिखाई दे रहे हैं।
ज़माने से दल के दल जनसमूह
सुदीर्घ अतीतकाल में
जयोद्धत प्रबलगति से आए हैं और चले गए हैं।
आए हैं साम्राज्य लोभी पठान,
आए हैं मुग़ल,
उनके विजय-रथ का पहिया धूल उड़ाता रहा है,
उनकी विजय पताकायें फहराती रही हैं।
सूने मार्ग की ओर देख रहा हूँ—
आज उनका कोई चिह्न नहीं।
युग-युग में प्रभात और सन्ध्या-कालीन
सूर्योदय और सूर्यास्त के रंगीन प्रकाश
उस निर्मल नीलिमा में चमकते रहते हैं।
दूसरी बार, उसी शून्यके नीचे
आए हैं झुण्ड के झुण्ड,
लौहबद्ध मार्ग से, अनल-निःश्वासी रथ पर
प्रबल अंग्रेज़,
विकीर्ण कर दिया है अपना तेज,
जानता हूँ, काल उनके रास्ते से भी निकल जायगा
बहादेगा साम्राज्य का देशग्रासी जाल
न जाने किस ओर।
जानता हूँ, ज्योतिष्क-लोक के मार्ग में

उनकी पण्यवाही सेना का लेशमात्र चिह्न भी नहीं रह जायगा।
मिट्टी की पृथिवी की ओर जब दृष्टि फेरता हूँ
तो देखता हूँ, वहाँ कल-कल रव करती हुई विपुल जनता
चली जा रही है नाना पथों से नाना दलों में
युग युगान्तर से मनुष्य के नित्य प्रयोजन के कार्यों में
जीवन में और मरण में।
वे चिरकाल रस्सी खींचते हैं, पतवार थामे रहते हैं ;
वे मैदानों में बीज बोते हैं, पका धान काटते हैं,
वे काम करते हैं
नगरमें और प्रान्तर में।
राज-छत्र टूट पड़ता है, रण-डंका बंद हो जाता है
विजय स्तम्भ मूढ़ की भाँति अपना अर्थ भूल जाता है
लहूलुहान हथियार-धरे हाथों के साथ
सभी लहूलुहान आँखें
शिशु पाठ्य कहानियों में मुँह ढाँपे रहती हैं।
वे काम करते हैं
देश में और देशान्तर में,
अंग-वंग-कलिंग में, समुद्रों और नदियों के घाट-घाट में,
पंजाब में, बंबई में, गुजरात में।
उनके गुरु-गुरु गर्जन और गुन-गुन स्वर
दिन-रात में गुँथे रह कर दिन-यात्रा को मुखरित किए रहते हैं,
मंद्रित कर डालते हैं जीवन के महामंत्र की ध्वनि को।
सौ-सौ साम्राज्यों के भग्नावशेष पर
वे काम किए जा रहे हैं।

[१३ फ़रवरी १९४१

भारतीय संस्कृति के अध्ययन की एक उपेक्षित दिशा

क्षितिमोहन सेन

इस विशाल महादेश की संस्कृति का अध्ययन करने के लिये पंडितों ने नाना दिशाओं में प्रयत्न किए हैं। किसी ने भिन्न भिन्न प्रदेशों में फैली हुई भाषाओं और उनके साहित्य का अध्ययन किया है, किसी ने धर्ममतों और सम्प्रदायों की विशेषता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है, किसी किसी ने राजनीतिक और जातिगत इतिहास की ओर प्रवृत्ति दिखाई है ; परन्तु ये सारी बातें अत्यन्त आवश्यक होकर भी संपूर्ण भारतीय संस्कृति का परिचय कराने में असमर्थ ही हैं। केवल इतिहास, केवल लोक-संख्या और केवल भाषा-विवृत्ति तो पर्याप्त हैं ही नहीं, सब मिलाकर भी कुछ कम ही रह जाते हैं। ज़रूरत है कि भिन्न भिन्न सम्प्रदायों और जन-समूहों के भीतर जो योगायोग है, परस्पर के प्रभाव और प्रतिपत्ति का संकोच-प्रसार है उसका जीवन्त इतिहास जाना जाय। इस प्रकार के अध्ययन के लिये सबसे उपयुक्त स्थान काशी है। यहाँ भारतवर्ष के सभी प्रदेशों और सभी सम्प्रदायों के लोग अपनी अपनी विशेषताएँ लिए हुए वर्तमान हैं। काशी संक्षिप्त हिन्दुस्थान है। अन्यान्य बड़े बड़े शहरों में भी भिन्न भिन्न प्रदेशों के लोगों का निवास है परन्तु वहाँ वे जीविका के लिये गए हुए हैं और अपनी अपनी सांस्कृतिक विशेषताएँ प्रायः दबा कर रखते हैं। काशी में यह बात नहीं है। इसीलिये स्वर्गीय कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर जब सन् १९२३ ई० में काशी गए थे तो उन्होंने इस जीवन्त इतिहास के अध्ययन की बारबार चर्चा की थी। यद्यपि मेरा कार्यक्षेत्र दूसरा है तथापि मैं तभी से कुछ-कुछ इस तरफ़ भी ध्यान देता आया हू। आज जब कि कवि स्वर्गीय हो गए हैं, उन्हीं बातों को एक बार फिर विद्वानों को स्मरण करा देने के लिये ही यह लेख लिख रहा हूँ।

वैदिक युग में भिन्न भिन्न वेद और शाखाओं को आश्रय करके भिन्न भिन्न ब्राह्मणादि जातियाँ भिन्न भिन्न स्थानों में बसती थीं। जीविका के लिये ये शाखाएँ कभी कभी सुदूर देशों को भी चली जाती थीं। उन दिनों किसी एक शाखा को मानने वाली जाति के लोगों में यदि दूसरी किसी शाखा का परिचय पाया जाता तो यह समझ लेना आसान था कि ये लोग कहीं बाहर से आकर बस गए हैं। अब समाज-व्यवस्था अधिक जटिल हो गई है और वैदिक शाखाएँ प्रायः भुला दी गई हैं। इसलिये आज शाखाओं के आधार पर यह पहचान सकना कठिन हो गया है कि कौन जन-समूह कहाँ से आकर बसा हुआ है। अब प्राचीन गृह्यसूत्रों द्वारा समाज का शासन नहीं होता फिर भी निबंधों के प्रचार से अब भी यह समझा जा सकता है कि कोई जन-

समूह वास्तव में किस प्रदेश के लोगों का निकट-संबंधी है। यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि निबंधों की रचना बाद में हुई है। सूत्रों के बाद स्मृतियों का और उनके भी बाद निबंधों का प्रचलन हुआ है। इसलिये निबंधों के द्वारा जिन संबंधों का परिचय मिलेगा वह और भी हाल का होगा। इस प्रकार विचार किया जाय तो सारे भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रदेशों से अद्भुत सांस्कृतिक और वंशगत सम्मिलन का परिचय मिलेगा जो, मेरे विचार से, भाषा, साहित्य और शारीरिक समताओं की अपेक्षा कम वज़नदार प्रमाण नहीं है।

उदाहरण के लिये बंगाल आसाम और मिथिला को लिया जाय। बंगाल में रघुनन्दन के निबंधों का प्रचलन है। इन्हें ग्रंथकार ने तत्त्व नाम देकर २८ खंडों में विभक्त किया है। इसीलिये इनको कभी कभी अष्टाविंशति तत्त्व कहते हैं। काशी में समादृत होने के कारण 'मिताक्षरा' प्रायः समूचे भारतवर्ष में प्रचलित है परन्तु बंगाल में उसका प्रभाव नहीं के बराबर है। यहाँ जीमूतवाहन का 'दायभाग' ही चलता है। नेपाल और आसाम में भी यह निबंध समादृत है, और मिथिला में वाचस्पति मिश्र का मत प्रधान है। किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि रघुनंदन का मत सारे बंगाल में समादृत है तथापि उसके पूर्वी किनारे पर और श्रीहट्ट (सिलहट-आसाम) में उसका प्रचार एकदम नहीं है। वहाँ मिथिला में प्रचलित वाचस्पति मिश्र का मत ही मान्य है। भाषा-शास्त्र का जिन्होंने अध्ययन किया है उनका भी कथन है कि श्रीहट्ट वस्तुतः मिथिला से होकर आई हुई पश्चिम-भारतीय जातियों का उपनिवेश है। यहाँ पर नागरी अक्षरों में लिखी हुई अनेक बँगला पुस्तकें पाई गई हैं। मिथिला ही से ये जातियाँ यदि आई होतीं तो उनकी लिपि नागरी न होती। मिथिला और बंगाल की लिपियाँ प्रायः एक ही हैं। इन लोगों के वंश में मिश्र, लाला आदि पश्चिम-भारतीय उपाधियाँ भी हैं। निबंधों के प्रचलन से भी उपर्युक्त भाषा-शास्त्रीय मत की पुष्टि होती है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र के निबंध का ऐसा प्रभाव बंगाल में और कहीं भी नहीं है। यह ज़रूर है कि श्रीहट्ट से आरंभ करके मेघना नदी के किनारे-किनारे उत्तरी मैंमनसिंह और नवाखाली ज़िलों में इसी मत का समादर है। इन स्थानों में रघुनंदन का प्रभाव नहीं है। मिथिला की भाँति ही इन स्थानों के ब्राह्मण प्राचीन प्रथा के खूब भक्त हैं। बंगाल के दूसरे स्थानों के ब्राह्मण इतने कट्टर प्राचीनपंथी नहीं हैं। फिर इन्हीं प्रदेशों में पुराने ज़माने में बहुतर जातियाँ हिंदू नहीं बन सकीं, बौद्ध ही बनी रहीं और बाद में चल कर धर्मान्तर में दीक्षित हुईं।

जिन लोगों का निबंध-साहित्य से परिचय नहीं है वे कभी कभी कह दिया करते हैं कि स्मृतिकार और निबंधकारगण मन-गढ़न्त रीति-रस्मों की सृष्टि करते रहे हैं। लेकिन वास्तव में यह बात नहीं है। वस्तुतः समाज में जो सब नियमादि पहले से ही प्रचलित थे उन्हींको,

विशेष विशेष स्थानों में दोष-त्रुटि दूर करके, तत्तत् स्थानों में सर्वमान्य होने योग्य एक शुद्ध-संस्कृत साधारण सामाजिक विधि का उन्होंने प्रवर्तन किया है। निबंधकारों ने बाहर से लाकर समाज के सिर पर नूतन व्यवस्थाएँ नहीं लादीं बल्कि भीतर से लेकर उन्हें शास्त्र-पूत बनाया। यही कारण है कि सारे देश ने उन्हें आन्तरिकता के साथ स्वीकार किया।

देशाचार और शिष्टाचार के साथ इन निबंधकारों का कैसा संबंध रहा है, यह दिखाने के लिये नीचे कुछ मनोरंजक विवरण दिए जा रहे हैं।

मदनपारिजात नामक निबंध-ग्रंथ चौदहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में लिखा गया था। इसके लेखक विश्वेश्वर भट्ट पेदिभट्ट के पुत्र थे और व्यासारण्य मुनि के शिष्य थे। इनका गोत्र कौशिक था। दिल्ली के उत्तर में यमुना नदी के किनारे काष्ठापुरी में टाका-वंशीय राजा मदनपाल के आश्रय में यह ग्रंथ लिखा गया था। ग्रन्थकार ने अत्यन्त सावधानी से यह ग्रंथ लिखा था। बड़े यत्नपूर्वक इसमें मिताक्षरा का अनुसरण किया गया है और एक भी दक्षिणी आचार नहीं आने दिया गया है। देशाचार और स्थानीय शिष्टाचार के प्रति इतनी सावधानी दिखाई गई है कि ग्रन्थकार के स्वदेशीय आचार इसमें एकदम नहीं मिलते। समूचे उत्तर भारत में यह ग्रंथ आदृत होता है।

दूसरी तरफ़, बहुत से दक्षिणदेशीय ब्राह्मण काशी में बस गए थे। शिव-पूजा-विषयक लिंग-प्रतिष्ठा-विधि के रचयिता नारायण भट्ट के पिता रामेश्वर भट्ट का वंश दक्षिण से आकर काशी में बस गया था। दामोदर के पुत्र गौरीश भट्ट का जन्म महाराष्ट्र में हुआ था। इन्होंने काशी में ही अध्ययन किया था। सन् १६०९ ई० में अकबर के दरबार में ये सम्मानित हुए थे। अनन्त-पुत्र राम दैवज्ञ ने १६००-१६०१ ई० में मुहूर्त-चिंतामणि की और नीलकंठ ने व्यवहार-मयूख की रचना की थी। इनका पुराना निवास विदर्भ या बरार में था। महाराष्ट्र के चित्पावनवंशीय गोपाल के पुत्र विश्वनाथ ने काशी में ही सन १७३६ ई० में व्रत-प्रकाश नामक ग्रंथ लिखा। रत्नमाला के रचयिता कृष्णभट्ट आड़े भी काशीवासी थे। यद्यपि ये लोग काशी में बहुत दिनों से बस गए थे, तथापि इनके ग्रंथों में दक्षिणी प्रभाव खोजा जा सकता है।

इस प्रसंग में एक मज़ेदार इतिहास भट्ट गोविंदराज का है। इन्होंने अपनी लिखी हुई मनुस्मृति (२।२३) की टीका में यद्यपि आन्ध्र देश को म्लेच्छ देश कहकर निंदा की है और अन्यत्र "स्वर्वाहिनी पुलिन लाञ्छन लब्धकीर्तिः" अर्थात् गंगातीरवासी कहकर अपना परिचय दिया है, तथापि वे आन्ध्र-विरोधी किसी द्रविड़ प्रदेश के ही निवासी थे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इनके पिता का नाम माधव भट्ट और पितामह का नारायण भट्ट था। इनकी लिखी हुई एक पुस्तक का नाम है स्मृति-मञ्जरी। इसमें

उन्होंने मामा की पुत्री से विवाह करना विहित बताया है। इसीसे समझ में आ जाता है कि वे द्रविड़ देश से ही आए थे। सो, इस प्रकार विचार किया जाय तो अनेक ग्रंथकारों के मूल प्रदेशों की विधियाँ अनेक सावधानी बर्तने पर भी रह ही गई हैं। फिर भी साधारण नियम यह जान पड़ता है कि जिस जिस प्रदेश में चलित विधियों को ले कर निबंध की रचना हुई है उसी उसी प्रदेश में वह निबंध मान्य हुआ है। दक्षिण के शास्त्रकारों ने मामा और बुआ की कन्या से विवाह का विधान किया है और उत्तर में प्रचलित ग्रंथों के लेखकों ने इस बात की दक्षिणी आचार कहकर उपेक्षा की है। पञ्चनद के हिमालय प्रदेश में ब्राह्मण लोग क्षत्रियकन्या से विवाह कर सकते हैं पर देश के अन्य भागों में यह विधि अचल है।

यद्यपि निबंधों की रचना वेद, स्मृति और पुराणों के आधार पर ही हुई है तथापि निबंधकारों ने अपने-अपने संस्कृत विधानों के प्रवर्तन के समय देशाचार लोकाचार और कुलाचार की उपेक्षा नहीं की। करते तो शायद वे निबंध सर्वजन-समादृत होते ही नहीं। यही कारण है कि जब एक प्रदेश का जनसमूह किसी दूरवर्ती प्रदेश की ओर गया है तब साथ ही साथ अपने लोकाचार और कुलाचार के समर्थक निबंध को ले जाना भी नहीं भूला। इसीलिये मानवधारा का सामाजिक और सांस्कृतिक गमनागमन निर्णय करने में इन बातों से विलक्षण तुलनात्मक दृष्टि पाई जाती है।

श्री पाण्डुरंग वामन काणे महाशय ने "हिस्ट्री आफ़ धर्मशास्त्र" नामक एक अपूर्व ग्रंथ अंग्रेजी में लिखा है। बड़े ही परिश्रम और सावधानी से यह ग्रंथ लिखा गया है। यद्यपि भारतवर्ष के नाना प्रदेशों में प्रचलित निबंधादि किस प्रकार एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में जाते रहे हैं इस विषय की इस ग्रंथ में कोई आलोचना नहीं की गई है, तथापि जो कोई भी इस क्षेत्र में कार्य करना चाहे उसके लिये इस ग्रंथ से पर्याप्त सहायता मिल सकती है। मैंने तो इस विषय में पद-पद पर इस ग्रंथ से सहायता ली है।

यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि जहाँ तक पंडितों का प्रश्न है, सभी निबंध-ग्रंथ समादरणीय हैं। एक प्रदेश का विद्वान् केवल अपने देश के प्रचलित निबंध को ही प्रमाण मानेगा और अन्यान्य निबंधों को अप्रामाणिक कह देगा ऐसी बात नहीं है। फिर निबंधकारों ने अपने पूर्ववर्ती निबंध-ग्रंथों से पर्याप्त सहायता ली है। प्रायः प्रत्येक निबंध पर उसके पूर्ववर्ती निबंधकार का ऋण है। यहाँ जब भिन्न प्रदेश के निबंधों से प्रादेशिक विशेषताओं के निर्णय की बात कही जाती है तो वास्तव में साधारण जनता की बात कही जाती है, क्योंकि साधारण जनता ही वास्तव में हमारे अध्ययन की वस्तु है।

जिस प्रकार भिन्न भिन्न प्रदेशों में प्रचलित निबंधों से और लोकाचारों से एक एक

संस्कृति की धाराओं का परिचय मिलता है उसी प्रकार तत् तत् स्थानों की धर्म-विधि और पूजा-उपासना आदि की विधियों से भी इन सांस्कृतिक धाराओं का परिचय मिलता है। भाषा-शास्त्र के विद्वान् केवल भाषा-शास्त्रीय प्रमाणों के बल पर प्रादेशिक संस्कृति का जो रहस्य-उद्घाटन करते हैं उसे इन विधियों से मिलाकर साफ़ कर लें तो अधिक निश्चयपूर्वक उनके निर्णय को मान लिया जा सकता है। गुजरात और बंगाल आदि प्रदेशों में कुछ-कुछ भाषा संबंधी समानता है, फिर धर्मगत और जातिगत समानता भी कम नहीं है। श्री देवदत्त रा० भाण्डारकर महाशय ने बताया है कि गुजरात के नागर ब्राह्मण श्रीहट्ट (सिलहट-आसाम) से वहाँ जा कर बसे हैं। इसका प्रमाण उनके ताम्रशासन आदि से मिलता है। फिर अनेक ब्राह्मणों की उपाधियों में भी घोष मित्र आदि वे उपाधियाँ वर्तमान हैं जो बंगाल के कायस्थों में पाई जाती हैं। श्रीहट्ट के शिव हाटकेश्वर कहलाते हैं और नागर लोगों के उपास्य देवता भी हाटकेश्वर ही हैं। इन समानताओं से बहुत-सी बातें सूचित होती हैं। गौड़ से चलकर अनेक सारस्वत ब्राह्मण महाराष्ट्र और कर्णाट आदि देशों में बस गए हैं। वे लोग अपने को गौड़ सारस्वत कहा करते हैं, मछली खाते हैं और देवी की पूजा करते हैं। फिर इनकी भाषा में भी कुछ कुछ गौड़ीय चिह्न वर्तमान हैं। इसी प्रकार बंगाल से दसवीं शताब्दी में कुछ ब्राह्मण जाकर गढ़वाल में बस गए थे और कुछ ब्रह्मा में भी चले गए थे। खोज करने पर अब भी उनमें कुछ-न-कुछ बंगाली प्रभाव मिल ही जाएगा।

इन दिनों भी मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से जाना जाता है कि बहुत-सी ब्राह्मण-शाखाएँ नीची जातियों से ऊपर उठी हैं। अनेक स्थानों पर उनकी रीति-नीति ही उनके पूर्ववर्ती प्रदेश और पूर्ववर्ती श्रेणी का पता बताती हैं। कोंकणस्थ चितपावन ब्राह्मणों के विषय में कहा जाता है कि परशुराम ने श्राद्धकाल में साठ व्यक्तियों को चिता से उठा कर ब्राह्मण बनाया था (विल्सन : ह्वाट् कास्ट्स आर, पृ० १९)। डाक्टर भाण्डारकर का कथन है कि ये लोग एशिया माइनर से आए हुए हैं। इनका जहाज़ समुद्र में डूब गया था, तब ये भारतवर्ष के पश्चिमी किनारे पर उतरे थे। पहले उन्हें हिंदुओं ने समाज में ग्रहण नहीं किया। बाद में परशुराम की कृपा से ये ब्राह्मण हुए। जबल या जाबाल लोग भी, कहते हैं, पहले कुनबी थे, बाद में पेशवाओं के किसी संबंधी परशुराम ने उन्हें ब्राह्मण बनाया (विल्सन, पृ० २७)। राजपूताना, सिंध और गुजरात में बहुत से पुष्करण या पोखरना ब्राह्मण हैं। पुष्कर नामक ह्रद को जिन्होंने कुदाल लेकर खोदा था, बाद में उन्हीं लोगों को पोखरना ब्राह्मण बना दिया गया। विल्सन ने लिखा है कि गुजरात के अम्भीर ब्राह्मण वास्तव में राजपूत वंश के हैं। ये लोग आभीरों के पुरोहित हैं (पृ० १२०)। भारतवर्ष में अनेक कृषक श्रेणी के ब्राह्मण हैं जिनके विषय में यह धारणा प्रचलित है कि वे पहले खेतिहर थे, बाद में ब्राह्मण बन गए हैं। मैंने अपनी पुस्तक

'भारतवर्ष में जातिभेद' (अभिनव-भारती ग्रंथमाला, कलकत्ता) में इस प्रकार की बहुतेरी जातियों के उत्थान-पतन का विस्तृत विवरण दिया है। यहाँ उन बातों को दुहराने की आवश्यकता नहीं, परन्तु इतना आसानी से समझा जा सकता है कि भारतीय समाज का निर्माण भी ऐतिहासिक विकास के रूप में हुआ है। वह हमेशा से चली आती हुई किसी सनातन अटूट व्यवस्था का परिणाम नहीं है। तत् तत् जातियों की आचार-परंपरा में इस बात की समर्थक और भी बहुत-सी बातें पाई जा सकती हैं।

भिन्न भिन्न प्रदेशों में भिन्न देवताओं की पूजा प्रधान है। गणपति की पूजा वैसे तो सारे भारतवर्ष में चलती है फिर भी महाराष्ट्र में अपेक्षाकृत अधिक है। बंगाल में देवी-पूजा की धूम होती है, द्रविड़ देश में कार्तिकेय या सुब्रह्मण्य की पूजा विशेष रूप से प्रचलित है, संयुक्त प्रदेश और गुजरात में हनुमान की पूजा का आडम्बर अधिक है। विष्णु का कृष्ण रूप बंगाल और गुजरात में ज्यादा समादृत है और राम रूप उत्तर-पश्चिम प्रदेशों और बिहार में अधिक। इन देवताओं की जहाँ प्रधानता है वहाँ यदि कोई एक ऐसा छोटा जन-समूह दिख जाय जो वहाँ के प्रचलित देवता की अपेक्षा किसी अन्य प्रदेश के प्रचलित देवता की उपासना कर रहा है तो सन्देह किया जा सकता है कि वह जन-समूह दूसरे ऐसे प्रदेश से आया है जहाँ उसके उपास्य देवता की पूजा अधिक प्रचलित है। पूर्वी बंगाल में सर्वत्र श्रीकृष्णावतार की ही पूजा होती है परन्तु मैंमनसिंह ज़िले के शेरपुर में रघुनाथजी के मंदिर की ही मान्यता है। बाँकुड़ा, पंचकोट और मानभूम ज़िलों में रामावतार और हनुमान की पूजा बहुत प्रचलित है। पंचकोट के राजा की राजधानी का नाम ही रघुनाथपुर है। इससे उपर्युक्त प्रकार का अनुमान ही पुष्ट होता है।

केवल उपास्य देवता से ही नहीं, पूजा की विधि से भी बहुत कुछ अनुमान होता है। बंगाल में जो लोग पार्थिव शिवलिंग की पूजा करते हैं वे अन्यून अंगुष्ठ-परिमाण शिवलिंग का निर्माण करके उसके सिर पर एक छोटा-सा गोलाकार "वज्र" रखते हैं। इस वज्रसमन्वित लिंग को बिल्वपत्र पर बैठाकर आचमनपूर्वक नारायणार्चना करके गणेशादि पंचदेवताओं का पाँचों उपचार-सहित पूजन करते हैं। फिर 'नमो हराय नमः' कहकर लिंग के मस्तक पर ज़रा-सा जल देकर एक बिल्वपत्र से "वज्र" को उतार देते हैं। फिर 'नमो महेश्वराय नमः' कहकर लिंग का मस्तक ज़रा दबा देते हैं। फिर 'नमः शूलपाणये इह सुप्रतिष्ठो भव' कहकर अक्षत-धान्यादि से पूजन करते हैं (आह्निक-कृत्यम्, श्यामाचरण कविरत्न-संकलित, नवम संस्करण, पृ० ६८-७०)। इस 'वज्र' को हटाने का रहस्य क्या है? शिव हिमालय के कैलास के देवता हैं। पर 'वज्र'-सह शिव की बात उठते ही वज्रयान की बात याद आ जाती है। क्या वज्र हटाने का अर्थ यह है कि

वज्रयान मत का 'वज्र' हटा कर ही वास्तव शिवका पूजन किया गया ? आसाम और नेपाल के शिव भक्तों को काशी में 'वज्र' सहित शिव की पूजा करते मैंने देखा है। उड़ीसा में भी 'वज्र' सहित शिवलिंग बनता है। द्रविड़ देश में सैकत लिंग के ऊपर वज्रस्थापन करते नहीं देखा। इस प्रकार इन पूजार्चन की विशेषताओं से सांस्कृतिक धाराओं का पता लग सकता है।

पूजार्चन विधियों की भांति पूजा के पुरोहित भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। देवताविशेष के पुजारी अब भी जातिविशेष के लोग हैं। कभी कभी उनका अंश सामान्य ही होता है और कभी कभी काफ़ी अधिक। उदाहरणार्थ देवीपूजा और तंत्रमत धीरे धीरे वैदिक मत के पास बाहर से आकर खड़े हुए हैं। वैदिक आचार्यगण तो उन्हें शास्त्र और सदाचार के विरुद्ध ही समझते रहे हैं। मूल आर्यभूमि से क्रमशः दूर बढ़ने पर इन वस्तुओं के साथ आर्य लोगों का योग हुआ था। इच्छा से हो या अनिच्छा से, इन मतों को ग्रहण करने के सिवा उनके पास कोई चारा न था। इसीलिये आज वैदिक सन्ध्या के साथ साथ तांत्रिक सन्ध्या का प्रचलन प्रायः समूचे भारतवर्ष में है। गुजरात में मैंने देखा है कि ब्राह्मणों के यहां भी प्रति परिवार में एक कुलदेवी हैं। बहुत जगह ये कुलदेवियाँ कुएँ की दीवारों में गुँथी हुई हैं। आज इसी प्रकार ग्रामदेवताएँ, जिनकी पूजा शास्त्र-निषिद्ध है, धीरे धीरे हिन्दूसमाज में मुख्य-स्थान अधिकार कर सकी हैं। आज इन 'बाहरी' देवताओं की ठेलमठेल इतनी बढ़ गई है कि बेचारे वैदिक देवताओं को ही अलग रहना पड़ा है। इन वेदबाह्य देवदेवियों की पूजाओं के पुरोहित भी आर्येतर जाति के लोग ही हुआ करते थे। शुरू शुरू में ब्राह्मण लोग इसके विरोधी थे परन्तु धीरे धीरे उन्हें भी इसका सम्मान करना पड़ा। दक्षिण में स्त्रियां देवमन्दिर की पुरोहिता हुआ करती थीं क्योंकि वहां के समाज में स्त्री का ही प्रधान्य था। उस मातृ-तंत्र देश में जब वैदिक धर्म पहुँचा तब भी स्त्रियों के "चारुपुटौष्ठ" से "विधूयमान" हुए बिना अर्थात् उनके सुन्दर अधरों की हवा पाए बिना अग्निदेवता प्रज्वलित ही नहीं होते थे (महाभारत, सभा०, ३०।२८-२९)। वे ही देवताओं की साधिकाएँ थीं। आज उनकी देवसेवा का अधिकार धीरे धीरे ब्राह्मणों के हाथों में चला गया है। आज भी कहीं कहीं किसी किसी देवमन्दिर में आर्येतर जाति के लोग पुजारी हैं। स्वयं जगन्नाथ देव के विशेष विशेष उत्सवों के अवसर पर 'दैत' नामक जाति की सेवा आवश्यक है। घुर्ये ने बताया है कि तामिल देश के कितने ही अत्यन्त निष्ठावान् शुद्धाचारी शैव मन्दिरों में भी पारिया लोग ही विशेष विशेष उत्सवों के अवसर पर सामयिक भाव से प्रभुत्व करते हैं (Caste and Race in India, p. 26-27)। बंगाल के धर्मठाकुर की पूजा के पुरोहित ब्राह्मणेतर जाति के लोग होते हैं जिनकी सामाजिक मर्यादा बहुत निचले स्तर की है। ऐसी अनेक व्यवस्थाएँ खोई हुई संस्कृति-धाराओं की याद दिला देती हैं।

इन और ऐसी अन्य बातों का अधिक विस्तृत विचार मैंने अन्यत्र किया है। यहाँ बहुत सूक्ष्म भेद-विभेदों में जाने का इरादा नहीं है। मैं विद्वानों से इतना ही निवेदन कर देना चाहता हूँ कि इस विशाल महादेश की समूची संस्कृति का अध्ययन करते समय इन जीवन्त विशेषताओं की उपेक्षा न की जाय। इस कोने से उस कोने तक फैले हुए विविध प्रकार के सामाजिक रीति-रस्म, पूजा-उपासना, व्रत-उपवास और शास्त्रीय मान्यता भी समूचे जनसमूह के अध्ययन के लिये नितान्त आवश्यक उपादान हैं। भिन्न भिन्न प्रदेशों में एकता लाने के लिये बहुत प्रकार के प्रयत्न किए जा सकते हैं, और किए जा रहे हैं परन्तु इन आचारों और पूजा-पद्धतियों तथा निबंध-मान्यताओं के आधार पर ज़ोर देकर कहा जा सकता है कि भाषा-गत प्रादेशिक भेद भी कोई ऐसा भेद नहीं है जो बहुत बड़ा करके दिखाया जा सके। एक प्रदेश में अन्य प्रदेशों की विधियों का आना सूचित करता है कि भाषा के कारण प्रदेश की चहारदीवारी को एकदम अनुल्लंघ्य नहीं समझना चाहिए। आज जो जन-समूह गुजराती बोलता है उसका बहुत निकट का सम्पर्क मथुरावालों से हो सकता है, जो बँगला बोलता है वह महाराष्ट्रों या कर्णाट-वासियों का अधिक नज़दीकी हो सकता है, जो आसामी बोलता है वह हिंदी-भाषियों का अधिक निकटवर्ती हो सकता है। सारा देश पूजा-विधियों, नैबंधिक मान्यताओं और रीति-रस्म की मज़बूत रस्सियों से जकड़कर सी दिया गया है। इस रस्सी का एक टाँका पंजाब में मिलता है तो दूसरा गुजरात में और तीसरा आसाम में। इन्होंने सारे देश को नाना भाव से अविच्छेद्य और अविभाज्य बना रखा है।

ख आदि शून्यवाची शब्द एवं आकाश के साथ उनका दार्शनिक सम्बन्ध

डा० आनंद कुमारस्वामी

[लेखक के अनुरोध से वासुदेवशरण अग्रवाल द्वारा अनुवादित]

'ख' [= यूनानी Xaos] का अर्थ साधारणतः विवर है। ऋग्वेद में इसका प्रयोग चक्र की नाभि के बीच के विवर के लिये हुआ है जिसमें धुरा घूमता है। भारतीय गणित की परिभाषा में ख 'बिन्दु' या 'शून्य' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

आर्यभट की टीका में सूर्यदेव ने लिखा है कि ख शून्य का उपलक्षण है (खानि शून्या उपलक्षितानि)। शून्य, आकाश, व्योम, अन्तरिक्ष, नभ, अनन्त और पूर्ण, ये भी बिन्दु के वाचक शब्द हैं। यह विचित्र है कि शून्य (=रिक्त) और पूर्ण (=भरित) दोनों एक ही अर्थ के वाचक माने गए हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस वस्तु में संख्या का असंग है उसमें वस्तुतः समस्त संख्याएँ निहित रहती हैं। यह प्रतीत होता है कि शून्य का संख्या के साथ वही सम्बन्ध है जो कि सम्भवता का वास्तविकता के साथ है। बिन्दु की एक संज्ञा अनन्त है, जो यह बताती है कि बिन्दु और अनन्तता का तादात्म्य सम्बन्ध है। अर्थात् गणित की क्रमिक संख्याओं का आदि और अन्त एक ही है। यह भाव बहुत प्राचीन साहित्य में भी मिलता है। ऋग्वेद ४।१।११ में अग्नि को अपाद् और अशीर्ष बताते हुए यह कहा गया है कि उसका आदि और अन्त उसीमें अन्तर्निहित है, अर्थात् उसके प्रारम्भ और पर्यवसान के दोनों छोर उसीमें छिपे हैं (अपादशीर्षा गुहमानो अन्ता)। ऐतरेय ब्राह्मण ३।४।३ में कहा है कि अग्निष्टोम अग्नि का दूसरा नाम है। यह अग्निष्टोम रथ के पहिये के समान अनन्त (अन्त-रहित) है। यह यज्ञ 'अपूर्व' और 'अनपर' है। इसका जो आदि है वही अन्त है, जो पूर्व है वही अपर है, जो अपर है वही पूर्व है (स वा एषोऽपूर्वोऽनपरो यज्ञक्रतुर्यथा रथचक्रमनन्तमेवं यदग्निष्टोमः यथैवप्रायणंतथोदयनं······यदस्य पूर्वमपरं तदस्य यद्वस्यापरं तद्वस्यपूर्वम्)। जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण १।३५ के अनुसार संवत्सर अनन्त है, हेमन्त और वसन्त उसके दो सिरे हैं, जो एक दूसरे के साथ समेत हैं ······ इसी तरह साम भी अनन्त है। इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि बाद के गणितशास्त्रियों ने बिन्दु के लिये जो शून्य, अनन्त, और पूर्ण—संज्ञाओं का प्रयोग किया उनका मूल प्राचीन दार्शनिकों के विमर्श में उपलब्ध था। ख

का जो अर्थ गणित में है और जो दर्शनशास्त्र में है, उन दोनों के पारस्परिक साम्य को स्पष्टता से समझ लेना चाहिए। इसके लिये काग़ज़ पर एक बिन्दु की कल्पना करके उसी केन्द्र से एक छोटा और एक बड़ा दो वृत्त खींचे जायँ। केन्द्र-बिन्दु के सिवाय जिसमें लम्बाई चौड़ाई और मोटाई का अभाव है, इस चित्र में प्रत्येक भाग काल्पनिक है, अर्थात् वृत्त और त्रिज्या की संख्या इच्छानुसार घटाई-बढ़ाई जा सकती है। प्रत्येक वृत्त एक अविच्छिन्न सम-धरातल का सूचक है। इस चित्र में बिन्दु, अद्वैत अथवा संख्या से अनासक्त है। वृत्त की परिधि अनन्त बिन्दुओं का समवाय है जिन्हें हम संख्य कह सकते हैं। इन बिन्दुओं का सर्वयोग (totality) गणित की क्रमिक संख्याओं के, जो एक से अनन्तता तक चली गई हों, योग के बराबर है। परिधि और केन्द्र के बीच के शून्य भाग का संख्या की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। वृत्त से परिमित क्षेत्र 'देश' का सूचक है, केन्द्र के चारों ओर परिधि का परिभ्रमण 'काल' है। एक परिधि पर जो बिन्दु हैं, उन्हींके समीकरण में दूसरी परिधि पर भी बिन्दु हैं। यदि हम दोनों वृत्तों की तुलना पृथिवी और आकाश से करें तो इस समीकरण का महत्त्व समझ में आ जाता है। जैसा एक वृत्त में है वैसा ही दूसरे वृत्त में है। अर्थात् जैसा 'इस' लोक में है, वैसा ही 'उस' लोक में है—यह नियम चरितार्थ होता है। यदि हम इन वृत्तों की त्रिज्या को कम करते हुए चलें तो केन्द्र में पहुँचते हैं। वेद के शब्दों में यही 'समवर्तताग्रे' है। स्पष्ट है कि परिधि के समस्त बिन्दुओं का समवाय केन्द्र में पूर्ण रहता है। यह केन्द्र शून्य बिन्दु का प्रतिनिधि है और असत् और सत् का सम्मिलित रूप है। स्वयं आयाम-रहित होने से इसकी कोई सत्ता नहीं, तथा समस्त बिन्दुओं की सत्ता इसीमें विलीन है।

इस प्रकार केन्द्र और वृत्त के स्वरूप की तुलना रथचक्र में, विशेषतः सूर्य के रथ के पहिये में कल्पित की गई है। ऋग्वेद १।१५५।६ ; १।१६४।२, ११, १३, १४, ४८ ; अथर्व० १०।८।४-७ ; कौषीतकी ब्राह्मण २०।१ ; जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० १।३५ ; बृहदारण्यक उप० १।५।१५ ; श्वेताश्वतर उप० १।४ ; प्रश्न उप० ६।५-६ आदि स्थलों में संवत्सर को एक अजर अमर चक्र माना गया है जिसमें विश्व-भुवनों की स्थिति है। यह देवों का संतत गतिमान् चक्र है जो समस्त जीवन के उद्गम का आधार है। इस पहिये का कोई आरा आगे-पीछे नहीं कहा जा सकता। पहिये के भिन्न अवयव ये हैं—आणि या अक्षाग्र बिन्दु जिसके ध्रुव आधार से धुरा टिका रहता है ; ख या नाभि अर्थात् पहिये का मध्यभाग ; अर या नाभि और नेमि के बीच के काष्ठ ; नेमि या पवि। वस्तुतः नाभि और उसके भीतर का अक्षबिन्दु या आणि कभी कभी एक ही मान लिए जाते हैं क्योंकि दोनों ही केन्द्र के सूचक हैं। जिस प्रकार केन्द्र में समस्त वृत्त अन्तर्निहित रहता है उसी प्रकार आणि में नाभि अथवा कुलचक्र अन्तर्निहित माना जा सकता है।

संसाररूपी चक्र की 'नाभि' या 'ख' विश्व का उद्गमस्थान है। ऋग्वेद २।२८।५ में कहा है—हे वरुण, हम तुम्हारे ऋत के ख बिन्दु को प्राप्त करें (ऋध्याम ते वरुण खमृतस्य)। विश्व का मूल अव्यक्त अवस्था से व्यक्त में आता है। वैदिक परिभाषा में इसे यों कहा जाता है कि 'हे इन्द्र, तुमने पत्थरों से ढके हुए (अपिहितानि अश्ना) ख प्रदेश का भेदन करके जीवन के उत्स को प्रवर्तित किया, अथवा सप्त सिन्धुओं के प्रवाह को उन्मुक्त किया (ऋ० ४।२८।५ ; ५।३२।१)। इस प्रकार वस्तुओं की कल्पना दो अवस्थाओं में की गई है, एक 'अपिहित' [*ante principium*] और दूसरी 'जायमान' [*in principio*]। अव्यक्त दशा के लिये वैदिक शब्द बुध्न, अद्रि, पर्वत या अश्मन आदि हैं। इन्हींमें जीवन के 'सप्तसिन्धु' बन्द थे जिन्हें वज्र के द्वारा इन्द्र ने स्वच्छन्द किया, अथवा इन्हींमें बन्द गौ और अश्वों को इन्द्र ने मुक्त किया। ये इन्द्र के प्रशंसनीय कार्य हैं। यह 'अच्युत अद्रि' (ऋ० ६।१७।५) अनन्त अश्मा ["rock of ages"] है, यही वह ध्रुव बिन्दु है जहाँ सृष्टि चक्र का अक्ष पिरोया रहता है। विश्व के अनन्त अव्यक्त सागर में इस अक्ष की अनी ही 'बुध्न' या केन्द्र-बिन्दु है। यहाँ सृष्टि से पूर्व की अपिहित या ढकी अवस्था में [*ante principium*] अग्नि या जीवन—प्राण को गुहमान कहा गया है [गुहा सन्तं, ऋ० १।१४१।३], वह अपने आदि-अन्त को छिपाए रहता है [गुहमानो अन्ता, ऋ० ४।१।११]। 'गुहमानो अन्ता' का तात्पर्य वही है जो अनन्त का है, अर्थात् अन्त-रहित, निस्सीम, शाश्वत। अग्नि [जीवन] का एक सिरा दूसरे से मिला हुआ है, रथचक्र की भाँति वह अनन्त है, उसका जो आदि है वही अन्त है ; इसी कारण प्राण की धारा संततवाही एवं अनुच्छिन्न है।

अध्यात्मदृष्ट्या रथचक्र का रूपक महत्त्वपूर्ण है। प्रथम शून्य अवस्था (बिन्दु और परिधि के भेद से अतीत) अदिति है जो सृष्टि-सम्भावना की जननी है। अक्ष बिन्दु ख या नाभि वह अद्वैत भाव है जिसमें विश्व एकत्र रहता है [विश्वमेकम् ऋ० ३।५४।८]। सत् तत्त्व में विभिन्नता की कल्पना का मानसिक उदय यही चक्र का निर्माण है। प्रत्येक अरा नामरूपात्मक व्यक्ति के पृथक् आयोजन को सूचित करता है। परिधि बहुत्व के नियम या विषमत्व की प्रतिनिधि है। धर्मग्रन्थों की परिभाषा के अनुसार शून्य या भेदातीत अवस्था ब्रह्म (परब्रह्म, अदिति, तमः या आपः) है। अक्षबिन्दु या ध्रुव-अधिष्ठान (axle-point) ईश्वर (आदित्य अपरब्रह्म, ज्योति) है। नाभि स्वर्ग है। नाभि की परिधि पर प्रत्येक बिन्दु, जहाँ से अरे का प्रारम्भ सम्भव है, मन [या देव, नाम] है। नेमि पृथिवी है जिसपर अनेक विषय (विश्व-रूप) दृष्टिगोचर होते हैं। चक्र का निर्माण ही यज्ञात्मक कर्म या सृष्टि है। चक्र का ध्वंस प्रलय है। अरे के अनुसार व्यक्ति की गति पहले प्रवृत्ति की ओर [केन्द्र से नेमि की ओर] होती है, पीछे वही निवृत्ति की ओर जाती है और व्यक्ति मध्य केन्द्र की ओर प्रवृत्त होता है।

व्यक्ति-जीवन का केन्द्र जब विश्व के केन्द्र से मिल जाता है तभी व्यक्ति मुक्त कहा जाता है ; 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्'—यह योग-सूत्र चरितार्थ होता है।

ख, आकाश, अन्तरिक्ष, शून्य, ये बिन्दु के पर्याय क्यों माने गए? वस्तुतः आकाश से तात्पर्य भौतिक आकाश से नहीं है। आकाश वह वस्तु है जिसे वेदान्तसूत्रों में ब्रह्म का पर्याय माना है। इस आकाश में लम्बाई-चौड़ाई आदि की कल्पना नहीं की जा सकती ; जिस प्रकार बिन्दु सब आयामों से परे है वैसे ही यह आकाश या शून्य भी है, यद्यपि जैसे बिन्दु की कुक्षि से वृत्त का जन्म होता है, वैसे ही इस आकाश से भौतिक आकाश उत्पन्न होता है। छान्दोग्य उप० (१।९।१) में कहा है कि आकाश से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं, आकाश में अस्त हो जाते हैं, आकाश ही उनका परायण है। यही आकाश मनुष्य के अन्तर्हृदय में व्याप्त है, इसे ही आयतन, वेश्म, नीड या कोष भी कहा जाता है जिसमें हमारी सत्ता का सब आधार गुहानिहित है। बृहदारण्यक उपनिषद् (५।१) में कौरव्यायणीपुत्र का एक सुन्दर वचन दिया हुआ है जिसमें इस पुराण आकाश को ब्रह्म और प्राण कहा गया है—ॐ ३ खं ब्रह्म खं पुराणं वायुरं खमिति। इस परिभाषा के अनुसार ब्रह्म ख, और पूर्ण ये पर्यायात्मक हैं। इसी तत्व को ध्यान में रखकर गणितज्ञों ने ख और पूर्ण इन दोनों को बिन्दु का सूचक माना। इसी भाव को भास्कराचार्य ने बीजगणित में अनन्त की परिभाषा करते हुए अक्षरशः दुहराया है—

अयमनन्तो राशिः खहर इत्युच्यते।
अस्मिन् विकारः खहरे न राशावपि प्रविष्टेष्वपि निःसृतेषु।
बहुष्वपि स्याल्लयसृष्टिकालेऽनन्तेऽच्युते भूतगणेषु यद्वत् ॥

अर्थात् वह राशि अनन्त कहलाती है जिसमें हर भाग शून्य या बिन्दु हो। इस राशि में चाहे कितना ही जोड़ या घटा दें, कोई विकार नहीं उत्पन्न होता, जिस तरह कि अनन्त और अच्युत भगवान् में प्रलय और सृष्टि के समय अनेक भूतों के संयोग और वियोग से कोई विकार नहीं होता।

इससे यह सूचित होता है कि भारतीय आचार्यों द्वारा प्रयुक्त गणित की अनेक संज्ञाएँ गणित विज्ञान के आविर्भाव से पूर्व ही परा विद्या के क्षेत्र में स्वीकृत थीं। अथवा इन संज्ञाओं के आधार से ही गणित की संज्ञाओं का जान बूझकर विकास किया गया जैसा कि भास्कराचार्य के ऊपर लिखे हुए उद्धरण से प्रकट होता है। यह बात भारतीय दर्शन की विकास-परम्परा के भी सर्वथा अनुकूल है। यहाँ ज्ञान के सार्वभौम विश्वव्यापी स्वरूप का अनुभव पहले किया गया, और विशेष परिस्थितियों के लिये उसका उपयोग बाद में हुआ।

नामंजूर कहानी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हमारी रामलीला शुरू हुई थी राजनीतिक लंकाकांड के संवाद से। यद्यपि हाल अमलदारी के उत्तरकांड में हमने एकबारगी छुट्टी नहीं पाई है, पर गला हमारा बैठ गया है। इसके सिवा अब अग्निदाह का वह खेल भी बन्द हो गया है।

वंगभंग की रंगभूमि पर विद्रोही का अभिनय शुरू हुआ था। सभी जानते हैं, इस नाटक के पाँचवें अंक का दृश्य अलीपुर पार करके अन्दमान के समुद्र तट तक पहुँच गया था। खेवा पार होने की उतराई का पाथेय मेरे पास काफ़ी था, तथापि ग्रहों के गुणों से इस पार की हवालात में ही भोगमान समाप्त हो गया। सहयोगियों में से फांसी के तख्ते तक जिनका सर्वोच्च प्रोमोशन हुआ था उन्हें प्रणाम करके पश्चिम के एक शहर के कोने में मैंने होमियोपैथी-चिकित्सा की दूकान जमा दी।

उस समय तक मेरे पिता जीवित थे। बंगाल की एक बड़ी मुंसिफ़ी अदालत के वे सरकारी वकील थे। रायबहादुर की उपाधि उन्हें प्राप्त थी। उन्होंने कुछ खास धूमधाम के साथ ही मेरा घर आना बंद कर दिया था। उनके हृदय के साथ मेरा सम्बन्ध टूटा था या नहीं—सो तो अन्तर्यामी जानें, मगर उनकी जेब के साथ ज़रूर टूट गया था। जिन दिनों मैं हवालात में था उन्हीं दिनों माँ की मृत्यु हो गई थी। मेरी प्राप्तव्य सज़ा उन पर से होकर गुज़री।

जो मेरी बुआ कही जाती हैं वे मेरी स्वोपार्जित बुआ हैं या पैत्रिक—इसमें बहुतों को सन्देह है। कारण, मेरे पश्चिम जाने के पहले उनके साथ मेरा नाता एकदम अव्यक्त था। वे मेरी कौन हैं—इसे लेकर संदेह रहे तो रहा करे, लेकिन आत्मीयता की अराजकता के उन दिनों में उनका स्नेह न पाने पर मुझे विषम दुःख भोगना पड़ता। वे जन्म से ही पश्चिम में थीं, वहीं उनका ब्याह हुआ था, वहीं वैधव्य। पति की जायदाद भी वहीं थी, इसलिये विधवा वहीं बँध गई थीं।

उनका एक और भी बन्धन था, बालिका अमिया। यह लड़की स्वामी की अवश्य थी किन्तु पत्नी की नहीं। उसकी माँ थी बुआ की ही एक दासी, जाति की कहारिन। पति के देहान्त के बाद वे लड़की को घर ले आईं और उसका पालन-पोषण करने लगीं। लड़की जानती भी नहीं कि वे उसकी माँ नहीं हैं।

इसी परिस्थिति में उनका एक और भी बन्धन बढ़ गया ; वह था मैं। जिन दिनों जेल के बाहर मेरा स्थान अत्यंत संकीर्ण था उन दिनों इन्हीं विधवा बुआ ने ही एक ही साथ अपने घर और हृदय में मुझे आश्रय दिया था। उसके बाद पिताजी के देहान्त के पश्चात् जब जाना गया कि उन्होंने मुझे अपनी सम्पत्ति से वंचित नहीं किया है, तब सुख-दुःख के आँसुओं से बुआ की आँखें भर आईं। वे समझ गईं, मुझे अब और उनकी ज़रूरत नहीं रह गई। कहने लगीं—'बेटा, जहाँ भी रहो मेरा आशीर्वाद तुम्हारे साथ होगा।' मैंने कहा—सो तो होगा ही, उसके साथ तुम्हें भी रहना होगा, नहीं तो मेरा काम चल ही नहीं सकता। हवालात से निकलने पर जिन माँ को फिर नहीं देख पाया, उन्होंने रास्ता दिखाकर मुझे तुम्हारे पास तक पहुँचा दिया है।

बुआ अपनी इतनी दिनों की पश्चिम की घर-गिरस्ती समेट कर मेरे साथ कलकत्ते आगईं। मैंने हँसकर कहा—तुम्हारी स्नेह-गंगा की धारा को पश्चिम से बहा करके पूर्व को ओर ले आया हूँ, मैं हुआ कलिकाल का भगीरथ।

बुआ ने हँस दिया और साथ ही आँखें पोंछीं। मन में कुछ दुबिधा भी थी, कहने लगीं—बेटा, इतने दिनों से इच्छा थी कि इस लड़की का कुछ ठौर-ठिकाना करके अन्तिम दिन तीर्थ करते घूम-फिर सकूँगी, लेकिन भैया, आज तू उल्टी तरफ़ जो लिए जा रहा है?

मैंने कहा—बुआ, मैं ही तुम्हारा चलता-फिरता तीर्थ हूँ। चाहे जिस त्याग के क्षेत्र में ही तुम क्यों न आत्मदान करो, तुम्हारे देवता उसी जगह स्वयं पहुँचकर उसे ग्रहण करेंगे—तुम्हारी आत्मा जो पवित्र है।

सबसे अधिक एक युक्ति उनके मन में प्रबल हो उठी। उन्हें आशंका थी कि स्वभाव से ही मेरी प्रवृत्ति का झुकाव अन्दमान की तरफ है, इसलिये मुझे सँभालनेवाला अगर कोई न रहा तो अंत में पुलिस के बाहुबन्धन में बँध ही जाऊँगा। उनका मतलब था कि जो सुकोमल बाहुबन्ध उसकी अपेक्षा भी कठिन और स्थायी होता है, उसीकी मेरे लिये व्यवस्था कर दी जाय ; तभी वे तीर्थभ्रमण के लिये निकल सकेंगी। मेरे बंधन बिना उन्हें मुक्ति नहीं।

मेरे चरित्र के सम्बन्ध में यहीं उनके हिसाब में भूल हो गई थी। जन्मपत्री में मेरे वध-बंध के ग्रह अंत में मुझे चीलों-गीधों के हाथों सौंप देने को लिये असम्मत नहीं थे, किन्तु प्रजापति के हाथों—नैव नैव च। परन्तु इधर लड़कीवालों ने त्रुटि नहीं दिखलाई—उनकी संख्या भी कम नहीं थी। मेरी पैत्रिक सम्पत्ति के विपुल वैभव की बात सभी जानते थे, अतएव इच्छा करते ही भावी श्वसुर को दिवालिया बनाकर कन्यासहित बीस-पचीस हज़ार रुपये, नौबत पर शाहाना बजाते हुए हँसते-हँसते, वसूल कर सकता था। किन्तु किया नहीं। मेरे भावी जीवन-चरित-

लेखक यह बात याद रखें कि स्वदेश-सेवा के संकल्प के आगे एक बार मैंने यह बीस-पचीस हज़ार रुपये का त्याग किया था। जमा-खर्च के अंक अदृश्य स्याही से लिखे होने के कारण मेरी प्रशंसा का हिसाब बाद न दे दिया जाय। भीष्म पितामह के साथ मेरे महत् चरित्र का इसी जगह मेल है।

बुआ ने आखिर तक उम्मीद नहीं छोड़ी। इसी समय भारतवर्ष के राजनीतिक आकाश में हमारे उस क्षात्रयुग के परवर्ती युग की हवा बह उठी। पहले ही कह आया हूँ कि इन दिनों हम लोग प्रधान नहीं हैं, तब भी फुटलाइट के बहुत पीछे बीच-बीच में निस्तेज भाव से हमारा अना जाना चला करता है—इतने निस्तेज भाव से कि बुआ मेरे बारे में करीब करीब निश्चिन्त हो गईं। एक समय मेरे लिये कालीघाट में स्वस्त्ययन कराने की उनकी इच्छा थी, किंतु इन दिनों मेरे भाग्याकाश में लाल पगड़ी के रक्तमेघ एकबारगी अदृश्य थे, इसलिये उनका वैसा ख्याल नहीं रहा। यही उनकी भूल थी।

उस दिन पूजा के बाजार में खद्दर की पिकेटिंग चल रही थी। नितान्त दर्शक के समान ही गया था मैं—उत्साह की तापमात्रा ९८° के अंक के भी नीचे थी, नाड़ी में ज्यादा तेज़ी नहीं थी। उस दिन मेरे सबंध में आशंका का कोई कारण हो सकता है, इसका पता मेरी कुण्डली के नक्षत्रों को छोड़ और सभी की दृष्टि से ओझल था। इसी समय किसी खद्दरप्रचारकारिणी बंगाली महिला को पुलिस-सार्जेण्ट ने धक्का मार दिया। पलक मारते ही मेरा अहिंस असहयोग का भाव प्रबल दुःसाहस योग में परिणत हो गया। अतएव बिना अधिक विलम्ब हुए थाने में तलबी हुई। इसके बाद बाक़ायदा हवालात के लालायित कवल से जेलखाने के अंधकारपूर्ण जठर-देश में उतार दिया गया। बुआ से कह गया—अबकी कुछ काल के लिये तुम्हें छुटकारा मिला। कम से कम मुझे तो उपयुक्त अभिभावक की कमी नहीं रही। इसलिये इस सुयोग से फ़ायदा उठाकर तुम तीर्थाटन कर डालो। अमिया कालेज-हास्टेल में रहती है; घर में देखने-सुननेवाले लोग हैं ही। अतः इस वक्त यदि भगवान् की सेवा में तुम सोलहों आना मन लगा दो तो देव-मानव किसी की तरफ़ से आपत्ति की बात नहीं उठेगी।

जेलखाने को जेलखाना मानकर हो स्वीकार कर लिया था; वहाँ किसी तरह का दावा करके हठ-उत्पात नहीं किया। सुख, सम्मान, सौजन्य, सुहृत् और सुखाद्य का वहाँ अभाव पाकर बहुत अधिक आश्चर्य नहीं हुआ। कठोर नियमों को कठोरता से ही मान लिया था; किसी तरह की आपत्ति करने को ही लज्जा की बात समझता था।

मीयाद खत्म होने के कुछ पहले ही छुट्टी मिल गई। चारों तरफ़ खूब तालियाँ पिट रही थीं। लगता था मानो बंगाल की हवा में ही एन्कोर-एक्सेलेण्ट का सुर बज रहा था।

मन खराब हो गया। सोचा, जिसने भोगा सो केवल उसी ने भोगा और मिष्ठान्नमितरे जनाः, रस पाया दस जनों ने मिलकर। और सो भी ज्यादा देर नहीं ; रंगभूमि का पर्दा गिर जाता है रोशनी बुझाते हुए। केवल हथकड़ी-बेड़ी का दाग जिसकी हड्डियों में जाकर लगता है उसीको चिरदिन याद बनी रहती है।

बुआ अब भी तीर्थ कर रही थीं, कहाँ—सो पता नहीं। इसी बीच पूजा का समय पास आ गया। एक दिन सबेरे मेरे सम्पादक-दोस्त आकर हाज़िर हुए। कहने लगे—अजी, पूजा के विशेषाङ्क के लिये एक रचना चाहिए।

मैंने पूछा—कविता ?

'अरे नहीं ! तुम्हारा जीवनवृत्तान्त।'

'सो तो तुम्हारे एक अंक में नहीं अँटेगा।'

'एक अंक में क्यों ? क्रमशः निकलेगा।'

'सती की मृतदेह सुदर्शनचक्र द्वारा टुकड़े टुकड़े करके बिखरा दी गई थी। सम्पादकीय चक्र द्वारा उसी तरह मेरे जीवनचरित को टुकड़े टुकड़े करके हर अंक में बिखरा दोगे—यह मुझे पसन्द नहीं। जीवनी अगर लिखूँगा तो सारी की सारी एक साथ प्रकाशित कर दूँगा।'

'तब, न हो, तो अपने जीवन की कोई एक विशेष घटना को लिख दो ?'

'कैसी घटना ?'

'अपनी सब से कठोर अभिज्ञता—सब से ज्यादा तीखापन हो जिसमें !'

'क्या होगा लिखकर ?'

'लोग जानना चाहते हैं भई !'

'इतना कौतूहल ? अच्छा यही सही, लिख दूँगा।'

'याद रहे कि जिसमें तुम्हारी सबसे कठोर अभिज्ञता हो !'

'अर्थात् जिसमें सबसे ज्यादा दुःख पाया है उसीमें लोगों को सबसे ज्यादा मज़ा मिलेगा। अच्छी बात है। किन्तु बहुत सारे नाम-धाम गढ़ लेने होंगे।'

'सो तो होंगे ही। जो बात एकदम सांघातिक होती है इतिहास में उसका चिह्न न बदलने में भारी विपद रहती है। मुझे ऐसी ही मरमिटने पर उतारू ढँग की चीज़ चाहिए। प्रति पृष्ठ तुम्हें—'

'पहले लेख तो देख लो, मोल-तोल पीछे हो लेगा।'

'लेकिन और किसी को नहीं दे पाओगे, यह कहे रखता हूँ। वह चाहे जितनी ही दर क्यों न हाँके, मैं उससे ऊपर—'

अच्छा, अच्छा, सो हो जायगा।

अन्त में उठते-उठते मित्र कह गए—'तुम्हारे वे···समझते हो न? नाम नहीं कहूँगा, वही तुम्हारे साहित्य-धुरन्धर—बड़े भारी लेखक के नाम से जिनकी बड़ाई है···किन्तु चाहे जो कहो, तुम्हारी स्टाइल के सामने उनकी स्टाइल—जैसे डासन के बूट के आगे तालतल्ले की बनी चप्पलें। समझ गया कि मुझे ऊपर चढ़ाना केवल उपलक्ष्यमात्र है, तुलना द्वारा धुरन्धर को नीचे उतार लाना ही लक्ष्य है।

यह तो हुई भूमिका। अब शुरू होती है मेरी कठोर अभिज्ञता की कहानी।

*　　*　　*　　*

जिस दिन से सन्ध्या अखबार पढ़ना शुरू किया था उसी दिन से खाने-पीने के मामले में कठोर नियमों का पालन आरंभ कर दिया था। इसे जेलयात्रा का रिहर्सल कहा करता था। शरीर के प्रति अनादर का अभ्यास पक्का हो उठा। इसीसे पहली बार जब हवालात में ठेला गया तब प्राणपुरुष विचलित नहीं हुए। उसके बाद बाहर आने पर किसीकी सेवा-शुश्रूषा का ज़रा-सा भी हस्तक्षेप बर्दाश्त नहीं करता था। बुआ इससे दुःखी होतीं तो उनसे कहता—'बुआ, स्नेह में मुक्ति होती है, सेवा में बन्धन। इसके सिवा एक के शरीर पर एक और शरीरधारी का कानून लागू करना ही कहलाता है द्वैराज्य—डायर्की, जिसके विरुद्ध हमारा असहयोग चल रहा है।' बुआ लंबी साँस लेकर कहतीं—'अच्छा भैया, तुम्हें तंग नहीं करूँगी।' मैं भोला—मन ही मन समझता, झंझट मिटी।

भूल ही गया था कि सेवा-यत्न का एक छुपा हुआ रूप होता है, जिसकी माया से बचे रहना कठिन है। अकिञ्चन शिव जब अपनी भिक्षा की झोली लिए दारिद्र्य के गौरव में ही मग्न रहते हैं तब उन्हें खबर भी नहीं होती कि लक्ष्मी ने न जाने कब उस झोली को नरम रेशम से बुन दिया है, उसके सोने के तारों के मोल सूर्य-नक्षत्र बेचे जा सकते हैं। जब भिक्षा का अन्न खा रहा हूँ—ऐसा समझकर संन्यासी निश्चिंत रहता है, तब जान भी नहीं पाता कि अन्नपूर्णा ने उसे ऐसे मसाले देकर बनाया है कि देवराज प्रसाद पाने की इच्छा से नन्दी के साथ कानाफूसी कर रहे हैं। मेरी भी कुछ ऐसी ही हालत हुई। बुआ की सेवा का हाथ शयन वसन और अशन के भीतर छुपे-छुपे अपना इन्द्रजाल फैलाने लगा है—यह भेद देशात्मबोधी की अनमनी दृष्टि में नहीं पड़ा। मन ही मन निश्चिन्त बैठा था कि तपस्या अक्षुण्ण चल रही है, किंतु भ्रम भंग हुआ जेलखाने में। बुआ की और पुलिस की व्यवस्था में जो एक भेद है, उसका किसी भी तरह अद्वैत-बुद्धि द्वारा समन्वय नहीं किया जा सका। केवल मन ही मन गीता की वाणी दुहराने लगा—निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। हाय रे तपस्वी, किस समय अनजाने ही बुआ के नाना

गुण नाना उपकरण-संयोग द्वारा हृदय देश को पार करके एकदम पाकयन्त्र में घुस गए, सो जान ही नहीं पाया। जेल में पहुँचकर उसी जगह विपाक घटने लगा।

नतीजा यह हुआ कि जो देह वज्राघात छोड़कर और किसी चीज़ से क़ाबू में नहीं आ सकती थी वह अस्वस्थ हो पड़ी। जेल के सिपाही से छुटकारा मिल जाने पर भी जेल के रोगों की मीयाद खत्म होते नहीं आती। कभी सिर दुःख रहा है, अन्न तो प्रायः ही हज़म नहीं होता, दुपहरी से हरारत होनी शुरू हो जाती है। धीरे धीरे माला-चन्दन और ताली का स्वर थमने को आया लेकिन इन तकलीफों की तीक्ष्णता अब भी थमने का नाम नहीं लेती।

मन ही मन सोचता—बुआ तो तीर्थ करने गई हैं, तब क्या इसी कारण अमिया को धर्मज्ञान नहीं है? किन्तु किसे दोष दूँ? इससे पहले बीमारी-अजारी में मेरी सेवा के लिये बुआ ने कई बार अमिया को उत्साहित किया है और हर बार मैंने ही बाधा देते हुए कहा है—'अच्छा नहीं लगता।' बुआ कहतीं—'अमिया की शिक्षा के लिये ही कह रही हूँ, तेरे अराम के लिये नहीं।' मैं कहता—'अस्पताल न भेज दो नर्सिंग करने के लिये।' बुआ नाराज़ होकर चुप रह जातीं।

आज पड़े पड़े सोचता हूँ—अच्छा, कभी एक दफ़ा बाधा ही दी थी, तो क्या इसीलिये चिरकाल उस बाधा को ही माने जाना चाहिए? इस कलिकाल में भी बड़ों के आदेश के प्रति ऐसी निष्ठा!

साधारणतः आसपास की दुनिया की छोटी-बड़ी कितनी ही बातें देशसेवक की दृष्टि में नहीं पड़तीं। लेकिन अस्वस्थ होने के कारण आजकल नज़र पैनी हो गई है। मैंने लक्ष्य किया कि मेरी अनुपस्थिति में अमिया का देश-प्रेम भी पहले से कहीं अधिक बढ़ गया है। इसके पहले मेरे दृष्टान्त और शिक्षा से उसकी ऐसी अभावनीय उन्नति कभी नहीं हुई थी। आज असहयोग के असह्य आवेग में उसने कालेज त्याग दिया है; भीड़ के भीतर खड़े होकर वक्तृता देते हुए भी उसका दिल नहीं धड़कता; अनाथा-सदन के चन्दे के सिलसिले में अपरिचित लोगों के यहाँ भी वह आती-जाती है, झोली लटकाए फिरती है। यह भी देखा कि उसके इस कठिन अध्यवसाय को देखकर अनिल देवी कहकर उसकी भक्ति करता है—उसके जन्म-दिन के अवसर पर इसी आशय का एक टूटे छन्द का स्तोत्र वह सुनहरे अक्षरों में छपवाकर उसे भेंट करेगा।

मुझे भी वैसा ही कुछ बन जाना पड़ेगा, वर्ना असुविधा हो रही है। बुआ की हुकूमत में नौकर-चाकर बाक़ायदा काम-काज किया करते थे, ज़रूरत पड़ने पर किसी न किसी को हमेशा हाथ के पास पाया जा सकता था। इन दिनों एक गिलास पानी के लिये भी अपने मेदिनीपुरवासी नौकर श्रीमान् जलधर के अकस्मात् अभ्यागम की प्रत्याशा में चातक की भाँति ताकता

रहता हूँ ; वक्त देखकर दवा खाने के बारे में अपनी भुलक्कड़ याद पर ही एकमात्र भरोसा रखना पड़ता है। चिरकाल से अपने नियम के खिलाफ़ होने पर भी रोगी के सिरहाने हाज़िरी देने के लिये दो-एक बार अमिया को बुलवाया है, मगर देखा है, किसी के पावों की आहट पाते ही वह उत्सुकता से दरवाज़े की ओर ताकने लगती है—केवल अधीर-चंचल भाव से उकताई हुई बैठी रहती है।

मुझे दया हो आती है। कहता हूँ—'अमिया, आज ज़रूर तुम लोगों की मीटिंग है।' अमिया कहती है—'सो होने दो, दादा, अब भी कुछ देर······' मैं कह उठता हूँ—'ना ना, ऐसा कहीं होता है ? कर्त्तव्य सबके आगे।' लेकिन प्रायः देखता हूँ कि कर्त्तव्य के बहुत पहले ही अनिल आ उपस्थित होता है। इससे अमिया के कर्त्तव्योत्साह के पाल में मानों ज़ोर की हवा का वेग आ लगता है, मुझे खुद कुछ ज्यादा नहीं कहना पड़ता। सिर्फ़ अनिल ही नहीं, विद्यालय-त्यागी और भी कई उत्साही युवक घर के एकतल्ले में तीसरे पहर चाय और इन्स्पिरेशन ग्रहण करने के लिये इकट्ठे हुआ करते हैं। ये सभी अमिया को युगलक्ष्मी कहकर सम्भाषण करते हैं। एक तरह की पदवी हुआ करती है, जैसे रायबहादुर, जो तह की हुई चादर के माफ़िक होती है ; जिसे मिल जाती है वह बेफ़िक्र होकर कंधे पर झुलाते हुए घूम-फिर सकता है। और एक तरह की पदवी ऐसी होती है कि जिसके भाग्य में जुटती है, उस बेचारे को ही अपने को पदवी के योग्य बना रखने के लिये सब समय उत्कण्ठित रहना पड़ता है। स्पष्ट जान गया कि अमिया की ऐसी ही हालत है। हमेशा अत्यंत उत्साहप्रदीप्त रहे बिना वह फबती नहीं। उसके खाने-पीने-सोने में समय का अभाव खूब धूमधाम से ही घटता है—इस मुहल्ले से लेकर उस मुहल्ले तक खबर हो जाती है। कोई जब कहता है—'ऐसा करने से शरीर टिकेगा कैसे'—वह केवल ज़रा-सा हँस देती है। अजीब होती है वह हँसी। भक्त लोग कहते हैं—'आप तनिक विश्राम कीजिए, हमलोग किसी तरह काम चला लेंगे', तो इससे अमिया क्षुण्ण होती है—'थकावट से बचना ही क्या बड़ी बात है ? दुःखगौरव से वंचित करना क्या कम विडम्बना है ? उसके त्याग-स्वीकार की तालिका में मैं भी आगया हूँ। मैं जो उसका इतना बड़ा जेल-भोगी भाई हूँ, उल्लास कर, कन्हाई, वारीन्द्र, उपेन्द्र आदि के साथ एक ही ज्योतिष्क-मण्डली में जिसका स्थान है, गीता का द्वितीय अध्याय कभी का पीछे छोड़कर जो अंतिम अध्याय की तरफ पहुँच रहा है, उसकी भी ठीक ठीक देख-भाल करने का उसके पास वक्त नहीं। कितना बड़ा स्वार्थत्याग है ! जिस दिन किसी वजह से उसके दल के लोग कम पड़ गए हैं, मैंने भी उस दिन उसके नशे की तलब जुगाने के लिये कहा है—'अमिया, व्यक्तिगत मनुष्य के साथ संबंध जोड़ना तेरा काम नहीं, तेरे लिये है वर्तमान युग।' मेरी बात उसने गंभीर मुख से चुपचाप मान ली है। जेल जाने के बाद से मेरी हँसी की धारा अन्तःशीला हो गई है—जो मुझे नहीं पहचानते वे बाहर से देखकर खूब गम्भीर ही समझते हैं।

बिछौने पर पड़े-पड़े छत की धन्नियों की तरफ़ ताकते-ताकते सोचता हूँ—'विमुखा बान्धवा यान्ति।' सहसा याद आई, उस दिन न जाने कहाँ से एक खौरहा कुत्ता आकर मेरे बरामदे के कोने में आश्रय खोज रहा था। देह के सब रोएँ झड़ चुके हैं, जीर्ण चमड़े के नीचे कंकाल की इज्जत ढँक नहीं पा रही, हालत अधमरी हो गई है। अत्यंत घृणा के साथ उसे दुरदुराकर भगा दिया था। आज सोच रहा हूँ, आखिर इतनी तीखी खीझ के साथ उसे क्यों निकाला था? बेगाना कुत्ता था इस कारण? नहीं, बल्कि उसके सर्वांग में मरण-दशा दिखाई दे रही थी इसलिये। प्राणों की संगीत-सभा में उसका अस्तित्व बेसुरा था, उसकी रुग्णता बे-अदबी। उसके साथ अपनी तुलना याद आई। चारों ओर की चलमान प्राणधारा के बीच मेरी बीमारी एक स्थावर पदार्थ बनी बैठी है—वह स्रोत के लिये बाधा-स्वरूप है। वह चाहती है, कोई चुपचाप सिरहाने बैठा रहे, और प्राणों का तक़ाज़ा है—यहाँ से वहाँ स्वच्छन्द घूमते फिरो। खुद रोग के बंधन में बँधा हुआ रोगी अरोगी को भी बंदी करके रखना चाहता है—यह एक अपराध है। इसलिये जीवलोक पर अपना संपूर्ण दावा परित्याग करने का निश्चय करके गीता खोलकर बैठा। जिस समय क़रीब क़रीब स्थितधीः अवस्था तक पहुँच गया हूँ, मन रोग-अरोग के द्वन्द्व को छोड़ चुका है, ऐसे ही समय सहसा अनुभव हुआ जैसे किसी ने मेरे पाँव छूकर प्रणाम किया हो। गीता से आँखें उठाकर देखा—बुआ के आश्रय में पली-पुसी मंडली की एक लड़की। अब तक दूर से साधारण रूप से ही उसे जानता रहा हूँ, विशेषतया उसका परिचय नहीं पाया; यहाँ तक कि उसका नाम भी विदित नहीं। मुँह पर घूँघट खींचे वह मेरे पाँवों पर हाथ फेर रही है।

तभी याद पड़ा कि बीच-बीच में वह मेरे दरवाजे के बाहर छाया की तरह आकर बार-बार लौट-लौट गई है; साहस करके कमरे में नहीं आ सकी। मेरे अनजाने ही मेरे सिर-दर्द, शरीर-पीड़ा आदि का इतिहास वह बहुत-कुछ ओट से ही जान गई है। आज वह लज्जा-भय दूर करके कमरे में आकर प्रणाम करके बैठ गई। एक दिन एक लड़की को अपमान से बचाने के लिये मैंने नारी को दुःख-स्वीकार का अर्घ्य दिया था; यह लड़की शायद आज देश की संपूर्ण लड़कियों की तरफ़ से मेरे पावों के निकट उसीकी प्राप्ति-स्वीकार के लिये आई है। जेल से निकलने पर अनेक सभाओं में अनेक मालाएँ पाई हैं, किन्तु आज घर के कोने में अख्यात हाथों से जो तनिक-सा सम्मान पाया, वह मेरे हृदय को छू गया। निस्त्रैगुण्य होने के उम्मीदवार इस जेल-भोगी पुरुष की बहुत दिनों की सूखी आँखें गीली होने को आईं। पहले ही कह आया हूँ कि सेवा से मैं अभ्यस्त नहीं हूँ; किसी से पैर दबवाना अच्छा ही नहीं लगता, उसे डाँटकर भगा दिया करता हूँ। किन्तु आज इस सेवा का प्रत्याख्यान करने की स्पर्द्धा ही मन में नहीं उठी।

खुलना जिले में बुआ की आदि-ससुराल का घर है। गाँव के संबंध की दो-चार लड़कियाँ

को वहाँ से लाकर बुआ ने यहाँ रख छोड़ा था। बुआ के काम-काज पूजा-अरचा में वे उनकी सहकारिणी होती थीं। अपने नाना प्रकार के कामधंधों में उन लोगों के बिना बुआ का चलता ही नहीं था। इस घर में और सब जगह अमिया का अधिकार था, सिर्फ पूजावाले कमरे में नहीं। अमिया इसका कारण नहीं जानती थी, जानने की कोशिश भी नहीं करती थी। बुआ की इच्छा थी कि अमिया अच्छी तरह पढ़ाई-लिखाई करके ऐसे घर में ब्याह करेगी जहाँ आचार-विचार की झंझट ही नहीं, और देव-द्विज जहाँ से सत्कार न पाकर खाली हाथ लौटे चले आते हैं। यह आक्षेप की बात है सही, किंतु इसके सिवा उसकी अन्य गति हो ही नहीं सकती। इसीसे उन्होंने अमिया को ढील के ढालू तट से बहते हुए क्रमशः आधुनिक आचारहीनता के मध्य में उत्तीर्ण होते देखकर भी बाधा नहीं दी। बचपन से ही गणित और अंग्रेजी में वह क्लास में प्रथम रही है। फ्राक पहनकर वेणी डुलाती हुई मिशनरी स्कूल से वह हर साल चार-पाँच इनामें लेती आई है। जिस दफ़ा दैवात् इम्तिहान में दूसरे नंबर आई है, उस दफ़ा सोने के कमरे का दरवाजा भीतर से बंद करके रोते रोते उसने आँखें फुला ली हैं—आमरण उपवास करना चाहा है। इसी प्रकार परीक्षा-देवता के निकट सिद्धि की मानता मनाकर वह दीर्घकाल साधना में तन्मय रही है। अंत में असहयोग के योगिनी-मंत्र की दीक्षा पाकर परीक्षादेवी की वर्जन-साधना में भी वह प्रथम ही उत्तीर्ण हुई है। पास-ग्रहण और पास-छेदन दोनों में एक-सी—वह किसी भी तरह किसी से पीछे रहनेवाली लड़की नहीं। पढ़ाई-लिखाई करने में उसकी जी ख्याति थी, पढ़ाई-लिखाई छोड़ने में वह उससे कहीं बढ़ गई। आज जो सब इनाम उसके हाथों के निकट फिर रहे हैं, वे चलते-फिरते हैं, बोलते-चालते हैं, आँसुओं के जल में गले जाते हैं, यहाँ तक कि कविता भी लिखते हैं।

यह कहने की जरूरत नहीं कि बुआ के पुरा-पड़ौस की पोष्यमंडली की लड़कियों पर अमिया की तनिक भी श्रद्धा नहीं थी। अनाथा-सदन में जिन दिनों चन्दे के रुपयों की जगह अनाथाओं की ही कमी ज्यादा थी, उन दिनों इन लड़कियों को वहाँ भेज देने के लिये अमिया ने बुआ से बहुत बार आग्रह किया था। बुआ कहतीं—यह कैसी बात है? ये लोग तो अनाथा नहीं हैं—मैं आखिर किसलिये जिन्दा हूँ? अनाथ हो चाहे सनाथ, लड़कियों को चाहिए घर। सदन के भीतर उन पर सील-मुहर लगाकर बस्ताबंदी करके क्यों रक्खोगी? तुम्हें अगर इतनी ममता है तो तुम्हारा घर नहीं है क्या?

जो हो, वह लड़की जिस समय सिर नीचा किए पावों पर हाथ फेरने लगी, मैं संकुचित, और फिर भी, विगलित चित्त से मुँह के सामने एक अखबार फैलाकर विज्ञापनों पर नज़र दौड़ाने लगा। इसी समय अचानक बेवक्त अमिया कमरे में आ पहुँची। नवीन युग के उपयुक्त 'भाई-दूज' की उसने एक नवीन व्याख्या लिखी है, उसीका वह अंग्रेजी में प्रचार करना चाहती है। इसके

लिये मेरी कुछ सहायता चाहिए। इस लेख के मौलिक आईडिया से उसके भक्तदल में काफ़ी हलचल मच गई है। वे लोग कमर बाँधकर तुले हुए हैं कि इसे लेकर खासी धूमधाम करेंगे।

कमरे में घुसते ही सेवानियुक्त लड़की को देखकर अमिया के मुँह का भाव अत्यन्त कठोर हो गया। उसका देशविश्रुत दादा अगर सिर्फ़ ज़रा-सा इशारा मात्र करता तो उसकी सेवा करनेवाले लोगों की क्या कोई कमी होती? इतने लोगों के रहते अन्त में क्या इस······

वह रह न सकी, कह उठी—'हरिमति को क्या तुमने······' उसका प्रश्न खत्म होने के पहले ही मैं बोल उठा—'पैर बहुत दर्द कर रहे थे, अमिया!'

पुलिस-सार्जेन्ट के हाथों एक लड़की को अपमान से बचाने जाकर जेलखाने जाना पड़ा था। आज एक लड़की के क्रोध से और एक लड़की को ढँकने के लिये झूठी बात कह बैठा। इस बार भी सज़ा शुरू हुई। अमिया आकर मेरे पावों के पास बैठ गई। हरिमति ने कुण्ठित मृदुकण्ठ से मालूम नहीं क्या-कुछ कहा, किंतु उसने मुँह फेरकर कोई जवाब नहीं दिया। हरिमति धीरे धीरे उठकर चली गई। तब अमिया बैठ गई मेरे पाँव लेकर। आफ़त टूटी मुझपर। क्योंकर कहूँ—'जरूरत नहीं, मुझे अच्छा नहीं लगता?' इतने दिन अपने पैरों के सम्बन्ध में जो स्वायत्त-शासन पूरी तरह बनाकर रख सका था, दिखता है अब वह टिकेगा नहीं।

चटपट उठकर बैठते हुए कहा—"अमिया, दे तो तेरा वह लेख, उसका तर्जुमा कर डालूँ।"

"अभी रहने न दो, दादा, तुम्हारा पैर दर्द कर रहा है, ज़रा दबा दूँ?"

"नाः, पैर क्यों दर्द करेगा? एँ, हाँ हाँ, ज़रा-ज़रा दर्द कर रहा है सही। लेकिन देख, अमी, तेरा यह भैयादूज का आईडिया बहुत ही आश्चर्यजनक है। किस तरह आया यह तेरे दिमाग में-यही सोच रहा हूँ। वही जो तूने लिखा है, 'वर्त्तमान युग में भाई का ललाट अत्यन्त विराट हो गया है, वह सम्पूर्ण वंग-देश में विस्तृत है, केवल किसी एक घर में उसका स्थान सीमित नहीं'—यह एक खूब ही बड़ी बात कही है तूने। दे तो, मैं लिख डालूँ इसे। With the advent of the present age, the Brother's brow, waiting for its auspicious anointment from the Sisters of Bengal, has grown immensely beyond the narrowness of domestic privacy, beyond the boundaries of the individual home. एकाध आईडिया-जैसा-आईडिया पाते ही कलम पागल हो कर दौड़ने लगती है!"

अमिया की पाँव दबाने की झोंक एकबारगी थम गई। मेरा सिर भारी हो रहा था, लिखने की ज़रा भी तबीयत नहीं थी—तब भी एस्पिरीन की गोली खाकर बैठ गया।

दूसरे दिन दुपहरिया के समय हमारे जलधर जब कि दिवानिद्रा में रत थे, सदर ड्योढ़ी पर

बाबाजी तुलसीदास की रामायण का पाठ कर रहे थे, गली के मोड़ पर भालू के नाच की डुगडुगी सुनाई पड़ रही थी, विश्राम-त्यागिनी अमिया जब कि युगलक्ष्मी के कर्त्तव्य-पालन में बाहर निकल पड़ी थी, तभी द्वार के बाहर सूने बरामदे में एक भीरु छाया दिखाई पड़ी। अन्त में मालूम नहीं कब वही लड़की हठात् आकर मेरे सिरहाने बैठकर हवा करने लगी। समझ गया कि कल अमिया के मुँह का भाव देखकर अब पाँव छूने का साहस नहीं रह गया है। इस समय नव-वंग के भैयादूज-प्रचार की बैठक हो रही होगी, अमिया व्यस्त होगी, इसीलिये सोचा, भरोसा करके एक दफ़ा कह डालूँ—'पाँव बहुत दुख रहे हैं।' भाग्य में कहा नहीं। मिथ्या बात जब कि मन में इतस्ततः कर ही रही थी, ठीक तभी अनाथा-सदन की त्रैमासिक रिपोर्ट हाथ में लिए अमिया ने प्रवेश किया। हरिमति के पंखा डुलाने में हठात् चौंक पड़ने का आभास मिला—उसके हृत्पिण्ड की चंचलता और मुख की विवर्णता का अन्दाज़ करते कुछ मुश्किल नहीं हुई। अनाथा-सदन के इस सेक्रेटरी के भय से उसके पंखे की चाल खूब धीमी हो आई।

अमिया ने बिछौने के एक किनारे बैठकर खूब सख्त सुर में कहना शुरू किया—देखो दादा, हमारे देश में घर-घर कितनी ही आश्रयहीना लड़कियाँ बड़े बड़े परिवारों में पलती हुई दिन काट रही हैं। तथापि उन बड़े बड़े धनी परिवारों में उनकी ज़रा भी ज़रूरत नहीं है। और जो ग़रीब लड़कियाँ मेहनत-मजूरी करके पेट भरने के लिये लाचार हैं, ये लोग उन्हींके अन्न-अर्जन में सिर्फ बाधा मात्र देती हैं। ये लोग यदि सर्वसाधारण के उपयोग में लग सकें—जैसे हम लोगों का यह अनाथा-सदन का कामकाज है—तो·········

समझ गया, मेरे बहाने हरिमति पर ही यह वक्तृता की शिलावृष्टि की जा रही है। मैंने कहा—अर्थात् तुम चलोगी अपने शौक के अनुसार और आश्रयहीनाएँ चलेंगी तुम्हारे हुक्म के मुताबिक; तुम होगी अनाथा-सदन की सेक्रेटरी और वे लोग होंगी उसकी सेवाकारिणी। इसकी बनिस्बत खुद ही सेवाकार्य में जुट जाओ, समझ जाओगी कि वह काम तुम्हारे लिये असाध्य है। अनाथाओं को तंग करना सहज है, उनकी सेवा करना सहज नहीं। खुद के ऊपर दावा करो, दूसरों पर नहीं।

मेरा क्षात्र स्वभाव है, बीच-बीच में भूल ही जाता हूँ—'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्।' फल यह हुआ कि अमिया ने बुआ की सदस्याओं में से और एक लड़की को लाकर हाज़िर कर दिया—उसका नाम था प्रसन्न। उसे मेरे पावों के नज़दीक बैठाकर कहा—दादा के पैर दुख रहे हैं, ज़रा दाब तो दो। वह खूब लगन और परिश्रम के साथ दाबने लगी। अभागा दादा अब किस मुँह से कहे कि उसके पावों में कोई विकार नहीं घटा है। किस तरह समझाए कि इस तरह की दवाई से सिर्फ उसे कायल किया जा रहा है। मन ही मन जान गया, रोगी के बिस्तरे पर

अब और रोगी को जगह न मिलेगी, भागते ही बनेगा। इससे तो कहीं बेहतर है नववंग की भाईदूज-सभा का सभापति होना। पंखे की हवा धीरे धीरे थम गई। हरिमति साफ़ साफ़ समझ गई कि अस्त्र उसी को लक्ष्य करके चलाया गया है। यह था प्रसन्न के द्वारा हरिमति को उखाड़ फेकना। कण्टकेनैव कण्टकम्। ज़रा ठहरकर पंखा धरती पर रखकर वह उठ खड़ी हुई। मेरे पावों के निकट माथा टेककर प्रणाम करके दोनों पैरों पर हौले-हौले हाथ फेरकर वह चुपचाप चली गई।मुझे फिर गीता खोलनी पड़ी। तब भी श्लोकों के बीच बीच से दरवाजे की ओर ताक लेता हूँ; किंतु वही तनिक-सी छाया फिर कभी नहीं दिखी। उसके बदले प्रसन्न अक्सर ही आती है; प्रसन्न के दृष्टान्त से और भी दो-चार लड़कियाँ अमिया के देशविश्रुत देशभक्त दादा की सेवा करने जुट गई हैं। अमिया ने ऐसा पक्का इन्तज़ाम कर रक्खा है जिससे बारी बारी से मेरी नित्य-सेवा चलती रहे। इसी बीच एक दिन सुना गया कि हरिमति किसी से कुछ कहे-सुने बिना चुपचाप कलकत्ता छोड़कर अपने गाँव वापस चली गई।

महीने की बारहवीं तारीख को सम्पादक-मित्र आकर बोले—'यह कैसी बात है? मज़ाक कर रहे हो क्या? यही है तुम्हारी कठोर अभिज्ञता?' मैंने हँसते हुए पूछा—'पूजा के बाजार में नहीं चलेगी क्या?'

'क़तई नहीं, यह तो बिल्कुल हल्की चीज़ है।'

सम्पादक का कुसूर नहीं है। जेलवास के बाद से मेरी आँखों का पानी भीतर ही भीतर बहा करता है। लोग बाहर से देखकर मुझे खूब हल्की प्रकृति का आदमी समझा करते हैं। सम्पादक महोदय कहानी वापस दे गए। ठीक तभी अनिल आ पहुँचा। बोला—मुँह से नहीं बता पाऊँगा, यह चिट्ठी पढ़ लीजिए। चिट्ठी में अमिया—अपनी देवी—युगलक्ष्मी के साथ विवाह करने की इच्छा प्रकट की गई है; यह भी कहा गया है कि इसमें अमिया को नाहीं नहीं है। तब अमिया का जन्म वृत्तान्त उससे कहना पड़ा। यों सहज ही न कहता, किन्तु जानता था, हीन जाति पर अनिल श्रद्धापूर्ण करुणा प्रकाश किया करता है। मैंने उससे कहा—पूर्वजों का कलङ्क जन्म के द्वारा ही दूर हो जाता है—यह तो अमिया के जीवन से ही तुम देख पाते हो। वह है कमल जिसमें कलङ्क का चिह्न भी नहीं।

नववङ्ग की भाई-दूज की सभा फिर और नहीं जमी। दूज का टीका तो तैयार है किंतु प्रशस्त कपाल ने दूर की दौड़ लगादी है। और सुना है, अनिल कलकत्ता छोड़कर कुमिल्ला में स्वराज्य प्रचार का कोई एक काम हाथ में लिए है।

अमिया कालेज में भर्ती होने कर उद्योग कर रही है। इसी बीच बुआ के तीर्थ से वापस आने के बाद से सेवा-टहल के जंजाल से मेरे दोनों पावों को रिहाई मिल गई है। [अनु०—मो०

युद्धोत्तरकालीन यूरोपीय उपन्यास में धर्म

डाक्टर ए० एरन्सन

गत महायुद्ध के बाद —खासकर सन् १९२० और १९३० के बीच—यूरोपीय उपन्यास इसी प्रश्न को सुलझाने में लगा हुआ था कि जो दुनिया सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से आज खण्ड-खण्ड होने जा रही है, उसमें व्यक्ति के लिये सुदृढ़ और सुनिश्चित क्या है ? सत्य के नाना स्तरों में प्रवहमान व्यक्ति-चेतना के स्रोत को उद्घाटित करने के लिये इंग्लैण्ड और शेष यूरोप के सभी महत्त्वपूर्ण लेखक सचेष्ट थे। यहाँ हम विचार करेंगे कि सत्य के आध्यात्मिक स्तर के प्रति—अर्थात् धर्म के प्रति—व्यक्ति की क्या प्रतिक्रिया हुई और उपन्यासकार ने उसे किस तरह व्यक्त किया।

आधुनिक उपन्यास क्रमशः अधिकाधिक अन्तर्दर्शी और विश्लेषण तथा छानबीन में प्रवृत्त होता गया है। पहले के उपन्यासों में धार्मिक अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति थी सही, किंतु आज वह खोजे नहीं मिलती। आज तो आध्यात्मिक जीवन का अनवरत अवकर्ष ही दिखाया जा रहा है। पश्चिम में संस्कृति और अध्यात्म की जो वर्तमान विकासधारा बह रही है उसीके साथ इस प्रवृत्ति का निगूढ़ योग है। अन्तर्दर्शन के इस नए रुख पर यदि शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से विचार करें तो मालूम पड़ेगा कि यह डास्टैवस्की के साथ शुरू होती है। यूरोप के युद्धोत्तरकालीन उपन्यास-साहित्य पर उसका गहरा प्रभाव पड़ा है।

यूरोप के जिन महान् कथा शिल्पियों ने धार्मिक अनुभूतियों को वैयक्तिक चेतना के भीतर से प्रकाशित किया है, उनकी परम्परा में डास्टैवस्की शायद सबसे हाल का लेखक पड़ता है। उसके अनेक पात्र अपने अन्तर्द्वन्द्व के प्रति सचेत रहते हैं ; शुभ-अशुभ, विश्वास-तर्क, न्याय-अन्याय के निरंतर चलनेवाले संघर्ष को अपने भीतर अनुभव करते हैं। उसके प्रसिद्ध उपन्यास 'दी ब्रादर्स कैरेमाज़ोव' को अगर इस दृष्टि से पढ़ा जाय तो डास्टैवस्की की 'फ़िलासफ़ी' समझने की कुंजी मिल जाएगी। इतना ही नहीं, धार्मिक प्रश्नों को लेकर उसका अपना रुख क्या था और उसकी निजी चिंता में द्वन्द्व ठीक किस जगह था—यह भी स्पष्ट हो जाएगा। कारण, उसके प्रायः प्रत्येक उपन्यास में भगवान् और शैतान के बीच युद्ध चला हुआ है। यद्यपि हर बार डास्टैवस्की ने अशुभ पर शुभ की विजय में अपना विश्वास घोषित किया है, तब भी यह विचार उसकी रचनाओं में एकदम स्पष्ट है कि समाज के बढ़ते हुए यन्त्रीकरण और एक ही स्टैण्डर्ड पर लाने

की चेष्टा से नई और अजीब परिस्थितियाँ पैदा हो गई हैं, जिनके साथ मेल बैठाने के लिये स्वयं धर्म को ही नये रूप में नये सिरे से गठित करना होगा। डास्टैवस्की का यह 'नवीन' धर्म सब तरह की सैद्धान्तिक कट्टरता से अछूता और ईसाइयत के बाह्याडम्बर से सर्वथा मुक्त होगा। वह धर्म और राजशक्ति के परिपूर्ण मिलन का प्रतीक होगा। आदर्श राज्य के भीतर ही ऐसे आदर्श धर्म की प्रतिष्ठा हो सकती है। लेकिन डास्टैवस्की के इस मत के संबंध में इससे अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। कारण, उसने कभी यह साफ़ साफ़ नहीं बताया कि रूस में वह किस शासनतंत्र की कल्पना किया करता था। हो सकता है कि उसके मन में किसी ऐसे रामराज्य की कल्पना रही हो जिसे हम एक प्रकार का गौरवान्वित वर्गवाद कह सकते हैं, जिसमें चर्च के प्रति निष्ठा रखने का अर्थ ही राज्य के प्रति श्रद्धा रखना होगा। ऐसे राज्य में व्यक्ति को परिपूर्ण स्वतंत्रता दी जा सकती है, अवश्य ही धार्मिक 'विश्वास की स्वतंत्रता' को छोड़कर! लक्ष्य करने की बात है कि एक और भी आधुनिक उपन्यास—'दी मैजिक माउण्टेन'—में लेखक टामस मैन ने उन्नीसवीं शताब्दी के 'सुसंस्कृत' व्यक्तिवाद पर आक्रमण करते हुए अपने एक पात्र के मुँह से ठीक इसी आशय की व्यंजना कराई है: "तुम्हारा व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद······दोषों से भरा है। वह कमज़ोरी की स्वीकृति का सूचक है। वह चाहता है कि थोड़ी सी ईसाइयत का पुट देकर, 'मानवीय अधिकारों' के सिद्धान्त की थोड़ा सी मिलावट करके, तथाकथित आज़ादी का हलका-सा आभास देकर राज्य की विश्वासशून्य नैतिकता में थोड़ा बहुत पैबंद लगा दिया-जाय। किंतु इससे अधिक कुछ करना उसके बूते के बाहर है। तथापि सच्चा व्यक्तिस्वातंत्र्यवाद, यदि वह सचमुच ही सच्चा है, तो असंख्य बंधनों से युक्त कठिन वर्गवाद के साथ भी सहज सामंजस्य बैठा सकता है। वह व्यक्ति की आत्मा को उसकी ब्रह्माण्डव्यापी पारिपार्श्विकता के भीतर देखकर उसके यथार्थ गौरव को समझ पाता है। वह सामाजिक नहीं, आध्यात्मिक होता है; वह मानवीय सत्ता को व्यक्ति और समाज के संघर्ष के रूप में नहीं, बल्कि अहंता और भागवत सत्ता—भौतिक देह और चिन्मय आत्मा के द्वन्द्व के रूप में देखता है[1]।"

1. Thomas Mann : *The Magic Mountain*, II, p. 512

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उक्त वक्तव्य का वक्ता एक जेजुइट है जिसका झुकाव वर्गवाद की तरफ़ है। इस प्रसंग में याद रखना चाहिए कि ईसाई समाजवाद अपनी नरम और गरम दोनों शाखाओं सहित महायुद्ध के पश्चात् यूरोप में बहुत लोकप्रिय हो उठा था। किंतु यह भी महज़ आकस्मिक संयोग नहीं कि ऊपर का यह पात्र प्राचीन ईसाई धर्म और अर्वाचीन मार्क्सवाद के इतने बड़े समन्वय का प्रतीक होकर भी ग्रंथके अंत में आत्मघात कर बैठता है। टामस मैन शायद प्रकृति से ही कुछ इतना अधिक प्रजातंत्रवादी है कि वह किसी भी प्रकार की चरममतवादिता में विश्वास ही नहीं कर सकता, फिर वह चरममत धार्मिक हो या राजनैतिक! इस प्रसंग में और भी बहुत से मौज़ूँ प्रश्न पूछे जा सकते हैं, जैसे—आज की राजसत्ता का सामाजिक, राजनैतिक अथवा आर्थिक

जिन उपन्यासकारों ने आध्यात्मिक समस्या की यत्किञ्चित विवेचना करने का साहस किया उन्हें शीघ्र ही यह मालूम हो गया कि उपेक्षा अथवा तटस्थता का पुराना रुख़ लेकर चलने से ही काम नहीं चलेगा, हस्तक्षेप करना ही होगा। डास्टैवस्की की तरह वे भी सुनिश्चित सत्य के लिए व्याकुल थे, किंतु उसके समान किसी अनिर्दिष्ट अस्पष्ट पूर्णता के आदर्श में विश्वास करना अब उनके लिये संभव नहीं था। संपूर्ण कठोर और कटु वास्तव से उनका मुक़ाबिला पड़ रहा था। यदि किसी प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूति उन्हें हो रही थी तो वह संदेह की, तर्क की, पुराने विश्वासों के भ्रमोच्छेदन की ही थी। जो धर्म व्यवसाय का रूप रखे था, जो पैसा पैदा करने का साधन बना हुआ था, जो हमारे जीवन को यंत्रचालित प्रक्रिया में परिणत करदेने की चेष्टा में सहायक था, उस धर्म के ख़िलाफ़ उन्होंने विद्रोह का स्वर ऊँचा किया। आध्यात्मिक पुरुष के स्वभाव की विनय उन्हें किसी सच्चे गुण के रूप में नहीं, बल्कि मिथ्या आडम्बर के रूप में दिखाई दी। "दी ब्रादर्स कैरेमाज़ोव" के पात्र फ़ादर सोसिमा की नम्रता को वे "आदर्श" भी नहीं मान सके। जिन्होंने अपने विश्वास और विचारों की दृढ़ता खो दी है उनकी दुनिया में रहते हुए, नैतिक अर्थ में हो चाहे आध्यात्मिक, "विनयी" होकर रहना संभव ही नहीं—यही उनका तर्क था :

> "मठाधीश के लिए बाह्य आचरण ही काफ़ी है ; बल्कि वह सभी के लिए बहुत काफ़ी है। मैं मूर्ख हूँ यदि उतने से ही संतुष्ट नहीं रह पाता। उसके परे की जिस वस्तु के लिये मैं अनुसन्धित्सु हूँ वह कोई महत्त्व नहीं रखती, उसकी कोई सत्ता नहीं—हस्ती नहीं। ठीक तो है। जब हम सब को सिर्फ़ दिखावे से ही संतुष्ट हो जाना है, तब मैं भी विनय का दिखावा कर लूँगा ; भीतर सच्ची विनय बोध करने की ज़रूरत नहीं[1]।"

संगठन (राजसत्ता जनतांत्रिक, फ़ासिस्ट या समाजवादी—चाहे जो हो) क्या मनुष्यों के चित्त में आध्यात्मिक बोध के जागरण का अवसर देती है ? अथवा, प्रबंध के अधिकांश लेखक जब कि मध्यवित्त श्रेणी से आए हुए हैं तब उनके विश्वास (अविश्वास कहना कदाचित् अधिक उपयुक्त होगा) अपनी श्रेणी के खास रुख़ के रंग में रँगे हुए नहीं हैं ? उनके तर्क, संदेह अथवा तीखी कटुता उनकी असंतोषजनक सामाजिक स्थिति के परिणाम नहीं हैं ? श्रमजीवी दल का विशाल जनसमूह भी क्या अध्यात्मविषय में मध्यवित्त श्रेणी के बुद्धिजीवियों के समान ही निष्फल व्यर्थता का अनुभव करता है ?

1. André Gide : *The School for Wifes*, p. 75

यूरोपीय साहित्य में वर्णित व्यवसायी पुरोहित का यदि निकट से अध्ययन किया जाय तो वह बड़ी मनोरंजक वस्तु होगी। वेकफ़ील्ड के पादरी और फ़ादर सोसिमा के मानसिक और आध्यात्मिक गठन में जो स्पष्ट भेद है, वह केवल स्थान-काल के भेद और उत्तराधिकार सूत्र से पाए हुए जातिगत वैशिष्ट्य के ही कारण नहीं, बल्कि आध्यात्मिक अनुभवों के प्रति दो भिन्न लेखकों के दो बदलते हुए रुख़ों के कारण है। पुरोहित को उसकी सन्देहातीत साधुता के उच्चासन से नीचे उतार लाया गया

जो व्यक्ति अधिक सुकुमार अनुभूति से सम्पन्न होंगे उनमें बाहर से धार्मिक विश्वासों के लादे जाने पर प्रतिक्रिया भी अधिक प्रबल होगी। ऐसे लोग पहले तो आपत्ति प्रकाश करके रह जाएँगे किंतु क्रमशः आध्यात्मिक सत्य को ही अस्वीकार करने लगेंगे। इस युग के बुद्धिजीवी चिंतक और कलाकार को यदि कोई बात सबसे अधिक वाहियात जँचती थी तो वह यह कि किसी अज्ञात देवता ने किसी अज्ञात काल में अपने किसी अज्ञात और अबोध्य उद्देश्य की सिद्धि के अर्थ मानवप्राणी की सृष्टि की थी। इस विचार मात्र से ही उन्हें ऐसी निराशा और व्यर्थता का बोध हुआ कि ईश्वर में विश्वास करना उनके लिए असंभव हो गया। वास्तव-जगत् में उन्हें जो अनुभव हो रहे थे वे भगवान् की अपेक्षा शैतान के उत्पन्न किए हुए अधिक थे। उसी के कारण पृथिवी पर इतना कुछ पाप-ताप और अन्याय अविचार फैला हुआ था :

> "मैं तुमसे कहे देता हूँ, स्वर्ग के पवित्र देवता, तुम मिथ्या हो, तुम्हारी कोई हस्ती नहीं। और यदि हो भी, तो मैं तुम्हें ऐसा अभिशाप दूँगा कि तुम्हारा स्वर्ग नरक की ज्वालाओं से थर्रा उठेगा। मैं तुमसे कहे देता हूँ, मैं तुम्हारी सेवा करना चाहता था और तुमने मेरी अवज्ञा की। तुम नहीं जानते कि कब किसके निकट तुम्हें पहुँच जाना चाहिए, इसलिए मैं सदा के लिये तुमसे विमुख होता हूँ। मैं मरने जा रहा हूँ पर फिर भी तुम्हें घृणा से चिढ़ाऊँगा। स्वर्ग के ईश्वर, एपिस ! मौत की कराल विभीषिका के सम्मुखीन होकर भी मैं तुमसे कहे देता हूँ कि तुम्हारे भव्य प्रासादों में आज़ाद होकर रहने की बनिस्बत नरक में गुलामी करना मैं कहीं बेहतर समझता हूँ[1]।"

ऐसी हालत में जब कि सभी 'उदात्त' भावनाओं का अवकर्ष प्रमाणित किया जा रहा था, यदि धर्म को भी उसके गौरवपूर्ण आसन से नीचे उतार लाने की चेष्टा की जा रही हो तो इसमें आश्चर्य क्या है ? यहाँ यह बात समझ रखनी चाहिए कि ये सब उपन्यास-लेखक आध्यात्मिक समस्याओं के प्रति उदासीन नहीं थे। किंतु पिछली शताब्दी की वैज्ञानिक उन्नति का संपूर्ण रूप से अनुसरण करने की शिक्षा यदि उन्हें नहीं मिली थी, तो कम से कम उसे मर्यादा देना उन्हें ज़रूर सिखा दिया गया था। इसलिये वे यही सोचने के लिये बाध्य थे कि अध्यात्म-तत्त्व की स्फीति कम करने में विज्ञान और खासकर वैज्ञानिक चिंतन-प्रणाली ही प्रधानरूप से ज़िम्मेवार

है। डास्टैवस्की ने आज के चिन्तक के सामने फ़ादर सोसिमा-जैसे अलौकिक चरित के रूप में एक आदर्श प्रस्तुत किया है जो विश्वास खोई हुई दुनिया में किसी सुनिश्चित तत्त्व का अन्वेषक है। आन्द्रे जीड डास्टैवस्की का बहुत बड़ा प्रशंसक था, इसीलिये जब आदर्श पुरोहित के साथ उसने वर्तमान पुरोहित की तुलना की तो इन निराशामूलक परिणामों तक पहुँचने के लिये वह बाध्य हुआ।

1. Knut Hamsun : *Hunger*, p. 212-13

है। और अपनी खरी स्पष्टवादिता के द्वारा उन्होंने व्यक्ति के निष्फल धार्मिक सत्यान्वेषण को बराबर घोषित और चित्रित किया :

"ऐसे प्रशांत मुहूर्त्त में वह किसी असामान्य और भव्य अनुभूति के लिये उत्सुक होगा—लोकान्तर से आनेवाला कोई सन्देश सुनने के लिये अथवा अपने भावों को मर्त्य इन्द्रियों की पहुँच के अतीत किसी शून्यलोक में उन्मुक्त विहार करने देने के लिये। किन्तु कहाँ हुआ यह सब कुछ? उसकी विचार-धारा हठपूर्वक धरती की धूल में ही सिर गड़ाकर अटक रही। वह मृत व्यक्ति के सफेद हाथों की ओर ताक रहा है और सोच रहा है कि जाने और कितनी देर तक अँगुलियों के नाखूनों का बढ़ना जारी रहेगा[1]।"

सभ्यता की मात्रा जितनी ही बढ़ रही है, लोगों में धर्मभाव का प्रभाव उतना ही कम होता जा रहा है। धर्मतत्त्व को ये लोग मानवीय इतिहास के "अन्धयुग" का लक्षण कहेंगे। उनके अनुसार ये सब अवलुप्त अंधविश्वासों और कुसंस्कारों के थोड़े-से अवशेष मात्र हैं जिन्होंने वर्तमान के साथ समझौता करके कौशलपूर्वक अपनेको बचा लिया है। स्पष्ट ही इस तरह का रुख अप्रौढ़ बैरागीपन की निशानी है। जब कोई आध्यात्मिक व्यापार सामने आ जाता है तब हमारे आलोच्य उपन्यासों के बहुत से पात्र इसी तरह बेचैन हो पड़ते हैं :

"श्रीमती क्वार्ल किसी के झगड़े में न पड़नेवाली, शांत किंतु उत्साही, धर्मपरायणा स्त्री थीं और अपने विश्वासों पर भरसक अमल करने की चेष्टा करती थीं। एलिनर उनकी तारीफ़ कर सकती थी किंतु उसे यह सब फ़िजूल और वाहियात लगता था। उसकी शिक्षा पुराने नीति-सम्मत ढंग से ही हुई थी किंतु उसे ऐसा एक भी दिन याद नहीं जिसमें उसने परलोक और परलोकवासियों की चर्चा में सचमुच विश्वास किया हो—यहाँ तक कि बचपन में भी नहीं। परलोक की बातों से ही वह उकता उठती थी; उसकी दिलचस्पी सिर्फ़ इसी लोक में थी। ईसाई धर्म की पूर्ण दीक्षा (confirmation) के समय उसके मन में उतना ही उत्साह था जितना नाटक-तमाशा देखने जाने के समय होता है, और सच पूछो तो उससे भी कहीं कम ही। उसकी सम्पूर्ण किशोरावस्था किसी धर्म-संकट का ज़रा सा भी आभास पाए बिना कट गई[2]।"

---

1. André Gide : *The Counterfeiters*, p. 39

ऊपर के उद्धरण से इस युग की एक प्रवृत्ति का परिचय मिलता है। मृत्यु-जैसे अबोधनीय आधिभौतिक व्यापारों से उसने अपनी अनुभूति का नाता तोड़ लिया है। मृत्यु को किसी विज्ञानसम्मत नियम द्वारा न समझा सकने से आज की युगबुद्धि एक अद्भुत असमंजस में पड़ जाती है। एक तरफ़ तो आध्यात्मिक अनुभवों के लिये तीव्र उत्सुकता है और दूसरी तरफ़ बाहर की शक्तियों की ऐसी रोक है जिसके रहते विशुद्ध आध्यात्मिक वृत्ति बन ही नहीं पाती। इन उपन्यासों के अधिकांश चरित्र इन्हीं दोनों प्रवृत्तियों के बीच भटकते हुए, अपने प्रयासों को विफल होते देखकर, अंत में कठोर वैराग्य-वाद और हताश आत्म-विश्लेषण का आश्रय लेते हैं।

2. Aldous Huxley : *Point Counter Point*, p. 310

आध्यात्मिक निष्फलता बोध करनेवाले आधुनिक औपन्यासिकों के बीच डी० एच० लारेन्स ही शायद एकमात्र उल्लेखनीय अपवाद है। वही एक प्रतिभासम्पन्न लेखक है जिसने वर्तमान समाज में ईसाईमत के विश्वासों और नैतिक सिद्धान्तों के ह्रास के आन्तरिक कारणों को समझा है। यह सच है कि जीवन के प्रति केवलमात्र आध्यात्मिक रुख रखने में (जैसा कि एल्योशा कैरेमाज़ोव अथवा फ़ादर सोसिमा के चरित्रों में मिलता है) उसका कभी विश्वास नहीं रहा। किंतु इसमें उसे दृढ़ विश्वास था कि आधुनिक विज्ञान और बुद्धि मनुष्य को नई दृष्टि और नया मूल्य-विधान देने में सर्वथा असफल रहे हैं। भविष्यद्वक्ता-जैसी दृष्टि से लारेन्स ने इस बात का चित्रण किया है कि यदि मानव समाज फिर से सहज स्वाभाविक जीवन की तरफ़ लौट सके, अपने अस्तित्व को एक अटूट अविच्छिन्नता के रूप में देखना सीख सके, यदि उसकी "आत्मा" जीने के भीतर ही जीने की संपूर्ण सार्थकता पा सके और सृष्टि की सुश्रृंखला के साथ पारस्परिक संवेदना का नाता जोड़ सके, तो दुनिया कैसी हो जायगी। लारेन्स मूलतः एक धर्म-संस्कारक था। 'दी मैन हू डायड' नामक अपने उपन्यास में उसने देह और आत्मा के इसी अभिनव सामंजस्य को व्यक्त किया है। इसकी कहानी ईश्वर अथवा पुण्य के ख़िलाफ़ अमर्यादा की कहानी नहीं है; वह धर्मजीवन के भीतर नया अर्थ और नये प्राण संचार करने का प्रयास है।

तब भी अधिकांश स्थलों में वैज्ञानिक चिंतनशैली अथवा पंडे-पुरोहितों की श्रद्धा-विश्वास पैदा करने की असमर्थता के साथ ही आध्यात्मिक उलझन जुड़ गई है। हक्सले ने अपने एक उपन्यास में निम्नलिखित प्रश्न पूछे हैं जो कुछ लोगों को अभद्र और धृष्ट जान पड़ेंगे, किंतु वास्तव में वे धर्म के प्रति बुद्धिजीवियों और कलाकारों की प्रतिक्रिया को सामने रखते हैं :

क्या धर्म और सत्य—वैज्ञानिक सत्य—को एक और अभिन्न माना जा सकता है? जो लोग जगत् में धर्म के प्रतिनिधि बने हैं, वे इस तरह शोचनीय रूप में हमारे निकट अश्रद्धेय क्यों हो रहे हैं?

"भगवान् को हृदय के उष्ण स्पर्श में, आमोद और उल्लास में, आँखों के करुण जल में, शक्ति और चिंता के अतिरेक में देखना—यहाँ तक तो ठीक है। किन्तु सत्य के रूप में—दो और दो चार होने के नियम में—उनका आरोप करना—यहीं गड़बड़ी है। क्या किसी भी सूत्र से ये दोनों एक हो सकते हैं? क्या दोनों लोकों को जोड़नेवाले सेतु कहीं हैं? क्या यह सम्भव है कि साम्राज्य के प्रतीक गिद्ध के पीछे से चेतावनी देनेवाले रेवरेण्ड पैल्वी, एम. ए. को समस्या का समाधान और इशारा मिल गया हो? विश्वास करना कठिन है, ख़ासकर यदि हमारा मिस्टर पैल्वी से साक्षात् परिचय हो[1]।"

1. Aldous Huxley : *Antic Hay*, p. 4

यह सोचना ग़लत होगा कि ये उपन्यासकार मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन को सर्वथा बाद दे देना चाहते हैं; वास्तव में जिसे वे मानने के लिये तैयार नहीं, वह है संगठित धर्म, जो आज अपने नाना रूपों में पश्चिम में विद्यमान है। इसका कुछ सबब तो यह है कि विश्वास करने योग्य धार्मिक नेतृत्व का एकान्त अभाव है और कुछ यह कि धर्म सचमुच उन समस्याओं को हल नहीं कर पाया जिनसे आज मनुष्य जाति का मुक़ाबिला पड़ रहा है। निकट भविष्य में लेखक-समुदाय विशुद्ध अध्यात्म-बोध की ओर लौट सकेगा—इसमें सन्देह है। किन्तु इतना सच है कि वे सभी जीवन की ओर केवलमात्र तार्किक का रुख़ रखने के ख़िलाफ़ हैं। वे उस तर्कातीत प्राणवान् सत्य के लिये उत्सुक हैं जो विज्ञान और विश्लेषण के परे हो। कुछ ने उसे चरमपन्थी राजनैतिक दलबन्दियों के भीतर पाया है; कुछ ने आत्मवञ्चना के स्वप्नराज्य में;—और कुछ ऐसे भी हैं जिन्होंने उसे निश्चेतन तामसिकता के भीतर उपलब्ध किया है। किंतु वह चाहे जो हो, वर्तमान उपन्यास (और कविता के विषय में यह और भी लागू है) का कोई भी जागरूक पाठक अवश्य यह लक्ष्य करेगा कि एक नई और अस्फुट प्रवृत्ति का जन्म हुआ है जो गभीरतर और अखण्डतर अनुभूतियों को चित्रित करने का प्रयास कर रही है। इनमें सत्य का आध्यात्मिक लोक संपूर्ण मानवी चेतना को परिव्याप्त किए हुए होगा, बाहर से लादे हुए भाव के रूप में नहीं, जीवन को पूर्णावयव बनाने के व्यक्ति के प्रयास का अंग बनकर।



गान

एक मने तोर एकताराते एकटि ये तार सेइटि बाजा—
फुलबने तोर एकटि कुसुम ताइ निये तोर डालि साजा ।

येखाने तोर सीमा, सेथाय आनन्दे तुइ थामिस एसे,
ये-कड़ि तोर प्रभुर देओया सेइ कड़ि तुइ निस रे हेसे ।

लोकेर कथा निसने काने, फिरिसने आर हाजार टाने,
येन रे तोर हृदय जाने, हृदये तोर आछेन राजा ।

एकताराते एकटि ये तार आपन मने सेइटि बाजा ॥

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

छाया

तेरे एकतारे में जो एक-मात्र तार है उसे ही एक मन से बजाता रह—
तेरी फुलवारी में जो-एक फूल है उसी से अपनी डलिया सजा ले ;

जहाँ तेरी सीमा है वहीं आकर आनंदपूर्वक रुक जा ;
तेरे प्रभु ने तुझे जो कौड़ी दी है उसी को तू हँसता हुआ ले ले ।

लोगों की बात पर कान न दे, हज़ारों आकर्षणों से खिंचा हुआ मारा मारा न फिर
ऐसा हो कि तेरा हृदय जानता रहे कि तेरे हृदय में राजा (वर्तमान) हैं—

एकतारे में जो एक-मात्र तार है उसे ही अपनी मौज में बजाता रह ।

पुरानी पोथियों की विदेश-यात्रा

प्रह्लाद प्रधान

[१]

भारतवर्ष में तालपत्र और भूर्जपत्र आदि पर लिखी गई पुरानी पोथियाँ आज दूर दूर के देशों से प्राप्त हो रही हैं। इनके विदेश जाने का इतिहास यद्यपि अधिकांश में अब भी अज्ञात है तथापि सम्राट् अशोक के बाद से उनका जो कुछ इतिहास मिलता है वह बहुत कुछ धारावाहिक ही है। इस प्रबंध में उसी इतिहास का संक्षिप्त विवरण उपस्थित किया जा रहा है।

जहाँ तक ब्राह्मणों का संबंध है, उनका प्रभाव भारत में तो था ही, बृहत्तर भारत (सुवर्णभूमि या स्वर्णद्वीप) अर्थात् श्याम, कम्बोडिया, चम्पा, मलय, सुमात्रा, जावा, बाली इत्यादि में भी कम नहीं था। प्राचीन भारतीयों का पूर्व में चीन, सुवर्णभूमि और पश्चिम में रोम-साम्राज्य से व्यवसाय-सम्बन्ध खीष्टपूर्व युग का है। व्यवसायी लोग कितने ही स्थलपथ और जलपथ से तत्तत् स्थानों में जाया करते थे। कितने ही वहाँ जाकर बस भी जाते थे। रोम साम्राज्य में बस जाने का प्रमाण नहीं मिलता; लेकिन हिन्दू लोग वहाँ खूब जाते थे और वहाँ के भूगोल से संपूर्ण परिचित थे। हिन्दुओं को नीलनदी के उत्पत्ति-स्थान का पूर्ण ज्ञान था और वह भी ठीक ठीक। कप्तान पेक् ने, जो आधुनिक युग में सर्वप्रथम नील नदी के उत्पत्ति स्थान पर पहुँचा था, इस बात को स्वीकार किया है कि हिन्दुओं की विवरणी के सहारे वह पहुँचा। किन्तु रोम-साम्राज्य में हिन्दू संस्कृति का कितना प्रभाव था, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। लेकिन बृहत्तर भारत में हिन्दुओं के वहाँ बस जाने का प्रमाण मिलता है। वे लोग हिन्दू थे और उनपर ब्राह्मण सभ्यता का यथेष्ट प्रभाव था। उन लोगों का जीवन, विशेष कर धार्मिक जीवन, बिना ब्राह्मण के चल नहीं सकता होगा। उन ब्राह्मण पुरोहितों के साथ उनकी प्रधान संपत्ति—पोथियाँ ज़रूर गई होंगी। अवश्य ही ब्राह्मण लोग पूजापाठ की सब पद्धति कंठस्थ कर लेते थे, लेकिन कहीं भूल न हो जाय, इस भय से लिख भी लेते थे।

सिर्फ व्यवसाय ही नहीं, राज्यस्थापन भी हिन्दू संस्कृति की विस्तार और पोथियों की यात्रा का सहायक था। सौदागरी के बाद साम्राज्य दिखाई देता है, सिर्फ व्यवसाय के पीछे शक्ति सबल होनी चाहिए। बृहत्तर भारत में भी वाणिज्य के बाद साम्राज्य स्थापित हुआ। पूर्व और दक्षिण भारत से बहुत से हिन्दू चम्पा में जा बसे। वहाँ हिन्दू सभ्यता का पूर्ण

विस्तार होने लगा और वहाँ की शासन करनेवाली 'चम' जाति प्रायः हिन्दू हो गई। सच बात तो यह है कि यद्यपि चम जाति के राजा शासन कर रहे थे, तथापि शासन की बागडोर हिन्दुओं के हाथ में थी। बाद में चलकर श्रीमार, श्रीरुद्रवर्मा, पृथिवीन्द्रवर्मा, इन्द्रवर्मा इत्यादि राजाओं ने चम्पा में हिन्दूराज्य स्थापन कर क्रमशः फन् (वर्मन्), गङ्गराज, पाण्डुरङ्ग, भृगु इत्यादि राजवंश चलाए थे। कम्बोडिआ (कम्बोज) में एक कौण्डिन्य ब्राह्मण ने फुनान् वंश और राज्य स्थापित किया था। मलय, सुमात्रा, जावा, बाली इत्यादि में भी हिन्दुओं ने उपनिवेश और राज्य स्थापित किए थे। वहाँ पहले शैव और भागवत धर्म का बहुत प्रचार था तथा शिव और विष्णु की मूर्तियाँ और मन्दिर बड़ी संख्या में आज भी पाए जाते हैं। उन देशों में यज्ञ आदि भी होते थे। हाल ही में डा० सिल्वाँ लेवी ने बहुत सी हिन्दू नित्यकर्म-पद्धतियों का उद्धार किया है, जो विकृत संस्कृत में अभी तक मौखिक चली आती हैं। वेद, नारायणाथर्वशीर्षोपनिषद्, वेदपरिक्रम-सार, संहिताकिरण इत्यादि ग्रन्थ और स्तोत्रों के सिवा रामायण, महाभारत इत्यादि भी वहाँ गए थे। जावा में इनका अनुवाद असंपूर्ण रूप में पाया जाता है और जावा के साहित्य पर इनका पूर्णमात्रा में प्रभाव पाया जाता है। इस प्रकार भुवनकोश, भुवनसंक्षेप इत्यादि संस्कृत ग्रन्थों का भी अनुवाद प्राप्त है। डा० सिल्वाँ लेवी ने संस्कृत में एक 'बुद्धवेद' का भी उल्लेख किया है। इससे साफ़ मालूम होता है कि ब्राह्मण लोग जाकर उन देशों में बसे थे और उनके साथ पोथियाँ भी गई थीं।

लेकिन ब्राह्मण धर्म के विस्तार के सहारे जितनी पोथियाँ बाहर गई हैं, उनसे ज्यादा बौद्धधर्म के विस्तार के साथ गई हैं। जहाँ हिन्दूसमाज या हिन्दूसंख्या का आधिक्य या राजशक्ति का समर्थन नहीं होगा, वहाँ ब्राह्मण धर्म नहीं टिक सकता। ब्राह्मण धर्म की भूल भित्ति है वेद का प्रामाण्य, वर्णाश्रम, और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता। लेकिन अन्य देशों कि कोई स्वतन्त्र और संस्कृत जाति ब्राह्मणों की श्रेष्ठता क्यों मानने जाएगी? फिर ब्राह्मण धर्म सर्वसाधारण का धर्म कैसे हो सकता था? ब्राह्मणों ने धर्म में सब को समान अधिकार नहीं दिया है। किन्तु बौद्धधर्म में यह बात नहीं है। इसमें जातिभेद या वर्णश्रेष्ठता का कोई सवाल नहीं उठता। इसके अतिरिक्त यह व्यक्ति की दीक्षा और साधना में विश्वास करता है और उसे पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। ब्राह्मण धर्म में इसका अभाव है। इसीलिये बौद्ध धर्म विदेश में जितना फैल सका, उतना ब्राह्मण धर्म नहीं।

बौद्धधर्म ज्यों ज्यों फैलता गया, त्यों त्यों पोथियाँ भी बाहर जाने लगीं। बौद्धधर्म के फैलने में उसकी उदारता और असंकीर्णता तो कारणों में से एक थी ही, एक दूसरा कारण राजशक्ति भी थी। सब से पहिले अशोक ने इस ओर प्रयत्न किया और कलिङ्गसमर के बाद स्वयं बौद्ध

धर्म में दीक्षित होकर अपने राज्य के बाहर भी धर्म-प्रचारक भिक्षु भेजे। उन्होंने काश्मीर-गान्धार में माध्यान्तिक स्थविर, महिषमण्डल में महादेव स्थविर, वनवासी में रक्षित स्थविर, अपरान्त में यवनधर्मरक्षित स्थविर, महाराष्ट्र में महाधर्मरक्षित स्थविर, यवनलोक या यवनविषय में महारक्षित स्थविर, हिमवन्त या हिमालय प्रदेश में मध्यम स्थविर, स्वर्णभूमि में शोण और उत्तर स्थविर और ताम्रपर्णी या लङ्का में त्रिपिटकज्ञ महेन्द्र स्थविर को भेजा। वे प्रचारक भिक्षु जब गए होंगे, खाली हाथ नहीं गए होंगे। जब प्रचार के लिये गए तो त्रिपिटक का कुछ-न-कुछ अंश ज़रूर ले गए होंगे ; उन स्थविरों के प्रचार की विवरणी से यह साफ़ ज़ाहिर होता है। माध्यान्तिक स्थविर ने आसीविसोपम सुत्त, महादेव स्थविर ने देवदूत सुत्त, रक्षित स्थविर ने अनमतग्गपरियाय सुत्त, यवनधर्मरक्षित स्थविर ने अग्गिक्खन्धोपम सुत्त, महाधर्मरक्षित ने महानारदकस्सपजातक, मध्यम स्थविर ने धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्तन्त, उत्तर और शाण स्थविरों ने ब्रह्मजाल सुत्तन्त और महेन्द्र स्थविर ने चुळहत्थिपदोपम सुत्त और समचित्तन्त सुत्त आदि की व्याख्याओं के द्वारा धर्मप्रचार किया। उपर्युक्त प्रत्येक सुत्त या सुत्तन्त त्रिपिटक के अन्तर्गत एक एक पुस्तक है। इससे साफ़ सूचित होता है कि अशोक के राजत्वकाल में पाली बौद्धग्रन्थों की पोथियाँ बाहर जाने लगी थीं।

अशोक के बाद इस ढंग से फिर किसी राजा ने धर्म-प्रचारक भेजा या नहीं—ठीक पता नहीं चलता। अवश्य कनिष्क, हर्षवर्धन, देवपाल इत्यादि अनेक राजाओं ने बौद्ध धर्म की पृष्ठपोषकता की, लेकिन उन राजाओं के राजत्वकाल में धर्मप्रचारक भेजे जाने का कोई उल्लेख नहीं मिलता। उन लोगों ने अपने देश में बौद्ध भिक्षु बुलाए थे। जो हो, अशोक के बाद उस युग के भिक्षुओं ने बौद्ध धर्म का प्रचार करना अपना एक कर्तव्य बना लिया था और उन भिक्षुओं के अथक परिश्रम से सुदूर विदेशों में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार हो गया और उसकी जड़ जम गई। इस प्रकार बौद्ध धर्म का विदेशों में सम्मान बढ़ने लगा और तत्तत् देशों के राजाओं से उन उन स्थानों में बौद्ध धर्म पहुँचाने के लिये आह्वान आया।

चीन में बौद्ध धर्म पहुँचने का एक मजेदार विवरण पाया जाता है। चीन के हान् वंश के सम्राट् मिङ्ग ने पहले से बौद्ध धर्म का नाम सुन रखा था। उसने एक दिन स्वप्न में गौतम बुद्ध को देखकर चाइ-यिन्, चिन किं, वाँ-चुआन् और अनेकों को भारतवर्ष से बौद्ध ग्रन्थ और बौद्ध भिक्षु साथ ले आने के लिये भेजा। वे लोग जब आ रहे थे, तब दैवयोग से काश्यप-मातङ्ग (किआ-येह मोताङ्ग) और धर्मरत्न (छु-फा-लन्)—किसी किसी के मत से गोवर्धन—यहाँ से चीन की ओर जा रहे थे और उन लोगों से खोटान में मुलाकात हुई थी। वहीं से फिर सब एक साथ चीन चले गए। सम्राट ने खुद आकर उन लोगों की अभ्यर्थना की और

उन लोगों के रहने के लिये लोयाङ्ग में एक विहार बनवा दिया, इसीको पाइ-मा-स्स या श्वेताश्व विहार कहते हैं ; कारण, बौद्ध भिक्षु ग्रन्थों के साथ चीन में सफेद घोड़ों पर पहुँचे थे। बाद में चलकर लोयाङ्ग बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन का एक केन्द्र हो उठा। बौद्ध भिक्षुओं के हिसाब से वे भारत से जानेवाले सर्वप्रथम भिक्षु थे। चीनियों की मतिगति और परिस्थिति के अनुकूल काश्यप मातङ्ग ने चीनी भाषा में संग्रह के तौर पर एक छोटी-सी किताब लिखी थी। शान्तिनिकेतन से अब इसका संस्कृत और पाली में अनुवाद हो रहा है। छु-फा-लन् ने कुछ ग्रन्थों का अनुवाद किया। इस प्रकार बौद्ध भिक्षुओं का इतना सम्मान बढ़ने लगा कि भगवान् बुद्ध का अहिंसा-धर्म प्रचार करने के लिये कभी कभी हिंसा-वृत्ति का आश्रय आवश्यक हो गया। कुमारजीव को ले जाने के लिये चीन के चिन् वंश का राजा फु-किएन् और कुच का राजा पो-चुएन् में लड़ाई छिड़ गई। इस तरह भिक्षु उन उन देशों में जाने लगे और प्रचार करने के लिये वहाँ की भाषाओं में बौद्धग्रन्थों का अनुवाद करने लगे। इससे साफ मालूम होता है कि भारत से बौद्ध ग्रन्थों की पोथियाँ उन भिक्षुओं के साथ उन देशों में जाने लगी थीं।

अशोक का धर्मप्रचारक भेजना और काश्यप मातङ्ग की बुलाहट से मालूम होता है कि पोथियों के बाहर जाने में राजा और भिक्षुओं का प्रधान हाथ था। ऊपर कहा गया है कि हान् वंश के राजा मिङ्ग ने सन् ६४ ई० में पोथियों ले आने के लिये भारतवर्ष में आदमी भेजा था। गुप्तकाल में भी सन् ५३९ ई० में चीन से सम्राट् वु ने ग्रन्थों की खोज में मगध में पण्डितों का एक जत्था भेजा था। मगध के राजा जीवितगुप्त ने उनकी सादर अभ्यर्थना भी की थी तथा अनेक बौद्ध ग्रन्थों और अन्यान्य पोथियों के साथ भिक्षु परमार्थ को उनके साथ भेजा था। उत्तरी तातार के वेई-वंश की रानी वु ने भी ५१८ ई० में सुङ्ग-युन् को उद्यान (उज्जयिनी) और हुई-सेङ्ग को गान्धार में बौद्ध ग्रन्थ संग्रह करने के लिये भेजा था और वे दोनों १७० ग्रन्थ ले भी गए थे। ५७५ ई० में इ-एह के राजा चि ने ११ चीनी भिक्षुओं का एक दल भारतवर्ष में पोथी संग्रह करने के लिये भेजा था। वे लोग जब २६० पोथियाँ लेकर लौट रहे थे, तब रास्ते में तुर्किस्तान में उन्होंने सुना कि इसी बीच चेउ वंश के राजा बौद्ध धर्म के प्रति शत्रुता और बौद्ध भिक्षुओं की हत्या कर रहे हैं। इसलिये उन्होंने वहीं तुर्किस्तान में ठहर जाने का निश्चय किया। इस समय वु वंश के राजाओं के अत्याचार से भी चीन से भाग आकर कुछ बौद्ध भिक्षु तुर्किस्तान में बस गए थे। उन्हींमें जिनगुप्त थे और भाग्यवश भेंट हो जाने से उन्होंने उन पोथियों के सब नाम चीनी भाषा में अनुवाद कर दिए थे। राजा तेङ्ग ने फिर पीछे जिनगुप्त को तुर्किस्तान से बुला लिया था और वहाँ अपना राजगुरु भी बना लिया था। वे ता-हिङ्ग-चान् के मन्दिर में अनुवाद-समिति के प्रधान भी थे। चीन में अनुवाद बड़े अच्छे ढंग

से होता था। अनुवाद-समिति के ९ विभाग होते थे। कोई वाक्य का भाषान्तर करता था तो कोई उच्चारण ठीक करता था, कोई अर्थ लगाता था तो कोई शैली ठीक करता था, कोई भूल संशोधन करता था तो कोई साधारण काम देखता था। सम्राट् ताइ-चि ने भी मदद के लिये चिट्ठी देकर पोथियों की खोज में १५० बौद्ध भिक्षु भेजे थे। इस तरह और भी कितनी पोथियाँ गई हैं, इसका ठिकाना नहीं।

सिर्फ चीन में ही नहीं तिब्बत में भी राजशक्ति के बल पर बौद्ध धर्म और पोथियाँ गई हैं। तिब्बत में बौद्ध धर्म के जाने की एक दिलचस्प कहानी है। कहा जाता है कि तिब्बत का पहला राजा भारत से गया था और वह कोशल के प्रसेनजित् का लड़का था। इससे तीसरे राजा के राज्य-काल में तिब्बत में प्रथम बार बौद्ध धर्म का प्रवेश हुआ और वह भी एक अजीब ढंग से। प्रवाद है कि राजा जब अम्बु में था, तब उस के प्रासाद के ऊपर शून्य से एक पेटी गिरी, जिसमें कारण्डव्यूहसूत्र की एक पोथी, एक पात्र, 'ओं मणि पद्मे हुं' मन्त्र, एक स्वर्ण चैत्य और चिन्तामणि की एक मिट्टी की मूर्त्ति थी। रकहिल साहेब ने अनुमान किया है कि बौद्ध धर्म नेपाल से वहाँ गया होगा, क्योंकि उस में कारण्डव्यूहसूत्र की एक पोथी थी जिसका नेपाल में प्रचार अधिक है। इसके बाद ५ भिक्षु वहाँ पहुँचे और उन लोगों ने उन सब की उपयोगिता समझाने की कोशिश तो की लेकिन राजा को बौद्ध धर्म में दीक्षित नहीं कर सके। इससे बढ़कर और एक ऐतिहासिक घटना का उल्लेख पाया जाता है। स्रङ्ग-स्तान् ने ६१६ ई० में थौमि संभोत को अन्य सोलह आदमियों के साथ वर्णमाला ले आने के लिये यहाँ भेजा, जिन्होंने दक्षिण भारत जाकर एक लि-ब्यिन् (लिपिकार ?) ब्राह्मण और सिंहघोष पण्डित से भारतीय लिपिमाला सीखी। उन्होंने काश्मीर जाकर वहाँ प्रचलित नागरी लिपि भी सीखी और यहाँ से २४ लिपियाँ ले जाकर उनके साथ तिब्बती के कुछ स्वतन्त्र-वर्णों के लिये उन अक्षरों में कुछ रूपान्तर कर तिब्बत में वर्णमाला प्रचलित की। भारत में रहते समय उन्होंने कारण्डव्यूहसूत्र, अवलोकितेश्वर-सूत्र और कुछ अन्य ग्रन्थों का अनुवाद किया था। साथ साथ वे बहुत-सी पोथियाँ भी ले गए थे, जिनमें से व्याकरणमूलत्रिंशद्नाम और व्याकरणलिङ्गावतार-जैसे कुछ बौद्ध धर्म के बाहर के भी ग्रन्थ थे। स्रङ्ग-स्तान् ने नेपाल और चीन की राजकुमारियों से विवाह किया था, जिससे तिब्बत में बौद्ध धर्म का ज्यादा प्रचार होने लगा। इनके राजत्वकाल में हिन्दुस्तान से कुमार, नेपाल से शीलमञ्जु, काश्मीर से तवुत और गनुत, चीन से हा-चाङ्ग या महादेव धर्मोपदेशक के रूप में तिब्बत में आए थे और लो-सब या दुभाषिये के रूप में थौमि, धर्मघोष और श्रीवज्र। राजा किलि-सो-त्सान् ने बौद्ध पण्डित बुला ले जाने के लिये खोटान और हिन्दुस्तान में आदमी भेजे थे। भारत से बुद्धगुह्य और बुद्धशान्ति को बुला ले जाने के लिये आए हुए दौत्य में जो लोग

थे, उन लोगों ने महायानसूत्र की पाँच पुस्तकें कण्ठस्थ करली थीं, जिन्हें उन्होंने तिब्बत में अपनी भाषा में लिखा। इसीके राजत्वकाल में चीन से प्राप्त सुवर्णप्रभास सूत्र और कर्मशतक का भी तिब्बती भाषा में अनुवाद हुआ था। इसी समय अग्-सोम् ने आयुर्वेद, ज्योतिष, तन्त्र इत्यादि विषयों के अनेक ग्रन्थ अनुवाद किए थे। कि-लि-त्सान् के समय में शान्तरक्षित के पास बुलाहट आई। लेकिन उनको चीनी योगाचारीय भिक्षुओं से बाधा मिली और उन्हें लौट आना पड़ा। लौटती बार वे उद्यान के माध्यमकाचार्य पद्मसम्भव को बुला ले जाने के लिये राजा से अनुरोध कर आये थे। पद्मसम्भव गए भी और उनकी देख-रेख में मगध के नालन्दा विहार के अनुकरण पर लासा का सम्-ये विहार बना। सन् १८७४ ई० में पण्डित नएन् सिङ्ग (नयन सिंह) इसमें ठहरे थे और उन्होंने वहाँ शुद्ध सुवर्ण की मूर्तियाँ और एक बड़ी भारी लाईब्रेरी देखी थी। उसी समय काश्मीर से भिक्षु आनन्द भी आए थे। पद्मसम्भव के बाद एक और विख्यात पण्डित भी आए थे, जिनका नाम था कमलशील। उन्होंने हा-चाङ्ग या महादेव को राजा के सामने परास्त किया और माध्यमिक मत का स्थापन किया। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का अनुवाद किया और इसी समय संस्कृत-तिब्बती कोष 'महाव्युत्पत्ति' का भी संकलन हुआ। त्सान-पो ने अपने राजत्वकाल में भारतवर्ष से जिनमित्र, शीलेन्द्रबोधि, धनशील, प्रज्ञावर्मा, सुरेन्द्रबोधि इत्यादि बहुतसे पण्डितों को बुलाया था, जिन्होंने तिब्बती बौद्धग्रन्थसंग्रह के कार्य में बहुत-से ग्रन्थ जोड़े। अनुवाद के सिवा वसुबन्धु, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, नागार्जुन, अश्वघोष प्रभृति पण्डितों के ग्रन्थों का भी प्रचार किया। उन्होंने पुराने अनुवादों का पुनः संशोधन तथा अनूदित ग्रन्थों का पुनः संपादन भी किया। सन् १०१३ ई० में बहुत से शिष्यों के साथ धर्मपाल और सन् १०४२ में बंगाल से अतिश भी तिब्बत गए थे। अतिश ने प्रधानतः तन्त्र-ग्रन्थों का अनुवाद और प्रचार किया।

इस संक्षिप्त विवरणी से मालूम होता है कि किस प्रकार पण्डितों और उनके साथ पोथियों की धारावाहिक यात्रा इस देश में होती रही। कान्-जुर और तान्-जुर नामक बौद्ध-ग्रन्थ-संग्रह से कुछ पता लग सकता है कि यहाँ से कितनी पोथियाँ तिब्बत में गई हैं। सिर्फ बौद्ध ग्रन्थ ही नहीं, कितने ही व्याकरण, दर्शन, नीतिशास्त्र, और कालिदास का मेघदूत, वररुचि की शतगाथा, रविगुप्त का आर्याकोश तथा अमरकोश, नागानन्द इत्यादि ग्रन्थ भी गए थे। यहाँ तक कि रामायण और महाभारत की पोथियाँ भी वहाँ गई थीं, जिनका तिब्बती में अनुवाद पाया जाता है।

सिर्फ राजशक्ति के बल पर ही नहीं, स्वतःप्रवृत्त और धर्मप्रणोदित होकर भी बहुत-से बौद्ध भिक्षु विदेश जाते थे। अशोक के धर्मप्रचारकों की विवरणी से मालूम होता है कि उन्होंने काश्मीर-गान्धार और यवनलोक में प्रचारक भेजे थे और उन प्रचारकों ने वहाँ बौद्ध धर्म-

स्थापन भी किया था।* काश्मीर-गान्धार बौद्धधर्म का एक प्रधान केन्द्र हो उठा था। तक्षशिला का बौद्ध विद्यापीठ उसी अञ्चल में था। काश्मीर-गान्धार का प्रदेश यवनलोक (अर्थात् अरब, फ़ारस, पूर्वी तुर्किस्तान, तिब्बत और चीन इत्यादि) देशों के लिये हिन्दुस्तान का मुखद्वार था। इसलिये उस अञ्चल से जाकर अनेक भारतीय भिक्षु पूर्वी तुर्किस्तान, खोटान, काशगर, यारकन्द, समरकन्द इत्यादि प्रदेशों में जा बसे थे। इस प्रकार खोटान भारत के बाहर होने पर भी संस्कृत साहित्य और संस्कृति का एक केन्द्र हो उठा। फिर खोटान पारस्य, चीन और भारत का एक मिलन-केन्द्र भी था। जिस तरह भारतवासी वहाँ जा बसे थे, वैसे ही चीन से आकर भी लोग बस गए थे। यहाँ से बौद्धधर्म चीन और तिब्बत तक पहुँचता था। इससे इस मिश्रित उपनिवेश में भी भारत से बहुत सी पोथियाँ चली गईं, जिनका अब कहीं कहीं उद्धार हो रहा है। इसका उल्लेख हम पीछे करेंगे। उन दिनों खोटान में संस्कृत ग्रन्थों का एक बड़ा भारी संग्रह था और संस्कृत पढ़ने के लिये विदेश से बहुत लोग वहाँ आते थे। राजकुमार चिन्-किउ-चिङ्ग-शेङ्ग ने खोटान आकर गोमती-विहार में बुद्धसेन से केवल बौद्ध ग्रन्थ ही नहीं, आयुर्वेद भी अध्ययन किया था और गुरु से प्राप्त कुछ पोथियाँ भी वे अपने देश को ले गए थे। शायद पारस्य में भी भारतीय बौद्ध भिक्षु जा बसे थे और वहाँ बौद्ध धर्म का काफी प्रभाव और प्रचार था; वहाँ बौद्ध धर्म की खूब पढ़ाई भी होती थी और इसलिये पोथियाँ भीं जरूर गई होंगी। नहीं तो आन्-शि-काओ (लोकोत्तम), आन्-हिउ-एन् (आन् ईरानी भिक्षुओं के पहिले लगता था, क्योंकि आन् सि अथवा आन् शक पारस्य का चीनी नाम था) इत्यादि पारस्य से जाकर चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार और बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद नहीं कर सकते। यहाँ तक कि हूण या शकों में भी बौद्ध धर्म का काफी प्रचार था और चि-लु-किआ-चान् (लोकक्षेम) चि-याओ इत्यादि शक (युए-ची) बौद्ध भिक्षु भी चीन गये थे और उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार और ग्रन्थों का अनुवाद किया था। इस प्रकार सोगडिआना (समरकन्द का काङ्ग-सेङ्ग-काइ या सङ्घवर्मा), कुच (कुमारजीव) इत्यादि जगहों से भी अनेक बौद्ध भिक्षु चीन गए थे। इन बातों से पता चलता है कि उन-उन देशों में संस्कृत का काफी प्रचार था तथा अध्ययन होता था, जो बिना पोथियों के हो नहीं सकता। जो लोग विदेश में जाते थे, वे लोग साथ कुछ पोथियाँ भी ले जाते थे और उनका उन भाषाओं में अनुवाद करते थे।

यह तो उत्तरी मार्ग के स्थलपथ की बात हुई। दक्षिण के जलपथ से भी बहुत-सी पोथियाँ चीन, विशेष कर दक्षिणी चीन, सुवर्णभूमि (श्याम, कम्बोडिआ, मलय प्रायद्वीप और अन्यान्य द्वीपों) में गई हैं। भिक्षु विघ्न (वेइ-कि-नन्) ने सम्भवतः सिंहल से पाली धम्मपद की एक प्रति लेकर उसका चीनी में अनुवाद किया था। मध्यभारत के नन्दी या पुण्योपाय नामक एक

भिक्षु भारत और सिंहल से महायान और हीनयान के ग्रन्थ संग्रह कर त्रिपिटक के १५०० ग्रन्थ ले गए थे।

चीन में बौद्ध धर्म का जब ज्यादा प्रचार होने लगा, तब वहाँ के भिक्षु परिव्राजक भी यहाँ आने लगे। उन लोगों का मुख्य उद्देश्य यहाँ से पोथियाँ ले जाना था। लोयाङ्ग में बौद्ध ग्रन्थों के अध्ययन से सन्तुष्ट न होकर शिह्-हिङ्ग चीन से पश्चिमी देशों में पोथियों की खोज में आए और उनको खोटान में पञ्चविंशतिसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता की एक प्रति मिली। वे जब उस पोथी को फु-जु-तन् (पुण्यधन) के द्वारा भेजने लगे, तब खोटान के भिक्षु ने प्रतिज्ञा करवाई कि उसके अनुवाद में अन्यान्य ब्राह्मण ग्रन्थों का मत घुल-मिल न जाय और इसके लिये काफी सावधानी रखी जाय। यह पोथी लाकर होनान् के शुइ-नान्-से मन्दिर में रखी गई थी।

भारतीय इतिहास में फा-हियान्, हुएन्-त्साङ्ग और ई-त्सिङ्ग प्रसिद्ध हैं। वे लोग बौद्ध भिक्षु थे और परिव्राजक होकर चीन से भारत में आए थे। उन लोगों का मुख्य उद्देश्य भी पोथियों का संग्रह था। फा-हियान् के पहिले कोई चीनी भारत में नहीं पहुँच सका था। पश्चिम में ज्यादा से ज्यादा खोटान तक वे पहुँच पाए थे। चीन से सर्वप्रथम फा-हियान् ही हिन्दुस्तान में आ सके थे। वे उत्तरी रास्ता अर्थात् कासगड़-खोटान होकर काश्मीर में पहुँच, उत्तरी भारत, मगध आदि में घूम-घाम कर, ताम्रलिप्ति से समुद्रपथ द्वारा सिंहल होकर दक्षिणी रास्ते से १५ साल बाद चीन लौटे थे। उन्होंने हिन्दुस्तान और लङ्का दोनों देशों में बौद्ध ग्रन्थ, विशेष कर विनयग्रन्थ संग्रह किए थे। वे जब लङ्का से पूर्व जानेवाले किसी हिन्दू सौदागरी जहाज में जा रहे थे, तो रास्ते में खूब आँधी तूफान उठा और वे हिन्दू सौदागर बौद्ध ग्रन्थों को ही तूफान का कारण स्थिर कर सब ग्रन्थों को समुद्र में फेंकने के लिये तैयार हो गए। लेकिन भाग्यवश आँधी बन्द हो गई और पोथियाँ बच गईं। इस प्रकार वे बहुत से ग्रन्थ यहाँ से ले जा सके।

हुएन्-त्साङ्ग ने भी हिन्दुस्तान में बहुत पोथियाँ संग्रह की थीं। लौटते समय वे जब सिन्धु नदी पार कर रहे थे, आकस्मिक आँधी के कारण सूत्रग्रन्थों की ५० पोथियाँ पानी में गिर गईं। तब भी १७ बर्षों के बाद सिगान्-फु में पहुँचते समय उनके पास पोथियों का बीस घोड़ों का बोझ था। वे ५२० जिल्दों में ६५७ ग्रन्थ ले गए थे। इसके साथ और भी बहुमूल्य चीजें थीं। वे सब पोथियाँ सिगान्-फु में हुङ्ग-फु नामक विहार में रक्खी गई थीं। पीछे जब नालन्दा के प्रज्ञादेव स्थविर से उनके पास एक चिट्ठी पहुँची, तो इसके जवाब में उन्होंने अपनी अभिलाषा प्रकट की थी कि सिन्धु में गिर गई पोथियों को हिन्दुस्तान से फिर भेज दिया जाय। इस से पता लगता है कि हिन्दुस्तान में पोथियों का कितना प्राचुर्य्य था और विदेशों में भारत से कितना-कुछ पाने की आशा की जाती थी।

हुएन्-त्साङ्ग के बाद एक और चीनी परिव्राजक आए—ई-त्सिङ्ग। ई-त्सिङ्ग दक्षिणी रास्ते से आए थे अर्थात् जावा, सुमात्रा, मलय, नग्नद्वीप (निकोबर) होकर ताम्रलिप्ति में उतरे। आते समय उन्होंने श्रीविजय (सुमात्रा) में संस्कृत पढ़ी। उन दिनों श्रीविजय, जावा का कलिङ्ग, युनान् (प्राचीन एनम्) संस्कृत-संस्कृति के केन्द्र थे। उन्होंने नालन्दा, राजगिरि, बुद्धगया, वैशाली, कुशिनगर, कपिलवस्तु, श्रावस्ती, वाराणसी इत्यादि अञ्चल में भ्रमण किया था और लौटते समय वे ४०० बौद्ध ग्रन्थ ले गए। श्रीविजय में संस्कृत का प्रचार होने के कारण उन्होंने वहीं रहना पसन्द किया और वहीं से उन ग्रन्थों में से अनुवाद कर चीन भेजा। पीछे वे ६८९ ई० में देश भी लौट गए।

सिर्फ इतनी ही नहीं, पोथियों के लिये और भी अनेक यात्राएँ हो चुकी हैं। उन यात्रियों ने कोई जीवनी या वर्णना नहीं लिखी, इसलिये वे लोग प्रसिद्ध नहीं हो पाए। किसी किसी का दूसरों ने उल्लेख किया है, उनमें से एक-दो की यहाँ चर्चा की जाय। शिह-चे-मङ्ग् को कुसुमपुर (पटना) के एक विद्वान् ब्राह्मण रेवत से अनेक संस्कृत पोथियाँ मिली थीं। इस रेवत ने कुछ दिन पहिले फ़ा-हियान् को अनेक पोथियाँ दी थीं। फा-यङ्ग २५ भिक्षुओं का एक दल लेकर भारतवर्ष में आए थे ओर यहाँ से अवलोकितेश्वर-महास्थानप्राप्त-व्याकरणसूत्र की एक पोथी ले गए थे। फा-हियान् के साथ चे-येन् और पाओ-पुन् नामक दो भिक्षु भी आए थे, जो काश्मीर में ठहर गए और वहीं से कुछ पोथियाँ चीन में ले गए तथा वहाँ जाकर अनुवाद करने लगे।

केवल चीन ही नहीं, कोरिआ से भी अनेक भिक्षु यहाँ आए थे। कोरिआ और जापान में बौद्ध धर्म चीन से गया था। जापान में अभी भी षष्ठ शताब्दी की एक प्राचीन पोथी रक्षित है। ई-त्सिङ्ग् ने कोरिआ के अनेक भिक्षुओं का उल्लेख किया है। आर्यवर्मा कोरिआ से आए थे। वे ६३८ ई० में चङ्ग-अन् से आकर नालन्दा में ठहरे थे और वहाँ उन्होंने बहुत से सूत्रों की नकल की थी। दुःख की बात है कि वे लौट नहीं सके; उनकी वहीं मृत्यु हो गई। ह्वेइ-येह् भी उसी साल कोरिआ से नालन्दा आए थे। ई-त्सिङ्ग् ने नालन्दा के पुस्तकालय में उनकी चीनी किताबें और संस्कृत ग्रन्थों की नकलें देखी थीं, जिनसे खोज करने से पता लगा कि उसी साल उनकी मृत्यु हुई थी। इसी प्रकार हुएन्-ताइ (सर्वज्ञ देव), हुए-लुन् इत्यादि कोरिआ के अनेक भिक्षुओं का उल्लेख भी पाया जाता है। ई-त्सिङ्ग ने तुखार भिक्षु बुद्धधर्म (फो-तो-तमो) और सोगडिआन भिक्षु सङ्घवर्मा (सेङ्ग-किआ-पो-मो) का भी उल्लेख किया है।

इस प्रकार भिक्षुओं की यात्राएँ इतनी अधिक होती थीं कि सबका विवरण देना केवल प्रबंध की कलेवर-वृद्धि करना होगा और अप्रासङ्गिक भी। चीन से जितने भिक्षु भारतवर्ष आए थे, उससे कम तो नहीं, बल्कि ज्यादा ही भिक्षु भारतवर्ष से चीन गए थे और उन लोगों की केवल-मात्र संपत्ति थी बौद्ध धर्म और बौद्ध ग्रन्थ।

चीन में जितनी पोथियाँ गई हैं, उनमें अधिक भाग संस्कृत की पोथियों का है। इसका एक प्रधान कारण यह है कि ज्यादातर उत्तरी पथ द्वारा उत्तर भारत से पोथियाँ गई हैं। उन दिनों उत्तर भारत में महायान का अधिक प्रचार और प्रभाव था, जिसके ग्रन्थ संस्कृत में लिखे जाने लगे थे। इसलिये तिब्बत में जितने ग्रन्थ गए हैं, सब ज्यादातर संस्कृत में। धर्मपद भी संस्कृत में लिखा गया। इसका नाम उदानवर्ग था और इसका तिब्बती में अनुवाद भी मिलता है। एक धर्मपद प्राकृत में भी तुर्फान् से मिला है जिसका उल्लेख अन्य प्रसङ्ग में किया जायगा। बौद्ध भिक्षु पहले संस्कृत में—विशेष कर शुद्ध संस्कृत में—लिखने के पक्षपाती नहीं थे, सम्भवतः पाली पढ़ने-लिखने की ओर ही उनका विशेष आग्रह था। इसलिये महावस्तु, सद्धर्मपुण्डरीक इत्यादि अनेक ग्रन्थ बौद्ध संस्कृत या मिश्र संस्कृत में लिखे गए थे।

दक्षिण भारत और सिंहल की बात और थी। वहाँ हीनयान और थेरवाद का अधिक प्रचार था। वे लोग अत्यधिक नैष्ठिक थे और पाली के पक्षपाती थे, संस्कृत के नहीं। स्वयं बुद्ध भगवान् ने भी अपनी उक्ति को संस्कृत में प्रकाश करने के लिये मना किया था। हीनयान के सब ग्रन्थ पाली में लिखे जाते थे। इसलिये बुद्धघोष ने भी मगध से आकर सिंहल में जितनी पुस्तकें लिखीं वे सब पाली में हैं, जैसे विसुद्धिमग्गो, अट्ठकथा, समन्तपासादिका इत्यादि। सिंहल में महेन्द्र जिस दिन बौद्ध धर्म ले गए, उस दिन से वहाँ विनय-थेरों की परम्परा चलने लगी जिसका उल्लेख परिवार में मिलता है। सिंहल का दक्षिण भारत से ज्यादा संबंध था, जहाँ महायान का प्रभाव बिलकुल नहीं के बराबर था। वहाँ दक्षिणी बौद्धधर्म या हीनयान का अधिक प्रभाव था। आक्रमणकारी तामिल राजा और सिंहल के राजाओं ने कई बार बौद्धग्रन्थों का नाश करने की कोशिश की, फिर भी वहाँ पोथियाँ अभी तक परम्परा से चली आती हैं। सिंहली लोगों की निष्ठा का इससे कुछ पता चलता है। इसलिये इस अञ्चल से इस दक्षिणी रास्ते से होकर जितनी पोथियाँ गई हैं, सब प्रायः पाली की ही थीं। भिक्षु विघ्न ने सिंहल से पाली धम्मपद लिया था। फा-हियान् सिंहल से पाली विनयपिटक ले गए थे।

किन्तु सुवर्णभूमि की परिस्थिति भिन्न थी। वहाँ उत्तर भारत से महायान और दक्षिण भारत से हीनयान, दोनों का प्रभाव पड़ा था। कलिङ्ग से जाकर शैलोद्भव-वंशवालों ने वहाँ शैलेन्द्र साम्राज्य स्थापित किया था। ये लोग बौद्ध थे और इनका सम्बन्ध उत्तर भारत से (बङ्गाल के पाल वंश से और नालन्दा से) था। इस वंश के एक राजा श्रीवालपुत्र ने नालन्दा में एक विहार बनवाया था। इस प्रकार सुवर्णभूमि का महायान के साथ सम्बन्ध था। पीछे चोल वंश के राजाओं ने (राजराज ने) उस साम्राज्य पर धावा किया। ये राजा दक्षिण के थे और वहाँ हीनयान का प्रभाव था। सिंहल से भी आकर बहुत से भिक्षु वहाँ प्रचार करते थे।

यह पहले ही बताया गया है कि बौद्धों के पूर्व वहाँ ब्राह्मणों का प्रभाव था। इस प्रकार इस प्रदेश में ब्राह्मण, हीनयान और महायान—सब का प्रभाव था और साथ साथ सब की पोथियाँ भी वहाँ गई थीं। ई-त्सिङ्ग ने यहीं श्रीविजय में अनुवाद करते हुए अपना जीवन बिताया था।

बौद्ध धर्म का कोई नूतन मतवाद लेकर कोई पुस्तक लिखी जाती तो वह तुरन्त उन भिक्षुओं के सहारे यहाँ से चीन पहुँच जाती थी। इसलिये वहाँ हीनयान, महायान, सर्वास्तिवाद इत्यादि सभी यानों और वादों की पोथियाँ पहुँची थीं। धर्म के हिसाब से भी अनेक संप्रदाय वहाँ प्रचलित थे। शान्तिनिकेतन के प्रो० तान्-युन्-शान् ने १० धार्मिक संप्रदायों का उल्लेख किया है। यहाँ तक कि बौद्ध धर्म का तन्त्रवाद भी वहाँ पहुँचा था और तान्त्रिक साधना का भी प्रचार था। किसी विशेष स्तोत्र या मन्त्र की आवृत्ति पर विश्वास होने के कारण धारणी और स्तोत्र भी चीनी अक्षरों में लिखे जाने लगे। चीनी भाषा में वर्णमाला नहीं है, तो भी ध्वनि-सादृश्य लेकर चीनी शब्दों में ये सब चीजें लिखी गईं और एक नई शैली प्रवर्तन कर इस कठिनाई को पार किया गया। इस शैली से चीनी अक्षरों में लिखित नौ स्तोत्र पाए जाते हैं। इन्हें पुनः संस्कृत करने में बैरन् होल-स्टाइन ने सब से पहिले हाथ दिया और तिब्बती अनुवाद के सहारे किएन्-चुइ-फा-त्सन् अर्थात् गण्डिस्तोत्र का मूल संस्कृत में उद्धार किया। पीछे उन्होंने और एक स्तोत्र का उद्धार किया और डा० सिल्वाँ लेवी ने तीन का। अभी तक ऐसे और चार स्तोत्र—आर्यतारास्तोत्र, अवलोकितेश्वर स्तोत्र, मञ्जुश्री स्तोत्र और वज्रपाणि स्तोत्र बाकी हैं जिनके उद्धार का काम चल रहा है।

ऊपर बौद्ध ग्रन्थों की जितनी चर्चा हुई उससे यह धारणा हो सकती है कि सिर्फ बौद्ध धर्म की ही पोथियाँ बाहर पहुँची हैं। ऐसी बात नहीं है। राजकुमार चिन्-किउ-चिङ्ग-शेङ्ग ने खोटान जाकर आयुर्वेद पढ़ा था और गुरु से कुछ पोथियाँ भी ली थीं। उस अञ्चल से नवनीत नामक आयुर्वेद की एक पोथी भी मिली है, जिसकी चर्चा पीछे की जायगी। चीन में विद्याधरपिटक ग्रन्थ भी गया था, जो कहा जाता है कि नागार्जुन का था और इस नाम से अनुमान किया जाता है कि वह शास्त्र मन्त्रविद्या और रसायन का रहा होगा। भारतीय ज्योतिष और गणित का भी चीन पर काफी प्रभाव पड़ा था। ई-शिङ्ग ने शुभकर से ज्योतिष पढ़ा था और चीन सम्राट् के कथनानुसार चीनी पञ्चाङ्ग का पुनः संशोधन किया था। लेकिन दुःख की बात है कि ये सब ग्रन्थ दुर्लभ हो गए हैं। दर्शन-शास्त्र में भी सिर्फ बौद्ध दर्शन ही नहीं, परमार्थ भाष्य-सहित ईश्वरकृष्ण की सांख्य-कारिका भी ले गए थे और उसका अनुवाद भी किया था। कुछ विद्वानों का मत है कि सांख्य-कारिका बौद्धमत का ग्रन्थ है। अश्वघोष, कुमारलात इत्यादि के काव्य ग्रन्थ भी चीन गए थे, जिनका अनुवाद चीनी भाषा में मिलता है।

काव्य-रस की परंपरा

हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतीय साहित्य की अपनी एक ऐसी विशेषता है जो अन्यत्र नहीं मिलती। उस विशेषता को संक्षेप में कहना हो तो एक शब्द में कहा जा सकता है—'रस'। विश्वनाथ के साहित्य-दर्पण में तो रस को काव्य का आत्मा ही माना गया है, ध्वनि संप्रदाय के आचार्य भी रस को ध्वनि का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप मानते हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र से लेकर वैष्णव आचार्यों तक आते आते इस रस ने नाना पद प्राप्त किए हैं पर सर्वत्र कवि और आचार्य लोग कभी जानकर और कभी अनजान में इसे काव्य का श्रेष्ठ रूप मानते रहे हैं। ध्वनिमार्ग के सर्वश्रेष्ठ पुरस्कर्ता आचार्य अभिनवगुप्त रस को ही काव्यार्थ मानते थे। प्रायः कहा जाता है कि ध्वनिमार्ग के सब से ज़बर्दस्त पोषक और स्थापक मम्मटाचार्य ने काव्य में रस को कोई स्थान नहीं दिया। वे 'अदोष, सगुण, कभी सालंकार, कभी निरलंकार भी, शब्द और अर्थ' को ही काव्य मानते हैं। इस शब्द-और-अर्थ में रस न भी हो तो कोई बात नहीं। पर दोष, गुण और अलंकार की जो परिभाषा उक्त आचार्य ने की है उसीसे रस की प्रधानता स्पष्ट है। मुख्यार्थ का जो अपकर्षक है वही दोष है और रस ही काव्य का मुख्यार्थ है (का० प्र० ७।१)। अर्थात् रस के अपकर्षक को ही दोष कहते हैं। मनुष्य के आत्मा के लिये जिस प्रकार शौर्य आदि गुण उत्कर्ष के हेतु हैं उसी प्रकार काव्य के आत्मा–रस के लिये जो उत्कर्ष हेतु हों, वे ही काव्य के गुण हैं (का० प्र० ८।१)। अर्थात् रस के उत्कर्ष ही गुण हैं। अब शब्दार्थ को अदोष और सगुण कहने का अर्थ यह हुआ कि उनमें रस के—जो काव्य का मुख्य अर्थ है—अपकर्षक दोष नहीं होने चाहिए और उसके उत्कर्षक गुण ज़रूर होने चाहिए। फिर अलंकारों का रहना मम्मट की दृष्टि में यद्यपि ज़रूरी नहीं है फिर भी उनका रहना यदि रस का शोभाकर हो तो कोई हर्ज नहीं; बल्कि अच्छा ही है। क्योंकि मम्मट के मत से अलंकार वही हैं जो रस का उपकार करते हैं, उन्हें उसी प्रकार उत्कृष्ट शोभायुक्त बनाते हैं जैसे हार और कुण्डल आदि मनुष्य को।

इस प्रकार मम्मट निश्चित रूप से 'रस के अपकर्षक दोषों से रहित, उत्कर्षक गुणों से युक्त, शोभाजनक अलंकारों से अलंकृत शब्द और अर्थ' को ही काव्य मानते हैं। वस्तुतः मम्मट या आनन्दवर्धन ने जहाँ कहीं भी उत्तम कविता का उदाहरण दिया है उसमें रस ज़रूर है।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के आरंभ में ही काव्यविद्या के अट्ठारह अंगों और उनके प्रवर्तक आचार्यों के नाम गिनाए हैं। ये अट्ठारह अंग और उनके प्रवर्तक आचार्य इस प्रकार हैं—

१. कविरहस्य के सहस्राक्ष २. औक्तिक के उक्तिगर्भ ३. रीतिनिर्णय के सुवर्णनाभ ४. आनुप्रासिक के प्रचेतायन ५. यमक के चित्रांगद ६. चित्रकाव्य के चित्रांगद ७. शब्दश्लेष के शेष ८. वास्तव के पुलस्त्य ९. औपम्य के औपकायन १०. अतिशय के पाराशर ११. अर्थश्लेष के उतथ्य १२. उभयालंकारिक के कुबेर १३. वैनोदिक के कामदेव १४ रूपकनिरूपणीय के भरत १५. रसाधिकारिक के नंदिकेश्वर १६. दोषाधिकरण के धिषण १७. गुणोपादानिक के उपमन्यु १८. औपनिषदिक के कुचमार।

इस प्रकार के अट्ठारह अंगों और आचार्यों की बात प्रायः सभी शास्त्र करते हैं। अट्ठारह की संख्या भारतीय साहित्य में बहुत लोकप्रिय है। पुराण अट्ठारह हैं, स्मृतियाँ अट्ठारह हैं, महाभारत में अट्ठारह पर्व हैं, और गीता में अट्ठारह अध्याय हैं। ज्योतिष के प्रवर्तक अट्ठारह आचार्यों और इसी प्रकार अन्य विषयों के भी अट्ठारह आचार्यों का उल्लेख मिल जाया करता है। जब राजशेखर की काव्यमीमांसा का उद्धार हुआ तो देखा गया कि काव्यविद्या के भी अट्ठारह ही आचार्य हैं। राजशेखर ने अपने इस बृहद् ग्रन्थ को अट्ठारह ही खण्डों में पूरा किया था। दुर्भाग्यवश इसका पहला खण्ड कविरहस्य ही अब तक उपलब्ध हो सका है। इसमें भी उन्होंने अट्ठारह ही अध्याय रखे थे। बहुत दिनों तक पंडितों में यह जल्पना-कल्पना चलती रही है कि राजशेखर की यह सूची कल्पना-प्रसूत है या किसी अब तक अज्ञात खोई हुई काव्यपरंपरा के आधार पर लिखी गई है। जल्पना-कल्पना अब भी जारी है। ऐसा जान पड़ता है कि उक्त सूची का किसी परम्परा पर आधारित होना ही अधिक युक्तिसंगत है। इसे कल्पना-प्रसूत सिद्ध करने के लिये जो युक्तियाँ दी जाती हैं उनमें मुख्य यह है कि इसके नाम अधिकांश में अश्रुतपूर्व और पौराणिक हैं। फिर इसमें राजशेखर ने अनुप्रास भिड़ाने की कोशिश की है यह भी उसके काल्पनिक होने का सबूत है। वस्तुतः ये दोनों दलीलें लचर हैं। इनमें कितने ही नाम तो निश्चयपूर्वक पहले के जाने हुए और ऐतिहासिक हैं। जो अभी तक नहीं जाने हुए हैं, उनके लिये और अनुसंधान की जरूरत है। वात्स्यायन के काम-सूत्र में नंदिकेश्वर, सुवर्ण-नाभ और कुचुमार का नाम पाया जाता है। इस ग्रन्थ के आरंभ में ही बताया गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि करके उनकी स्थिति के लिये धर्म, अर्थ और काम, इन त्रिवर्गों के साधन के लिये एक लाख अध्यायों का ग्रन्थ रचा। उसके एक एक वर्ग को अलग अलग करके क्रमशः मनु, बृहस्पति और महादेवानुचर नंदी ने धर्म अर्थ और काम के ग्रन्थों की रचना की। नंदी का ग्रन्थ हजार अध्यायों का था। उसे औद्दालकि श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया।

उसे भी वाभ्रव्य पांचाल ने डेढ़-सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। इसमें सात अधिकरण थे—साधारण, सांप्रयोगिक, कन्यासम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक और औपनिषदिक। इस सातों को निम्नलिखित आचार्यों ने अलग अलग संपादित किया ; वैशिक का सम्पादन दत्तक ने पाटलिपुत्र की वेश्याओं के अनुरोध पर किया था :—

	आचार्य अधिकरण		आचार्य अधिकरण
१	चारायण—साधारण	४	गोनर्दीय—भार्याधिकारिक।
२	सुवर्णनाभ—सांप्रयोगिक	५	गोणिकापुत्र—पारदारिक
३	घोटकमुख—कन्यासंप्रयुक्तक	६	दत्तक—वैशिक

७ कुचुमार—औपनिषदिक

इस सूची को देखने से जान पड़ता है कि कामशास्त्र के प्रवर्तक कई आचार्य काव्यविद्या के भी प्रवर्तक हैं। साम्प्रयोगिक के आचार्य सुवर्णनाभ रीतिनिर्णय के भी प्रवर्तक हैं और कुचमार या कुचुमार दोनों विद्याओं के औपनिषदिक अधिकरणों के प्रवर्तक हैं। सम्पूर्ण कामशास्त्र के आदि संक्षेपक नंदिकेश्वर (महेश्वरानुचर नंदी) काव्यविद्या के रसाधिकारिक के प्रवर्तक हैं। हाल ही में नंदिकेश्वर नामक एक आचार्य का अभिनयदर्पण भी उपलब्ध हुआ है। राजशेखर का मतलब किस नंदिकेश्वर से है, इसका विवेचन आगे किया जायगा। भरत का रूपक-निरूपण तो प्रसिद्ध ही है। यह सब देखते हुए यह तो कहना अनुचित ही जान पड़ता है कि राजशेखर की सूची काल्पनिक है। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने किसी प्राचीन परम्परा को ही अपना आधार माना है। ध्यान देने की बात यह है कि राजशेखर के काव्य-विद्यांगों में ध्वनि का नाम नहीं है। यदि यह सूची काल्पनिक होती तो ध्वनि का नाम इसमें ज़रूर आता। क्योंकि राजशेखर के काल में यह सम्प्रदाय काफी प्रबल हो चुका था। यह कहना ठीक नहीं कि या तो राजशेखर को ध्वनि का पता नहीं होगा या वे उसके विरोधी होंगे। क्योंकि काव्यमीमांसा (पृ० १६) में किसी आनंद नामक आचार्य का नाम आया है जो वस्तुतः आनंदवर्धन ही हैं, इस बात को काव्यमीमांसा (तृतीय संस्करण, पृ० १५६) के विद्वान् सम्पादकों ने सिद्ध कर दिया है। राजशेखर ध्वनि-मत के विरोधी होंगे इस कथन का आसानी से खण्डन किया जा सकता है। हेमचंद्र के काव्यानुशासन में एक श्लोक राजशेखर के नाम का है जिसमें कहा गया है कि काव्यशास्त्राभिनिवेशमूलक अति गंभीर ध्वनि से आनंदवर्धन ने किसका आनंद-वर्धन नहीं किया। श्री रामस्वामी शास्त्री शिरोमणि का अनुमान है कि औक्तिक नामक अंग में राजशेखर ने वाच्य, लक्ष्य, गौण और व्यंग्य अर्थों तथा वाचक, लक्षक, गौण और व्यंजक शब्दों की चर्चा की होगी। इसी अंग में उन्होंने ध्वनि का विचार किया होगा परन्तु

जब तक भारतीय काव्य-शास्त्र के सौभाग्य से उक्त अंग नहीं मिल जाता तब तक शास्त्री जी के अनुमान के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु राजशेखर ने काव्य-मीमांसा (पृ० १८) में जिस 'उक्ति-कवि' का उदाहरण दिया है उस पर से 'उक्ति' शब्द का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता जैसा कि शास्त्रीजी ने किया है। स्वयं शास्त्री जी ने उक्त उदाहरण पर टिप्पणी करते हुए बताया है कि यहाँ उक्ति से सौंदर्यपूर्ण उपस्थापन का तात्पर्य है। इसके लिये कवि को समाधि नामक गुण का आश्रय ग्रहण करना चाहिए (पृ० १८९)। ऐसा जान पड़ता है कि ऊपर की सूची किसी अति प्राचीन काल से चली आती हुई परंपरा से ली गई है। यह परंपरा ध्वनि-सम्प्रदाय के जन्म से पहले की है।

इस प्रसंग में और भी एक ध्यान देने की बात है। राजशेखर के काव्याधिकरणों के साथ रुद्रट के काव्यांगों का बहुत-कुछ मेल दिखाया जा सकता है। कविरहस्य, औक्तिक और रीतिनिर्णय के बाद राजशेखर चार शब्दालंकारों और चार ही अर्थालंकारों की चर्चा करते हैं। ये अलंकार इस प्रकार हैं—(१) अनुप्रास, यमक, यमकचित्र और शब्दश्लेष—शब्दालंकार तथा (२) वास्तव औपम्य, अतिशय और अर्थश्लेष—चार अर्थालंकार। नवाँ उभयालंकार भी इसी प्रसंग में याद कर लिया जा सकता है। अब रुद्रट के शब्दालंकार पाँच हैं। पहला वक्रोक्ति और बाकी हू-ब-हू वे ही जो राजशेखर के हैं (पृ० १३)। इसी प्रकार अर्थालंकार भी रुद्रट के हू-ब-हू वही हैं जो राजशेखर के। उन्हीं नौ अलंकारों के अनेकानेक भेद कल्पित करके रुद्रट ने अपने ग्रन्थ का विस्तार किया है। शब्दालंकारों की चर्चा करने के पहले रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में कविरहस्य (प्रथमाध्याय), वाक्य और शब्दभेद तथा रीतियों (२।१-४) का यथाक्रम वर्णन किया है। अब अगर शुरू से ही मान लिया जाय कि राजशेखर और रुद्रट का क्रम एक ही है, जो निःसन्देह है, तो औक्तिक नामक अधिकरण वही हो सकता है जिसे रुद्रट ने वाक्य-शब्द-भेद कहा है। इस प्रकार भी औक्तिक में ध्वनि का अन्तर्भाव कष्टकल्पित ही जान पड़ता है। पर एक और भी संभावना है; शायद वक्रोक्ति नामक अलंकार को राजशेखर ने औक्तिक कहा हो। क्योंकि जब आठ अलंकारों की चर्चा हू-ब-हू मिल जाती है तो कोई कारण नहीं कि वक्रोक्ति को त्याज्य समझा गया हो। अब इन ग्यारह-बारह अंगों का रुद्रट के साथ मिल जाना ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि राजशेखर की सूची निराधार और काल्पनिक नहीं है। रुद्रट के ग्रन्थों में रस, गुण और दोषों की भी चर्चा है। राजशेखर ने रुद्रट का अनुकरण किया होगा, ऐसा अनुमान करने की अपेक्षा यह अनुमान करना अधिक उचित जान पड़ता है कि दोनों ने एक सामान्य परंपरा से ही अपने अपने ढंग पर काव्यांगों को ग्रहण किया था।

काव्यविद्याओं के सिलसिले में उक्ति, रीति, शब्दालंकार, अर्थालंकार, उभयालंकार, गुण

और दोष आदि बातें अलंकारशास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी की जानी हुई हैं। यहाँ हमें उनके विषय में कुछ कहने की इच्छा नहीं है। चार बातें राजशेखर ने जो अधिक बताई हैं वे भी नई-सी दिखने पर भी वस्तुतः इस शास्त्र के विद्यार्थियों की अपरिचित नहीं हैं। ये चार बातें हैं—वैनोदिक, रूपकनिरूपणीय, रसाधिकारिक और औपनिषदिक। जो बात इसमें नई है वह यह कि राजशेखर ने इन अठारहों को बराबर का दर्जा दे दिया है जब कि आलंकारिकों ने कभी इस अंग को और कभी उस अंग को प्रधान और अन्यान्य को गौण बताया है। इन समस्त अंगों को—जिनमें कई-कई को एक ही अंग में अन्तर्भुक्त किया जा सकता था—अलग, अलग स्वतंत्र अंग मान लेना ही इस परंपरा की प्राचीनता का प्रमाण है। इसीलिये जब हम अपनी चर्चा इस सूची के साथ शुरू करते हैं तो ऐतिहासिक दृष्टि से गलत रास्ते पर नहीं हैं। अपनी चर्चा आरंभ करने के पहले राजशेखर की गिनाई हुई नई-सी लगनेवाली बातों से हमारा परिचय हो जाना आवश्यक है।

वैनोदिक नाम ही विनोदों से संबंध रखता है।[१] कामशास्त्रीय ग्रंथों में मद्यपान की विधियाँ, उद्यान और जलाशय आदि की क्रीड़ाएँ मुर्गे और बटेरों (लाव) आदि की लड़ाइयाँ, द्यूतक्रीड़ाएँ, यक्षरात्रियाँ अर्थात् सुखरात्रियाँ, कौमुदीजागरण अर्थात् चाँदनी रातमें जागकर क्रीड़ा करना आदि को वैनोदिक कहा है (कामसूत्र १-४)। इस अंग के प्रवर्तक कामदेव हैं, इस पर से पंडितों ने अनुमान लगाया है कि कामशास्त्रीय विनोद और काव्यशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे। परन्तु कामदेव नामक पौराणिक देवता और वैनोदिक शास्त्र-प्रवर्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही होंगे, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं भी हो सकता। राजा भोज के सरस्वती-कंठाभरण (५।९३-९६) पर से यह अनुमान और भी पुष्ट होता है कि कामोद्दीपक क्रिया-कलाप वस्तुतः ही वैनोदिक समझे जाते होंगे। शारदातनय के भावप्रकाश में नाना ऋतुओं के लिये जो विलास-सामग्री बताई गई है वह परम्परा बहुत दूर तक ग्वाल और पद्माकर तक आकर अपने चरम विकास पर पहुँचकर समाप्त हो गई है। यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि काव्यों को केवल काव्यशास्त्र ने ही नहीं प्रभावित किया है, कामसूत्र ने भी किया है, अतः इन वैनोदिक सामग्रियों का कामशास्त्र से मिलना न तो आश्चर्य का कारण है और न कामशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण और काव्यशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण की एकता की ही निशानी है। कादंबरी (कथामुख) में बाणभट्ट ने शूद्रकवर्णना के प्रसंग में कुछ ऐसे काव्य-विनोदों की चर्चा की है जिनके अभ्यास से राजा कामशास्त्रीय विनोदों के प्रति वितृष्ण हो गया था। हमारा अनुमान है कि ऐसे ही विनोद काव्यशास्त्र के विनोद कहे जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—वीणा-मृदंग आदि का बजाना, मृगया, विद्वत्सेवा, विदग्धमंडली में काव्य-प्रबंधादि की रचना करना, आख्यायिका

आदि का सुनना, आलेख्यकर्म, अक्षर-च्युतक, मात्रा-च्युतक, विंदुमती, गूढ़-चतुर्थ-पाद-प्रहेलिका आदि। शूद्रक इन्हीं विनोदों से काल-यापन करता हुआ "वनिता-संभोग-पराङ्मुख" हो सका था। इनके लक्षण तो चित्रकाव्य के प्रकरण में दिए गए होंगे पर इनके व्यवहार के लिये देश-काल-पात्र आदि की योग्यता का वर्णन इस वैनोदिक प्रकरण में किया गया होगा। उन दिनों इस बात का बड़ा महत्त्व था। दंडी ने (काव्यादर्श १-१०५) कीर्ति प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले कवियों को श्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना करने की व्यवस्था दी है क्योंकि कवित्व शक्ति के दुर्बल होने पर भी परिश्रमी आदमी विदग्ध गोष्ठियों में इन उपायों को जानकर विहार कर सकता था।

रूपकनिरूपण के आचार्य भरत हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं। परन्तु रूपक-निर्णय के सिलसिले में भरत ही सब से प्रथम जाने हुए आचार्य हैं जिन्होंने 'रस' की इतनी विस्तृत और सुंदर विवेचना की है। बाद के आचार्यों ने रस पर विचार करते समय एक स्वर से भारतीय नाट्यशास्त्र की आर्या को ही प्रमाण मानकर विवेचना को आगे बढ़ाया है। भरत मुनि ने (ना० शा० ६, १०) रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्तियाँ, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग को लेकर ही अपना बृहत् शास्त्र रचा है। ऐसी हालत में भरत को ही रस का आदि प्रवर्तक मानना उचित था। फिर भी राजशेखर ने भरत को रूपकनिरूपण का आचार्य मानकर भी उन्हींको जो रस का आदि प्रवर्तक नहीं माना, इसका कोई-न-कोई कारण होना चाहिए। भरत ने (ना० शा० ६, १५-१६) आठ नाट्यरसों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन आठ नाट्य-रसों (शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानक-वीभत्स-अद्भुत) को महात्मा द्रुहिण ने कहा है। द्रुहिण ब्रह्मा भी हो सकते हैं और कोई अन्य आचार्य भी। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ ग्रंथकार का मतलब ब्रह्मा से ही है। फिर भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि भरत को अपने पूर्ववर्ती किसी 'रस' संबंधी ग्रंथ के आचार्य की जानकारी थी। बल्कि यों कहना चाहिए कि 'रस' की कोई परंपरा थी जिसे अपने ग्रंथ में भरत ने अन्तर्भुक्त कर लिया। भारतीय नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय रसों और भावों की व्याख्या हैं। इन दो अध्यायों में जितने आनुवंश्य या परंपराप्राप्त श्लोकों को ग्रंथकार ने संग्रह किया है उतने सारे ग्रंथ में भी नहीं हैं। इसीसे स्पष्ट है कि इन अध्यायों की सामग्री उन्होंने किसी अन्य मूल से ग्रहण की थी।

अब प्रश्न है कि इस परंपरा के प्रवर्तक आचार्य कौन थे? राजशेखर से पता चलता है कि ये नंदिकेश्वर थे। नंदिकेश्वर का नाम नाना भांति से हमारे सामने आया है। भिन्न भिन्न ग्रंथों में कभी उन्हें संगीत का, कभी कामशास्त्र का, कभी तंत्र का और कभी अभिनय का आचार्य माना गया है। 'पंचसायक' नामक कामशास्त्रीय ग्रंथ में नन्दीश्वर

नामक एक आचार्य का उल्लेख है और 'रतिरहस्य' में तो नंदिकेश्वर नाम ही आता है। इस अध्याय के शुरू में ही बताया गया है कि कामसूत्र में लिखा है कि प्रजापति के कामशास्त्रीय अध्याय का संकलन महादेवानुचर नंदी ने किया था। कामसूत्र की जयमंगला टीका में कहा गया है कि, महादेव उमा के साथ देवताओं के एक हज़ार वर्ष तक काम-सुख का अनुभव करते रहे। वासगृह के द्वार पर स्थित नंदी ने इसीलिये कामसूत्र का प्रवचन किया। यदि उक्त टीका की बात को प्रमाण समझें तो नंदी पौराणिक देवता हैं; जिस अर्थ में हम साधारणतः 'शास्त्रकार आचार्य' को ग्रहण करते हैं, वह वे नहीं थे। परन्तु बहुत से ऐतिहासिक आचार्यों को पौराणिक कल्पनाओं में ग्रथित किया गया है, इसलिये हम ऐसा समझ सकते हैं कि नंदीश्वर या नंदिकेश्वर नाम के कोई शास्त्रकार ज़रूर थे जिन्हें नाम-साम्य के कारण पौराणिक देवता मान लिया गया। नंदिकेश्वर की लिखी एक अभिनय-पुस्तक भी मिली है। यह पुस्तक सन् १८७४ में पूना से सम्पादित हुई थी और अब नये सिरे से अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ श्री डा० मनोमोहन घोष ने कलकत्ते से प्रकाशित की है। अभिनयदर्पण, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, अभिनय की पुस्तक है। इसमें हाथ, पैर मुख, दृष्टि आदि की विविध मुद्राओं का वर्णन और विनियोग (अर्थात् किस रस के अभिनय के समय कौनसी मुद्रा का व्यवहार करना चाहिए) बताया गया है। वेबर के इतिहास से एक गान संबंधी पुस्तक 'नंदिकेश्वर मततालाध्याय' का भी पता चलता है। इस प्रकार नंदिकेश्वर का नाम तीन विषयों के साथ प्रधान रूप से जड़ित है—गान, नाच और काम-शास्त्र। कुछ पंडितों का विश्वास है कि काम-शास्त्रीय आचार्य नंदिकेश्वर ही प्रधान हैं। अभिनय और गान कामशास्त्रीय विनोद के ही अंग हैं। इन पंडितों ने कहा है कि राजशेखर द्वारा निर्दिष्ट रसाधिकरण के आचार्य नंदिकेश्वर वस्तुतः कामशास्त्र के ही आचार्य हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्यशास्त्र में जब तक 'रसाधिकरण' निपुण भाव से गूँथ नहीं दिया गया था तब तक 'रस' शब्द का अर्थ शृंगार-रस ही था। भरत जब कहते हैं कि नाट्य में आठ रस होते हैं तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि काव्य में नौ या दस रस होते हैं। परन्तु ऊपर की व्याख्या को ध्यान में रखकर अगर इस कथन का अर्थ किया जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि अन्यत्र रस एक या दो हो सकते हैं पर नाट्य शास्त्र में आठ होते हैं। ऐसा अर्थ समझने के पक्ष में प्रबल युक्ति यह है कि काव्य में बहुत बाद में चलकर रसों को अन्तर्भुक्त किया गया है। प्राचीन आचार्यों में दण्डी और भामह रस की चर्चा करते ही न हों, ऐसा तो नहीं है, पर वे उसे वक्रोक्ति या स्वभावोक्ति आदि अलंकारों से अधिक महत्त्व नहीं देते। फिर ऐसा एक भी काव्य का विवेचक आलंकारिक नहीं है जो भरत के पहले हुआ हो। सब पर भरत का प्रभाव है। ऐसी हालत में यह कैसे मान लिया जा सकता है कि भरत ने काव्य के रसों को

दृष्टि में रखकर ही लिखा था कि 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः' ? जब काव्य के नौ या दस रस उनके सामने थे ही नहीं तो निश्चय ही किसी और शास्त्र के 'रस' से नाट्य रस को अलग करने के लिये उन्होंने उपर्युक्त बात लिखी थी। यह रस क्या था ? सम्भवतः यही नंदिकेश्वर का रसराज श्रृंगार-रस था। बड़ी विचित्र बात यह है कि श्रृंगार रस को ही 'आदिरस' कहा जाता है। बाणभट्ट ने कादंबरी में 'रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता' श्लोक में 'रस' शब्द का एक अर्थ श्रृंगार रस ही समझा है।

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रभाववश काव्य में नाट्यशास्त्रीय आठ रसों के साथ एकाध अन्य रस को मिलाकर रसों की संख्या बढ़ा ली गई, परन्तु समूचे काव्य-साहित्य में श्रृंगार रस का ही प्राधान्य बना रहा। ऐसे अनेक आचार्य हुए जो एक मात्र श्रृंगार-रस को ही रस समझते रहे। रुद्रभट्ट का श्रृंगारतिलक ऐसा ही ग्रन्थ है। भोजराज ने अपने सरस्वतीकंठाभरण में यद्यपि दस रस माने हैं, पर अधिक ज़ोर श्रृंगार पर ही दिया है। विद्याधर (एकावली, पृ० ९८) और कुमारस्वामी की गवाही से हम जान सकते हैं कि अपने श्रृंगार-प्रकाश में राजा भोज ने श्रृंगार को ही एकमात्र रस माना था। शारदातनय का भावप्रकाश, शिंगभूपाल का रसार्णव और भानुदत्त की रस-मंजरी और रसतरंगिणी ऐसे ही ग्रन्थ हैं। यह परंपरा बड़ी दूर तक चलती रही। हिन्दी के रीतिकाल में यह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची। केशवदास की रसिकप्रिया, तोष की सुधानिधि, चिन्तामणि का कविकुल-कल्पतरु, मतिराम का रसराज, रसलीन के रसप्रबोध और अंगदर्पण, देव की प्रेमचंद्रिका और रसविलास, भिखारीदास का रसश्रृंगार और श्रृंगारनिर्णय और पद्माकर का जगद्विनोद आदि ग्रन्थ श्रृंगार की महिमा प्रतिष्ठित करने में अनुलनीय हैं। उत्तरकालीन ब्रजभाषा का साहित्य श्रृंगार रस का साहित्य है।

इस विवेचना से सिद्ध होता है कि भरत के पूर्ववर्ती काल में 'रस' शब्द का अर्थ श्रृंगार ही समझा जाता था और यद्यपि परवर्ती आचार्यों के शक्तिशाली ग्रन्थों ने इस अर्थ को बहुत-कुछ दबा दिया था, पर वह बिल्कुल लुप्त कभी नहीं हुआ। कवियों का एक समूह बराबर इस रस को ही एक-मात्र या प्रधान रस मानता रहा। हज़ारों वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में इस समूह के कवियों की कभी भी कमी नहीं हुई।

पुस्तक-समीक्षा

इस जगत् की पहेली—मूललेखक—श्रीअरविन्द ; भाषान्तरकार—मदनगोपाल गाड़ोदिया ; प्रकाशक—श्रीअरविन्द-ग्रंथमाला, ४, हेयरस्ट्रीट, कलकत्ता ; पृष्ठ-संख्या १२४ ; मूल्य ॥=) ; कागज़ और छपाई उत्तम ।

इस पुस्तक में श्रीअरविंद के उन कई लेखों का संग्रह है जो उन्होंने अपने शिष्यों और अन्य जिज्ञासुओं के प्रश्नों के उत्तर में लिखे थे। पुस्तक में प्रश्न नहीं दिए हुए हैं केवल उत्तरों का ही संग्रह है। बाहर पुस्तक के हिंदी नाम के साथ ही अंग्रेजी में The Riddle of this World छपा है, इसलिये अनुमान होता है कि मूल लेख अंग्रेजी में लिखे गए थे और यहाँ हिंदी में उन्हीं का अनुवाद किया गया है। अनुवाद की भाषा इतनी साफ, चुस्त और प्रवाहशील है कि पाठक को कभी भी यह भान नहीं होने पाता कि वह अनुवाद पढ़ रहा है। हमने मूल लेखों से अनुवाद को मिलाकर नहीं पढ़ा पर भाषा की सफ़ाई और प्रवाह को देखकर विश्वास होता है कि योग्य हाथों में ही अनुवाद का कार्य पड़ा है।

पुस्तक का प्रतिपाद्य बहुत ऊंचे दर्जे का अध्यात्म है जो बुद्धि का विषय नहीं है, क्योंकि "वह सत्यतक पहुँच नहीं सकती, केवल कोई ऐसी वस्तु या वस्तुओं को कल्पित कर सकती है जो सत्य को आभासित करने का प्रयत्न करें" (पृ० २८)। "आधुनिकों का मनुष्य को ही ज्ञान और अनुभव का पैमाना मानना (humanism) और मनुष्य जाति के उत्कर्ष का एकमात्र साधन मनुष्य जाति को ही समझना (humanitarianism), अथवा उनकी मनबुद्धि को ही जगत् की असलियत करार देने की (sentimental idealism) निस्सार भावुकता और उनका यह असार बुद्धिवाद कि विशुद्ध तर्क ही ज्ञान का एकमात्र साधन है (Intellectualism) और उनका समन्वय बुद्धि से विभिन्न मतों से अपनी प्रकृति और रुचि के अनुकूल सारतत्त्व ग्रहण करने को ही परम सिद्धान्त मान लेना (Synthetic eclectism) तथा ऐसी ही अन्य बातों···से मनुष्य जाति अपने जीवनमार्गों का वह आमूल परिवर्तन नहीं करा सकती जिसके होने की आवश्यकता फिर भी अधिकाधिक प्रतीत हो रही है" (पृष्ठ ४८-४९)। किस प्रकार यह आमूल परिवर्तन साधित हो सकता है और किस प्रकार परम सत्य को प्राप्त किया जा सकता है—इसकी चर्चा पुस्तक में यथा-प्रसंग आई है। प्रधानतः वह अनुभव और साधना का विषय है। इसलिये जो लोग मन और बुद्धि के इलाके में ही चक्कर काटते हैं वे उसकी आलोचना के अधिकारी नहीं हैं। परन्तु श्रीअरविंद उन लोगों में नहीं हैं जो मन और बुद्धि को केवल बंधन कहकर संसार से भागने का उपाय बताते हैं। कुछ लोग नामरूपात्मक जगत् को एक दम मिथ्या कह देते हैं, कुछ इसीको चरम समझते हैं, "पर यह भी तो संभव है कि यह जगत् ऐसा न हो, हमारे अज्ञान अथवा अधूरे ज्ञान के कारण हमें ऐसा प्रतीत होता हो—जगत् की यह अपूर्णता, यह बुराई और यह सारा दुःख एक प्रतिरुद्ध अवस्था या शोक-संकुल मध्यवर्ती मार्गमात्र हो, नामरूपात्मक जगत् की यह असली हालत

नहीं हो, प्रकृति में जीवजन्म का यह वास्तविक रूप नहीं हो। और यदि यही बात हो तो सबसे बड़ी बुद्धिमानी इस जगत् से भागने में नहीं बल्कि यहीं विजय प्राप्त कर लेने की प्रवृत्ति में है......"(पृ० १०६)। इसीलिये मन और बुद्धि को वे परम तत्त्व के प्राप्त करने में बाधक नहीं मानते। ऐसा हो सकता है कि मानसिक और बुद्धिमूलक कार्यों से भी उस परम तत्त्व की झलक मिल जाय जो मनुष्य का चरम साध्य है। "आत्म-विषयक दार्शनिक वर्णन केवल एक मानसिक निरूपण है, ज्ञान नहीं ; अनुभूति नहीं, फिर भी कभी कभी भगवान् इसे अपना स्पर्श कराने का साधन बना लेते हैं और तब..... प्रकृति के क्षेत्र में कोई ऐसी वस्तु प्रवेश करती है जो स्थिर है, सम है, अनिर्वचनीय है" (पृ० ५६)। "कला, कविता, संगीत के द्वारा इसी प्रकार के स्पर्श उस कलाकार कवि या गायक को अथवा उसको प्राप्त हो सकते हैं जो उस शब्द के आघात को अनुभव करता है, उस मूर्ति के गूढ़ आशय तक पहुँचता है, उस स्वर से रहस्य का कोई संदेश पाता है जिसमें कुछ ऐसा रहस्य भरा रहता है जो कदाचित् उसके निर्माण-कर्ता का भी जाना-बूझा आशय न रहा हो" (पृ० ५७)।......"जैसे कोई फूल कोई प्रार्थना, कोई कर्म भगवान के अर्पण किया जाता है वैसे ही हम कोई भी पदार्थ सुन्दर सजाकर, कोई गान, कोई कविता, कोई प्रतिमा, कोई सुस्वर आलाप भी अर्पण कर सकते हैं और उसके द्वारा कोई संस्पर्श कोई स्वीकृति, सहायता या कोई अनुभूति पा सकते हैं" (पृ० ५८)। यह उन लोगों के लिये आशा का संदेश है जो आध्यात्मिक साधना के व्रती नहीं हैं और अपनी योग्यता के अनुसार भगवदर्पण भाव से कोई भी काम करना पसंद करते हैं। श्रीअरविंद जड़जगत् की विकास-परम्परा के समान चैतन्य के विकास में भी विश्वास करते हैं। "कम से कम इस बात की संभावना तो है, एक ऐसा स्थल तो है जहाँ इस बात का निश्चय हो जाता है कि जिसे हम मन या मनबुद्धि कहते हैं उससे महतो महीयान् कोई और चैतन्य है और इस विकास-सोपान से यदि हम और ऊपर चढ़ चलें तो हमें वह स्थल मिलेगा, जहाँ इस भौतिक अचेतना, प्राणमय और मनोमय अविद्या की पकड़ छूट जाती है ; एक चित्तत्त्व व्यक्त होने में समर्थ होता है और वह व्यक्त होकर इस आबद्ध भगवत्तत्त्व को, अंशतया और अपूर्णतया नहीं, बल्कि आमूल और पूर्णतया मुक्त कर देता है" (पृ० ११०)। इस पुस्तक का अन्तिम अध्याय, जिसपर से इस पूरी पुस्तक का नामकरण हुआ है, शायद उन्हीं लोगों को सामने रखकर लिखा गया है जो बुद्धि-भक्तिक हैं और इसीलिये वह हमारे बड़े काम की चीज़ है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का भाषान्तर और प्रकाशन करके श्रीमदनगोपालजी गाड़ोदिया हिंदीभाषी जनता के धन्यवाद-भाजन हुए हैं। पुस्तक का संग्रह अवश्य करना चाहिए।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारत की चित्रकला—लेखक : श्री राय कृष्णदास ; प्रकाशक—नागरीप्रचारिणी सभा, काशी ; प्रथम संस्करण, १९९६ ; मूल्य—१) और १।) ; पृष्ठसंख्या १६८ ; छपाई साफ़ और सुन्दर।

भारतीय रूपकला के सम्बन्ध में देशी भाषा में लिखी हुई पुस्तकों की संख्या बहुत कम है। श्री राय कृष्णदास लिखित 'भारत की चित्रकला'-जैसी सहज तथा विशेष तथ्यपूर्ण

पुस्तक की हमें खास ज़रूरत थी। यह पुस्तक उनके लिये जो कि अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ हैं अत्यन्त उपादेय है और साथ ही साथ अंग्रेजी-शिक्षाप्राप्त लोगों को भी यह सुन्दर भूमिका का काम दे सकती है। इसमें लेखक ने "षडङ्ग" नामक अत्यन्त आवश्यक विषय का उल्लेख किया है जो हमें साधारणतः अन्यत्र नहीं मिलता। भारतीय चित्र में 'षडङ्ग' का प्रयोग कैसा है— दिखाने से यह विषय और भी सहज हो सकता था। पुस्तक में शिल्प की परिभाषाओं की एक तालिका दी हुई है। इस तालिका से लेखक विशेष उपकृत हो सकते हैं।

—विनोदविहारी मुखर्जी

कर्तव्य—ले० श्री सेठ गोविन्द दास ; प्रकाशक, महाकोशल-साहित्य-मन्दिर, गोपालबाग, जबलपुर ;पृष्ठ संख्या १८० ; छपाई उत्तम।

'कर्तव्य' दो भागों में समाप्त होनेवाला बड़ा नाटक है। इसके पूर्वार्द्ध में श्री रामावतार की और उत्तरार्ध में श्री कृष्णावतार की कथा दी हुई है। दोनों भागों की घटनाओं में सैकड़ों वर्ष का व्यवधान है और एक का कोई भी पात्र दूसरे में नहीं आता। ऊपर ऊपर से ऐसा लगता है कि दोनों भागों को एक धागे में नत्थी करने के सिवा इनमें और कोई भी योगसूत्र नहीं है। पर ध्यान से देखने से जान पड़ता है कि दोनों भागों को एक दूसरे की बग़ल में सजा रखने में नाटककार का एक महान् उद्देश्य है और यह उद्देश्य ही दोनों भागों का योगसूत्र है। पूर्वार्ध में रामायण की कथा का आधार लेकर ग्रन्थकार ने दिखाया है कि राम के लिये परम्परा और रूढ़ियों के प्रति अतिरिक्त श्रद्धाभाव ही कर्तव्य की कसौटी है जब कि उत्तरार्ध में राम की पाली हुई सभी मर्यादाएँ कृष्ण के द्वारा तोड़ी गई हैं। उदाहरणार्थ, राम व्यक्तिगत रूप से पाप समझते हुए भी सामाजिक मर्यादा के प्रति विनीत होने के कारण अपनी पतिव्रता पत्नी का त्याग करते हैं जब कि श्रीकृष्ण ठीक इसके विरुद्ध सोलह हज़ार हरी हुई राज-कुमारियों को इसीलिये स्वीकार करते हैं कि प्रचलित सामाजिक मर्यादा उस स्वीकार-कार्य में बाधक है। फिर, राम वचनबद्ध होने के कारण लक्ष्मण-जैसे अनुगत भाई को दण्ड देते हैं जब कि उत्तरार्ध में कृष्ण जानबूझकर ऐसी मर्यादाओं को तोड़ते हैं। वे विवाह न करने के लिये प्रतिज्ञा करके भी रुक्मिणी और अन्य राजकुमारियों से विवाह कर लेते हैं। इस प्रकार पूर्वार्ध की कथाओं से उत्तरार्ध की कथाएँ बराबर उल्टी दिशा में खड़ी हो जाती हैं ; पहले की पृष्ठभूमि न हो तो दूसरा भाग बेखाप हो जाता है और नाटककार का उद्देश्य ही असिद्ध रह जाता है। इस दृष्टि से दोनों भागों का एकत्र सन्निवेश उचित ही हुआ है।

किन्तु इस उद्देश्य को सँभालने में नाटककार को जितनी सफलता मिली है उतनी सफलता प्लाट को सँभालने में नहीं मिली। सारा नाटक सूच्यांशों से भरा हुआ है और दृश्यांशों का उपस्थापन ठीक ठीक नहीं हुआ है। सात्त्विक भावों के अभिनययोग्य दृश्य बहुत कम जगहों पर अवतरित किए गए हैं और अधिकांश दृश्य सूचनार्थ ही आए हैं। नागरिकों की बातचीत

की शैली लेखक को अधिक प्रिय है। वस्तुतः जिन्हें दृश्य कहा गया है उनमें के अधिकांश सूच्य हैं।

नाटक के तीन चरित्रों के चित्रण में नाटककार को बहुत सफलता मिली है—राम, कृष्ण और राधा। कृष्ण का चरित्र तो बहुत ही सजीव हुआ है। राम मर्यादा के रक्षक हैं, परन्तु मर्यादा और उनके व्यक्तित्व में संघर्ष बराबर बना रहता है। इसी विरोध ने राम के चरित्र को प्रभावशाली बना दिया है। शंबूक ने एक वाक्य में राम के चरित्र को स्पष्ट कर दिया है—'मैं योगबल से जानता हूँ कि तुमसे इस जन्म में समाज की अनुचित मर्यादाएँ भी नहीं टूटेंगी।' वस्तुतः राम के व्यक्तिगत मतों पर बराबर सामाजिक मर्यादाएँ विजयी होती हैं और राम के व्यक्तित्व की इस निरंतर पराजय ने उनके चरित्र में एक बहुत ही करुण महिमा भर दी है, जिसे पाठक श्रद्धा तो करता है पर अपना नहीं पाता। परन्तु कृष्ण का चरित्र और तरह का है। वे किसी बात में बँधते नहीं, निर्मम हैं और प्रत्येक बात को स्वतंत्र व्यक्तिगत दृष्टि से देखते हैं। जिस बात से मानव-मात्र का बृहत्तर कल्याण न होता हो वह समाज और व्यक्ति की मर्यादा, मानापमान-भावना आदि से कितना भी क्यों न जकड़ा हो, उसको श्रीकृष्ण ज़रूर तोड़ेंगे। वे वचनभंग कर सकते हैं, पीठ दिखा सकते हैं नारी हरण कर सकते हैं अपनी सगी बहन का भी हरण करा सकते हैं और अपनी एकान्त अनुगता प्रियतमा को इस प्रकार छोड़ दे सकते हैं मानों कभी की जान पहचान ही न हो! यह मस्ती और फक्कड़पन उनकी महान् लोक-कल्याण-भावना के साथ मिलकर बहुत ही आकर्षक हो गए हैं। पाठक राम को श्रद्धा करता है पर कृष्ण को प्यार करता है। कृष्ण का चरित्र नाटककार की उत्तम सृष्टि है। परन्तु राधा भी कम आकर्षक नहीं हैं। नख से सिख तक प्रेम में पगी हुई अनन्यपरायणा राधा का चित्रण नाटककार की अन्यतम सफलता है। श्रीकृष्ण जैसे निर्मम अनासक्त प्रेमी ने राधा के इस प्रेम माहात्म्य को स्वीकार किया हैं। कृष्ण की अनुपस्थिति में राधा कृष्ण हो जाती हैं। वे चालीस वर्षों तक कृष्ण का अभिमान करके जीवन काट देती हैं और अन्त में प्रिय से भेंट होने पर सदा के लिये उनके चरणों पर सो रहती हैं!

कर्तव्य सेठजी का श्रेष्ठ नाटक है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

भारतीय मूर्तिकला—ले० श्री राय कृष्णदास; प्रकाशक—नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी; मूल्य १) और १।); पृष्ठसंख्या १४०, फलक संख्या ३२; छपाई साफ़, सुंदर और शुद्ध।

मूर्तिकला के विषय में हिंदी में यह पहली पुस्तक है और यह आनन्द और सन्तोष का विषय है कि आरंभ बहुत ही अच्छा हुआ है। श्री राय कृष्णदास जी कला के विशेषज्ञ हैं, उन्हें इस विषय पर लिखने का पूरा अधिकार है। इस छोटी सी पुस्तक में उन्होंने मूर्तिकला

के ऐतिहासिक विकास, उसके सौंदर्य-तत्व और सिद्धान्तों की बड़ी अच्छी विवेचना की है। मूर्ति-पूजकों की भाषा में मूर्तिकला संबंधी पुस्तक का न होना एक बड़ी भारी कमी थी, वह इस पुस्तक से पूर्ण हुई है। पुस्तक के अन्त में बत्तीस फलकों पर कई चित्र दिए हुए हैं जो विषय को समझने में बहुत सहायक हैं। पुस्तक देवपुरस्कार की रकम से छापी गई है और निःसंदेह इस पुस्तक के रूप में देवपुरस्कार का सर्वोत्तम उपयोग हुआ है। पुस्तक के वक्तव्य को समझाते समय ग्रन्थकार ने एक ऐसी मूर्ति का चित्र भी दिया है जिसके विषय में मतभेद है। प्रारंभिक पुस्तक में निर्विवाद उदाहरण दिए जाने चाहिए। फलक ३ पर जो अजातशत्रु का चित्र बताया गया है, उसे कई सम्मान्य पंडित यक्षमूर्ति समझते हैं। पुस्तक के प्रारंभ में ही पारिभाषिक शब्दों की एक सूची दी हुई है जिससे इस दिशा में कार्य करनेवाले भावी लेखकों को बड़ी सहायता मिलेगी। पुस्तक आदि से अन्त तक महत्त्वपूर्ण जानकारियों से भरी है और भारतीय संस्कृति के जिज्ञासुओं के लिये अवश्य संग्रहणीय है।

—हजारीप्रसाद द्विवेदी

तत्त्वार्थसूत्रजैनागमसमन्वय—लेखक—मुनि आत्मारामजी महाराज ;
प्रकाशिका—श्रीमती रत्नदेवी जैन, लुधियाना ; गुटका साइज़ ;
पृष्ठ संख्या २६४+२१ ; मूल्य ॥|)

आचार्य उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्र केवल जैन शास्त्रों में ही नहीं समूचे संस्कृत-साहित्य के उत्कृष्ट ग्रन्थों में से एक है। दर्शन साहित्य में इसका स्थान बहुत ऊँचा है। इन सूत्रों की भिन्न भिन्न व्याख्याएँ प्रचलित हैं और शिक्षार्थीगण बड़े आदर के साथ इन्हें पढ़ते हैं। वर्तमान संस्करण की विशेषता यह है कि प्रत्येक सूत्र के साथ-साथ आगमों में से इनके पोषक प्रमाण संग्रह किए गए हैं। इन पोषक प्रमाणों के साथ सूत्रों का समन्वय किया गया है। पुस्तक के अन्त में तीन परिशिष्ट दिए गए हैं। प्रथम दो में सूत्रों के समझने योग्य भिन्न भिन्न शास्त्रीय वाक्यांश और आखिरी में श्वेतांबर और दिगंबर सम्प्रदायों के गृहीत पाठ-भेद दिखाए गए हैं। इस संस्करण में समन्वयकर्ता मुनि श्री आत्मारामजी की शास्त्राभिज्ञता और परिश्रम का परिचय सर्वत्र मिलता है। पुस्तक का आकार ज़ेबी साइज़ का होने के कारण छात्रों के स्वाध्याय के लिये विशेष उपयोगी हो गया है। हमारे विचार से यदि आगमांशों की संस्कृत छाया दे दी गई होती तो पुस्तक उन लोगों के लिये भी उपयोगी हो जाती जो प्राकृत ठीक ठीक नहीं समझ सकते, विशेष करके आजकल के ज़माने में जब कि बहुत से जैनेतर विद्वान् जैन शास्त्र पढ़ने के लिये सादर उत्सुक रहा करते हैं। फिर भी जो कुछ है वह लेखक के पांडित्य का परिचायक है और जैन-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिये संग्रहणीय है।

—नित्यानंद विनोद गोस्वामी

दादाभाई नौरोज़ी : (अंग्रेज़ी) : ले० श्री आर० पी० मसानी ; प्रकाशक—जार्ज एलेन एण्ड अनविन ; पृष्ठसंख्या—५६७ ; मूल्य—१६ शिलिङ् ।

देश के वृद्ध-वरेण्य नेता स्वर्गीय दादाभाई नौरोज़ी की यह सुन्दर और परिश्रमपूर्ण जीवनी लिखने के लिये श्रीयुक्त मसानी हमारी कृतज्ञता के पात्र हैं। देश के पिछले सौ बरसों के इतिहास-पट पर इस जनसेवक का जीवन स्पष्ट भाव से अंकित है। जैसा कि लेखक ने आकर्षक ढंग से कहा है, दादाभाई का नाम ही महान् देशभक्त का परिचायक था : "वे भारतवर्ष के सर्वसम्मत 'दादा' और पीड़ित तथा लांछित जनता के 'भाई' थे जो आजीवन देश में स्वतंत्रता का 'नौरोज़' बुलाने के लिये अथक परिश्रम करते रहे।"

दादाभाई ने कितने ही क्षेत्रों में काम किया था ; वे अध्यापक, समाज-संस्कारक, सम्पादक, व्यवसायी, जनता के राज-प्रतिनिधि, देशीरियासत के दीवान, पार्लियामेंट के सदस्य और कांग्रेस के अध्यक्ष—सभी कुछ रह चुके थे। सभी क्षेत्रों में उन्होंने अपनी अतुलनीय योग्यता ओर असम साहसिकता का परिचय दिया था। सभी स्थितियों में उनका वही एक और अद्वितीय ध्येय था : लांछना, अबुद्धि और ग़रीबी के पंक में गले तक डूबी हुई इस जाति को मुक्ति देकर उसे ऐश्वर्य और गौरव के उच्चासन पर प्रतिष्ठित कर देना। अपनी शिक्षा-दीक्षा, प्रकृति और युग-धर्म के आग्रह से वे उस श्रेणी के राजनीतिज्ञ थे जिसे हम आज कुछ मुरब्बियाना लहजे में "नरमदल" कहकर पुकारते हैं। ब्रिटेन के साथ भारतवर्ष का संबंध बनाए रखना ही उन्हें श्रेयस्कर जान पड़ा था और बड़ी साध से वे यह आशा जुगाए हुए थे कि अगर देश की दुरवस्था, अराजकता तथा ग़रीबी के बोझ का कच्चा चिट्ठा ब्रिटेन के आगे ठीक ठीक खुलासा किया जायगा, तो जनतंत्र का दावा करनेवाली ब्रिटिशजनता अपने दावे पर अमल भी करेगी। देशवासियों का पक्ष और भी बेहतर तरीके से सामने रखने की ग़रज़ से वे इंग्लैण्ड में जा बसे थे और पीछे कामन्स की सभा में भी प्रवेश किया था। समूची ज़िन्दगी उन्होंने "सरकारी खातापत्रों के नील-सागर में गुज़ारी" और शासकों की आन्तरिकता तथा उदारता पर अपनी उम्मीदों का महल खड़ा किए रहे। ऐसी हालत में भ्रम का उच्छेद अनिवार्य था और दादाभाई भी अंत में यह कहने के लिये विवश हुए कि "पहले के शासक कसाइयों की तरह थे जो मौज में आकर इधर-उधर अपना हथियार चला दिया करते थे, किन्तु अंग्रेज़ लोगों की छुरी वह वैज्ञानिक अस्त्र है जो ठीक मर्म में घुसकर काटती तो है, तब भी घाव का आभास नहीं मिलता। और फिर खूब तत्परता से सभ्यता, प्रगति आदि-आदि बड़ी-बड़ी बातों के प्लास्टर द्वारा घाव को ढँक दिया जाता है" (पृ० २०७)। तथापि निराशा ने दादाभाई को कभी कटु नहीं बनाया। सन् १९१४ के महासमर के समय उन्होंने ब्रिटेन की सहायता के लिये देशवासियों से अपील की। वैधानिक आन्दोलन में उनका विश्वास बना ही रहा।

—कृष्ण कृपालानी

दी यूनिटी आफ् इण्डिया : (अंग्रेज़ी) : ले०—जवाहरलाल नेहरू ; प्रकाशक—लिण्डसे ड्रमण्ड, लन्डन ; १९४१ ; पृ० सं० ४३२ ; मूल्य—१२ शि० ६ पें०

आलोच्य पुस्तक लेखक के १९३७ से १९४० सन् की अवधि के व्याख्यानों और लेखों का संकलन है जिसमें उनके सबसे हाल के मुक़दमे का प्रसिद्ध वक्तव्य भी संगृहीत है। श्रीयुत कृष्ण मेनन ने योग्यतापूर्वक विषय का वर्गीकरण करके कालक्रम से रचनाओं को सजा दिया है और एक प्राक्कथन भी जोड़ दिया है। जवाहरलाल को देशवासियों के निकट प्रकृत सम्मान और प्यार मिला है। उनकी जीवंत देशभक्ति, अचल साहस, अन्याय अविचार के खिलाफ़ विद्रोहपूर्ण चुनौती, प्रखर बुद्धि, सहज भावप्रवणता, चारित्रिक भव्यता तथा मनुष्य के लिये सच्ची ममता इस पुस्तक के प्रत्येक पृष्ठ में जीवित रूप से प्रकाश पा रही है। राष्ट्र के यथार्थ कल्याण से संबद्ध कोई भी ऐसा विषय नहीं जिसकी इसमें चर्चा न हो। सभी लेख कर्मसंकुल क्षणों में लिखे गए हैं अतएव उनमें उत्ताप, आवेग, उल्लास तथा नैराश्य धूपछाया की तरह बुन गए हैं। किंतु जो बात इन विभिन्न लेखों में खूब स्पष्टभाव से पाठक को प्रभावित करती है वह है—निर्णयों की एकता और विश्वासों की दृढ़ता। सदा युद्ध का स्वागत करनेवाले इस योद्धा की क़लम भी पैनी तलवार की तरह काटती चलती है। वह कर्मजीवन में बुरी तरह उलझा हुआ होता है, परंतु उसके भीतर का एक अंश अनासक्त परीक्षक की भाँति सजग भी रहता है। अंतर का यह आलोचक बुद्धि और भाव के द्वारा अपनी और अपने सहयोगियों की जाँच करने में कभी पीछे नहीं रहता ; साथ ही उसकी उदारता कभी अपने विरोधियों की दोष-त्रुटियों पर अटककर भी नहीं रह जाती। जिस संघर्ष का वह एक प्रमुख कर्मी है उसकी धीमी चाल और ना-कामयाबी भी उसे उतना उदास नहीं कर पातीं जितना आज के संपूर्ण मानव-समाज का अशोभन इतिहास कर देता है।

यद्यपि इस पुस्तक की अधिकांश रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निकल चुकी हैं फिर भी वे इस संग्रह में एकत्रभाव से पढ़ने योग्य हैं। उनमें हाल के कुछ बरसों की प्रमुख और महत्त्वपूर्ण घटनाओं की भावमयी कहानी तो है ही, साथ ही बर्बरता और स्वार्थपरता की इस दुनिया के कैनवस पर भारतवर्ष के संयत, उदात्त और भव्य नेतृत्व का परिचय भी प्राप्त होता है।

—कृष्ण कृपालानी

प्राप्ति-स्वीकार

समालोचनार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आनी चाहिए। हिन्दी के सिवा अन्यान्य भाषाओं की पुस्तकें भी आलोचित होंगी। श्रीअरविन्द-आश्रम, पांडिचेरी से हमें निम्नलिखित पुस्तकें प्राप्त हुई हैं : १. योग के आधार २. हमारा योग और उसके उद्देश्य (ले० श्रीअरविंद, अनु० मदनगोपाल गाड़ोदिया) ३. योगप्रदीप ४. माता (ले० श्रीअरविन्द, अनु० लक्ष्मण नारायण गर्दे) ५. श्रीअरविंद और उनका योग (संकलन) ६. श्रीअरविंद की शिक्षा और उनका आश्रम ७. अमृत-बिन्दु (अनु० अभय)। श्रीकाशिनाथ त्रिवेदी-लिखित 'मेरा घर' पुस्तिका भी हमें मिली है। —सम्पादक

अपनी बात

विश्वभारती पत्रिका

शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन की स्थापना के अवसर पर स्वर्गीय गुरुदेव ने यह इच्छा प्रकट की थी कि विश्वभारती से एक ऐसी हिन्दी पत्रिका प्रकाशित हो, जिसके द्वारा भारतवर्ष की साहित्यिक और सांस्कृतिक साधना का जो कुछ सर्वोत्तम है, उसका नियमितरूप से प्रचार और उन्नयन होता रहे। भारतवर्ष की वर्तमान अवस्था का विश्लेषण करके उन्होंने दिखाया था कि देश आज जिस प्रकार नाना भांति की संकीर्णताओं का शिकार बनता जा रहा है उससे रक्षा पाने का सर्वोत्तम साधन साहित्य ही है। एक बार उन्होंने कहा था—"आज जो हिन्दू-मुसलमानों का लज्जाजनक विद्वेष देश को आत्मघात की ओर प्रवृत्त कर रहा है, उसकी जड़ में है सारे देश में फैली हुई अबुद्धि। हमारी निर्धनतारूपी अलक्ष्मी ने अशिक्षित अबुद्धि की सहायता से ही हमारे भाग्य की नींव उखाड़ने के काम में जासूस लगा दिए हैं; अपने आदमियों को ही वह शत्रु बनाए दे रही है, विधाता को हमारे विरुद्ध किए दे रही है। अन्त में अपना सर्वनाश करने की हमारी ज़िद यहाँ तक बढ़ गई कि आज हम अपनी ही भाषा को तोड़-फोड़ डालने की कोशिश से भी बाज़ नहीं आ रहे। सब तरह के मतभेद होते हुए भी शिक्षा और साहित्य का जो उदार-क्षेत्र एक-राष्ट्रीय मनुष्यों के मिलने का स्थान है, वहाँ भी हमारा काँटे बोने का उत्साह कम नहीं हुआ—ज़रा भी लज्जित नहीं हुआ। हम दुःख पा रहे हैं; दुःख पाने में ऐसी कोई शर्म की बात नहीं है, किन्तु देश भर में फैली हुई अशिक्षाग्रस्त हेयता ने हमारा मस्तक ज़रूर नीचा कर दिया है, हमारे समस्त महान् उद्यमों को व्यर्थ कर दिया है। राष्ट्रीय बाज़ार में राष्ट्र के अधिकार को लेकर मोल-तोल का शोर-गुल कितना ही क्यों न होता रहे, वहाँ गोल-टेबिल के भँवर में प्रतीकार की कुंजी नहीं मिल सकती। नाव के नीचे जहाँ बन्धन ढीला है, वहीं हमें जल्दी हाथ लगाना पड़ेगा। इसके लिये सबसे पहले आवश्यक है शिक्षित मन। विद्यायतनों के बाहर शिक्षा देने का उपाय है साहित्य। मगर उस साहित्य को सर्वाङ्गीण रूप से शिक्षा का आधार बनाना होगा, देखना होगा कि उसके ग्रहण करने का मार्ग सर्वत्र सुगम हुआ है या नहीं।"

सर्वांगीण साहित्य क्या है ?

सर्वांगीण साहित्य से उनका जो कुछ तात्पर्य था, वह उन्हींके निम्नलिखित वक्तव्य से स्पष्ट हो जाता है—"यह बात माननी ही पड़ेगी कि हमारा आधुनिक साहित्य वर्तमान युग के अन्न-वस्त्र से प्रतिपालित हुआ है। इस साहित्य ने नई रोशनी की छूत हमारे मन में लगा दी है, लेकिन हमें पनपानेवाली असली खूराक तो वह उस पार से ला ही नहीं रहा है। जो विद्या वर्तमान युग की चिन्ता-शक्ति या विचारधारा को विचित्र आकार में प्रकट कर रही है और विश्वरहस्य के नये नये द्वार खोल रही है, हमारे साहित्यिक मुहल्ले में उसका आना-जाना नहीं के बराबर है।......

पाश्चात्य देशों के मन और प्राणों को वहाँ की अपनी विद्या, अपनी शिक्षा और अपने साहित्य ने क्रियाशील कर रखा है। इन सब ने मिलकर पश्चिमी देशों की कार्यशक्ति की अथक उन्नति की है, इन सब के उत्कर्ष से ही वहाँ का उत्कर्ष है।" इस देश में भी ऐसे ही सर्वांगीण साहित्य की आवश्यकता है। केवल भावुकतामूलक साहित्य यदि उत्पन्न होता रहा तो वह निश्चितरूप से क्षतिकर होगा। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था कि चूँकि "हमारे साहित्य में रस का ही प्राधान्य हो गया है, इसलिये जब कोई असंयम या चित्तविकार अनुकरण के नाले से होकर इस साहित्य में प्रवेश करता है, तो वही प्रधान हो उठता है और हमारी कल्पना को रुग्ण-विलासिता की ओर बहाकर बीभत्स कर देता है। प्रबल प्राणशक्ति जब जाग्रत नहीं रहती, तो छोटे-छोटे विकार भी बात की बात में ज़हरीले फोड़े बन जाते हैं। हमारे देश में इसी बात की आशङ्का है।"

साहित्य कैसा हो ?

एक तरफ़ तो हमारी वर्तमान अवस्था में साहित्य ही विद्या और शिक्षा का सबसे मज़बूत वाहन है और जो कार्य देश के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय विदेशी भाषा का आश्रय ग्रहण करने के कारण नहीं कर पा रहे हैं, उन्हें भी करने का भार लिए हुए हैं, और दूसरी तरफ़ केवल भावुकता से पूर्ण होते रहने के कारण उसके अवांछित दिशा में जाने का भय है। इसलिये उन्होंने बार-बार ऐसे साहित्य के प्रचार और उन्नयन की बात कही है, जो सर्वांगीण हो, जो शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा को समान भाव से विकासशील बना सकता हो और जो ज्ञान, कर्म, और प्रेम में से किसी एक की भी उपेक्षा या अतिरञ्जना न करता हो। उन्होंने स्वयं ऐसे साहित्य की सृष्टि करके मार्ग प्रदर्शित किया है। यह भी ज़रूरी है कि हमारा यह साहित्य हमारी सर्वश्रेष्ठ सांस्कृतिक साधना का न केवल अविरोधी हो, बल्कि उसे जीवन में पूर्णरूप से उतारने में सहायक भी हो। उस साधना को उन्होंने इस प्रकार स्पष्ट कर दिया है—"भारतीय समाज भेद-बहुल है। यहाँ नाना भाषाएँ, नाना धर्म और नाना जातियाँ हैं। इसी कारण भारत के मर्म की वाणी ही ऐक्य की वाणी है। इसी कारण जो भारत के यथार्थ श्रेष्ठ महापुरुष हुए हैं, उन्होंने मनुष्य की आत्मा-आत्मा में सेतु निर्माण करना चाहा है। बाहर के आचार ने भारत में नाना आकार में भेद को ही मज़बूत कर रखा है, इसीलिये भारत की श्रेष्ठ साधना है—बाहर के आचार को अतिक्रम करके अन्तर के सत्य को स्वीकार करना। परम्पराक्रम से भारत के महापुरुषों का आश्रय लेकर यही साधना की धारा चिरकाल से चली आ रही है।"

हमारा यह प्रयत्न

गुरुदेव ने हिन्दी-भवन की स्थापना के अवसर पर जिस पत्रिका के प्रकाशन की इच्छा प्रकट की थी, वह इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर। बहुत दिनों तक अर्थाभाव के कारण यह इच्छा कार्यरूप में परिणत न हो सकी। अत्यन्त हर्ष का विषय है कि आवागढ़-नरेश महाराज

सूर्यपालसिंहजी की उदार सहायता से वह योजना पूरी होने जा रही है। आपने स्वयं अग्रणी होकर एक ऐसी पत्रिका निकालने की इच्छा प्रकट की है। 'विश्वभारती पत्रिका' उसी इच्छा का परिणाम है। हमें अत्यन्त दुःख के साथ कहना पड़ता है कि इस पत्रिका के प्रकाशन का बहुत-कुछ आयोजन यद्यपि गुरुदेव की जीवितावस्था में ही हो चुका था, परन्तु उनकी बीमारी और स्वर्गवास के कारण उसमें विलम्ब होता ही गया।

यहाँ हम इतना और भी निवेदन कर देना चाहते हैं कि 'विश्वभारती पत्रिका' यद्यपि विश्वभारती के ही तत्त्वावधान में प्रकाशित हो रही है, तथापि उसका कर्मक्षेत्र केवल विश्वभारती का विद्यापीठ ही नहीं है; वह बहुत विशाल है। वह समस्त देशवासियों की कृपा और शुभेच्छा के बल पर ही निकलने जा रही है। देश के चिन्तानायकों, कलाकारों और मनीषियों के सहयोग की तो उसे और भी अधिक ज़रूरत है। इस पत्रिका को स्वर्गीय कविगुरु के अनुरूप स्मारक बनाने के पुण्यकार्य में हम सब का सहयोग पाने के हक़दार हैं।

प्रान्तीय साहित्यों का अध्ययन

इस विशाल देश के साहित्य-निर्माण का क्षेत्र भी बहुत विशाल है। भिन्न भिन्न प्रान्तीय भाषाओं में जो कुछ साहित्य बन रहा है और बनेगा उसके साथ प्रत्येक देशप्रेमी का परिचय होता रहे, यह वांछनीय है। इसीलिये इस दिशा में देश के विचारशील नेताओं ने कई बार प्रयत्न किए हैं। यह प्रयत्न आंशिक रूप में अब भी जारी है। हिंदी-भवन की स्थापना के अवसर पर गुरुदेव ने भी इस महान् कार्य की ओर देशवासियों का ध्यान आकृष्ट किया था। वस्तुतः भारतवर्ष की एकता को दृढ़तर और स्थायी बनाने के जितने भी उद्योग हैं उनमें साहित्यिक विचारों के आदान-प्रदान का उद्योग प्रमुख है। हमें जहाँ तक मालूम है, इस दिशा में जो कुछ कार्य हुआ है उसमें अधिक ज़ोर रस-मूलक साहित्य के अध्ययन पर ही दिया गया है। निस्सन्देह यह कोई छोटी बात नहीं है। पर प्रान्तीय साहित्यों के अध्ययन का उद्देश्य कुछ और विशाल होना चाहिए। यदि केवल रसमूलक साहित्य ही अध्ययन का उद्देश्य हो तो प्रान्तीय साहित्यों तक सीमित रहने की ज़रूरत नहीं है और शायद एकाध प्रदेश और भाषा का साहित्य तो उपेक्षणीय भी हो सकता है। हमारा विचार है कि प्रान्तीय साहित्यों का अध्ययन समूची जनता को समझने के लिये होना चाहिए। वे सभी भौगोलिक, ऐतिहासिक, भाषागत और जातिगत विशेषताएँ हमारे अध्ययन की वस्तु होनी चाहिए जिन्होंने किसी प्रान्त को अलग व्यक्तित्व दिया है। इस दृष्टि से लोक-गाथाएँ, लोक-गीत, पूजा-पार्वण की विधियाँ, रीतिरस्म, लोकोक्तियाँ, व्यवस्थापक निबंध, धार्मिक प्रेरणा देनेवाले पुराण ग्रन्थ और शास्त्रीय सिद्धान्तों तथा पौराणिक कथाओं की लोकप्रचलित व्याख्याएँ—आदि विषय बड़े यत्न से अध्ययन किए जाने चाहिए। सुप्रसिद्ध जर्मन पंडित जार्ज वूलर ने सन् १८९७ ई० में भारतीय विद्या के सर्वाङ्गीण अध्ययन के लिये एक योजना बनाई थी जो तीस देशी-विदेशी विद्वानों के सहयोग से परिचालित की गई। इस योजना के अनुसार अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में जो पुस्तकें लिखी गई हैं, वे भारतीय-विद्या-प्रेमियों के अपूर्व अध्यवसाय की उत्तम निदर्शन हैं। हमारा प्रान्तीय

साहित्यों का अध्येतव्य वही तो नहीं होना चाहिए जो इन पंडितों का था, परन्तु हमारा उत्साह और अध्यवसाय वैसा ही होना चाहिए। इन पंडितों का प्रयत्न शास्त्रीय था क्योंकि वे अधिकतर भारतीय साहित्य के प्राचीन अंगों से ही संबद्ध थे। परन्तु हमारा प्रयत्न रचनात्मक होना चाहिए। प्रान्तीय साहित्यों का अध्ययन भावी भारतीय समाज को दृष्टि में रखकर हो तो अच्छा है; क्योंकि इस समय जो साहित्य बन रहा है वह प्राणवान् वस्तु है, उसमें विकास होने की संभावना है, जब कि प्राचीन विद्याओं की सीमा निश्चित हो चुकी है। 'विश्वभारती पत्रिका' अपनी शक्ति भर इस दिशा में प्रयत्न करेगी। इसी अंक में श्रीक्षितिमोहन सेन शास्त्रीजी के लेख से हम इसका श्रीगणेश कर रहे हैं। अपने देश के विद्वान् लेखकों का ध्यान हम इस ओर आकृष्ट करते हैं।

—ह० द्वि०

गुरुदेव हमारे साथ हैं

२५ जुलाई १९४१ को जब गुरुदेव को उनके अन्तिम आपरेशन के लिये कलकत्ता ले जाया गया, उस समय आश्रमवासी उनके दर्शनों के लिये चुपचाप उनके वासस्थान के बाहर खड़े हो गए। उनके हृदय दुःख से पूर्ण थे क्योंकि उन्हें ऐसा ख्याल हो गया था कि वे गुरुदेव को फिर नहीं देख सकेंगे। गुरुदेव की मोटर-बस जब बोलपुर के लिये रवाना हुई तो उनकी आँखों में आँसू भर आए। ये आंसू ऋषि कण्व के उन आसुओं की याद दिला रहे थे जो शकुन्तला को विदा करते समय उनकी आँखों में उमड़ आए थे। गुरुदेव शायद यह अनुभव कर रहे थे कि वे फिर इस आश्रमरूपी शकुन्तला को न देख सकेंगे। शान्तिनिकेतन आश्रम को उन्होंने अपने प्राणरस से पाला था, इसके ऊपर उनकी जो ममता थी वह पिता की ममता के समान ही थी। परन्तु ये आँसू क्यों उमड़े? गुरुदेव ने मृत्यु का तत्त्व अच्छी तरह जान लिया था, उन्होंने कितनी ही बार कहा था कि मृत्यु अनन्त का द्वार खोल देती है, उसका स्वागत करना चाहिए, क्योंकि केवल अनन्त में ही सच्चा और स्थायी आनंद है। निश्चय ही प्रेम भी अनन्त का द्वार खोल देता है। गुरुदेव के आँसू मृत्यु के भय से नहीं उमड़े थे, वे प्रेम के अश्रु थे, वे उस शाश्वत सत्य का दरवाज़ा खोल देते थे जो सच्चे और स्थायी आनंद का आश्रय है।

लेकिन उन आँसुओं में दुःख का क्या एक अंश भी नहीं था? एक बार पूछे जाने पर उन्होंने बताया था कि वे स्वर्ग की अपेक्षा पृथ्वी को ही अधिक प्रेम करते हैं क्योंकि स्वर्ग में दुःखहीन, वेदनारहित जो आनंद है उसकी कोई कीमत नहीं हो सकती, किन्तु पृथ्वी पर जो आनंद है वह दुःख और वेदना के मिश्रण से बहुमूल्य हो गया है। अपनी एक कविता में उन्होंने लिखा था :—

> …हे सुरलोक आनंदित रहो, हँसते रहो, हे देवगण, पीते रहो पीयूष। यह पुर है तुम्हारे सौख्य का आगार, परदेशी कि हम हैं मर्त्य की सन्तान। प्यारी मर्त्यभूमि कभी नहीं है स्वर्ग, वह है मातृ-भू अनमोल; उसके नयन से झरती रहेगी अश्रुधारा, छोड़ यदि आवें उसे दो दिवस के भी बाद हम दो दण्ड के भी लिये। जितने भी न क्यों हों क्षुद्र, जितने दीन-हीन-अपात्र, जितने पापतापग्रस्त, सब को व्यग्र आलिंगन-जड़ित कर

माँ निरन्तर बाँधना है चाहती, जाती जुड़ा छाती लगाती प्रेम से जब धूलिधूसर मलिन अंगों को। बहे, हे देवगण, तब स्वर्ग में पीयूष की धारा; हमारे मर्त्य में सुख-दुःख-मिश्रित प्रेमधारा रहे, जो निज अश्रुजल से सींचकर भूलोक के स्वर्गीय खंडों को सदा श्यामल बनाए रहे!

यह तो स्पष्ट ही है कि जो व्यक्ति 'सुख-दुःख-मिश्रित प्रेमधारा' का उपासक था उसके आँसू दिल की कमजोरी के आँसू नहीं हो सकते, वे उसके अगाध प्रेम के निदर्शक थे। वैराग्य-साधन की मुक्ति को वे पसंद नहीं करते थे, योगबल से समस्त द्वन्द्वों से अपने को मुक्त कर लेना उनका अभीष्ट नहीं था क्योंकि ऐसा करना संसार से भागना होता। वे बार बार कह गए हैं कि मैं इस जगत् का होकर ही रहूँगा, मैं केवल एक ही साधना हूँ—प्रेम। मेरी इस प्रेम साधना के तीन पात्र हैं—सत्यं, शिवं, सुन्दरं। इन तीनों का समन्वय मैं मनुष्य में पाता हू, इसीलिये मनुष्य के प्रेम में ही भगवान् का प्रेम है। गुरुदेव की आँखों में उमड़े हुए आँसू इस बात के साक्षी हैं कि अब भी वे चिन्मय रूप में हमारे साथ हैं।

—गुरुदयाल मल्लिक

बापू के आशीर्वाद

इस शुभ प्रयत्न में हमें पूज्य बापू के आशीर्वाद प्राप्त हुए हैं। गुरुदेव अपनी अन्तिम अवस्था में अपना आशीर्वाद हमारे लिये रख गए थे और अब पूज्य बापू के आशीर्वाद भी प्राप्त हो गए हैं। इन दो महान् वरदानों से हमारा उत्साह जहाँ कई गुना बढ़ गया है वहाँ हमारी जवाबदेही में भी उसी अनुपात में वृद्धि हो गई है। आज हम इतना ही निवेदन कर देना पर्याप्त समझते हैं कि अपनी शक्ति और सामर्थ्य भर हम सदा इन दो स्नेहमय आशीर्वादों के उपयुक्त पात्र होने का प्रयत्न करते रहेंगे।



विश्वभारती पत्रिका

चैत्र, १९९९ | खण्ड १, अंक २ | अप्रैल, १९४२

आज मृत्यु मर रही है, इतिहास बन रहा है

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

एक बार विचार कर देखो तो सही, हम जब यहाँ आनन्द-उत्सव मना रहे हैं, ठीक उसी समय समुद्र-पार मनुष्य के साथ मनुष्य का कैसा दारुण युद्ध चल रहा है। वहाँ आज के इस प्रातःकाल का आलोक क्या देख रहा है,—किस भयंकर प्रलय की बिभीषिका को! वहाँ इसी प्रलय की बिभिषिका पर खड़ा होकर मनुष्य अपने मनुष्यत्व का प्रचार कर रहा है—वहाँ इतिहास की पुकार आई है, उस पुकार को सुन कर सब लोग निकल पड़े हैं। किसने ग़लती की है, किसने नहीं; कौन किस बात के लिये कितना जवाबदेह है, कौन नहीं; दूर रहने दो इस विचार को। किन्तु इतिहास ने पुकारा है, यह सही है; उस पुकार को जर्मनों ने सुना है, अंगरेजों ने सुना है, फ्रांसीसियों ने सुना है, बेलजियनों ने सुना है, रूसियों ने सुना है। इतिहास के भीतर से इतिहास के देवता अपनी पूजा ग्रहण करेंगे; इस युद्ध में उस महादेव का वही उत्सव चल रहा है। यह नहीं होने का कि कोई जाति अपने राष्ट्रीय स्वार्थ को पुंजित कर के अपनी राष्ट्रीयता को सँकरी कर दे, इतिहास-विधाता का यही आदेश है। मनुष्य राष्ट्रीय-दानव के पदतल में इतने दिनों से नर-बलि का उद्योग कर रहा है, इसीलिये आज उस अप-देवता का मंदिर तोड़ देने का हुक्म हुआ है। इतिहास-विधाता कहते हैं—तुम सबको इस स्वार्थ-दानव के मंदिर की दीवालें तोड़ देनी होंगी, यह नर-बलि अब नहीं चलेगी। हुक्म मिलते ही तोप के गोले तड़ातड़ आकर उस मंदिर की दीवालों को चूर्ण करने में जुट गए हैं। वीरों का दल अपने रक्त-पद्म का अर्घ्य लेकर उस इतिहास-विधाता की पूजा के लिये निकल पड़ा है। जो लोग आराम में थे वे आराम को धिक्कार देकर कहने लगे हैं—प्राणों से चिपके नहीं रहेंगे, मनुष्य के पास प्राणों से भी बड़ी कोई चीज़ है। आज तोपों के गर्जन में मानव का जय-संगीत बज उठा है। माताएँ रो उठी हैं, स्त्री-पुत्र अनाथ होकर

छाती कूट रहे हैं और इसी क्रन्दन के ऊपर खड़ा होकर उत्सव चल रहा है। जिस समय वाणिज्य-व्यवसाय चल रहा था, घर में पैसा भर रहा था, राज्यों और साम्राज्यों को छा कर प्रताप व्याप्त हो रहा था,उसी समय पुकार आई—निकल आना होगा। महेश्वर ने जब अपने पिनाक में रुद्र टंकार भरा है तब मां को रो कर कहना पड़ा है जाओ! स्त्री को रोते रोते अपने ही हाथों पति को कवच पहना देना पड़ा है। समुद्र के उस पार आज मरण-यज्ञ में यही प्राणों का महोत्सव चल रहा है।

उस उत्सव की आवाज़ क्या हमारे इस उत्सव में नहीं पहुँची है? डरा हुआ मनुष्य, आराम के लिये लालायित मनुष्य, जो प्रतिदिन अपने तुच्छ स्वार्थ के लिये छीना-झपटी करता रहा है,—किसने उसके कानों में यह मंत्र फूंक दिया है, सब छोड़-छाड़कर झाड़-फटकार कर निकल आओ! जिनके हाथों 'और-भी'-का भाण्डार है उन्होंने ही कहा है, आओ, मृत्यु की अवहेलना करके निकलो तो सही! विराट् वीर मनुष्य का यही परिचय है, जो मनुष्य आज 'और-भी' के अमृत-पान के लिये उन्मत्त होकर दौड़ पड़ा है उसका परिचय हम क्या आज भी न पाएँगे? हमने क्या इस देश में अपदेवता की मूर्ति तैयार करके षोड़शोपचार से उसकी पूजा नहीं की? उसकी वेदी पर हमने मनुष्य की बुद्धि को और शक्ति को क्या बलि नहीं चढ़ाई है? जिस अज्ञान के मोह से मनुष्य मनुष्य को घृणा करके दूर हटाता है उस मोह के मंदिर को, उस मूढ़ता के देवालय को क्या हमें ढहा नहीं देना है? हमारे सामने वही लड़ाई क्या नहीं है? याद रखो हमें अपनोंकी ही मार खानी होगी। हम दुःख को स्वीकार करेंगे, अपमान, निन्दा और व्यंग्य की चोट सहेंगे, पर इससे डरेंगे नहीं।

आज जो संसार भर में क्रन्दन चल रहा है उसमें डर का सुर नहीं है; उसके भीतर से इतिहास तैयार हो रहा है—इसीमें इतिहास-विधाता का आनंद है। यह क्रन्दन उन्हींमें शान्त हो रहा है। उन्हीं शान्तं शिवं अद्वैतं के भीतर मृत्यु मर रही है। उन्होंने अपने हाथों मनुष्य के ललाट पर जयतिलक की टीका लगाई है, वे ही विच्छेद और विरोध के मध्यस्थल में खड़े हैं। देखो, यात्री जिधर चल पड़े हैं, मृत्यु का झंकार जिधर प्रतिध्वनित है, वहीं विराजमान हैं शान्तम् शिवम् अद्वैतम्। आज उस रुद्र के दक्षिण हाथ का आशीर्वाद ग्रहण करो। रुद्र की प्रसन्न हँसी तभी दिखाई देती है जब वे देखते हैं कि उनकी वीर सन्तान दुःख की परवा नहीं कर रही। उसी समय उनके प्रसन्न मुख की हास्यच्छटा विकीर्ण होकर समस्त विश्व को सत्य-ज्योति से अभिषिक्त कर देती है। ऐसा हो कि रुद्र की वह प्रसन्नता आज उत्सव के दिन हमारे जीवन पर बिखर पड़े।

(सं० १९७१ के पौषोत्सव-संबंधी प्रवचन से)

तथ्य और सत्य

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

साहित्य या कला की रचना में मनुष्य के जिस प्रयत्न का प्रकाश होता है, उसके साथ कोई कोई विचारक उसके खेलने की प्रवृत्ति को एक करके देखते हैं। वे कहते हैं कि खेलने में किसी प्रयोजन-सिद्धि की ज़रूरत नहीं होती, उसका उद्देश्य विशुद्ध अवसर-विनोदन या मौज के साथ समय काटना है, साहित्य और ललित कला का भी यही उद्देश्य है। इस संबंध में मुझे कुछ कहना है।

मैंने एक बार कहा था कि हमारी सत्ता का एक पहलू प्राण-धारण करना या बचा रहना है। उसके लिये हमारे कितने ही स्वाभाविक वेग-आवेग हैं; इन्हींके तक़ाज़े पर बच्चे बिछौने पर पड़े पड़े हाथ पैर हिलाते रहते हैं, और और भी बड़े होकर बेमतलब दौड़-धूप करते रहते हैं। जीवन-यात्रा में शरीर को व्यवहार करने के प्रयोजन से प्रकृति इस प्रकार की अनर्थकता का भान कर हमें शिक्षा देती रहती है। छोटी लड़की, जो मातृभाव लेकर जनमी है, उस भाव की परिचालना के लिये ही गुड़िया के साथ खेलती है। प्राणधारण के क्षेत्र में जिगीषा-वृत्ति अर्थात् विजयी होने की इच्छा एक प्रधान अस्त्र है। इसीलिये प्रकृति की प्रेरणा से लड़के प्रतियोगिता के खेलों में इस वृत्ति पर सान देते रहते हैं।

इस प्रकार के खेलों में हमें विशेष आनंद मिलता है; इसका कारण यह है कि प्रयोजन-साधन के लिये हम जिन प्रवृत्तियों के साथ जनमे हैं उन्हें प्रयोजन के उपस्थित उत्तरदायित्व से मुक्त करके इन खेलों में प्रकाश कर सकते हैं। यही फलासक्तिहीन कर्म है; यहां कर्म ही चरम लक्ष्य है, खेलने में ही खेल का अवसान है। फिर भी खेलने की वृत्ति और प्रयोजन-साधन की वृत्ति मूल में एक ही हैं। इसीलिये खेल में भी जीवन-यात्रा की नक़ल आ जाती है। कुत्ते के जीवन में जिस लड़ाई का प्रयोजन है उसीका अनुकरण दो कुत्तों के खेल में दिखाई पड़ता है। बिल्ली का खेल चूहे के शिकार की नक़ल है। खेल का क्षेत्र जीवन-यात्रा के क्षेत्र का ही प्रतिरूप है।

दूसरी तरफ़, जिस प्रकाश-चेष्टा का मुख्य उद्देश्य अपने प्रयोजन के रूप को नहीं बल्कि विशुद्ध आनन्दरूप को व्यक्त करना है, उस चेष्टा के ही साहित्य-संबंधी फल को मैंने रस-साहित्य नाम दिया है। जीवित बचे रहने के लिये हमारे पास जो मूलधन है उसीका एक उद्वृत्त अंश

लेकर हम साहित्य में जीवन-व्यवसाय की ही नक़ल किया करते हैं, ऐसा कहने के लिये मेरा मन उत्साहित नहीं हो रहा है। कविता का विषय जो कुछ भी क्यों न हो, यहाँ तक कि वह अगर कोई दैनिक तुच्छ व्यापार भी हो, तो भी उस विषय को ही शब्द-चित्र में नक़ल करके व्यक्त करना उसका उद्देश्य कदापि नहीं है।

विद्यापति ने लिखा है—

जब गोधूलि समय वेलि
धनि मन्दिर बाहिर भेलि,
नव जलधरे विजुरि-रेहा द्वन्द्व पसारि गेलि।

सायंकाल गोधूलि-वेला में पूजा समाप्त करके बालिका मंदिर से निकलकर घर को लौटती है—हमारे देश में सांसारिक काजकर्म में यह घटना नित्य ही घटती रहती है। यह कविता क्या शब्द-रचना द्वारा उसीकी पुनरावृत्ति है? जीवन-व्यापार में जो बातें घटा करती हैं, उन्हींको व्यवहार की जवाबदेही से मुक्त करके कल्पना द्वारा उपभोग करना ही क्या इस कविता का लक्ष्य है? मैं यह बात कभी भी स्वीकार नहीं कर सकता। वस्तुतः बालिका मंदिर से निकलकर घर को चली है, यह विषय इस कविता की प्रधान (प्रतिपाद्य) वस्तु नहीं है। इस विषय को केवल उपलक्ष्य करके छन्द से, पदसंघट्टना से, वाक्य-विन्यास से, उपमा-संयोग से जो एक समग्र वस्तु तैयार हुई है, वही असली चीज़ है। वह वस्तु मूल विषय के अतीत है, वह अनिर्वचनीय है।

अंग्रेज़ कवि कीट्स ने एक ग्रीक-पूजापात्र को उद्देश्य करके कविता लिखी है। जिस शिल्पी ने उस पात्र की रचना की थी उसने तो केवल आधार की ही रचना नहीं की थी; मंदिर में केवल अर्घ्य ले जाने का सुयोग घटाने के लिये ही इस पात्र की सृष्टि नहीं हुई थी। इससे प्रयोजन-साधन तो ज़रूर हुआ था पर प्रयोजन में ही यह निःशेष नहीं हो गया। उससे यह अनेक स्वतंत्र है, अनेक बड़ा है। ग्रीक शिल्पी ने सुषमा को, पूर्णता के एक आदर्श को प्रत्यक्षता दान की है, रूपलोक में अरूप को व्यक्त किया है। उसने कोई संवाद नहीं दिया, बाह्य संसार की किसी वस्तु-विशेष का अनुकरण नहीं किया। अन्तर के अहैतुक आनंद को बाहर प्रत्यक्षगोचर करने के द्वारा उसे पर्याप्ति दान करने की जो चेष्टा है, उसे खेल न कहकर लीला कहा जा सकता है। वह हमारी रूप-सृष्टि करने की वृत्ति है; प्रयोजन-साधन की वृत्ति नहीं है। उसके साथ मनुष्य के नित्यकर्म के दैनिक जीवन का संबंध रह भी सकता है; किन्तु वह अवान्तर है।

हमारे आत्मा में अखण्ड ऐक्य का आदर्श है। हम जो कुछ जानते हैं वह किसी-न-किसी ऐक्य-सूत्र से जानते हैं। कोई भी जानकारी अपने आप में एकान्त स्वतंत्र नहीं है। जहाँ कहीं भी हमारे पाने में या जानने में अस्पष्टता दिखाई देती है, वहीं, मेरी समझ में, उसका कारण है—मिलाकर नहीं जान सकना। हमारे आत्मा में, ज्ञान में और भाव में यह जो 'एक' का विहार है, वही 'एक' जब लीलामय होता है, जब वह सृष्टि के द्वारा आनंद पाना चाहता है, तब वह उस एक को बाहर सुस्पष्ट कर देना चाहता है। तब विषय को उपलक्ष्य करके, उपादान को आश्रय करके एक अखण्ड 'एक' व्यक्त हो उठता है। काव्य में, गीत में, शिल्पकला में, ग्रीक शिल्पी के पूजा-पात्र में विचित्र रेखा के आवर्तन में, जब हम परिपूर्ण 'एक' को चरम रूप में देखते हैं, तब हमारी अन्तरात्मा के 'एक' के साथ बहिर्लोक के 'एक' का मिलन होता है। जो मनुष्य अरसिक है वह इस चरम एक को नहीं देख पाता, वह केवल उपादान की ओर से, प्रयोजन की ओर से इसका मूल्य आँका करता है।

"शरद चंद पवन मंद
विपिने बहल कुसुम गंध,
फुल्ल मल्लि मालती यूथि
मत्त मधुप भोरनी।"

विषय भाव काव्य और छन्द के निविड़ सम्मेलन के द्वारा यदि इस काव्य में 'एक' का रूप पूर्ण होकर दिखाई दे, यदि उस 'एक' का आविर्भाव ही चरम होकर हमारे चित्त को अधिकार करे, यदि यह काव्य खण्ड खण्ड होकर उल्का वृष्टि के द्वारा हमारे मन को आघात न करता रहे और यदि ऐक्य-रस की चरमता को अतिक्रम करके और कोई उद्देश्य उग्र न हो उठे, तभी इस काव्य में हम सृष्टिलीला को स्वीकार करेंगे।

गुलाब के फूल से हम आनंद पाते हैं। वर्ण में, गंध में, रूप में, रेखा में इस फूल के भीतर हम एक की सुषमा देखते हैं। इसके भीतर हमारा आत्मा-रूपी एक अपनी आत्मीयता स्वीकार करता है, तब इसके और किसी मूल्य की ज़रूरत नहीं होती। अन्तर का एक बाहर के एक में अपने को पाता है इसीलिये मैंने इसका नाम दिया है—आनन्द रूप।

गुलाब के फूल में सुनिहित, सुविहित, सुषमायुक्त जो ऐक्य है, निखिल (विश्व) के अन्तर में भी वही ऐक्य है। समस्त (विश्व) के संगीत के साथ इस फूल के सुर का मेल है; निखिल ने इस सुषमा को अपना मानकर ग्रहण किया है।

इस बात को और एक तरफ़ से समझने का प्रयत्न किया जाय। मैं जब रुपया कमाना

चाहता हूँ तो मेरे रुपया कमाने की नाना भाँति की चेष्टाओं और चिन्ताओं के भीतर एक एकता वर्तमान रहती है। विचित्र प्रयास के भीतर केवल एक ही लक्ष्य की एकता अर्थकामी को आनंद देती है। किन्तु यह ऐक्य अपने उद्देश्य में ही खण्डित है, निखिल की सृष्टि-लीला से युक्त नहीं है। पैसे का लोभी विश्व को टुकड़े टुकड़े करके—झपट्टा मारकर—अपनी धनराशि इकट्ठी करता रहता है। इसीलिये उपनिषद् में जहाँ कहा गया है कि निखिल विश्व को एक के द्वारा पूर्ण करके देखो, वहीं यह भी कहा है कि 'मा गृधः'—लोभ मत करो। क्योंकि लोभ के द्वारा एक की धारणा से, एक के आनंद से वञ्चित होना पड़ता है। लोभी के हाथ में कामना की वह लालटेन होती है जो केवल एक विशेष संकीर्ण स्थान पर अपने समस्त प्रकाश को संहत करती है—बाकी सभी स्थानों से उसका असामञ्जस्य गभीर अन्धकार के रूप में घनीभूत हो उठता है। अतएव लोभ के इस संकीर्ण ऐक्य के साथ सृष्टि के ऐक्य का, रस-साहित्य और ललित-कला के ऐक्य का संपूर्ण प्रभेद है। निखिल को छिन्न करने से लोभ होता है और निखिल को एक करने से रस होता है। लखपती महाजन रुपये की थैली लेकर भेद की घोषणा करता है; गुलाब निखिल का दूत है, वह 'एक' की वार्ता लेकर फूट उठता है। जो 'एक' असीम है वही गुलाब के नन्हे-से हृदय को परिपूर्ण करके विराजता है। कीट्स अपनी कविता में निखिल 'एक' के साथ ग्रीक पात्र के ऐक्य की बात बता गए हैं। उन्होंने कहा है—

Thou silent form, dost tease us out of thought,
As doth eternity.

हे नीरव-मूर्ति, तुम हमारे मन को व्याकुल करके समस्त चिन्ता के बाहर ले जाते हो, जैसा कि असीम ले जाया करता है। क्योंकि अखण्ड 'एक' की मूर्ति जिस आकार में ही क्यों न रहे, असीम को ही प्रकाश करती है; इसीलिये वह अनिर्वचनीय है, मन और वाक्य उसका कूल-किनारा न पाकर लौट आया करते हैं।

असीम एक की वही अभिलाष जो ऋतुओं की शाखा में और फूल-फूल में पूर्ण होकर भी निःशेषित नहीं हुई, वह सृष्टि की अभिलाष ही तो रूपदक्ष की कारुकला के भीतर आविर्भूत होकर हमारे चित्त को चिन्ता के बाहर उदास करके ले जाती है। असीम एक की आकृति ही तो वह वेदना है जिसके विषय में वेद ने कहा है कि वह समस्त आकाश को व्यथित किए हुए है। वह "रोदसी" "क्रन्दसी"—वह रो रही है। सृष्टि का यह क्रन्दन प्रत्येक रूप में, प्रत्येक आलोक में, आकाश के कोने कोने में, नाना आवर्तनों के रूप में आवर्तित हो रहा है—सूर्य में चंद्र में ग्रह में नक्षत्र में, अणु में परमाणु में, सुख में दुःख में, जन्म में मृत्यु में। समस्त आकाश का वह क्रन्दन मनुष्य के अन्तर में भी आकर बज रहा है। समस्त आकाश का

वह क्रन्दन ही एक सुन्दर जल-पात्र की प्रत्येक सूक्ष्म रेखा में निःशब्द होकर स्थित दिखाई देता है। इस पात्र में असीम आकाश के अमृत निर्झर को भरना होगा, इसीलिये कलाकार के मन में पुकार आई थी ; अव्यक्त गभीरता से अनिर्वचनीय की रस-धारा है वह। इस प्रकार जो रस मनुष्य के पास आएगा वह शरीर की प्यास मिटाने के काम तो नहीं आयगा। शरीर की प्यास मिटाने के लिये जो जल आवश्यक है उसके लिये घड़ा हो, भाण्ड हो, गन्डूष हो, कुछ भी क्यों न हो, कुछ आता-जाता नहीं। ऐसे सुंदर पात्र की क्या जरूरत थी? कितनी सुंदर इसकी रचना है, कितने रंगों से यह रँगा गया है! इसे यदि कोई समय नष्ट करना कहे तो प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। रूपदक्ष (कलाकार) ने इस एक घड़े के ऊपर अपने चित्त को निःशेष करके ढाल दिया है, कह सकते हो सारा का सारा व्यर्थ ही खर्च हुआ। यह बात मैं मानता हूँ। सृष्टि के फिजूल खर्च के विभाग के लिये ही असीम का खास-खजाना है। वहाँ सारे रंगों की रंगिमा है, रूप की भंगिमा है। जो लोग नफ़े का हिसाब रखते हैं, वे कहते हैं कि यह नुकसान हुआ ; जो संन्यासी हैं, वे कहते हैं यह असंयम हुआ। विश्वकर्मा अपनी हथौड़ी लेकर व्यस्त हैं, इस तरफ ताकते भी नहीं, विश्वकवि इस फिजूल-खर्च के विभाग में अपनी थैली मानों बराबर झाड़-झाड़कर देते रहते हैं, फिर भी रस का व्यापार आज भी दिवालिया नहीं हुआ।

शरीर की प्यास के सिवा एक और भी प्यास मनुष्य को लगती है। संगीत, चित्र, साहित्य मनुष्य के हृदय के संबंध से उस प्यास का ही ज्ञान करा रहे हैं। भूलने का उपाय नहीं है क्योंकि वह अन्तरवासी 'एक' की वेदना है। वह कहता है—मुझे बाहर प्रकाश करो, रूप में, रंग में, सुर में, वाणी में, नृत्य में। तुममें से जो जैसे कर सकता हो, वैसे ही मेरी अव्यक्त व्यथा को व्यक्त कर दो। यह व्याकुल प्रार्थना जिसके हृदय के गभीर तल में आ पहुँची है, वह आफ़िस की चिन्ता, व्यवसाय का तक़ाज़ा, हितैषी का कड़ा हुक्म सब को ठेल-ठाल-कर चलता बना है। कुछ नहीं तो एक तम्बूरा हाथ में लेकर घर छोड़ बाहर हो आया है। कौन जानता है वह क्या करने वाला है। वह कौन है जो उसके हृदय में सुरों और रागों का समूह ध्वनित कर देगा? वह तो वह प्रकृति नहीं है जिसे विज्ञान प्रकृति कहा करता है। प्राकृतिक निर्वाचन के जमा-खर्च की बही में उसका हिसाब नहीं मिलता। प्राकृतिक निर्वाचन ने उसके जठर में हुक्म जारी किया है। परन्तु मनुष्य क्या पशु है जो प्राकृतिक निर्वाचन के चाबुक की चोट खा कर प्रकृति के निर्दिष्ट रास्ते पर चलेगा? लीलामय मनुष्य ने प्रकृति को पुकारकर कहा—मैं रस-विह्वल हूँ, तुम्हारा ताबेदार नहीं हूँ, अपना चाबुक तुम पशुओं की पीठ पर लगाओ। मैं धनी होना नहीं चाहता, पहलवान होना भी नहीं चाहता। मेरे भीतर वही वेदना है जो निखिल के अन्तर में वर्तमान है। मैं लीलामय का साझेदार हूँ।

यह बात जाननी होगी कि मनुष्य क्यों चित्र बनाने और क्यों गान करने बैठता है। कभी कभी जब मैं अपने मन से गान करने बैठा हूँ तब कीट्स की भांति ही एक गभीर प्रश्न ने मुझे भी व्याकुल किया है—मैंने पूछा है—यह क्या केवल एक माया है या इसका कोई अर्थ भी है ? गान के सुर में अपने को बहा दिया और सब चीज़ों का मूल्य जैसे एक ही क्षण में बदल गया। जो अकिञ्चित्कर था वह भी अनुपम हो उठा। क्यों ?—क्योंकि गान के सुर के प्रकाश में इतनी देर के बाद सत्य को देखा है। अन्तर में सदा यह गान की दृष्टि नहीं होती इसीलिये सत्य तुच्छ होकर हट जाता है। सत्य के छोटे बड़े सभी रूप ही जो अनिर्वचनीय हैं—यह बात हम अनुभव नहीं कर पाते। नित्य-अभ्यास का स्थूल पर्दा उसकी दीप्ति को ढक देता है। सुर का वाहन उस पर्दे के अन्तराल में, सत्यलोक में हमें ले जाता है,—वहाँ पैदल चलकर नहीं जाया जा सकता, उस रास्ते को किसी ने चर्म-चक्षु से नहीं देखा।

मेरी बात में शायद कवित्व कुछ अधिक लग रहा है। पाठक मन ही मन सोच रहे हैं कि यह कुछ बढ़ाबढ़ी हो रही है, ज़रा समझाकर कहने का प्रयत्न करूँ। हमारा मन जिस ज्ञानराज्य में विचरण कर रहा है वह दो-मुँहा पदार्थ है, उसकी एक ओर है तथ्य और दूसरी ओर सत्य। जैसा है वैसे ही भाव को तथ्य कहते हैं और वह तथ्य जिसे अवलंबन करके टिका है, वह है सत्य। मुझ में जो मैं बँधा हुआ है वही मेरा व्यक्ति-रूप है। यह तथ्य अन्धकार का वाशिंदा है, वह अपने को स्वयं प्रकाश नहीं कर सकता। जभी इसका परिचय पूछा जायगा तभी वह परिचय एक ऐसे बड़े सत्य के द्वारा दिया जायगा जिसे आश्रय करके यह टिका हुआ है। कहना होगा, मैं बंगाली हूँ, लेकिन बंगाली है क्या ? वह तो एक अवच्छिन्न पदार्थ है, जो न छुआ जा सकता हैं, न पकड़ा जा सकता है। तथापि उस व्यापक सत्य के द्वारा ही उसका परिचय दिया जा सकता है। तथ्य खण्डित और स्वतंत्र है—सत्य के भीतर ही वह अपने बृहत् ऐक्य को प्रकाशित करता है। मैं व्यक्तिगत मैं हूँ, इस छोटे-से तथ्य के भीतर, मैं मनुष्य हूँ—इस सत्य को जब मैं प्रकाश करता हूँ, तभी विराट् एक के आलोक से नित्यता के भीतर में उद्भासित होता हूँ। तथ्य के सत्य का प्रकाश ही प्रकाश है।

चूँकि साहित्य और ललित कला का काम ही प्रकाश करना है इसलिये तथ्य के पात्र को आश्रय करके हमारे मन को सत्य का स्वाद देना ही उसका प्रधान काम है। यह स्वाद एक का है, असीम का है। मैं व्यक्तिगत मैं हूँ यह मेरी सीमा की ओर की बात है, यहाँ मैं व्यापक 'एक' से विच्छिन्न हूँ ; किन्तु मैं मनुष्य हूँ, यह मेरे असीम की ओर की बात है, यहाँ मैं विराट् एक के साथ युक्त होकर प्रकाशमान हूँ।

चित्री जब चित्र बनाने बैठता है तो वह तथ्य की खबर देने के उद्देश्य से नहीं बैठता।

उस समय वह तथ्य को उतना ही स्वीकार करता है जितने से उसको उपलक्ष्य करके कोई एक सुषमा का छन्द विशुद्ध होकर दिखाई देता है। यह छन्द विश्व की नित्य वस्तु है; इसके ऐक्य-सूत्र में ही तथ्य के भीतर से हम सत्य का आनन्द पाया करते हैं। इस विश्व-छन्द से यदि उद्भासित न हो तो तथ्य हमारे लिये बे-काम की चीज़ है, अकिञ्चित्कर है।

गोधूलिकाल में एक बालिका मंदिर से निकल आई, यह तथ्य हमारे निकट अत्यन्त सामान्य है। इस संवाद के सहारे ही यह चित्र हमारे सामने स्पष्ट नहीं खिंच जाता, हम मानों सुनकर भी नहीं सुनते, एक चिरन्तन एक-रूप में वह वस्तु हमारे मन में स्थान नहीं पाती। यदि कोई 'मान-न-मान मैं तेरा मेहमान'—भला आदमी हमारा ध्यान खींचने के लिये इस खबर को फिर से सुनाने लगे तो हम खीझकर कहेंगे—'बालिका अगर मंदिर से निकल आई तो हमारा क्या?' अर्थात् हम अपने साथ उसका कोई संबंध अनुभव नहीं कर रहे हैं, इसीलिये यह घटना हमारे लिये सत्य ही नहीं है। किन्तु ज्योंही छन्द सुर और उपमा के योग से यह मामूली बात सुषमा (सौन्दर्य) के एक अखण्ड ऐक्य के रूप में संपूर्ण होकर प्रकट हुई, त्योंही यह प्रश्न शान्त हो गया कि 'इससे हमारा क्या'। क्योंकि जब हम सत्य का पूर्ण रूप देखते हैं तब उसके साथ व्यक्तिगत संबंध के द्वारा आकृष्ट नहीं होते, सत्यगत संबंध के द्वारा आकृष्ट होते हैं। गोधूलि के समय बालिका मंदिर से निकल आई, इस बात को तथ्य के तौर पर यदि पूरा करना होता तो शायद और भी अनेक बातें कहनी पड़तीं; आस-पास की बहुतेरी खबरें इसमें और जोड़ी जाने से रह गई हैं। कवि शायद कह सकता था कि उस समय बालिका को भूख लगी थी और वह मन ही मन मिठाई की बात सोच रही थी। बहुत संभव, उस समय यही चिन्ता बालिका के मन में सबसे अधिक प्रबल थी। किन्तु तथ्य जुटाना कवि का काम नहीं है। इसीलिये जो बातें बहुत ही ज़रूरी और बड़ी हैं वही कहने से रह गई हैं। यह तथ्य का बोझ जो कम हो गया है इसीलिये संगीत के बंधन में छोटी-सी बात इस तरह एकत्व के रूप में परिपूर्ण हो उठी है और कविता ऐसी सम्पूर्ण और अखण्ड होकर प्रकट हुई है, पाठक का मन इस सामान्य तथ्य के भीतरी सत्य को इस गहराई के साथ अनुभव कर सका है। इस सत्य के ऐक्य को अनुभव करते ही हम आनंद पाते हैं।

जो असल में गुणी है वह जब एक घोड़े का चित्र बनाता है तो वर्ण और रेखा के संस्थापन से एक सुषमा का उद्भावन करके उस घोड़े को एक सत्य के रूप में हमारे पास पहुँचा देता है, तथ्य के रूप में नहीं। उसमें से फिजूल की छोटी-मोटी सारी ब्यौरेवार बातें दूर हो जाती हैं। चित्र अपने ऐकान्तिक सत्य को प्रकट करता है। तथ्यगत घोड़े के बहुत आत्मत्याग के बाद यह ऐक्य बाधामुक्त होकर विशुद्ध रूप में व्यक्त होता है।

लेकिन फिर भी तथ्य को यह सुविधा प्राप्त है कि उसकी परीक्षा सहज है। इस बात के प्रमाण करने में देर नहीं लगती कि घोड़े का चित्र ठीक घोड़े की तरह ही है। घोर अरसिक भी घोड़े की कनपटी से लेकर उसकी पूँछ के अन्तिम सिरे तक हिसाब मिलाकर देख सकता है। हिसाब में यदि कहीं त्रुटि हुई तो गंभीरभाव से सिर हिलाकर नुक्ताचीनी करता है। चित्र में घोड़े को यदि घोड़ा ही भर दिखाना हो तो उसका हिसाब पूरा पूरा मिल जाता है। और घोड़ा अगर उपलक्ष्य हो और चित्र ही यदि लक्ष्य हो तो हिसाब को बही बन्द कर देनी पड़ती है।

वैज्ञानिक जब घोड़े का परिचय देना चाहता है तो उसे एक श्रेणीगत सत्य का आश्रय लेना पड़ता है। यह घोड़ा क्या है? यह एक विशेष श्रेणी में आनेवाला स्तन्यपायी चतुष्पद है। इस प्रकार की व्यापक भूमिका के भीतर ले आए बिना परिचय देने का कोई उपाय नहीं है।

साहित्य में भी और आर्ट में भी एक व्यापक भूमिका है। रस की भूमिका में इस बात का प्रमाण पाया जाता है कि साहित्य में और आर्ट में कोई सत्य वस्तु है और वह यदि ऐसे एक रूप-रेखा-गीत के सुषमा-युक्त ऐक्य को प्राप्त करे जिससे हमारा चित्त आनंद के मूल्य से उसे सत्य मान कर स्वीकार करले, तभी जाकर उसका परिचय संपूर्ण होता है। यह यदि न हो और फिर भी तथ्य के तौर पर वह बात एकदम शुद्ध हो तो यद्यपि अरसिक लोग उसे जयमाल्य दे सकते हैं तो भी रसिकगण उसे वर्जन ही करेंगे।

एक जापानी उस्ताद के चित्र में मैंने एक मूर्ति देखी थी जिसके सामने सूर्य है पर पीछे छाया नहीं है। सूर्य के सामने होने पर पीछे लंबी छाया का पड़ना एक ऐसी सहज बात है जिसे बच्चा भी जानता है। लेकिन वस्तुविद्या का समाचार देने के लिये चित्र की सृष्टि नहीं होती। कला-रचना में जो लोग डरते डरते तथ्य की मज़दूरी किया करते हैं वे भी क्या उस्ताद हैं?

अतएव रूप के क्षेत्र में रस के सत्य को प्रकट करनेवाले को तथ्य के दस्तखत से छुटकारा पा लेना पड़ता है। इसका उदाहरण एक बच्चों को फुसलानेवाली लोरी से दे रहा हूँ—

लल्ला आया नाव में,
लाल पनहिया पाँव में।

जूता-पदार्थ तथ्य के खाने में पड़ता है—इस विषय में कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है। चीनी मोची की दूकान पर नक़द पैसे देकर जो-कोई भी ठीक माप का पसन्द-माफ़िक जूता पा सकता है। किन्तु पनहिया? चीनी दूकानदार की तो बात छोड़ दीजिए, विलायती दूकानदार के बड़े मैनेजर को भी उसका पता नहीं मालूम। पनहिया का पता माँ जानती है और जानता है माँ

का लक्ष्य। इसीलिये इस सत्य को प्रकट करने के लिये 'जूता' शब्द की भद्रता का लिहाज़ छोड़ना पड़ा और 'पनहिया' को उसके आसन पर बैठाना पड़ा। इससे हमारा शब्द विक्षुब्ध हो सकता है तथापि तथ्य का जूता सत्य के क्षेत्र में नहीं चलता इसीलिये व्याकरण के डाँट-फटकार की भी उपेक्षा करनी पड़ी।

कविता में जिस भाषा का व्यवहार किया जाता है उसके प्रत्येक शब्द का कोष-व्याकरण-सम्मत एक अर्थ है। वह विशेष अर्थ ही शब्द की तथ्य-सीमा है। इस सीमा का अतिक्रम करके ही शब्द के भीतर से सत्य की असीमता को प्रकाशित करना पड़ता है। इसीलिये कितने इशारे, कितने ही कौशल और कितनी ही शैलियों का आश्रय लेना पड़ता है।

ज्ञानदास का एक पद याद आ रहा है :—

रूपेर पाथारे आँखि डुबिया रहिल।
यौवनेर वने मन पथ हाराइल॥

अर्थात्— रूप के समुद्र में निमज्जित नयन हुए,
यौवन के बन में भटक मग भूला मन।

तथ्य-वागीश इस कविता को सुनकर क्या कहेंगे ? यदि डूब ही मरना है तो जल का समुद्र है, 'रूप के समुद्र' का क्या मतलब हुआ ? और आँख यदि डूब ही गई तो रूप देखोगे किस इंद्रिय से ? और फिर यौवन का वन किस देश का वन है ? वह रास्ता कौन खोज निकालता है और खोजता है तो क्यों कर ? तथ्य खोजनेवालों को यह समझना चाहिए कि निर्दिष्ट शब्द के निर्दिष्ट अर्थों ने तथ्य का जो दुर्ग बना रखा है, नाना छल-बल और कौशल से उसीमें छेद करके, दरार बनाकर, नाना ओट में से सत्य को दिखाना होता है। कवि का काम यह नहीं है कि वह दुर्ग की ईंटों की गँथाई देखे। जो लोग तथ्य की ओर दृष्टि रखते हैं उनके हाथों कवियों की कैसी दुर्गति होती है इसका एक उदाहरण देता हूँ :

मैंने कविता में एक बौद्ध कहानी लिखी थी। कविता का विषय इस प्रकार था—

एकबार प्रभात काल में अनाथपिण्डद प्रभु बुद्ध के नाम पर श्रावस्ती नगरी के मार्ग में भिक्षा माँगते हुए चले जा रहे थे। धनियों ने धन दिया, सेठों ने रत्न दिए, राज-घराने की वधुओं ने हीरे-मोती के हार दे दिए। पर सब-कुछ राह में पड़ा रह गया, भिक्षा की झोली में कुछ भी नहीं आ सका। समय बीतता गया। नगर के बाहर सड़क के किनारे अनाथपिण्डद ने एक भिक्षुक लड़की को देखा। उसके पास कुछ भी नहीं था, केवल शरीर पर एक पुराना

वस्त्र था। पेड़ की ओट में खड़ी होकर उस लड़की ने उस वस्त्र को प्रभु के नाम पर दान कर दिया। अनाथपिण्डद ने कहा—बहुतों ने बहुत दिया है लेकिन सर्वस्व तो किसीने नहीं दिया। इतनी देर बाद मुझे प्रभु के योग्य दान मिला—मैं धन्य हुआ।

एक प्रवीण विज्ञ और लब्धप्रतिष्ठ सज्जन को उस कविता के पढ़ने से बड़ी लज्जा मालूम हुई थी, उन्होंने कहा था,—"यह कविता तो बालक-बालिकाओं के पढ़ने योग्य नहीं है।" ऐसा ही है मेरा नसीब! मेरी लँगड़ी क़लम को तो गढ़े में गिरना ही है!

मैंने बौद्ध धर्मग्रन्थ से अपनी कहानी जुटाई भी तो उससे साहित्य की आबरू नष्ट हो गई। नीतिनिपुण प्रवीण की आँखों में तथ्य ही बड़ा हो गया, सत्य ढँक गया। हाय रे कवि, एक तो भिखारिणी के पास से दान लेना ही तथ्य की दृष्टि से अधर्म है और फिर यदि अगत्या लेना ही पड़ा तो उसकी टूटी झोंपड़ी का फटी चटाईवाला ढाकन किंवा उसकी एकमात्र सम्पत्ति—मट्टी की हँड़िया लेने से तो आसानी से साहित्य की स्वास्थ्य-रक्षा हो सकती थी। तथ्य की ओर से इस बात को सिर झुकाकर मानना ही पड़ेगा। यहाँ तक कि यदि मेरे-जैसा कवि भीख माँगने निकलता तो कदापि ऐसा गर्हित कार्य नहीं करता और तथ्य की दुनिया में पागलखाने के बाहर ऐसी भिखारिन लड़की भी कहीं न मिलती जो सड़क के किनारे अपने शरीर पर का एकमात्र वस्त्र उतारकर दे दे। किन्तु सत्य की दुनिया में स्वयं भगवान् बुद्ध के प्रधान शिष्य ने ऐसी भिक्षा ली है और भिखारिणी ने ऐसी अद्भुत भिक्षा दी है। और फिर इसके बाद वह लड़की सड़क के उस किनारे से कैसे घर तक जायगी, यह तर्क सत्य की दुनिया से एकदम लुप्त हो गया है। तथ्य का इतना बड़ा अपलाप हो, फिर भी सत्य अणुमात्र भी खर्व न हो—साहित्य का क्षेत्र ऐसा ही है। रस-वस्तु और तथ्य-वस्तु का एक धर्म और एक मूल्य नहीं है। तथ्य-जगत् से जो आलोक-रश्मि दीवाल से टकराकर रह जाती है, वही रस-जगत् में स्थूल को भेदकर अनायास ही पार हो जाती है, उसके लिये मिस्त्री बुलाने या सेंध लगाने की ज़रूरत नहीं पड़ती। रस-जगत् में भिखारी का पुराना चिंथड़ा रहकर भी नहीं है और इसी प्रकार उसकी क़ीमत लक्षपति के समस्त ऐश्वर्य से भी अधिक है। ऐसा ही अन्धेर है यहाँ!

तथ्य-जगत् में एक अच्छा डाक्टर सब तरह से खूब योग्य व्यक्ति है। किन्तु उसके पास पैसा जितना ही अधिक क्यों न हो और उसकी डाक्टरी चाहे जैसी भी क्यों न चलती हो, उसके ऊपर चौदह लाइन की भी कविता नहीं लिखी जा सकती। कोई नौसिखुआ या उम्मीद-वार यदि लिख भी मारे तो इतने बड़े डाक्टर के साथ उस कविता का योग होने पर भी उसकी आयु चौदह दिन से अधिक नहीं हो सकती। इसलिये रस-जगत् की आलोक-रश्मि इतने बड़े डाक्टर के भीतर से भी पार होकर निकल जाती है। किन्तु इस डाक्टर को जिसने तनमन

से प्यार किया है उसके निकट डाक्टर रस-वस्तु होकर प्रकट होता है, महज़ दवा-दारू में निपुण चिकित्सक नहीं। रस-वस्तु होते ही उसी डाक्टर को देखकर उसका प्रेमासक्त अनायास ही कह सकता है—

जनम अवधि हम रूप निहारनु नयन न तिरपित भेल
लाख लाख युग हिये हिये राखनु तबु हिये जुड़न न गेल।

गणित-शास्त्री कहेंगे कि लाख-लाख युग पहले डार्विन के मत से डाक्टर की पूर्वतन सत्ता क्या थी; इस चर्चा का चलाना नीति-विरुद्ध न होने पर भी रुचि-विरुद्ध ज़रूर है। जो हो, सीधी बात यह है कि डाक्टर की कुण्डली में लाख-लाख वर्ष का हिसाब होना एकदम असंभव है।

तर्क करना फ़िज़ूल है क्योंकि बच्चा भी इस बात को जानता है। जो डाक्टर है, वह तो अभी उस दिन ही पैदा हुआ है, किन्तु जो प्रिय है वह तो नित्यकाल का हृदय-धन है। वह किसी समय नहीं था, या किसी समय नहीं रहेगा, यह बात तो मन में लाई भी नहीं जा सकती।

ज्ञानदास की दो पंक्तियाँ याद आ रही हैं—

एक दुइ गनइते अन्त नाहि पाइ।
रूपे गुणे रसे प्रेमे आरति बाढ़ाइ॥

अर्थात्— एक दो गिनता हुआ मैं अन्त पाता हूँ नहीं।
रूप-गुण, रस-प्रेम में आरति बढ़ाता सब कहीं।

एक-दो का क्षेत्र विज्ञान का क्षेत्र है किन्तु रस-सत्य के क्षेत्र में जो प्राण की आरति या वेदना बढ़ती रहती है वह अंक के हिसाब से नहीं बढ़ती। वहाँ एक-दो की बला नहीं है, पहाड़े का झमेला नहीं है।

अतएव काव्य के या चित्र के क्षेत्र में जो लोग सर्वे-डिपार्टमेंट की कड़ी-जरीब लेकर सत्य के चारों ओर तथ्य की सीमा अंकित करके पक्का पत्थर गाड़ देना चाहते हैं उनकी ओर देखकर चिरकाल से कविगण विधाता के दरबार में गुहार करते आए हैं—

इतर तापशतानि यदृच्छया
वितरतानि सहे चतुरानन
अरसिकेषु रसस्य निवेदनं
शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख।

अर्थात्—हे ब्रह्मा, और तरह के सैकड़ों ताप तुम यथेच्छ देना, मैं सब सह लूँगा। लेकिन मेरे ललाट पर ऐसा-कुछ न लिख देना कि अरसिक जनों से रस का निवेदन करना पड़े!

प्रश्न

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

भगवान्, तुमने युग युग में बार बार इस दयाहीन संसार में,
अपने दूत भेजे हैं
वे कह गए हैं, क्षमा करो,
कह गए हैं, प्रेम करो—अन्तर से विद्वेष का विष नष्ट कर दो।
वरणीय हैं वे, स्मरणीय हैं वे,
तौ भी आज दुर्दिन के समय
उन्हें निरर्थक नमस्कार के साथ बाहर के द्वार से ही लौटाए दे रहा हूँ।
मैंने देखा है—गोपन हिंसा ने
कपट-रात्रि की छाया में निःसहाय को आहत किया है,
मैंने देखा है—प्रतिकारविहीन ज़बर्दस्त के अपराध से
विचार की वाणी चुपचाप एकांत में रो रही है,
मैंने देखा है—तरुण बालक उन्मत्त होकर दौड़ पड़ा है,
बेकार ही पत्थर पर सिर पटककर मर गया है—
कैसी घोर यंत्रणा है उसकी !
आज मेरा गला रुँध गया है,
मेरी बाँसुरी का संगीत खो गया है,
अमावस्या की कारा ने मेरे संसार को दुःस्वप्नों के नीचे लुप्त कर दिया है :
इसीलिये तो आँसूभरी आँखों से
तुमसे पूछ रहा हूँ—
जो लोग तुम्हारी हवा को विषाक्त बना रहे हैं,
उन्हें क्या तुमने क्षमा कर दिया है ?—
उन्हें क्या तुमने प्यार किया है ?

शिक्षक की समस्या

सम्पूर्णानन्द

शिक्षा उन विषयों में से एक है जिनकी ओर आजकल सभी लोगों का ध्यान जा रहा है। पुरुष और स्त्री, बच्चे और बूढ़े—सभी को पढ़ाने का आयोजन किया जा रहा है। नये स्कूल और कालिज ही नहीं, विद्यापीठ और विश्वविद्यालय तक खुल रहे हैं और इनके ऊपर करोड़ों रुपया व्यय हो रहा है। जिस प्रकार इससे पहिले जन्म भर की पाप की कमाई एक धर्मशाला बनवा देने या कुआं खुदवा देने से निर्दोष हो जाती थी, उसी प्रकार आजकल शिक्षालयों को दान देना प्रायश्चित्त का सुलभ साधन है। जो लोग रुपया नहीं लगा सकते वे बुद्धियोग से ही सेवा करते हैं। अपने थोड़े-से मंत्रिकाल में मुझे शिक्षा के सभी अङ्गों के सम्बन्ध में सैकड़ों आयोजन मिले। इन प्रस्तावों के भेजनेवालों में बहुत-से ऐसे सज्जन थे जिनसे मुझको परिचय का सौभाग्य न था और जो स्वयं किसी शिक्षणसंस्था से किसी प्रकार सम्बद्ध न थे। इसे मेरा दुर्भाग्य ही मानना चाहिए कि मैं इनमें से अधिकतर परामर्शों से लाभ न उठा सका, पर यह देखकर आश्चर्य्य हुआ कि शिक्षा के भिन्न भिन्न अंगों पर इतने व्यक्ति स्वतंत्र विचार कर रहे हैं। यदि अपना देश स्वाधीन हो तो यह बौद्धिक शक्ति बहुत उपयोग में लाई जा सकती है।

शिक्षा में यह व्यापक अभिरुचि उन लोगों के लिये बड़े हर्ष का विषय है जो इस काम में बराबर लगे हुए हैं। अध्यापकों को तो इससे बड़ी प्रसन्नता होती है। मैं स्वयं अध्यापक रहा हूँ और हूँ, इसलिये अपनी जानकारी से ऐसा कह सकता हूँ। जितने ही नये शिक्षालय स्थापित होते हैं, जितना ही पूर्वस्थापित शिक्षालयों का परिवर्द्धन होता है, मनोविज्ञान और अध्यापन-शास्त्र का जितना ही गहरा अध्ययन होता है, उतना ही हमारा काम सुकर होता है। प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो शिक्षा के लिये एक पैसा देता है और प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो अशिक्षितों से निकलकर शिक्षितों की कोटि में मिलता है, हमारा सहायक है। अज्ञान से लड़ने के लिये हम प्रत्येक सिपाही का स्वागत करते हैं। शिक्षा और साक्षरता में जो भेद है उसे हम जानते हैं परन्तु साक्षरता भी उपेक्षणीय नहीं है। वह शिक्षा का प्राथमिक सोपान है, इसलिये साक्षरता प्रचार भी प्रसन्नता का ही विषय है।

परन्तु इस व्यापक सन्तोष में कुछ काली रेखाएँ भी हैं और वे रेखाएँ बहुत काली हैं। अन्य लोगों के साथ साथ सरकारें भी शिक्षा में अभिरुचि ले रही हैं। सरकार न कहकर

राज शब्द का प्रयोग किया जाता है। राज को शिक्षा की ओर ध्यान देना ही चाहिए। उसका कर्तव्य है कि वह ऐसे प्रबन्ध करे जिनसे सबको यथोचित शिक्षा मिले और शिक्षा के लिये अर्पित धन का अपव्यय न हो। छात्रों और अध्यापकों की सुविधा भी उसे देखनी चाहिए और इस बात पर भी दृष्टि रखनी चाहिए कि सभी आवश्यक विषयों की पढ़ाई का प्रबन्ध रहे। राजकोष पर शिक्षा का पहला अधिकार है। पर आजकल राज इतने से सन्तुष्ट नहीं होता। वह यह भी निश्चय करता है कि क्या पढ़ाया जाय, कौन पढ़े और कौन पढ़ाए। इसमें कोई सन्देह नहीं कि किसी-न-किसी को तो यह निश्चय करना ही होगा कि किस प्रकार की शिक्षा दी जाय। यह काम समाज का, उसके दार्शनिक विद्वानों और धर्माचार्यों का है। उनको सोचना चाहिए कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या हो। जैसा लक्ष्य होगा वैसा ही समाज होना चाहिए और उस समाज के उपयुक्त ही शिक्षा होनी चाहिए। यह विचार और निश्चय मुट्ठीभर शासकों के ऊपर नहीं छोड़ा जा सकता; पर आज यही हो रहा है। थोड़े-से प्रभावशाली व्यक्ति जो निर्णय कर लेते हैं, वह राज के नाम से सारे समाज और शिक्षा के द्वारा आनेवाली पीढ़ियों के सिर लादा जाता है। इस प्रकार के निर्णय का आधार-स्तम्भ यह सिद्धान्त होता है कि राज की सत्ता व्यक्ति की सत्ता से अधिक महत्त्व रखती है। व्यक्ति के जीवन की सार्थकता इसी बात में है कि वह राज का अंग रहकर उसका हित-साधन करे। राज से पृथक् उसका उतना ही मूल्य है जितना कि शरीर से पृथक् हाथ-पाँव-सिर या किसी अन्य अवयव का। राज के हित में व्यक्तियों का हित निहित है पर राज के हित के सामने व्यक्ति के हित का कोई मूल्य नहीं है। राज व्यक्ति के लिये नहीं, व्यक्ति राज के लिये है। राज का हित किस बात में है इसका निश्चय उसका उत्तमाङ्ग अर्थात् शासकवृन्द ही कर सकता है। व्यक्ति को शासकों की बात माननी ही होगी। उसका विद्रोह करना वैसा ही है जैसा किसी अवयव का शरीर के विरुद्ध विद्रोह करना। इसका तात्पर्य्य यह होता है कि सारी जनता को हर बात में मुट्ठीभर आदमियों के हाथ में रहना पड़ता है और अपने जीवन के हर विभाग को उनके ऊपर छोड़ देना होता है। यह स्पष्ट ही है कि जहाँ राज का हित ही सबसे बड़ा लक्ष्य है वहाँ विभिन्न राजों के हित आपस में निरन्तर टकराते रहेंगे, क्योंकि प्रत्येक राज अपने हित को सबसे ऊँचा स्थान देगा। ऐसी दशा में बराबर युद्ध होंगे और प्रत्येक राज बल-संग्रह में अपनी सारी शक्ति लगाता रहेगा। दूसरे राजों को दबाने और दूसरे देशों के निवासियों का शोषण करने के सिवाय राज का और कोई दूसरा हित भी नहीं हो सकता। ऐसी परिस्थिति में सबसे अच्छा नागरिक वह होगा जो बिना कुछ कहे-सुने अपना सर्वस्व सदैव राज के चरणों पर न्योछावर करने के लिये तैयार रहे। ऐसी नागरिक-मनोवृत्ति एक विशेष प्रकार की शिक्षा से ही उत्पन्न

हो सकती है। इसलिये आजकल के राज शिक्षा को अपने हाथ में रखते हैं। वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति में बचपन से ही यह भाव कूट-कूट कर भर दिया जाय कि उसका राष्ट्र और राज सर्वश्रेष्ठ है और पृथिवी पर संस्कृति फैलाने का उसके ऊपर विशेष दायित्व है। ऐसे नागरिक को यह सोचकर कि मैं इस राजका अंग हूँ, कुछ वैसा ही आनन्द मिलता है जैसा कि किसी भक्त को भगवान् का अंश होने में। वह कभी इस बात को मान ही नहीं सकता कि उसका राज कभी भूल कर सकता है या किसी और राज का पक्ष उसकी अपेक्षा अधिक न्यायसंगत है। जो ऐसी वृत्ति उत्पन्न करने का बीड़ा ले और इसके लिये सत्य को तिलाञ्जलि देकर इतिहास विज्ञान और दर्शन का गला घोंटने को तैयार हो, वही अध्यापन के गुरु कार्य में लगने दिया जा सकता है। ऐसी शिक्षा असत्य की नीवँ पर खड़ी की जाती है और लूट-खसोट तथा दुरभिमान के मनोवेगों को उद्दीप्त करती है ; पर इसमें यह बड़ा गुण है कि राज को सहज ही ऐसे बकरे मिल जाते हैं जो हँसते-खेलते बलिवेदी पर चढ़ जाते हैं।

शिक्षा के सच्चे प्रेमियों के लिये यह बात चिन्ताजनक है परन्तु रोक का कोई प्रयास नहीं हो रहा है। जर्मनी-जैसे फ़ासिस्ट राज तो खुलकर यह खेल खेलते ही हैं ; जो राज अपने को लोकायत्त कहते हैं वे भी उसी लीक पर चल रहे हैं। एक बार शिक्षा की शक्ति को समझ लेने पर कोई सरकार इस अद्भुत शक्ति को छोड़ना नहीं चाहती। दस-पाँच वर्षों में जनता की बुद्धि को बदल देने का यह अपूर्व साधन है। इसके अनुसार पाठशाला एक प्रकार का कारखाना बन जाता है जिसमें से छात्रों की बुद्धि एक ही साँचे में ढलकर निकलती है। राज की शिक्षानीति क्या-कुछ कर सकती है इसका उदाहरण हम भारत में देख सकते हैं। पठान और मुग़ल शासक अपनी प्रजा की बुद्धि से विद्रोह का भाव कई सौ वर्षों में न निकाल सके, पर वह काम अंग्रेज़ों ने सौ वर्षों के भीतर भीतर कर लिया। इतिहास और साहित्य की पोथियों में एक पंक्ति इधर घटा दी, एक पंक्ति उधर बढ़ा दी ; किसी के नाम के आगे कोई विशेषण जोड़ दिया ; किसी घटना को दस, किसी को पाँच शब्दों में दिखाया कि जादू चल गया। सैकड़ों हज़ारों भारतीयों पर यह सिक्का बैठ गया कि भारत का इतिहास अटूट दासता की गाथा है, हम अपने पावों पर कभी अकेले नहीं खड़े हो सके, हमारे आभ्यन्तर कलह अमिट हैं, हमारे यहाँ सच्चा रामराज्य तो अंग्रेज़ी शासनकाल में आया है और हमारा कल्याण अंग्रेज़ों की छत्रच्छाया में रहने में ही है।

ऐसी परिस्थिति श्रेयस्कर नहीं हो सकती। असत्य के बल पर खड़ी असत् शिक्षा कलह और अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति को कभी बन्द न होने देगी और एक दिन सभ्यता को श्मशान पहुँचाकर ही दम लेगी। प्रत्येक ऐसे व्यक्ति को जो मनुसन्तान का हित चाहता है, इस विषय में

सतर्क होना चाहिए। इस सतर्कता का फल यह होगा कि मनुष्य-जीवन का सच्चा लक्ष्य और नागरिकता का साधु आदर्श स्थापित होगा और राज के सार्वभौम अधिकार का गढ़ ढह जायगा। उसी अवस्था में शिक्षा के समुचित प्रयोग हो सकेंगे।

जिस दिन जनता शिक्षा के वास्तविक महत्त्व को समझेगी उस दिन उसका पहला काम शिक्षकों की अवस्था का सुधार होगा। आज के अध्यापक की गिरी दशा शिक्षा के पतित आदर्शों का प्रतीक है। जहाँ बहुत से कारख़ाने हैं वहाँ पाठशाला भी है। किसीमें कीलें ढलती हैं, किसीमें जूते बनते हैं। सब माल एक-सा—एक सुई या पुस्तक या लोटा दूसरे से पहचाना नहीं जा सकता। हाथ की बनी वस्तुओं में विशेषता होती है ; कारख़ाना विशेषता को समाप्त कर देता है। इसी प्रकार स्कूल से एक प्रकार की नपीतुली बुद्धि के लड़के निकलते हैं ; एकसा सार्टिफ़िकेट सबके पास है। स्कूल मौलिकता को प्रोत्साहन नहीं दे सकता। अध्यापक—चाहे वह कालिज के प्रोफ़ेसर हों या देहाती पाठशाला के गुरुजी—इस बड़े कारख़ाने के मज़दूर हैं। उनको ऊपरवालों की आज्ञा के अनुसार माल तैयार करना है, अर्थात् पढ़ाना है। बेकारी के दिनों में भी वेतन मिलता है, और क्या चाहिए ?

जब तक यह भाव बना रहेगा तब तक अध्यापक भी बेगार ही करते रहेंगे। शिक्षा के आदर्शों का निश्चय करना पूरा पूरा अध्यापकों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता परन्तु उनका भी इसमें बड़ा हाथ होना चाहिए। जिस कारीगर को काम करना है उसको यह भी कहने का अधिकार होना चाहिए कि इस मसाले से क्या तैयार हो सकता है और होना चाहिए। यह तो अजीब अन्धेर है कि अनाड़ी शिक्षा के सम्बन्ध में निर्णायक-सम्मति दे और अध्यापक को बोलने का अधिकार न हो। समाज शिक्षकवर्ग के साथ बराबर अन्याय करता आया है। वेतन-पुरस्कार के समय उसका स्थान सबसे पीछे आता है। मैं यह जानता हूँ कि कुछ ऐसे भाग्यशाली अध्यापक भी हैं जो पर्याप्त वेतन पा रहे हैं, पर इनकी संख्या बहुत थोड़ी है। अधिकतर ऐसे ही हैं जिनको दूसरे पेशों के बाज़ार-भाव के अनुसार भी पारिश्रमिक नहीं मिलता। जिनके सुपुर्द यह कार्य है कि वे भविष्यत् के नागरिकों और नेताओं को तैयार करें, उनसे भूखे रहकर काम करने की आशा की जाती है। यह नहीं सोचा जाता कि इनके भी बाल-बच्चे हैं, इन्हें भी लड़कियों का ब्याह करना है और लड़कों को पढ़ाना है, इनको भी अच्छे खाने-पहनने की इच्छा होती है, इनका भी जी मनोरञ्जन चाहता होगा। जो लोग अध्यापकों को सादगी का उपदेश देते हैं और उनको प्राचीनकाल के विद्यापीठों में पढ़ानेवाले साधु-ब्राह्मणों की याद दिलाते हैं, वे स्वयं यह भूल जाते हैं कि आज वह युग नहीं है, आज के अध्यापक को भिन्न प्रकार की सभ्यता के बीच रहना है, आज उसके शिष्य उसके चरणों पर गुरु-दक्षिणा नहीं रखते, सारा काम

बँधे वेतन से ही चलाना है। एक और बात लोग भूल जाते हैं। योगियों और तपस्वियों की बात न्यारी है—ऐसे लोग तो बहुत थोड़े होते हैं—परन्तु जो मनुष्य घोर तामसिक नहीं होता उसमें कुछ-न-कुछ महत्त्वाकांक्षा निःसन्देह होती है। या तो वह धन चाहता है या ऊँचा पद जिसमें दूसरों पर अधिकार हो या सम्मान मिले। इस अपनी इच्छा के अनुसार उसे प्रधानतः वैश्य, क्षत्रिय या ब्राह्मण स्वभाव का कह सकते हैं। साधारणतः सभी चीज़ों की चाह होती है पर इनमें से कोई एक दूसरों से प्रबल पड़ती है। अब बेचारे अध्यापक को लीजिए। उसका वेतन बहुत कम है और अधिकार भी कुछ नहीं है। समाज उसे सम्मान तक भी देने को तैयार नहीं। क्या गावँ और क्या जनपद, अध्यापक का स्थान सबसे नीचा है। क्या राज-दर्बार और क्या सभा-समिति —अध्यापक की जगह पीछे ही होगी। एक तहसीलदार या थानेदार का सम्मान किसी बड़े कालिज के प्रधानाध्यापक से ऊँचा होगा। एक नौसिखिया वकील जो दीवानी-फ़ौजदारी क़ानून के सिवाय कुछ नहीं जानता, राजनीति और अर्थनीति, शासन और शिक्षण पर बोलने का अधिकारी है, और अनेक शास्त्रों में निष्णात अध्यापक के लिये चुप रहना ही उचित समझा जाता है। इस आक्षेप के उत्तर में यह कहना व्यर्थ है कि जो व्यक्ति योग्य होगा वह अपने व्यक्तित्व के बल पर सम्मान प्राप्त कर ही लेगा। यह बात ठीक है पर सबके लिये ठीक नहीं है। यहाँ विशेष व्यक्तियों की क्षमता का विचार नहीं है; प्रश्न तो समाज के सामान्य दृष्टि-कोण का है। इसीलिये यह विचार भी अप्रासङ्गिक है कि अध्यापकों को कहाँ तक और किस प्रकार राजनीतिक वादविवाद में भाग लेना चाहिए।

समाज को अपनी इस नीति का फल मिल रहा है। थोड़े-से व्यक्ति तो इस क्षेत्र में प्रेम से आते हैं परन्तु बहुधा ऐसा ही होता है कि जब लोग अपने लिये कोई और पेशा नहीं देखते तब अध्यापक बनने की सोचते हैं। जिस व्यवसाय में किसी भी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिये अवसर नहीं उसकी ओर पहला ध्यान कम ही लोगों का जाता है। समाज को यह आशा न करनी चाहिए कि जो मनुष्य विवश होकर इस काम में आया है वह पूरा उत्साह दिखला सकेगा। वह तो अपनी अतृप्त इच्छाओं की आग में जलता रहेगा। उसे बराबर यही ख्याल होता रहेगा कि मैं यहाँ दुर्भाग्यवश आ फँसा हूँ। मुझसे कम योग्यतावाले अधिकार, धन और सम्मान का उपभोग कर रहे हैं और मैं एक कोने में पड़ गया हूँ। यदि समाज चाहता है कि उसके बच्चों को उच्च कोटि की शिक्षा मिले और उसके अध्यापक अपने काम में अपना पूरा मनोयोग दें तो उसे इस पेशे को अन्य पेशों के बराबर आकर्षक बनाना होगा। अध्यापकों को पर्याप्त भृति देनी होगी और सम्मान बढ़ाना होगा। ब्राह्मण चातुर्वर्ण में शिरःस्थानीय था। अध्यापक का भी समाज में वही स्थान होना चाहिए। जिसके साथ शूद्र-जैसा व्यवहार किया जाय उससे ब्राह्मण-जैसे आचरण की आशा नहीं की जा सकती।

पर जहाँ समाज दोषी है वहाँ हम अध्यापक भी कम अपराधी नहीं हैं। जो इस पेशे में आए उसे यह समझ लेना चाहिए कि वह व्यास और वशिष्ठ की गद्दी पर बैठने जा रहा है। वेतन लेना पाप नहीं है, पुरोहित भी दक्षिणा लेता है ; परन्तु अध्यापन को केवल जीविका का साधन समझना अधर्म है। कोमल-बुद्धि बालक-बालिकाओं को मनुष्य बनाने का अवसर सबको नहीं मिलता। हमारे छात्रों में से ही भविष्यत् के नेता, योद्धा, राजपुरुष, विज्ञानवेत्ता और दार्शनिक निकलेंगे। यह गौरव की बात है। हम अपने वेतनादि से सन्तुष्ट हों या न हों परन्तु हमें इस बात का कोई अधिकार नहीं है कि अपने असंतोष का बदला छात्रों से लें। उनको तो हमारी पूर्ण शक्ति, पूरा बुद्धि-योग, पूरा नैतिक सहारा मिलना ही चाहिए। विद्यादान करते समय तो हमारा वह भाव होना चाहिए जो पूजा करते समय होता है।

दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमने अपने कर्तव्य को नहीं पहचाना। समाज ने, या समाज के नाम पर उसके शासकों ने, हमको मज़दूर समझा और हम भी चुपके-से विवेकशून्य मज़दूर बन गए। हमसे जो कहा गया हमने वही कर दिया। यह न सोचा कि काम करणीय भी है या नहीं। अपने राजनीतिक विश्वास के लिये हज़ारों आदमी जेल जाते हैं, कितने सम्पत्ति की हानि करते हैं, बहुतों को प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। अपने धर्म या धर्मग्रंथ या मन्दिर-मस्जिद के नाम पर कितने ही पुरोहितों, पुजारियों और पादरियों ने यातनाएँ सही हैं और प्राण दिए हैं। पर यह सुनने में स्यात् ही कभी आता है कि अमुक अध्यापक ने इसलिये अपना काम छोड़ दिया कि वह अधिकारियों की आज्ञा के अनुसार पढ़ाने को तैयार न था। यदि वैद्यों को आज्ञा दी जाय कि तुम अपने रोगियों को विष दे दो तो अधिकतर वैद्य इस आज्ञा को न मानेंगे, पर ऐसे कितने अध्यापक हैं जिन्होंने अपने छात्रों की बुद्धि में असत्य ज्ञान का विष सञ्चार करना अस्वीकार किया है ? जो किसी सिद्धान्त के लिये कष्ट सहने को तैयार नहीं, जिसको कोई आदर्श इतना प्यारा नहीं कि वह अपने को उसके लिये बलिदान करने को बाध्य समझे, वह कभी लोकसम्मान का भाजन नहीं बन सकता। जब हम लोग समाज को दोष देते हैं तो इस बात पर भी विचार कर लिया करें। कभी हम यह भी सोचते हैं कि इस समय जो साम्प्रदायिक वैमनस्य सारे देश में फैला है, उसके लिये हमारा और हमारे झूठे इतिहास पढ़ाने का कहाँ तक दायित्व है ?

अध्यापन को केवल व्यवसाय समझ लेने का परिणाम यह हुआ है कि हम अपने को समाज के भले बुरे के लिये दायी नहीं समझते। यह भूल जाते हैं कि हम भी इस समाज के अंग हैं और इसपर हमारा भी उतना ही स्वत्व है जितना किसी बड़े से बड़े राजनीतिक नेता का। अनुत्तरदायित्व के भाव ने इतना घर कर लिया है कि हम उस गुण को खो बैठे हैं जिसकी

अध्यापक को सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह गुण सहानुभूति है। हमको अपने विद्यार्थियों के साथ सह-अनुभूति नहीं रही। आज का युवक—और यही बात युवतियों के लिये भी सच है—असाधारण परिस्थिति में है। प्राचीन नष्ट हो रहा है, नवीन अभी आया नहीं। राजनीतिक समस्याओं को बड़े लोग चाहे सँभाल भी लें, यद्यपि इसमें भी सन्देह है, परन्तु बहुत-से ऐसे आर्थिक और समाजिक प्रश्न हैं जिनका उसके जीवन से अन्तरङ्ग सम्बन्ध है। सब कुछ अनिश्चित है। उसे जीविका के लिये क्या करना होगा ? विवाह करे या न करे ? कब करे ? किससे करे ? कैसे करे ? घरवालों से खान-पान, रहन-सहन के विचार नहीं मिलते, उनके साथ रहें या अलग गृहस्थी बसाए ? पुरानी बहुत-सी रूढ़ियाँ निरर्थक प्रतीत होती हैं, उनको माने या न माने ? न मानने में घरवालों को जो कष्ट होता है वह देना ठीक है या नहीं ? यह और इसी प्रकार के हज़ारों दूसरे प्रश्न उसे पागल बनाए रहते हैं। परन्तु हमको उनका पता नहीं है। उसकी अध्यात्मिक नाड़ी पर हमारा हाथ जाता ही नहीं। लड़के पढ़ने आते हैं पर हम और वे पृथक् पृथक् जगतों में रहते हैं। वे जानते हैं कि उनको हमसे कोई परामर्श, कोई सहायता, कोई नैतिक संबल नहीं मिल सकता। हम उनकी मानस अवस्था को समझ ही नहीं पाते क्योंकि हमने अपने को उन प्राणमयी तरङ्गों से प्रभावित ही नहीं होने दिया है जो आज लाखों मनुष्यों के जीवन को उद्विग्न कर रही हैं। इस परिवर्तनकाल की विकट समस्याओं के सुलझाने में उन धार्मिक और नैतिक विश्वासों से भी काम नहीं चलता जो किसी समय लोगों को सहारा देते थे ; आज वे भी तो शंका के क्षेत्र के भीतर आ गए हैं। स्कूल-कालिजों में जो आए-दिन झगड़े होते रहते हैं उनका एक बड़ा कारण यह भी है। आज का विद्यार्थी प्रकृत्या दुष्ट नहीं है पर उसकी बुद्धि को अनेक प्रकार की चिन्ताओं ने क्षुब्ध कर रक्खा है। इन चिन्ताओं का उठना उसके लिये गौरव की बात है, परन्तु खेद यह है कि न हम उसकी कठिनाइयों को समझ सकते हैं, न उसको कोई सहायता दे सकते हैं। वह समवेदना का भिखारी है, और हम उसे विद्रोही समझकर दण्ड देने चलते हैं। इसीसे संघर्ष होता है। अनुशासन तो रखना ही होगा पर वह दण्ड बहुत खलता है जिसके लिये अपना हृदय अपराध स्वीकार नहीं करता।

मैंने ऊपर कहा है कि समाज को यह अधिकार नहीं है कि हमको पुरस्कार, अधिकार और सत्कार की दृष्टि से शूद्र समझे और फिर भी हमसे ब्राह्मणवत् आचरण की आशा रक्खे। यह ठीक है। परन्तु समाज के कुकृत्य को समझते हुए भी हमको तो अपना कर्तव्य पालन करना ही है। हमको तो ब्राह्मण का ही आचरण करना है, तपस्वी जीवन बिताना है और विद्यादान को अपना धर्म समझना है—जो ऐसा नहीं कर सकता वह सरस्वती के मन्दिर का

पुजारी नहीं हो सकता। यदि हम अपने को पहचानें तो अपने त्याग और तप से फिर समाज का नेतृत्व प्राप्त कर सकते हैं। यह नेतृत्व हमारे स्वार्थ का साधन न होगा वरन् हमको सेवा करने का उपयुक्त अवसर देगा। इसके साथ ही अपने ब्राह्मणवर्ग के नेतृत्व में चलने से समाज का भी कल्याण होगा।

"प्राचीनकाल में हमारे देश के गृहस्थ धन की जवाबदेही स्वीकार करते थे। उचितकाल में उचित स्थान में और उचित पात्र में दान देने से वे अपने को ही धन्य मानते थे। उसी प्रकार जो लोग अधिकारी थे वे स्वेच्छा से ज्ञान के वितरण की जवाबदेही लेते थे। वे जानते थे कि उन्होंने जो कुछ पाया है उसे देने का सुयोग यदि नहीं मिला तो पाना ही अपूर्ण रह जाता है। गुरु और शिष्य के बीच इस परस्पर-सापेक्ष सहज संबंध को ही मैंने विद्यादान का प्रधान माध्यम समझा है।

"फिर एक बात और भी है। गुरु के अन्तस्तल में भी शिशु का निवास होना चाहिए। यदि उनके अन्तर का शिशु सूखकर काठ हो गया हो तो वे बच्चों का भार लेने के अयोग्य हो जाते हैं। केवल सामीप्य ही नहीं, दोनों के भीतर एक प्रकृतिगत सायुज्य और सादृश्य भी होना चाहिए, नहीं तो देने-लेने में नाड़ी का योग नहीं रह जाता। नदी के साथ यदि वास्तविक शिक्षक की तुलना की जाय तो मैं कहूँगा कि नदी की ही भाँति शिक्षक भी दाहिने-बायें की बुढ़िया बुढ़िया उपनदियों के योग से ही पूर्ण नहीं होते। नदी के प्रथम आरंभ का जो लीलाचञ्चल कलहास्यमुखर निर्झर-प्रवाह है, वह पत्थर के ढोंकों के नीचे खो नहीं गया होता। जो जातशिक्षक हैं उनके अन्तर का आदिम शिशु बच्चों की आवाज़ सुनते ही दौड़कर बाहर निकल आता है, उनके मोटे गले से प्राणों-भरी अदनार हँसी उच्छ्वसित हो उठती है... ।"

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

दार्शनिक भाव का प्रयोजन

विधुशेखर भट्टाचार्य

हमारे देश में नाना भाँति की दर्शन-पद्धतियाँ प्रचलित हैं। सभी एक ही सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं करतीं और कभी कभी एक मत दूसरे के बिल्कुल विरुद्ध पड़ता है। यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी दर्शनों ने ठीक ठीक तत्त्व-दर्शन कराया ही है? निस्सन्देह हमारे देश के इस दार्शनिक विचार-समूह की युक्ति-परम्परा अत्यन्त उपादेय है और जिस देश में ऐसी बहुमुखी समृद्ध चिन्ताधारा का विकास हुआ है उस देश का स्थान संसार में अत्यन्त उच्च है, किन्तु यदि युक्ति-परंपरा में ही दर्शनशास्त्र का अवसान हो जाय तो हमारे देश के मत से इससे विशेष कुछ लाभ नहीं होने का। यदि केवल चिन्तन की दुनिया में दर्शन का कार्य इतना ही है कि वह चित्तवृत्ति का औत्सुक्य निवारण कर दे तो अत्यन्त थोड़े बुद्धिजीवी विद्वानों के काम ही यह आ सकता है। साधारण जनता का उससे क्या लाभ हुआ? यदि दर्शन शास्त्र से सर्वसाधारण को कुछ नहीं मिलता है तो उसकी हमें कोई ज़रूरत नहीं है। विशेष कर आज के असाधारण समय में जब कि पूर्व और पश्चिम में, उत्तर और दक्षिण में, सर्वत्र दानव का पैशाचिक संहार-ताण्डव चल रहा है, जब कि मनुष्य बर्बरता के दबाव से पिसा हुआ सियारकुत्ते से भी अधम बनता जा रहा है, जब कि चारों ओर आग लगी हुई है, धर्म-अधर्म न्याय-अन्याय कुछ भी कहीं नहीं रह गया है,—ऐसे दुःसमय में दर्शनशास्त्र की क्या आवश्यकता है? आज मनुष्य अपनी बुद्धि के बल पर क्या नहीं कर सका है? आकाश-पाताल, जल-स्थल, कुछ भी तो उसके लिये अगम्य नहीं और फिर भी आज वह ऐसा पागल हो गया है कि जिस बात को साधारण बच्चा भी निन्दनीय समझता है उस कुकार्य को भी वह अनायास ही कर रहा है। ऐसे समय दार्शनिक युक्ति-परम्परा की चर्चा क्या बेकार नहीं है?

मुझसे यदि यह प्रश्न पूछा जाय तो मैं बिना किसी झिझक के जवाब दूँगा—कदापि नहीं। दार्शनिक चर्चा बेकार नहीं है; यदि उसके लिये कोई उचित और अनुकूल समय है तो वह यही है। क्योंकि मनुष्य आज जिस अग्नि की लपटों का शिकार होने जा रहा है, उसे बुझाने का सामर्थ्य एकमात्र दर्शनशास्त्र में ही है। वही रास्ता दिखा सकता है।

जो लोग समझते हैं कि हमारे दर्शन परलोक की ही बातें बताते हैं अर्थात् परलोक में स्वर्ग होगा या मोक्ष होगा, या ऐसा ही कुछ और होगा—इन्हीं बातों को लेकर दर्शन रचे गए

हैं, इस दुनिया और इस जीवन के साथ उनका कोई संबंध नहीं, वे लोग दर्शन के संबंध को बहुत छोटा करके देखते हैं, और सही बात तो यह है कि वे दर्शन का अपमान करते हैं।

परलोक है, इस बात के अनुकूल बहुत-सी युक्तियाँ हैं। किन्तु इन युक्तियों को कोई समझ भी सकता है, नहीं भी समझ सकता ; मान भी सकता है, नहीं भी मान सकता। वह, यह, तुम, मैं किसीने अपनी आँखों परलोक नहीं देखा। वह हो तो रहे, न हो तो न रहे, किन्तु यह लोक हमारी आँखों के सामने प्रत्यक्ष वर्तमान है, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। हमारे नब्बे फ़ी सदी लोगों के लिये परलोक केवल मुँह की बात है, इहलोक को लेकर ही उनका कारबार है। यदि दर्शनशास्त्र इसी दुनिया में, हमारे प्रतिदिन के जीवन में अपनी उपयोगिता न दिखा सके तो उसके रहने से लाभ ही क्या है और न रहने से हानि ही क्या है?

एक ओर से देखा जाय तो कहा जा सकता है कि मनुष्य के दो वस्तुएँ हैं—शरीर और मन। शरीर के भी दुःख हैं, मन के भी। भूख-प्यास, जाड़ा-गर्मी, रोग-चोट आदि शरीर के दुःख हैं। पराभव, अपमान, क्रोध, लोभ, शोक आदि मन के दुःख हैं। निस्सन्देह शरीर के दुःख बहुत हैं लेकिन फिर भी संभव है, किसी दिन कोई परिश्रमी और शक्तिमान् व्यक्ति इनकी गिनती कर ले ; किन्तु मन के दुःखों का कोई आर-पार नहीं। गिनकर उनकी संख्या ठीक कर लेना असंभव है। फिर शरीर-दुःख से मन के दुःख की तीव्रता भी इतनी अधिक है कि कहकर समझाई नहीं जा सकती। शरीर के दुःखों का प्रतीकार है, भूख के लिये अन्न, प्यास के लिये पानी, सर्दी के लिये कपड़े, रोग के लिये औषध हमारे बहुत कुछ जाने हुए हैं किन्तु मन के दुःखों को दूर करने के उपाय क्या हैं?

फिर एक बात और है। मन के दुःख से आदमी खुद ही दुःख पाकर रह जाता हो, ऐसी बात नहीं। वह दूसरों को भी दुःख पहुँचाता है। अत्यन्त लोभ और क्रोधवश कितने ही अपने माँ-बाप तक को मार डालते है। मनुष्य चाहता नहीं कि वह ऐसा अनर्थ करे, फिर भी उससे ऐसे अनर्थ हो जाते हैं। न जाने कौन उससे ऐसा करा देता है। ऐसे अनर्थों से मनुष्य छुटकारा पाना चाहता है। दार्शनिकों की भाषा में वह 'जीवन्मुक्ति' चाहता है। देह छूटने के बाद जो 'विदेह मुक्ति' है वह तो बाद में देखी जायगी, पहले इस दुनिया के अनर्थ से तो छुटकारा मिले। जीव लेकर ही तो जहान है! परन्तु रास्ता कहाँ है? और अगर है तो उसे दिखाएगा कौन? एक ही उत्तर है—दर्शन, दर्शन—जो 'फ़िलासफ़ी' नहीं भी हो सकता है।

प्रकृति का अनुसंधान करके देखा जाय तो मनुष्य किसी-न-किसी भाव के द्वारा ही चालित होता है। दो लड़के खेलते दिखाई देते हैं, कहीं भी उनमें प्रेम के सिवा और कुछ नहीं दिखाई

देता, हठात् देखा गया कि वे मार-पीट करने लगे हैं और ज़रा देर बाद और देखा गया तो वे उसी मस्ती के साथ फिर खेलने लगे हैं। ऐसा क्यों होता है? क्योंकि उनके मन का भाव बदल जाता है। जब वे परस्पर को अनुकूल समझते हैं तो प्रेम के भाव में रहते हैं और ज्यों ही परस्पर को प्रतिकूल भाव से देखते हैं त्यों ही लड़ाई शुरू हो जाती है। भाव ही यहाँ एकमात्र कारण है। एक बल्कलधारी संन्यासी ने एक चक्रवर्ती राजा से कहा था—'महाराज, आप रेशमी वस्त्र पहनकर जो आनंद पाते हैं मैं वही आनंद बल्कल पहनकर पा लेता हूँ, हम दोनों के आनंद में कोई भेद नहीं है।' किन्तु राजा नहीं कह सकते कि 'स्वामीजी, तुम्हारे बल्कल के आनंद और मेरे रेशमी कपड़ों के आनंद में कोई अन्तर नहीं है।' राजा सोचते हैं कि रेशमी वस्त्र-धारण में जो आनंद है उसकी तुलना में बल्कल पहनने का आनंद नितान्त नगण्य है। इसका कारण यह है कि राजा का भाव एक तरह का है, संन्यासी का दूसरे प्रकार का। राजा की संसार में आसक्ति है, संन्यासी की नहीं। यह बात नहीं है कि पत्ते पर खाने से और मिट्टी के पात्र में पानी पीने से राजा की भूख प्यास नहीं जा सकती। भूख भी मिटेगी, प्यास भी शान्त होगी, परन्तु फिर भी राजा को तृप्ति नहीं होगी। दूसरी ओर बल्कलधारी संन्यासी यदि सोने के पात्र में अन्नजल ग्रहण करें तो उनकी तृप्ति कुछ अधिक नहीं हो जायगी। इस भेद का एकमात्र कारण यही है कि दोनों के मनोभाव भिन्न भिन्न हैं।

लड़का विदेश में पढ़ता है, माता ने उसे बहुत दिनों से नहीं देखा, लेकिन कुशल-संवाद बराबर पाती रहीं। अचानक एक दिन खबर मिली कि लड़का मर गया। माँ चंचल हो उठीं। पहले भी वे लड़के को नहीं देखती थीं, अब भी नहीं देख रही हैं, फिर भी पहले वे ठीक थीं अब व्याकुल हो गईं। क्यों? क्योंकि पहले उनके मन में यह 'भाव' था कि लड़का जीता है, परन्तु बाद का भाव यह है कि लड़का मर गया। अब यदि मान लिया जाय कि लड़के की मृत्यु का संवाद ग़लत था, तो भी क्या माता का 'भाव' कुछ दूसरा होता? माता तब भी उसी प्रकार व्याकुल होतीं। कारण यह है कि मृत्यु सत्य हो या असत्य, उसके संवाद से मन का 'भाव' एक ही होता है। इसपर से यह समझना आसान है कि 'भाव' होने से भाव का विषय भी सत्य होगा, यह कोई ज़रूरी बात नहीं है। विषय यदि सत्य न भी हो तो भी 'भाव' सत्य होता है। यह भाव यदि अच्छा हो तो हमें सुख होता है और बुरा हो तो दुःख होता है।

हमारे दर्शनों ने भी हमें कुछ 'भाव' दिए हैं, परन्तु उनके विषय सभी सत्य ही हैं, ऐसा हम नहीं कह सकते। फिर भी अधिकांश भाव हमें मुक्ति की ओर ही ले जाते हैं। दो-एक उदाहरण दूँ।

मान लिया जाय किसी गृहस्थ के घर में अनाज भरा पड़ा है। इस अवस्था में उसे भरपूर

आनंद होता है क्योंकि उसे अभाव का ज्ञान नहीं होता। ज्यों ही किसी अभाव की बात उसके मन में आई कि वह व्याकुल हो उठता है, उसका वह आनंद जाता रहता है। हमारे दार्शनिक उससे कहेंगे कि भाई, तुमने अगर यह समझा है कि बाह्य वस्तुओं के संग्रह से तुम्हारा आनंद बना रहेगा, तो यह तुम्हारी ग़लती है। सोने का पहाड़ पाकर भी तुम्हारे सब अभाव दूर नहीं हो सकते। अभाव मत बढ़ाओ। जो तुम्हारा नहीं है और जिसपर तुम्हारा अधिकार नहीं है, उसे मत चाहो। तुम्हारा अधिकार भरपेट अन्न पर ही है, जो इससे ज्यादा की इच्छा करता है वह चोर है। जो तुम्हारा अपना है वही तुम्हारे पास रह सकता है, और अपना सिर्फ आत्मा है, इसीको पाकर तुम सच्चा आनंद पाओगे, स्वतंत्र और आत्माराम होकर रह सकोगे।

एक दूसरे गृहस्थ का पुत्र बीमार है, वह व्याकुल हो उठता है। दार्शनिक कह सकते हैं, 'बाबा, क्यों घबराते हो, जितनी सेवा-शुश्रूषा, दवा-दारू कर सकते हो, कर लो, फल की आकांक्षा मत रखो। शुभ और अशुभ दोनों को उसी तरह झाड़कर फेंक दो जिस प्रकार हंस अपने पक्षपुट के जलविन्दु झाड़ देता है।' यह दार्शनिक का दिया हुआ एक भाव है। गृहस्थ यदि इसे हृदय में धारण कर सका तो फिर वह पुत्र की मृत्यु से भी विचलित नहीं होगा। किन्तु इस विषय में दार्शनिक का बताया हुआ यह एक ही भाव नहीं है। और भी बहुत से भाव हैं। एक दूसरा दार्शनिक कह सकता है—"भाई, कर्मफल भोगना ही पड़ेगा। 'कर्म अधीन विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।' घबराने से क्या होता है, सहे ज़ाओ।" एक तीसरा कह सकता है,—" 'विधि को लिखा को मेटनिहारा' ? भाई, तुम्हारा नसीब ही ऐसा है। दुःख करने से क्या होगा ?" कोई चौथा कहेगा—'बाबा, सब उस परमपिता की लीला है। दिया था सो ले लिया। जिसकी थाती थी उसके पास ही चली गई, क्या घबराए हो ? धीरज धरो, स्थिर होओ। उसी पिता का नाम लो, सब कुछ उसी के इशारे पर हो रहा है। हम-तुम कर ही क्या सकते हैं !' एक अन्य दार्शनिक कह सकता है—'अपने को कर्ता समझने की ग़लती क्यों करते हो ? जो कुछ तुमसे हो रहा है उसका पुर्जा घुमानेवाला कोई और है। अपना सब जप-तप, पूजा-पाठ उसी को सौंप दो, अपने को भी उसी के हवाले कर दो और निश्चिन्त हो जाओ।' कोई और ज्ञानी आकर कहेगा—'अजी तुम मृत्यु से घबराते हो ? भोले हो तुम। मृत्यु क्या है ? पुराना कपड़ा छोड़कर आदमी जैसे नया धारण करता है वैसे ही आत्मा पुराने शरीर को छोड़ कर नया शरीर ग्रहण करता है। पुराना कपड़ा किसी ने छोड़ दिया है तो इसमें शोक की क्या बात है ? भई, आत्मा तो न आग से जलता है, न पानी से भीगता है, न हवा से सूखता है, न हथियार से कटता है। वह तो नित्य है।' फिर कोई

अन्य दार्शनिक कह सकता है—'लड़के के लिये शोक कर रहे हो? लड़का क्या है? कौन किसका पुत्र है, कौन किसका पिता? कहाँ का जन्म और कहाँ की मृत्यु! सब मिथ्या है, सपना है, माया है। सिर ही नहीं तो सिरदर्द कैसा? ऐसी स्थिति में कौन शोक करे और किसके लिये!'

इस प्रकार नाना दार्शनिकों के दिए हुए नाना भावों में से मनुष्य अपनी रुचि के अनुसार चुन लेता है। उसका चिन्तन करते करते उसके मन में एक ऐसा भाव बद्धमूल हो जाता है कि वह मृत्यु-शोक से भी विचलित नहीं होता। सभी भाव सबके लिये नहीं हैं। एक दवा से ही सब रोग नहीं आराम होते। न तो एक औषध सबके लिये है और न सब औषध एक के लिये।

आज जो दानवीय काण्ड हो रहा है उसका कारण हमारे आचार्यों ने बहुत पहले ही देख लिया था पर वे बातें हमारे निकट इतनी परिचित हैं कि हमने उनका महत्त्व भुला दिया है। यह तो दिन के उजेले की तरह स्पष्ट है कि हमारे मन में यदि किसी विषय के प्रति प्रबल आकांक्षा हो तो हम तब तक अशान्ति अनुभव करते रहते हैं जब तक वह विषय हमें मिल न जाय। यदि उसके मिलने में बाधा हुई तो क्रोध होता है और एकबार जब क्रोध उत्पन्न हुआ तो काज-कुकाज का ज्ञान जाता रहता है और अपने और अपने आसपास के लोगों के दुःख का कोई हिसाब नहीं रहता।

विषय के प्रति इस प्रबल आकांक्षा को ही काम, आसक्ति, तृष्णा, वासना, कामना आदि नाम दिए गए हैं। किन्तु इसके दूर-प्रसारी फल को लक्ष्य करके बुद्धदेव ने इसका नाम दिया था—मार, मार अर्थात् मरण। अत्यधिक कामना मृत्यु के समान दुखदायी है इसीलिये इसका नाम मार रखा गया। इसको जीतने के लिये बुद्धदेव को कितना यत्न करना पड़ा था! उस यत्न को संग्राम कहकर वर्णन किया गया है। यह बहुत उचित बात है। जितने दिनों तक कोई इसे जीत नहीं सकता उतने दिनों तक वह बुद्ध नहीं हो सकता। वेद से लेकर दर्शन तक सभी की अन्तिम गति मार-विजय की ओर है। यह कैसे प्राप्त की जा सकती है, इसी बात के अनुसंधान के लिये भिन्न भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न प्रक्रियाओं की रचना की है। ये उपाय क्या हैं? कुछ विशेष भावों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं।

एक आचार्य ने कहा है, विषयों के उपभोग से जो सुख होता है और स्वर्ग में जो महा सुख है, वे दोनों तृष्णा के क्षय होने के सुख के सोलहवें हिस्से के भी बराबर नहीं। ऐसा क्यों?

एक बार एक अभिनय हो रहा था। बालब्रह्मचारी श्री शुकदेवजी राजर्षि जनक की ख्याति सुनकर उनकी परीक्षा करने के लिये मिथिला आए थे। दोनों में बातचीत हो रही थी। ऐसे ही समय अचानक उन दोनों के सामने ही मिथिला नगरी जल उठी। यह देखकर भी

जनक निर्विकार रहे परन्तु शुकदेव जी अस्थिर और चिन्तित हो उठे। ' यह कहानी एक ज़माने में हमारे देश में खूब प्रचलित थी। जनक अकिंचन थे, अर्थात् उनकी आसक्ति किसी भी विषय पर नहीं थी। उन्होंने कहा था, 'आहा, मैं कितने सुख से जीवन धारण कर रहा हूँ। मिथिला तो जल रही है पर मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।' इस कहानी से हमारे मन में एक भाव का उद्रेक होता है। स्पष्ट ही यह कथा लोगों के मन से आसक्ति कम करने के लिये रची गई थी। दार्शनिक लोग बराबर कहते आ रहे हैं कि मनुष्य मर्त्य है—उसकी मृत्यु होती है ; परन्तु यदि उसके मन से समस्त वासना दूर हो जाय तो वह अमृत या अमर हो जाता है। इसका अर्थ यह नहीं कि वह स्वर्ग में देवता होकर जन्म लेता है ; अर्थ यही है कि काम को त्याग करने से समस्त दुःखों की समाप्ति होती है और मनुष्य इसी जन्म में परम शान्ति प्राप्त करता है।

कामना-त्याग का अर्थ यह नहीं है कि घर-द्वार छोड़कर वन में चले जाया जाय। अर्जुन ऐसा ही करना चाहते थे पर भगवान् श्रीकृष्ण ने काम-त्याग का उपदेश देते हुए कहा था कि 'हे अर्जुन, उठो, शत्रुओं को जीतकर समृद्ध राज्य भोग करो।' किन्तु कामना का त्याग सहज नहीं है। उसको समझाने के लिये ही दार्शनिकों ने नाना युक्तियों का प्रयोग किया है। क्योंकि युक्ति से समझाई हुई बात मनुष्य के मन में बैठ जाती है।

मनुष्य ऐसी चीज़ चाहता है जो उसके अनुकूल हो और जिससे उसका कोई अनिष्ट न होता हो। वह शीघ्र ही नष्ट हो जानेवाली चीज़ों को नहीं चाहता। बाज़ार में अपने साध्य भर वह ऐसा ही कपड़ा खरीदता है जो पसंद-माफ़िक भी हो और स्थायी भी हो ; क्योंकि मनुष्य अपनी सत्ता तो चाहता ही है, उसके साथ स्थायी आनन्द भी चाहता है। हाथी-घोड़े, सोने-चाँदी से आनन्द होता है। पर दार्शनिक युक्ति से समझाकर बताता है कि 'भाई, ये चीज़ें के दिन टिकती हैं? तुम चारों ओर आँख उठाकर देखो तो—कोई भी चीज़ स्थायी नहीं है, तुम्हारी देह भी नहीं, धन भी नहीं, हाथी-घोड़े भी नहीं। देह केवल अनित्य ही नहीं है, वह मल-मूत्र का कुण्ड होने से अशुचि भी है और आत्मा से भिन्न होने के कारण अनात्मा तो है ही। इसे भला कौन चाहेगा? इसीको दार्शनिक की बोली में अनित्यभावना, अशुचि-भावना और अनात्माभावना कहते हैं।

दार्शनिक इस प्रकार और भी कितनी ही युक्तियाँ दे सकता है। वह कह सकता है—"जिस धन-दौलत माल-खज़ाने को तुम अपना समझ रहे हो, वह क्या सचमुच है? आँखों से दिखाई देने मात्र से तो सभी चीज़ें ठीक नहीं होतीं। तिमिररोगी की आँख दो चाँद देखती है लेकिन चाँद तो एक ही है। सपने में हम जो कुछ देखते हैं वह दिखाई तो ठीक ही देता है पर असल में वह कितना मिथ्या है! जलते हुए मशाल को ज़ोर से घुमाने से आग

का चक्का दीखता है लेकिन आग तो एक क्षण में एक ही जगह रहती है। इन आँखों के सामने जो दिख रहा है वह भी भ्रम नहीं है, ऐसा कैसे कहा जाय—'इन आँखिन को बिसवास कहा है' !" इस बात को बताने के लिये दार्शनिक एक प्रकाण्ड युक्ति-प्रासाद खड़ा कर देता है। फिर दार्शनिक दुबारा कह सकता है, "भाई, चाहते तो तुम बहुत कुछ हो पर असल में तुम हो कौन ? हाथ, पैर मुँह, कान आदि में 'तुम' नामक वस्तु क्या है ? क्या तुम इन सब अंगों के समवाय हो ? या कुछ इनसे भिन्न हो ? मैं तो खोज-ढूँढ़कर हैरान हूँ कि 'तुम' हो क्या चीज़। सही बात यह है कि 'तुम' एक संज्ञा है, संकेत है, व्यवहार मात्र है, और कुछ नहीं—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार पहिया, जुआ, धुरी आदि अंगोंवाली चीज़ का नाम 'गाड़ी' दे दिया जाता है। फिर जब 'तुम्हारा' ही कोई ठौर ठिकाना नहीं है तो यह चाहना क्या बालू की भीत पर नहीं खड़ा है ?" फिर वह इस प्रकार भी कह सकता है—"देखो भाई, मान लिया कि तुम हो, बहुत ठीक ! लेकिन तुम्हीं-तुम हो, और कहीं कुछ नहीं। चाहना और पाना तो वहीं होते हैं जहाँ दो हों, लेकिन जहाँ दो का सवाल ही नहीं उठता वहाँ कैसा लेना और कैसा देना ?"

यह बात विशेष रूप से बता देने की ज़रूरत नहीं है कि हमारे बहुत-से अनर्थों के मूल में 'मैं' और 'मेरा'—इस प्रकार की बुद्धि है। हमारे दार्शनिकों ने जिस-किसी उपाय से भी हो, इन दो का उच्छेद करना चाहा है। एक ने कहा है—"यदि 'मैं'-ज्ञान रहे तो 'मैं'से भिन्न कोई 'दूसरा भी है' यह भी ज्ञान रहेगा ही। और फिर 'मैं' अर्थात् अपने आपके प्रति प्रेम आसक्ति और अनुराग भी होगा और 'पर' या 'दूसरे' के प्रति द्वेष भी। एक बार यह राग-द्वेष आया नहीं कि अनर्थों की सेना वहाँ पहुँच गई। इसीलिये 'मैं' और इसका आनुषंगिक 'मेरा'—इस प्रकार की बुद्धि के रहते हमारे दुःखों का अन्त नहीं हो सकता।" दार्शनिक लोग ऐसी कितनी ही युक्तियाँ देकर मनुष्य को समझाते रहे हैं पर वह समझता कहाँ है ! और समझे भी तो करे कौन ?

जिसके कारण आज समस्त जगत् अशान्ति और अस्थिरता से भर गया है वह यही काम या तृष्णा है। यह काम ही बन्धन है, दार्शनिक बताते हैं कि इसके सिवा और कोई बंधन नहीं। इसीका क्षय होना मोक्ष है। बीमारी हड्डी में घुस गई है, मज्जा तक पहुँच चुकी है, ऊपर लेप लगाने से क्या होगा ? सौ हज़ार लीग-आफ़-नेशन्स भी निरस्त्रीकरण की योजना बनाती रहें, तो भी कुछ नहीं होगा। कम-से-कम इतना तो देख ही लिया गया कि उससे कुछ भी होने-हवाने का नहीं। किन्तु हमारे दार्शनिकों ने जो दवा बताई है, उसकी एकबार परीक्षा क्यों न की जाय ? इसके लिये बहस की कोई ज़रूरत नहीं। पानी पीने से प्यास जाती है कि नहीं, इस बात की जाँच के लिये ज़रा पानी पीकर देख लेने से ही पता चल जायगा।

हिंदी का भक्तिसाहित्य

हजारीप्रसाद द्विवेदी

जिस समय हिंदी का भक्ति-साहित्य बनना शुरू हुआ था वह समय एक युग-संधि का काल था। प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम व्यवस्था का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थीं तथापि वर्णाश्रम व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एकबार कोई भी व्यक्ति उसके विशेष धर्ममत को यदि स्वीकार कर ले तो इस्लाम समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। वह राजा से रंक और ब्राह्मण से चाण्डाल तक को धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राज़ी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसंघटित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो "बिजली की चमक के समान" इस विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई। इसने दो रूपों में अपने आपको प्रकाशित किया। यही वे दो धारायें हैं जिन्हें निर्गुण-धारा और सगुण-धारा नाम दे दिया गया है। इन दोनों साधनाओं ने दो पूर्ववर्ती धर्ममतों को केंद्र बनाकर ही अपने आपको प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों (अर्थात् नाथपंथी साधकों) के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना (सगुण) ने हिंदू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना (निर्गुण) ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एकने समझौते का रास्ता लिया, दूसरीने विद्रोह का; एकने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरीने अनुभव का; एकने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरीने ज्ञान को; एकने सगुण भगवान् को अपनाया दूसरीने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनोंमें से किसीका सम्मत नहीं था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को इष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनों के साधन थे। भगवान् की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों ही का अनुभव था कि भगवान् लीला के लिये ही इस जागतिक प्रपंच को सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह

था कि सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने में रस पाते रहे, जब कि निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्त अपने आपमें रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

उन दिनों भारतवर्ष के शास्त्रज्ञ विद्वान् निबंध-रचना में जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ को मानकर सबके प्रति आदर का भाव बनाए रखकर अपना रास्ता निकाल लेना। सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त लोग भी संपूर्ण रूप से इसी पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। वे समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुंठ चित्त से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेम-पक्ष में लगाने लगे। इसके लिये उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रों का प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करते समय उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन-शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, और शास्त्र-ग्रन्थों के तारतम्य की भी कल्पना करनी पड़ी। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाण-ग्रन्थ मानना पड़ा था, पर अपने लंबे इतिहास में उन्होंने कभी भी किसी शास्त्र के संबंध में अवज्ञा या अवहेला का भाव नहीं दिखाया। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ समस्त शास्त्रों की संगति लगाई। सगुण भाव के भक्तों की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साहस में हैं। एकने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया, दूसरे ने सब कुछ को छोड़ देने का असीम साहस।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या पांडित्य ही इस युग के साहित्य को रूप नहीं दे रहे थे। कम-से-कम हिंदी के भक्ति-साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अलंकार-शास्त्र और काव्यगत रूढ़ियों से उसे एकदम मुक्त नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी वह वही चीज़ नहीं है जो संस्कृत-प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य हैं। विशेषताएँ बहुत हैं और हमें उन्हें सावधानी से जाँचना चाहिए।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकारशास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन आलंकारिको ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता संबंधी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता

है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद्विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत् के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है, केवल जड़जगत् से मानसिक संबंध को ही प्रधान मान लेना हैं। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़जगत् के संबंध की ही स्थायिता पर से रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक संबंध है उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम को प्रधानता दी जाती। जो लोग शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते हैं वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंग में बारंबार 'जड़-जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति-शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार हैं। इसीलिये चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से संबंध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्तिशास्त्रियों का दावा है कि, अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिये भगवत्प्रेम न तो इंद्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धि-साध्य। वह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन-बुद्धि, स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विश्रमित होता है। भागवत में (११.२.३६) इसीलिये कहा है—

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥

पर निर्गुण भाव से भजन करनेवाले भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिये शास्त्र बहुत कम सहायक हैं। अब तक इसके अध्ययन के लिये जो सामग्री व्यवहृत होती रही है वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियाँ है और उतने ही महत्त्वपूर्ण विषय हैं भिन्न भिन्न जातियों और संप्रदायों की रीतिनीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्तिसाहित्य के पढ़नेवाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है—विशेषकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एकको अपने ज्ञान

का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा ; एकके लिये पिंड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरेके लिये ब्रह्माण्ड ही पिंड ; एकका भरोसा अपने पर था, दूसरेका राम पर ; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर ; एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुणधारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ़ कभी न झुकनेवाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ़ घर-फूँक मस्तीवाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आपमें स्वतंत्र नहीं है। नाथमार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहज और वज्रयान की तथा शैव और तंत्रमत की अनेक साधनाएँ और चिन्ताएँ आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्तिप्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वैदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्ययुग के निर्गुण कवियों के साहित्य में आनेवाले सहज, शून्य निरंजन, नाद, विन्दु आदि बहुतेरे शब्द जो इस साहित्य के मर्मस्थल के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नहीं आ सकते जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गंभीरतापूर्वक न किया जाय। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बारबार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता-जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस शब्द का अर्थ कुछ इस लहज़े में किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। खसम भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम' अवस्था कहा करते हैं। 'ख-सम' और 'गगनोपम' एक ही बात है। अवधूतगीता में इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते ; जो माया-प्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है, और जो ज्ञानरूपी अमृतपान का परिणाम है। टीकाकारों ने 'ख-सम' का अर्थ 'प्रभास्वर तुल्य भूता' किया है। इस साहित्य में वह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है, निर्गुण साधकों के साहित्य में उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों के दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आई है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर-प्रयत्नों से साधित समाधि को बहुत आदर करते नहीं जान पड़ते। जो सहजावस्था शरीर प्रयत्नों से

साधी जाती है वह ससीम है और शरीर के साथ ही साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की ख-समावस्था को सामयिक आनंद ही मानते थे। मूल वस्तु तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक-कान रूँधने की ज़रूरत नहीं होती; कंथा और मुद्रा-धारण की आवश्यकता नहीं होती। वह सहज समाधि का अधिकारी होता है—सहज समाधि, जिसमें 'कहूं सो नाम, सुनूंसो सुमिरन, जो कछु करूं सो पूज़ा!' अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिलाकर न देखने के कारण पंडित लोग 'खसम' शब्द के इस महान् अर्थ को भूलते आए हैं। मैंने उल्लिखित 'कबीर' पुस्तक में विस्तृत भाव से इस शब्द के पूर्वापर अर्थ का विचार किया है और इसीलिये मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीरदास खसम शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरबी अर्थ के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान में रखते रहे हैं। मेरा विश्वास है कि नेपाल और हिमालय की तराइयों में जहाँ जहाँ योगमार्ग का प्रबल प्रचार था, वहाँ के लोक-गीत और लोक-कथानकों से ऐसे अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है।

परन्तु संयोग और सौभाग्यवश जो पुस्तकें हमारे हाथ में आ गई हैं उनको ही अध्ययन का प्रधान अवलंब नहीं माना जा सकता। पुस्तकों की लिखी बातों से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ में लेंगे उनमें प्रचुर कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होगी। भारतीय समाज जैसा आज है वैसा ही हमेशा नहीं था। नये नये जनसमूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने विचारों और आचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोड़ते गए हैं। पुरानी समाज-व्यवस्था भी सदा एक-सी नहीं रही है। आज जो जातियाँ समाज के सबसे निचले स्तर में विद्यमान हैं वे सदा वहीं नहीं रहीं और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर में ही रही हैं जो आज ऊँची हैं। इस विराट् जन-समुद्र का सामाजिक जीवन बहुत स्थितिशील है, फिर भी ऐसी धाराएँ इसमें एकदम कम नहीं हैं जिन्होंने उसकी सतह को आलोड़ित-विलोड़ित किया है। एक ऐसा भी ज़माना गया है जब इस देश का एक बहुत बड़ा जनसमाज ब्राह्मणधर्म को नहीं मानता था, उसकी अपनी पौराणिक-परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक-भावना भी थी। मुसलमानों के आने के पहले ये जातियाँ हिंदू नहीं कही जाती थीं—कोई भी जाति तब हिंदू नहीं कही जाती थी। मुसलमानों ने ही इस देश के रहनेवालों को पहले-पहल हिंदू नाम दिया। किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमें की बहुत-सी अल्पसंख्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिंदू होने को बाध्य हुईं या मुसलमान। इस युग की यह एक विशेष घटना है जब प्रत्येक मानव-समूह को किसी-न-किसी बड़े कम्प में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की

ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्धचंद्राकृति भूभाग में जुलाहों को देखकर रिज़ली साहब ने अपनी पुस्तक 'पीपुल्स आफ़ इन्डिया' (पृ० १२६) में लिखा है कि इन्होंने कभी समूहरूप में मुसल्मानी धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रजब आदि महापुरुष इसी वंश के रत्न थे। वस्तुतः ही वे 'ना-हिन्दू-ना-मुसलमान' थे। सहजपंथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसल्मान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफ़ी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं। मैं यह तो नहीं कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहले वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थीं और दूसरों के मानने न मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अध्येता को इन जातियों की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप ज़रूर जानने चाहिए। उसे यह भूलना नहीं चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक जाति में और न एक सम्प्रदाय में। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। यद्यपि नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर-विरोधी परिस्थितियों के मिलन-विंदु पर अवतीर्ण हुए थे। जहाँ से एक ओर हिंदुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्तिमार्ग जहाँ, से एक तरफ़ निर्गुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना, उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गए हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वह साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सका था। पर इसीको सब-कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जायँ तो इसे भी ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे। आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन ने 'ओझा अभिनंदन ग्रंथमाला' में एक लेख द्वारा दिखाया है कि मध्ययुग का भक्तिसाहित्य किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तों के साथ संबद्ध है।

साहित्य का इतिहास पुस्तकों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है। वह कालस्रोत में बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधारा की ओर इशारा भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों से गुज़रती हुई आज हमारे भीतर आत्म-प्रकाश कर रही है। साहित्य के इतिहास से हम अपने आपको ही पढ़ते हैं, वही हमारे आनंद का कारण होता है। यह प्राणधारा अपनी पारिपार्श्विक अवस्थाओं से विच्छिन्न और स्वतंत्र नहीं है। इसी रूप में हमें भक्तिसाहित्य को भी देखना है।

बौद्ध दर्शन में नैरात्म्यवाद

फणिभूषण अधिकारी

मधुसूदन सरस्वती ने अपने प्रस्थानभेद नामक निबंध में प्राचीन शास्त्रों को दो भागों में विभक्त किया है—आस्तिक और नास्तिक। नास्तिक का अर्थ समझा गया है वेदों की निन्दा करनेवाला—नास्तिको वेदनिन्दकः। पर क्या सचमुच ही 'नास्तिक' का यही मौलिक अर्थ है? ऐसा जान पड़ता है कि नास्तिक शब्द का यह अर्थ परवर्ती काल के संस्कारों का फल है। जो भी हो, नास्तिक दर्शनों में बौद्ध, जैन और चार्वाक मतों को अन्तर्भुक्त किया गया है। परन्तु सवाल यह है कि क्या जैन और बौद्ध धर्म तथा दर्शन चार्वाक-दर्शन के साथ एक ही पंक्ति में बैठाए जा सकते हैं? ऐसा करना क्या ठीक हुआ है? चार्वाक ने वेदों की निन्दा की है और वेद में बताई हुई किसी भी उपासना को स्वीकार नहीं किया है। उधर जैन और बौद्ध शास्त्रों ने वेद के कर्मकाण्ड को तो अस्वीकार किया है लेकिन ज्ञानकाण्ड अर्थात् उपनिषद् की उपासना को, साक्षात् भाव से न सही, किन्तु फलतः, ग्रहण कर लिया है। इसलिये इन दो शास्त्रों को संपूर्ण रूप से अवैदिक कहना ठीक नहीं है। इन दोनों शास्त्रों ने केवल उपनिषद् में बताए हुए ब्रह्म या ईश्वर को सृष्टिकर्त्ता, साधना का उद्देश्य या प्राप्ति की पराकाष्ठा नहीं समझा। यदि यही नास्तिकत्व का लक्षण माना जाय तो निरीश्वर सांख्य और मीमांसा को भी नास्तिकों की पंक्ति में ही बैठाना पड़ेगा, किन्तु मधुसूदन ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने सांख्य और मीमांसा को आस्तिक दर्शनों में ही स्थान दिया है। इन दोनों में मीमांसा ने तो फिर भी वैदिक कर्मकाण्ड को विशेष या एकाग्रभाव से मान्य स्वीकार किया है, पर सांख्य ने ऐसा भी नहीं किया। उल्टे इस दर्शन के वैदिक अनुष्ठान को पुरुषार्थ की प्राप्ति में बाधक के रूप में ही उल्लेख किया गया है। इसीसे जान पड़ता है कि यहाँ आस्तिक शब्द को व्यापक अर्थ में स्वीकार किया गया है। जो शास्त्र आत्मा के देहातिरिक्त अस्तित्व, कर्मवाद, धर्माधर्म और परलोकवाद को स्वीकार करता है उसे इस व्यापक अर्थ के अनुसार आस्तिक शास्त्र ही माना जाना चाहिए।

इसी अर्थ में मीमांसा और सांख्य-दर्शन आस्तिक हैं। चार्वाक इन बातों को एकदम अस्वीकार करते हैं, इसलिये उनकी गणना नास्तिकों में होना ठीक ही है। यदि यह बात स्वीकार करने योग्य हो तो जैन और बौद्ध दर्शनों को किसी प्रकार चार्वाक-दर्शन की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। क्योंकि ये दोनों ही देहातिरिक्त आत्मा, परलोक, कर्मवाद और धर्माधर्म सबकुछ

स्वीकार करते हैं। ये सिर्फ वेदोक्त ईश्वर या ब्रह्म को नहीं मानते। केवल इसी एक विषय में ये दोनों दर्शन चार्वाक के साथ एकमत हैं। अन्यान्य बातों में चार्वाक एकदम भिन्न हैं। आस्तिक दर्शनों के साथ जैन और बौद्ध दर्शनों की अनेक बातों में मेल है ; सांख्य-दर्शन के साथ तो विशेष रूप से। यहाँ हमारा मतलब आस्तिक्य-नास्तिक्य के विवाद में पड़ने का नहीं है। हम बौद्धदर्शन के उस आत्मवाद पर अपने थोड़े-से विचार प्रकट रहे हैं जिसे अन्यान्य दर्शनों में ग़लती से नैरात्म्यवाद नाम दे दिया गया है। इस स्थान पर शुरू में मैं उन मतभेदों की ही बात संक्षिप्त रूप से कह लेना ज़रूरी समझता हूँ जो इस भारतीय दर्शन के आत्म-वाद के संबंध में और आत्म-स्वरूप-निर्णय के संबंध में दिखाई देते हैं।

असल में दर्शन में चार्वाक और उस मत को माननेवाले को ही नैरात्म्यवादी कहा जा सकता है, क्योंकि चार्वाक ही देहातिरिक्त आत्मा नामक किसी पदार्थ को स्वीकार नहीं करते। यहाँ एक बात विचारणीय है। वैशेषिक-दर्शन में यह संशय उत्थापित किया गया है कि देह तो जड़ अर्थात् अचेतन है, उसमें चेतन का धर्म और क्रिया कैसे आ सकती है, अर्थात् उक्त दर्शन ने जड़ देह से भिन्न एक आत्म-द्रव्य को स्वीकार किया है। न्याय-दर्शन भी इस मत को मानता है और इस विषय में इन दोनों दर्शनों में मौलिक रूप से ऐकमत्य है। किन्तु जब देखता हूँ कि इन दोनों दर्शनों के मत से आत्म-द्रव्य स्वयं अचेतन है और चेतना केवल इसका उद्‌भूत धर्म-मात्र है, तो सोचता हूँ कि चार्वाक-मत न्याय और वैशेषिक के मत से यदि भिन्न भी है तो कितना-सा! चार्वाक भी तो कहते हैं कि अचेतन देह अवस्था-विशेष में चैतन्य प्राप्त करता है—अचेतन से ही चैतन्य की उत्पत्ति होती है। न्याय-वैशेषिक भी ऐसा ही कहते हैं। केवल इस नूतन धर्मोत्पत्ति के लिये एक विशेष आत्म-द्रव्य को उन्होंने स्वीकार किया है—इतना ही भर विशेष है। नहीं तो, अचेतन ही अवस्था-विशेष में चेतन हो सकता है, यह मूल मतवाद दोनों पक्षों में एक या समान ही है। केवल चैतन्य-धर्म की उत्पत्ति का समाधान करने जाकर आत्मा नामक एक देहातिरिक्त विशेष द्रव्य या धर्म को स्वीकार किया गया है, किन्तु मूल मतवाद एक ही है—अचेतन चेतन हो सकता है। यह कैसे संभव हो सकता है—इस बात का समाधान किया जा सका हो, ऐसा नहीं जान पड़ता।

इसीलिये सांख्य (और भट्ट मीमांसा) ने आत्मा को चेतन ही स्वीकार किया है। जैन दर्शन का भी यही मत है और प्रकारान्तर से बौद्ध लोग भी ऐसा ही मानते हैं। इनमें केवल सांख्य और बौद्ध ही ऐसे हैं जिन्होंने चैतन्य से पृथक् आत्मा नामक कोई द्रव्य नहीं माना, जब कि जैन और भट्ट मीमांसा दर्शनों ने स्वीकार किया है कि चैतन्य से पृथक् भी आत्मा नामक द्रव्य है। सांख्य के मत से आत्मा चिन्मात्र है अर्थात् बोध-स्वरूप चैतन्यमात्र है, वह (चैतन्य)

आत्मा नामक किसी पृथक् पदार्थ का धर्म नहीं है। इसीलिये शायद उसे 'पुरुष' नाम दिया गया है क्योंकि 'आत्मा' शब्द से चैतन्य-धर्म का एक और धर्मी स्वीकार किया जाता है—जैसा कि वैशेषिक और जैन दर्शनों ने किया है। अद्वैत वेदान्त भी इस बात में सांख्य से मिलता है, दोनों के मत एक ही हैं। अद्वैतवेदान्त ने 'पुरुष' शब्द का व्यवहार नहीं किया और शास्त्र-प्रसिद्ध 'आत्मा' शब्द को रख लिया है और स्वीकार किया है कि इसका यथार्थस्वरूप चिन्मय है। फिर एक बात में अद्वैतवेदान्त सांख्य के साथ बिल्कुल एक-मत नहीं है। वह पुरुष-बहुत्व को (अर्थात् आत्मा बहुत से हैं—इस बात को) नहीं मानता। आचार्य शंकर ने अपने ब्रह्म-सूत्र-भाष्य में जब यह कहा है कि यदि आत्मा को चिन्मात्र ही स्वीकार किया जाय (जैसा कि सांख्य ने किया है), तो उसका बहुत्व स्वीकार करना असङ्गत है, तो उन्होंने सुविचार ही किया है। वस्तुतः चिन्मय आत्मा एक ही हो सकता है—और वही ब्रह्म है।

जैन-दर्शन में जीव नामक आत्म-द्रव्य को स्वीकार किया गया है; उसका धर्म या गुण चैतन्य है। किन्तु मैं समझता हूँ, ये लोग उस आत्मद्रव्य के स्वरूप-निर्णय में असमर्थ ही रहे हैं। इस प्रसंग में यह कहा गया है कि द्रव्य और गुण का संबंध ऐसा घनिष्ट है कि न तो कोई द्रव्य गुणहीन है और न कोई गुण ही द्रव्य से पृथक् रह सकता है; फलतः द्रव्य और गुण का पार्थक्य इतना क्षीण हो गया है कि द्रव्य नामक कोई पृथक् धर्मी स्वीकार करने के पक्ष में कोई सुविचारित हेतु नहीं रह जाता। यही धारणा होती है कि गुणों की समष्टि ही द्रव्य है। बौद्ध दर्शन भी यही बात कहता है। यहाँ आत्मा नामक किसी नित्य और अव्यय पदार्थ को आत्मधर्म (जिसे इस दर्शन में चित्तवृत्ति कहा गया है) से पृथक् नहीं माना गया। जिसे (अन्यान्य दर्शनों में) आत्मा कहा गया है वह चित्त नामक चेतन पदार्थ है। किन्तु इस बात की धारणा नहीं होती कि वह चेतसिक (अर्थात् चित्तधर्म) से पृथक् नहीं है या वह चित्तधर्म से अलग रह सकता है। अवश्य ही सांख्य मोक्षावस्था में (कैवल्य मुक्ति में) चिन्मय पुरुष का, स्वरूप में (अर्थात् प्रकृति से पृथक्) नित्यकाल के लिये अवस्थान स्वीकार करता है। किन्तु बौद्धशास्त्र चैतन्यमात्र पदार्थ को (जिसमें कोई चेतसवृत्ति नहीं है) स्वीकार नहीं करता। क्योंकि वह हमारी बुद्धि और अभिज्ञता के बाहर है। इसीलिये बौद्ध दर्शन आत्मा नामक किसी ऐसे चिन्मात्र पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता जिसका अस्तित्व चित्तवृत्ति या आत्मधर्म से पृथक् हो। जिसे हम आत्मा कहते हैं वह उनके मत से चित्त है, और जिसे हम चित्त कहते हैं वह चैतसिक वृत्ति या व्यापारसमष्टि है, जो निरन्तर पुरातन वृत्तियों के विलय और नूतन वृतियों की उत्पत्ति के रूप में परिवर्तित या परिवर्धित हो रही है। यह नियत परिवर्तन केवल चित्त में ही हो रहा हो, ऐसी बात नहीं है, चित्त के बाहर भी जो पदार्थ हैं उनमें भी यही

नियत परिवर्तन जारी है। बौद्धदर्शन के 'क्षणभंगवाद' का यथार्थ तात्पर्य यही है। इसी कारण इस दर्शन को नैरात्म्यवादी कहकर निन्दा की गई है। निन्दा का कारण यह है कि बौद्ध दर्शन आत्मा में धर्म और धर्मी का कोई पार्थक्य या विभिन्न सत्ता नहीं स्वीकार करता। यहाँ तक कि कहीं बुद्धिजनित संस्कारवश इस धारणामात्र का भी उदय न हो जाय, इस आशंका से आत्माशब्द के व्यवहार में भी खूब सावधानी बर्ती गई है। चित्त और चेतसिक, इन्हीं दो शब्दों का व्यवहार किया गया है। परन्तु ऐसा करते समय भी चित्त को चैतसिक से पृथक् कोई पदार्थ या द्रव्य नहीं स्वीकार किया गया। जिसे चित्त कहा गया है वह चैतसिक (या चित्तवृत्ति) की परिवर्तनशील सन्तान या धारा के सिवा और कुछ नहीं है। सूक्ष्म भाव से विचार करने पर यह प्रश्न मनमें उठता है कि सचमुच ही क्या आत्मधर्म से भिन्न आत्मा-जैसे किसी पदार्थ को हम अनुभव किया करते हैं? क्या हमारे ज्ञान में ऐसे किसी द्रव्य की (जो गुण से विच्छिन्न हो) अभिज्ञता उदय होती है? यदि वस्तुतः ऐसी अभिज्ञता का उदय नहीं होता तो ऐसी प्रचण्ड धारणा हम मन में क्यों पोसे हुए हैं? बौद्ध दर्शन का अपराध यही है कि उसने इस प्रकार की भ्रान्तधारणा का त्याग या संशोधन किया है। सिर्फ आत्मा ही नहीं, जड़ जगत् में भी इस दर्शन ने द्रव्य और गुण की पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं की। कारण यह है कि वह बात हमारी बुद्धि के अगम्य है और अभिज्ञता के बाहर है। इससे बौद्ध दर्शन की गभीर दृष्टि और सत्यानुसंधान की प्रवृत्ति प्रकट होती है। अगर पक्षपात छोड़कर विचार किया जाय तो इस बात में हम जहाँ बौद्ध दर्शन की मौलिकता का प्रमाण पाते हैं वहाँ साहसपूर्वक सत्य के अवलंबन का निदर्शन भी पाते हैं। आत्मा नामक कोई नित्य द्रव्य नहीं है, जिसे हम आत्मा कहते हैं वह वस्तुतः चित्तवृत्ति की परिवर्तनशील धारा मात्र है। यदि इसे नैरात्म्ययवाद कहा जा सके तो कहा जाय। यह बौद्धदर्शन की निन्दा की बात नहीं है, बल्कि प्रशंसा की ही बात है। यदि वही वस्तु यथार्थ हो जिसे बौद्धदर्शन आत्मा कहकर इस प्रकार मानता है तो बौद्ध लोग निश्चय ही गंभीर भाव से आत्मवादी हैं।

साधारणतः अन्यान्य भारतीय दर्शन बौद्धदर्शन के इस 'नैरात्म्यवाद' को लेकर इस प्रकार के आक्षेप किया करते हैं। इसमें दो दोष दिखाए जाते हैं : एक वह जिसे 'कृतनाशः' कहा जाता है और दूसरा 'अकृताभ्युपगमः'; अर्थात् अपने किए कर्म के फलभोग का अभाव और दूसरे के किए कर्म के फल का दूसरे के द्वारा भोग। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यदि 'आत्मा' नामक किसी नित्य द्रव्य को स्वीकार न किया जाय तो एक जन्म में मैं जो शुभाशुभ कर्म करता हूँ उसका फल दूसरे जन्म में कौन भोगेगा? यदि यह कहा जाय कि कोई नहीं भोगेगा, तो मानना पड़ेगा कि उक्त कर्मफल का नाश हो गया, जो कर्मवाद के सिद्धान्तानुसार असंभव बात है। और

यदि कहा जाय कि मैं इस जन्म में जो कुछ कर्म करता हूँ उसका फल परजन्म में कोई दूसरा भोगता है, तो यह भी कर्मवाद का अनुमत नहीं है, क्योंकि जो कर्म किसीने स्वयं नहीं किया उसका फल भी वह नहीं भोग सकता। फिर यह बात कुछ न्यायतः और धर्मतः ठीक भी नहीं। यहाँ कर्मवाद की यथार्थ मीमांसा विचारणीय नहीं है। जो कुछ विचारणीय है वह यह है :

क्या हम दुनिया में यह नहीं देखते कि एक के किए का फल दूसरा भोगता है ? जब हम रोज़ ही ऐसा देख रहे हैं तो बौद्ध दर्शन का नैरात्म्यवाद इसके लिये क्यों निन्दित समझा जाय ? यदि कहा जाय कि एक जन्म की बात नहीं कही जा रही है, दूसरे जन्म की बात विचारणीय है, तो सवाल होता है कि दूसरे जन्म की धारणा क्या इसी जन्म की अभिज्ञता की छाया-मात्र नहीं है ? हम वस्तुतः इसी जन्म को परजन्म में विस्तीर्ण कर देते हैं, बीच का व्यवधान सिर्फ इतना ही है कि एक देह छोड़कर दूसरी धारण कर लेते हैं। क्या हम इस जन्म में परोपकार के लिये कुछ भी स्वार्थत्याग नहीं करते ? ज़रूर करते हैं, और जानकर या अनजान में दूसरे का उपकार करते हैं। बौद्धों का दुःखवाद यही कहता है कि दुःख की निवृत्ति करनी होगी, फिर वह दुःख चाहे जहाँ हो और जिसका हो। इसलिये हमारा कर्तव्य है कि हम वही करें जिससे संसार में दुःख का लाघव हो या निवारण हो। मैं यदि इस जन्म में अपनी चित्तवृत्ति-धारा में यह संकल्प करूँ कि मेरे किए कर्म से जन्मान्तर में मेरी चित्त-वृत्ति-धारा द्वारा जिस धारा का आरंभ होगा (जिसे मैं अपने से भिन्न समझता हूँ), उसमें रोग-दुःख का उपशम या निवारण हो, तो मेरा यह कार्य यथार्थ भाव से (यहाँ तक कि गीता में बताए ढंग से भी) निष्काम होगा। पर यदि दूसरे जन्म में मैं अपने ही दुःख के निवारण या सुखवर्धन के लिये कर्म करूँ, तो यह कार्य भी क्या उतना ही निष्काम होगा ? इसीलिये बौद्ध-धर्म में मैत्रीसाधना को इतना ऊँचा स्थान दिया गया है। यथार्थ मैत्री किसी व्यक्ति-विशेष के लिये नहीं बल्कि समस्त प्राणि-मात्र के दुःख-निवारण और सुखवर्धन के लिये होती है। दुःख जहाँ कहीं भी क्यों न हो, उसे दूर करना होगा, यही मैत्रीसाधना का उद्देश्य है। यह मैत्रीसाधना ही बोधिसत्त्वावस्था का विशेष लक्षण है और यही उनके जीवन का उद्देश्य है। बोधिसत्त्वगण व्यक्तिगत भाव से अपना निर्वाण नहीं चाहते, वे समस्त जगत् का कल्याण चाहते हैं अर्थात् प्राणिमात्र के दुःख की समाप्ति चाहते हैं। यह साधना और यह उद्देश्य सब प्रकार से स्वीकारने योग्य और करने योग्य हैं, यह बात हमारी धारणा-शक्ति के बाहर हो सकती है, किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि ये अत्यन्त महान् और उच्च हैं। यदि इस महती साधना के मूल में बौद्धों का 'नैरात्म्यवाद' है तो वह मतवाद सचमुच निन्दा-योग्य है या नहीं, इसे पंडितों को विचारना चाहिए।

एक दिन इसीको जीत होगी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

शुरू में ही जहाज़ के घाट पर चीनी मज़दूरों के कामकाज पर नज़र पड़ी। प्रत्येक एक नीला पायजामा पहने है और बाक़ी बदन खुला हुआ है। ऐसा शरीर भी अन्यत्र कहीं देखने नहीं मिला, ऐसा काम भी नहीं। एकदम प्राणसार देह है—बाहुल्य का कहीं लेशचिह्न भी नहीं। काम के ताल-ताल पर शरीर की मांसपेशियों का उभार लहरा उठता है। बड़े-से-बड़े बोझ को ये लोग ऐसी सफ़ाई और तेज़ी से सहज ही धर-उठा रहे हैं कि देखकर ही आनन्द अनुभव होता है। सिर से पैर तक कहीं भी अनिच्छा, अवसाद या जड़ता का लेशमात्र लक्षण नहीं। ऊपर से जल्दी करने की ताक़ीद करने का प्रयोजन ही नहीं है। उनके देह के वीणायंत्र से काम संगीत की तरह अनायास बज रहा है। जहाज़ के घाट पर सामान चढ़ाने-उतारने का काम देखकर मुझे इतना आनन्द मिलेगा, यह बात कभी ध्यान में ही नहीं ला सकता था। पूर्णशक्ति का कार्य खूब ही सुन्दर होता है; उसका प्रत्येक आघात देह को सुन्दर बनाता रहता है और सुन्दर देह काम को और भी सुन्दर कर चलती है। काम-काज का काव्य और मानव-काया का छन्द इस जगह मेरे आगे विस्तीर्ण होकर दिखाई दिए। यह बात ज़ोर देकर कह सकता हूँ कि किसी नारी की देह उनके शरीर की अपेक्षा सुन्दर नहीं हो सकती,—कारण शक्ति के साथ सुषमा की ऐसी निर्दोष संगति नारी-देह में निश्चय ही दुर्लभ है। हमारे जहाज़ के ठीक सामने एक और जहाज़ पर कामकाज से छुट्टी पाकर तीसरे पहर सब चीनी मल्लाह खुले-बदन डेक पर स्नान कर रहे थे,—मनुष्य की देह में कैसी स्वर्गीय शोभा है, यह मैंने इस तरह पहले और कभी नहीं जाना था।

काम की शक्ति, नैपुण्य और आनन्द को इस तरह पुञ्जीभूत भाव से एकत्र देखकर मैंने मन-ही-मन समझा कि इस बृहत् जाति के भीतर देश को परिव्याप्त किए हुए कितनी सारी शक्ति और क्षमता संचित हो रही है! यहाँ मनुष्य पूरी तरह अपने आपको प्रयोग करने के लिये कितने दिनों से प्रस्तुत हो रहा है! जिस साधना में मनुष्य स्वयं ही अपने को सोलह आना व्यवहार करने की शक्ति पाता है, उसकी कृपणता लुप्त हो जाती है, अपने ही निकट वह अपने को धोखा नहीं देता—निश्चय ही वह बहुत बड़ी साधना है। चीन ने सुदीर्घ काल से इसी साधना में पूर्ण भाव से काम करना सीखा है; उसी काम के ही भीतर उसकी अपनी शक्ति उदार भाव से मुक्ति और आनन्द पा रही है;—यह एक परिपूर्णता का सर्वाङ्गसुन्दर चित्र है। चीन की इस शक्ति

के कारण ही अमरीका ने उससे भय किया है ; कर्म के उद्यम में वह चीन को नहीं जीत पाता, इसीलिये देह की ज़बर्दस्ती द्वारा उसे ठेले रखना चाहता है।

यह इतनी बड़ी शक्ति जिस दिन हमारे आधुनिक युग के सर्वश्रेष्ठ वाहन को पा सकेगी, अर्थात् जिस दिन विज्ञान को हाथ कर लेगी, उस दिन पृथिवी में ऐसी कौन-सी ताक़त है जो उसे बाधा दे सके? उस दिन उसकी कर्म-प्रतिभा के साथ उपकरण का योगसाधन हो जायगा। इस समय जो सब जातियाँ पृथिवी की सम्पद भोग रही हैं, वे चीन के इसी अभ्युत्थान को डरती हैं, उस दिन को वे दूर ठेले रखना चाहती हैं। किन्तु जिस जाति के पास जिस दिशा में जितने ही बड़े होने की शक्ति रहती है, उस दिशा में उसे उतना बड़ा होने में बाधा भी आती है—स्वराष्ट्रपूजा से उत्पन्न होकर। इसके समान सर्वनाशी पूजा जगत् में अन्य नहीं। ऐसी बर्बर जातियों की बात सुनने में आती है जो अपने देश के देवता के निकट अन्य देश के मनुष्य को बलि देती हैं। किन्तु आधुनिक काल की स्वदेशपूजा उससे कहीं भयंकर वस्तु है ; वह अपनी भूख बुझाने के लिये समूची जाति-की-जाति और देश-के-देश पर अपना दावा करती है।

हमारे जहाज़ की बाईं तरफ़ चीनी नावों का दल है। उनमें पति-पत्नी और लड़के-बाले सब मिलकर रहते और काम करते हैं,—काम-काज की वही तसवीर मुझे सबसे आकर्षक लगी। कर्म की यही मूर्ति है, एक दिन इसी की जीत होगी। यदि न हो, यदि वाणिज्य-दानव ही मनुष्य की घर-गिरिस्ती, आनंद-आज़ादी आदि को लीलता चला जाए और एक वृहत् गुलाम-संप्रदाय की सृष्टि कर डाले तथा उसीकी मदद से कुछ थोड़े-से लोगों का आराम और स्वार्थ-साधन करता रहे, तब यह पृथिवी रसातल को चली जायगी। इन स्त्री-पुरुषों, बाल-बच्चों की इस तरह एक साथ मिलकर काम करती हुई छवि देखकर मैंने एक दीर्घ-निश्वास छोड़ी। कब मिलेगी यह तसवीर भारतवर्ष में देखने! यहाँ तो मनुष्य अपना बारह आना अंश अपने आपको ही धोखा देकर काट रहा है। नियमों का ऐसा जाल फैला है जिससे वह केवल बाधा ही बाधा पाकर, केवल उलझ-उलझकर ही अपनी शक्ति का अधिकांश फ़िज़ूल खर्च कर देता है, बाक़ी अधिकांश को कामकाज में जुटा ही नहीं पाता। विपुल जटिलता और जड़ता का ऐसा समावेश पृथिवी में और कहीं नहीं मिल सकता। चारों ओर केवल जाति के साथ जाति का विच्छेद, नियम के साथ काम का विरोध, आचार-धर्म के साथ काल-धर्म का द्वन्द्व फैला हुआ है।

(सन् १९१६ ई०, जापान जाते समय चीनी समुद्र से लिखी हुई एक चिट्ठी से)

सापेक्षतावाद्

राहुल सांकृत्यायन

सारा (विश्व) अनित्य (क्षण-क्षण परिवर्तनशील) है, यह बुद्धदेव* के सारे दर्शन का सार है। "जो है वह क्षणिक है"× जो क्षणिक नहीं वह है ही नहीं, यह बौद्ध-दर्शन का साधारण नारा रहा है। वैसे अरस्तू ने भी "जहाँ भूत (भौतिकतत्व) हैं वहाँ गति और परिवर्तन है"— कहा, किन्तु अरस्तू के लिये एक नित्य अपरिवर्तनशील आध्यात्मिक (विज्ञानमय) जगत भी मौजूद था। लेकिन अभी हम परिवर्तनशीलतावाद के दार्शनिक पहलू पर विचार नहीं कर रहे हैं। विश्व में क्षणिकता और निरन्तर गति के सिद्धान्त को मानते ही हमें किसी-न-किसी रूप में सापेक्षतावाद पर पहुँचना होगा, जैसा कि बौद्ध दर्शन अन्त में नागार्जुन के सापेक्षतावाद पर पहुँचा, यद्यपि वह रचनात्मक की जगह ध्वंसात्मक, वास्तविक की जगह काल्पनिक ज्यादा था। आइन्स्टाइन का सापेक्षतावाद भी विश्व की क्षणिकता, निरन्तर गति का ही परिणाम है।

दीपशिखा में, तिनके की आग में, क्षणिक परिवर्तन हमें साफ़ दिखाई देता है। बहती धारा और उड़ते बादलों की गति हमारे लिये स्पष्ट है। किन्तु कितनी ही वस्तुएँ हमें देखने में स्थिर, गतिशून्य मालूम होती हैं। वृक्ष का यह हरा पत्ता स्थिर मालूम हो रहा है, किन्तु यदि इसे एक शक्तिशाली अणुवीक्षण से देखें, तो वह दौड़ते कणों का झुंड मालूम होगा। स्थिर पानी देखने में निश्चल मालूम होता है, किन्तु जिन अणुओं के मिलने से वह बना है, उन्हें हम अणुवीक्षण से देखें तो मालूम होगा कि वे बड़ी तेज़ी से चल रहे हैं। छोटे-छोटे कण किसी तरल पदार्थ में लटकाए जाते हैं, और काफ़ी देर तक ज़रा भी कहीं से धक्का या गति न देने पर वह स्थिर-से दीख पड़ते हैं। तरल वस्तु को जिस वक्त इस तरह हम बिल्कुल निश्चल देख रहे हैं उस वक्त भी यदि हम अणुवीक्षण से जाँच करें, तो वे छोटे कण घूम-घुमौवे तरीके पर झटके के साथ चलते दीख पड़ेंगे। नापने पर जान पड़ता है कि पानी के अणु उन्हें धक्का दे रहे हैं, जिससे वे निश्चित गति से अनिश्चित दिशा की ओर चलते मालूम होते हैं। कणों की इस गति को ब्राउनीय गति कहते हैं। इस प्रकार जब कि तरल पदार्थ निश्चल-सा मालूम होता है, उस वक्त भी उसके बनानेवाले कण हिल रहे होते हैं। तरल पदार्थ के जिस रूप को हमारी आँखें देख सकती हैं, वह हमें निश्चल-सा मालूम होता है। लेकिन तीव्र गति से चलता बिजली

* सब्बं अनिच्चं (सर्वमनित्यम्)

× यत् सत् तत् क्षणिकम्

का पंखा भी निश्चल मालूम होता है, और ऐसे चलते हुए अत्यन्त छोटे-छोटे पंखों के गोल चक्करों को मिलाकर यदि हम कोई शकल तैयार करें तो वह भी हमें निश्चल ही मालूम होगी, किन्तु यह निश्चलता वास्तविक निश्चलता नहीं है।

इस प्रकार विश्व में दिखलाई देनेवाली निश्चलता वस्तुतः दिखने की ही निश्चलता है। विश्व के सूक्ष्मतम अंश—विश्व की मूल ईंटें—तो गति में सब को मात करती हैं। स्थिरता का भारी भ्रम हमारे भाषा-दोष से भी होता है। ठीक तरह से कहने पर हम "है" कह ही नहीं सकते। "है" स्थिरता को प्रकट करता है जिसका कि प्रकृति के राज्य में कहीं पता भी नहीं। "है" की जगह "होता है" (भवति) कहना अधिक दुरुस्त होगा, क्योंकि जगत् वस्तुओं (जिनसे स्थिरता प्रकट होती है) का नहीं, घटनाओं का समूह है, वह सिनेमा की सर्राटे से भागती तस्वीरों से बना दृश्य है।

हमारे विचार बदलते रहते हैं, रुचि-अरुचि कालान्तर में कुछ-से-कुछ हो जाती हैं। आचार-विचार, धारणाओं और रूढ़ियों की क़ीमत हमारी नज़र में भी घटती-बढ़ती रहती है। परिस्थितियाँ हमको बदल रही हैं, हम परिस्थितियों को बदल रहे हैं। समाज व्यक्ति को बदल रहा है, व्यक्ति समाज को बदल रहे हैं। मनुष्य के शरीर का सबसे सूक्ष्म यंत्र—उसके मस्तिष्क की पीली मजा—का तेज़ी से बिजली की चाल से लहराना और बदलना ही हमें ज्ञान और विज्ञान के बड़े-बड़े चमत्कारों के रूप में दिखाई पड़ता है।

बादलों को तरह-तरह का रूप लेते देख दर्शक के मन में बड़ा कौतूहल होता है। विश्व रूप बदलने में अपने बादलों से पीछे नहीं है। उसका हर एक अवयव जो एक क्षण पहले था, वही दूसरे क्षण नहीं रहता। कोयले का टुकड़ा एक क्षण पहले कोई काली-काली ठोस चीज़ थी, अब वह जलकर कोयला नहीं रहा। उसका कुछ भाग चमकते कणों में बदल गया, जो कि अब आकाश में चल रहे हैं, कुछ भाग काले कणों का रूप ले धुएँ की शकल में फैल रहा है।

विश्व में तेज़ी से परिवर्तन हो रहे हैं, और हर परिवर्तन एक नयी चीज़ हमारे सामने उपस्थित कर रहा है। आमूल परिवर्तन हो रहा है, किन्तु कुछ शर्तों के साथ। जो चीज़ नयी उपस्थित होती है, वह पहिले के गुणों में ही नहीं, रूप में भी सादृश्य लिए होती है। इसी सदृश-उत्पत्ति के कारण हमें स्थिरता का भ्रम होता है, जैसे काटे जाने के बाद नये उगे केशों में। स्थिरता का भ्रम अपने आपको अलग करने के कारण भी है, जो कि उस दिलचस्प कहानी से समानता रखता है : सात सीधे-सादे लोग घर से निकलकर कहीं जा रहे थे। रास्ते में फूली हुई अलसी का खेत आया। उन्होंने समझा—शुद्ध नील जल का सरोवर है, नहा लेना चाहिए। कपड़े खोल उन्होंने मल-मलकर नहाना शुरू किया। नहाकर बाहर निकले, कपड़ा

पहिन गिनने लगे तो छः आदमी मौजूद थे, एक गायब। दूसरे, तीसरे......सभी ने गिना किन्तु वही छः, एक गायब। बैठकर रोने लगे—"हाय! हमारा एक साथी इस सरोवर में ही कहीं डूब गया।" वह गिनने में अपने को छोड़ जाते थे। हम भी विश्व के परिवर्तन को जब कभी अनुभव करते हैं, तब अक्सर भूल जाते हैं कि हम खुद उस परिवर्तन के शिकार हैं। देश (लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई) और काल इसी परिवर्तन के रूप को प्रदर्शित करते हैं, यह हम आगे बतलानेवाले हैं। यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि जब हम किसी उत्पन्न वस्तु के कारणों को गिनाते हैं, तो उनमें काल नहीं गिनाते, और न देश को ही। भौतिक कारणों के समुदाय से अलग देश-काल की सत्ता नहीं। देश कारणों की एक दूसरे की उस सापेक्ष स्थिति को बतलाता है, जो उन्हें साथ-साथ देखते वक्त मालूम होती है। काल उनकी स्थिति को, साथ-साथ नहीं, आगे-पीछे प्रकट करता है। वस्तुतः कहना चाहिए कि साथ-साथ की सापेक्ष स्थिति को हम वस्तु से अलग करके उसी तरह काल कहकर पुकारते हैं, जिस तरह एक दो......को वस्तु से अलग करके। और इसी तरह एक साथ नहीं, आगे-पीछे की सापेक्ष स्थिति को अलग करके काल कहकर पुकारते हैं।

२६ वर्ष के एक तरुण ने १९०५ ई० में जर्मन-भाषा के एक वैज्ञानिक वार्षिक-पत्र "भौतिकशास्त्र का वर्षपत्र" में एक निबंध लिखा। संसार के दार्शनिक और वैज्ञानिक इतिहास में उस निबंध ने ज़बर्दस्त उथल-पुथल मचा दी। उन्नीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी गवेषणा समझे जानेवाले "ईथर" तत्व को उसने नाममात्र ही शेष रहने दिया। दो शताब्दियों से वैज्ञानिक क्षेत्र में धाक जमाकर बैठे हुए न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण से उसका सिंहासन छीन लिया। उस तरुण का नाम है अल्बर्ट आइन्स्टाइन् (जन्म १८७९ ई०), और उसके इस निबंध का नाम था—"सीमित सापेक्षता"। १९१६ ई० के बाद आइन्स्टाइन ने अपने सिद्धान्त को और भी विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त किया, जिसका नाम है—"असीम (या साधारण) सापेक्षता"। अपनी इस गवेषणा के लिये आइन्स्टाइन् को सन् १९२१ में भौतिकविज्ञान का नोबेल-पुरस्कार मिला। निबंध भौतिक और गणित शास्त्रों की पेचीदगियों से भरा है, इसलिये उसको यहाँ देना मेरे लिये दुस्साध्य और अधिकांश पाठकों के लिये निष्प्रयोजन है। किन्तु विशेषज्ञों के काम का होने पर भी आइन्स्टाइन् का सापेक्षतावाद ऐसा नहीं है कि साधारण शिक्षित जन उसे बिल्कुल समझ ही न सकें, और वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने के लिये तो उन्हें इसकी आवश्यकता और भी अनिवार्य है।

सापेक्षतावाद ने उन्नीसवीं शताब्दी के वैज्ञानिकों में प्रचलित कई सिद्धान्तों को भ्रान्त सिद्ध कर दिया है। ईथर, गुरुत्वाकर्षण, देश और काल की धारणाएँ इनमें मुख्य हैं। आगे इनकी चर्चा करने के पूर्व कुछ साधारण बातों की जानकारी ज़रूरी होगी।

रेखागणित के बहुत-से स्वयंसिद्धों को हम खातिर के लिये ही स्वयंसिद्ध मान लेते हैं। रेखा वह है जिसमें लंबाई हो पर चौड़ाई या मुटाई नहीं। विंदु में लंबाई भी नहीं होती। दुनिया में ऐसी रेखा नहीं देखी गई जिसमें चौड़ाई या मुटाई न हो। ये उपेक्षणीय या नगण्य दिख सकती हैं पर वे हैं ही नहीं, यह नहीं कह सकते। धरातल की भी यही बात है। भले ही हमारा दिमाग़ सिर्फ लंबाई-चौड़ाई को ही ध्यान में लावे, किन्तु सिर्फ उन्हीं दो परिमाणोंवाली किसी चीज़ को तो प्रकृति ने नहीं बनाया है। सरल-रेखा काग़ज़ पर खिंची देखकर हम समझ लेते हैं कि इसकी सरलता बिल्कुल स्वाभाविक बात है। सरल-से-सरल रेखा को भी यदि अधिक बारीक पैमानों से जाँचा जाए तो वह पूरी सरल नहीं उतर सकती और यदि उस सरल-रेखा को हाथ-दो-हाथ से फ़र्लांग और सौ-दो-सौ मील तक बढ़ाया जाए, तो चाहे चींटे के देखने में फुटबाल की लकीर सरल-रेखा भले ही हो, किन्तु पृथिवी-जैसी गोल चीज़ पर खींची रेखा सरल नहीं हो सकती। हमारी खींची सभी रेखाएँ पृथिवी पर खिंची बड़ी रेखाओं की अंशमात्र हैं। दो विन्दुओं के बीच एक ही 'सरल रेखा' खींची जा सकती है, यह कैसे? सरल रेखाओं से बने धरातल की समतलता भी श्रद्धामात्र है। छोटा तालाब समतल मालूम होता है; तीन तरफ़ स्थल से घिरी खाड़ी का जल भी समतल मालूम हो सकता है; किन्तु उसकी चौथी तरफ देखने या खुले समुद्र पर नज़र डालने से मालूम होगा कि वह समतल नहीं, गोलतल है। जब सरल रेखाएँ भी वृत्त के छोटे अंश है, तो "दो सामानान्तर रेखाएं आपस में कहीं नहीं मिलती", यह भी कल्पनामात्र है। त्रिभुज के तीनों कोण दो समकोण के बराबर होते हैं, यह बात भी ठीक नहीं है। त्रिभुज यदि धनुषाकार चापों से बना है और सभी रेखाएँ पृथिवी-मेखला की अंश हैं, तो वे दो समकोण से कम और अधिक भी हो सकते हैं।

नाप का भी यही हाल है। जिस लम्बाई, चौड़ाई, मुटाई के द्वारा हम विन्दु, रेखा, धरातल आदि की व्याख्या करते हैं, उन्हें हम उनकी वास्तविक-सापेक्ष-स्थिति में न लेकर एक आदर्श-मान के रूप में लेते हैं। लम्बाई नापने के लिये कोई स्थिर आदर्श मानदंड नहीं मिल सकता। ठोस-से-ठोस धातु का ठीक से नापा हुआ मानदंड—लोहे या पीतल का तार या छड़—भी एक दिशा से दूसरी दिशा में घुमाने मात्र से अपनी लम्बाई का करोड़ हिस्सा घट या बढ़ जाता है। एक ही ज़मीन की भिन्न-भिन्न समय में, या भिन्न-भिन्न आदमियों द्वारा की गई जितनी नापियाँ होती हैं, वे सूक्ष्मता में जाने पर एक-सी नहीं उतरतीं। शीशे या प्लाटिनम की खूब सावधानी से निशान लगायी हुई जरीब से नापा जाए, तो भी नापियों में कुछ-न-कुछ अन्तर रहता है। फिर दिशा बदलने से लम्बाई का फ़र्क होता है, यह अभी कह चुके हैं। साथ ही तापमान के परिवर्तन से धातुओं का फैलना-सिकुड़ना लाज़मी है। और समयान्तर में भीतरी

परमाणुओं की स्थिति में जो लगातार अन्तर पड़ रहा है, वह भी मान में अन्तर डालता ही है। खुद नापी जानेवाली ज़मीन के बारे में तो यह बात और भी सच है, क्योंकि वह प्लाटिनम की-सी दृढ़ता नहीं रखती। और नापनेवाला तो यदि अपने औजारों की बात को न माने, तो "मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्ना"—कहावत के अनुसार हर एक नापनेवाला अपना-अपना अलग ही परिणाम बतलाएगा। किसी नापी को सच्चा मानते वक्त हम उसे परमार्थ की कसौटी पर नहीं कसने लगते, क्योंकि वह कसौटी मनुष्य की कल्पना के सिवा और कहीं है ही नहीं। न हम नापी के परिणाम को बिल्कुल झूठ कहकर व्यवहार से वहिष्कृत कर देते हैं। हमारा सच्चा मान वह है जो कि भिन्न-भिन्न नापियों का माध्यम (औसत) है। सावधानी के साथ जितनी अधिक नापियाँ की जायँगी, माध्यम उतना ही ठीक होगा। और जो नापी इस माध्यम के समीप होगी, वही सत्य होगी।

इन बातों से यह तो पता लग गया कि तार्किकों ने वास्तविकता की अच्छी तरह छानबीन किए बिना जो सिर्फ तर्क से कुछ बातों को 'स्वयंसिद्ध' कह डाला है, वह उन्हींके शब्दों में मान लेने लायक नहीं है। हमारी उक्त परिभाषाएँ ठीक हो सकती हैं, यदि उन्हें परमार्थ-सत्य मनवाने की जगह हम सापेक्ष-सत्य कहें। अधिक वक्र की अपेक्षा कोई रेखा सरल हो सकती है, अधिक मोटे विन्दुओं या अत्यन्त क्षुद्र रेखाओं की अपेक्षा किसी विन्दु की लम्बाई-चौड़ाई को हम नगण्य समझ सकते हैं। हमारे सभी नाप-तौल सापेक्ष हैं, परमार्थ मन की कल्पनामात्र है। परमार्थ को प्राकृतिक वस्तुओं और नियमों पर जब हम लादने की कोशिश करते हैं, तो यही नहीं कि हम वस्तु-सत्य—'ठोस' जगत—को छोड़ आकाश में उड़ने लगते हैं, बल्कि उलटी धारणाओं को फैलाते हैं।

लेकिन, वस्तुओं और उनके गुणों की सापेक्षता का मतलब यह नहीं है कि हम उनकी सत्ता से इन्कार कर दें। सापेक्षता परमार्थ-नामधारी किसी भी पदार्थ को सिद्ध नहीं होने देती ; किन्तु सापेक्षता द्वारा सत्ता से इन्कार करवाना तो उसकी सीमा से बाहर जाना है। सापेक्षता आखिर माननी क्यों पड़ती है ? इसीलिये तो कि वस्तु-सत्ता हमें वैसा मानने के लिये मजबूर करती है। फिर धर्मकीर्ति के शब्दों में, "यदि वस्तुओं को यही पसन्द है, तो हम कौन हैं" ?* वस्तु से दूर परमार्थ-सत्य ढूँढ़ने के फेर में हम क्यों मरते हैं ?

अब मूल विषय पर आया जाय।

उन्नीसवीं सदी के वैज्ञानिकों के सामने बड़ा प्रश्न यह था : सूर्य, ग्रहों, ताराओं के बीच जो

* यदीदंस्वयंमर्थानां रोचते तत्र के वयम्।—प्रमाणवार्तिक २।२०९

इतनी खाली जगह है, उसमें किरणें कैसे एक जगह से दूसरी जगह जाती हैं ? हमारी पृथिवी-जैसे बहुत कम आकाशीय पिण्ड हैं जिनके पास अपना वायुमंडल है, और जहाँ वह है भी, वहाँ कुछ-सौ मीलों का है, जिससे प्रकाशकिरणों के फैलने की समस्या हल नहीं होती। प्रकाश भी कोई भारहीन चीज़ नहीं है। एक वर्गमील क्षेत्र पर प्रति मिनट आधी छटाँक (ढाई तोला या एक औंस) सूर्य की किरणें गिरती हैं, और इस भार का वहाँ दबाव भी पड़ता है, पिछली सदी में प्रकाश को कणों से बना माना जाता था। आज उसे कण-तरंग दोनों के गुणों से युक्त माना जाता है। इन तरंगों की भिन्न-भिन्न लम्बाइयाँ और दोलन हैं, यह हम आगे बतलाएँगे। प्रकाशकिरणें तीन लाख किलोमीटर (१८६ हज़ार मील) प्रति सेकेंड के वेग से चलती हैं। इस प्रकार आकार, भार, दबाव रखनेवाली किरणों के एक तारे से दूसरे तारे या ग्रह तक पहुँचने के लिये—और आकाशीय पिण्डों के तैरने के लिये भी—एक माध्यम की अनिवार्य ज़रूरत थी। इसके लिये ईथर की कल्पना की गई। ईथर तारों, ग्रहों और दूसरे आकाशीय पिण्डों की खाली जगहों में ही भरा नहीं है, बल्कि अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु के भीतर जो अधिकांश खाली जगह है, वहाँ भी वह व्याप्त है। वह एक अभौतिक नहीं, भौतिक पदार्थ है, उसमें खास परिमाण की लचक और घनता है। हाँ, इस लचक और घनता का परिमाण जो बतलाया जाता था, वह सन्देहजनक ज़रूर था, यद्यपि उस वक्त दूसरी समस्याओं के कारण इसकी ओर विद्वानों का ध्यान नही जा सका था।

एक नाव नदी के इस पार आई, उसे खूँटे से बाँध दिया गया है। पतवार माँगे पर इस तरह डाल दिया जाता है कि उसकी थापी नाव से बाहर निकली रहती है। उससे जल की बूँदें टपक रही हैं। हर एक बूँद गिरकर पानी में एक वृत्त बनाती है, जिसकी परिधि आकार में बढ़ती हुई, पानी पर अग्रसर होती है। जैसे-जैसे एक बूँद के बाद दूसरी बूँद टपकती है, वैसे ही एक के बाद दूसरे वृत्त बनते हैं, और ये बढ़ते हुए भी पहिले वृत्त से छोटे तथा एक ही केन्द्र-विन्दुवाले समकेन्द्रक होते हैं। यद्यपि इन वृत्तों के व्यास लगातार बढ़ रहे हैं, तो भी उनके व्यासों की एक-दूसरे के साथ की कमी-वेशी एक-सी रहती है, क्योंकि उनके अग्रसर होने की एक-सी गति है। अब नाव खोली जाती है, पतवार को वैसे ही पड़ा छोड़कर मल्लाह उसे लग्गी से चलाता है। बूँदें अब भी गिर रही हैं, किन्तु एक जगह नहीं, इसलिये वृत्त एक केन्द्रवाले नहीं हैं, और उलझाए छल्लों की भाँति आगे बढ़ रहे हैं। वैज्ञानिक कह रहे थे कि पतवार की स्थिति गिरी हुई बूँदों के वृत्तों की गति पर जिस तरह कोई प्रभाव नहीं रखती, उसी तरह प्रकाश का उद्गम—आकाशीय पिण्ड (सूर्य)—प्रकाश की गति पर कोई प्रभाव नहीं डालता। हर छूटने-वाली प्रकाशकिरण उसी १८६००० मील प्रति सेकेंड की चाल से चलती रहेगी। फिर सवाल

था, बूँद के वृत्तों की चाल को जिस प्रकार जल अपनी घनता के कारण रुकावट डालकर कम करता जाता है, क्या उसी तरह ईथर प्रकाश किरणों की गति में फ़र्क नहीं डालेगा ? लेकिन वेध बतलाता था कि प्रकाश-गति दूर या नज़दीक—सभी दिशाओं में समान अर्थात् १८६ हज़ार मील प्रति सेकंड ही रहती है, यह नहीं होता कि कुछ लाख मीलों की दूरी से आनेवाला प्रकाश ज्यादा द्रुतगामी हो और करोड़ों, अरबों, खरबों, नीलों प्रकाश-वर्षों से आनेवाला मन्दगामी। यह क्यों ? इसका उत्तर वे सिर्फ यह दे सकते थे कि ईथर की घनता इतनी कम है कि प्रकाश-गति पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह उसके लिये शून्य-सी है, और न उसमें तैरनेवाले आकाशीय पिण्डों की गति ही उसकी विद्यमानता से घटती-बढ़ती है। ईथर भौतिक वस्तु भी हो और उसमें घनता और तरंग-प्रवाहिता भी हो, किन्तु वह किरणों और आकाशीय पिण्डों की गति पर असर न डाले, यह बात युक्तिसंगत न थी। तो भी वैज्ञानिक 'माध्यम' के ढूँढ़ने में इतने परेशान थे कि वह ईथर को छोड़ नहीं सकते थे। जहाँ-जहाँ माध्यम की दिक्कतें आईं वहाँ-वहाँ उन्होंने खास गुणोंवाले ईथरों की कल्पना की। यहाँ तक कि शरीर के एक भाग की सूचना दूसरे भाग तक कैसे पहुँचती है, इसके लिये भी उन्होंने एक खास ईथर की कल्पना की। संक्षेप में, समस्याओं की वृद्धि के साथ समाधान करनेवाले ईथरों की संख्या भी सैकड़ों पर पहुँच गई। इतने पर भी ईथर उन्नीसवीं सदी के विज्ञान की सबसे बड़ी देन समझा जाता रहा।

न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण भी जहाँ सेब के ज़मीन पर गिरने का कारण था, वहाँ ज्वार-भाटे की गति, पृथिवी की वर्तमान आकृति, चन्द्रमा की पृथिवी के गिर्द परिक्रमा, पृथिवी, बृहस्पति ग्रहों का सूर्य के गिर्द घूमना—आदि बहुत-से प्रश्नों का एक ही हल समझा गया। गुरुत्वाकर्षण प्रकाश, बिजली और चुम्बक की भाँति एक भौतिक वस्तु माना गया था। लेकिन जहाँ प्रकाश आदि के एक जगह से दूसरी जगह पहुँचने में देर लगती है, तेज़ होने पर भी उनकी एक परिमित गति है, वहाँ गुरुत्वाकर्षण को एक जगह से दूसरी जगह जाने में कोई समय नहीं लगता, हालाँकि पिण्ड के साथ संबद्ध होने तथा उसकी गति के साथ गति करने के कारण ऐसी वस्तु की कोई सीमित गति होनी ही चाहिए जो सर्वव्यापक नहीं है। गुरुत्वाकर्षण को यदि सर्व व्यापक माना जाए तो उसके लिये खास पिण्ड कोई विशेषता नहीं रखता, और फिर उसकी स्वतंत्र सत्ता माननी ही पड़ेगी। बिजली, चुम्बक और एक्स-रे को भी आड़ देकर किसी जगह पहुँचने से रोका जा सकता है, किन्तु गुरुत्वाकर्षण को रोकनेवाली कोई आड़ नहीं, यह भी माना जाता था।

परिवर्तन में काल इस तरह मिश्रित है कि उसे परिवर्तन से अलग नहीं किया जा सकता। लम्बाई में एक जगह से दूसरी जगह के परिवर्तन को हम काल (मिनट-घंटे) में बतलाते हैं। और काल में परिवर्तन के लिये लम्बाई की सहायता लेते हैं, अर्थात् इतना काल जिसमें काँटे ने

बारह से चार बजे की दूरी को घड़ी के डायल पर तै किया। काल पर विचार करते वक्त हमारा ध्यान उसे एक स्वतंत्र सत्ता मानने की ओर इतना उतावला रहता है कि हम इस पर ज़रा भी ध्यान नहीं देते कि देश और काल परिवर्तन को नहीं लाते, बल्कि परिवर्तन इनका जन्मदाता है। काल की सत्ता सिद्ध करने के लिये पृथिवी का घूमना हमारा मानदंड है। उस वक्त हम यह ख्याल नहीं करते कि सूर्य भी घूम रहा है, तारे भी घूम रहे हैं, आकाशगंगा भी घूम रही है, विश्व भी घूम रहा है ; फिर ऐसी स्थिति में किसी एक चीज़ के घूमने का परिणाम सापेक्ष ही मिल सकता है, परमार्थ घूमना मालूम करना असंभव है। ऐसे घूमने से परमार्थ काल* की कल्पना काफ़ी युक्तिसंगत नहीं हो सकती। १९०५ ई० से पहिले न्यूटनपरिचालित जो काल वैज्ञानिक जगत् में माना जाता था वह सापेक्ष नहीं, परमार्थ काल था, उसकी सत्ता किसी पर निर्भर नहीं थी, वह एक स्वतंत्र द्रव्य था। और ऐसे दार्शनिक तो अब भी मिलेंगे, जो काल को मन-द्वारा अनुभूत एक स्वतंत्र वस्तु सिद्ध करना चाहते हैं, यद्यपि हम जानते हैं कि यह अनुभव सबका एक-सा नहीं है। मस्तिष्क जिसका जितनी ही तेज़ी से काम कर रहा होता है, उतना ही उसे काल ज्यादा बीता मालूम होता है—बुख़ार में आदमी का घड़ी भर का समय युग-युग जैसा भारी हो जाता है।

वस्तु में काल की तरह देश (या दिशाएँ) भी रहता है। गति को परमार्थ मानने पर देश को भी परमार्थ मानना ज़रूरी था। किन्तु वस्तुतः विश्व में गति सापेक्ष है। साठ और बीस मील की चाल से दो मोटरें जा रही हैं। सड़क को बिना देखे जैसे कहा जाता है कि एक दूसरे को चालीस मील प्रतिघंटे के हिसाब से पीछे छोड़ रही है, वैसे ही सभी आकाशीय पिंड और उनके कारण उनपर की वस्तु में भी सापेक्ष-गति मानी जा सकती है।

सापेक्षतावाद से पहले ईथर, गुरुत्वाकर्षण, काल, देश की जिस तरह धारणा चली आई थी, वह आंशिक या पूर्ण रूप से स्थिर जगत् के लिये भले ही उपयुक्त होती, किन्तु जब सारा जगत्—विश्व-अंड (ब्रह्मांण्ड) से लेकर न्यूट्रन और एलेक्ट्रन तक—घूर्णि-वेग से चक्कर काट रहा है, उस वक्त इन परमार्थों को रखने पर गुत्थियाँ सुलझने की जगह अधिक उलझती ही जा रही थीं। इनको सुलझाना और पहले की धारणाओं को हटाना सापेक्षतावाद का ही काम है।

[आगामी अंक में समाप्य]

* Absolute Time



अशोक की कन्या संघमित्रा

(सिंहल में बोधि वृक्ष की शाखा ले जा रही हैं)

शिल्पी—नन्दलाल वसु

शिल्प-साधना

नन्दलाल वसु

जो लोग शिल्प की साधना करना चाहते हैं और जो इस साधना का रहस्य जानना चाहते हैं, उन्हें यह जान रखना आवश्यक है कि शिल्प-सृष्टि के ये तीन उपादान हैं—दक्षता, अभिज्ञता और मनन। इन तीनोंका ठीक-ठीक मेल बैठने पर ही रचना ठीक होती है। कोई भी कम या अधिक हुआ तो रचना की समता ('बैलेंस') नष्ट होती है और सृष्टि ठीक नहीं होती। इस बात के समझने के लिये मान लिया जाय कि किसी शिल्पी ने एक मूर्ति बनाने के लिये एक कठिन पत्थर लिया। यदि इस कठिन पत्थर का काटना संभव नहीं हुआ तो शिल्पी में अन्यान्य गुणों के होते हुए भी रचना में बाधा पड़ गई। इसीको मैं दक्षता की कमी कहता हूँ। शिल्पी को अगर पत्थर काट सकने की उचित दक्षता होती तो मूर्ति बन सकती। परन्तु यदि आधुनिक विज्ञान ने एक ऐसा यंत्र बना दिया है जिससे कठिन पत्थर काटकर मक्खन जैसा बना दिया जा सकता है और इस यंत्र की सहायता लेकर शिल्पी ने ऐसी मूर्ति बना दी जो मक्खन की बनी मूर्ति-जैसी कोमल और कमनीय हो गई तो भी सृष्टि पूरी नहीं उतरी। यहाँ दक्षता बहुत अधिक हो गई। दक्षता के इस आतिशय्य से उपादान की विशेषता ही नष्ट हो गई। उपादान पत्थर है और उसकी बनी वस्तु में पथरीला भाव रहना वाञ्छनीय है। इसके अत्यन्त कोमल दिखने के कारण सृष्टि की स्वकीयता ('ओरिजिनैलिटी') नष्ट हो गई। इस प्रकार दक्षता का बहुत अधिक होना (आतिशय्य) भी सृष्टि को स्वरूप-भ्रष्ट कर देता है।

परन्तु उपादान-प्रकृति की जानकारी और कौशल या दक्षता ही पर्याप्त नहीं हैं। शिल्पी में ध्यानशक्ति का रहना भी नितान्त आवश्यक है। सही बात तो यह है कि जिस शिल्पी के ध्यान में रचना को प्रकाशित करने का मूल छन्द परिस्फुट नहीं होता अर्थात् जिसके मन में रूप-संघटन की यथायोग्य मात्रा का बोध स्पष्ट नहीं होता और जिस शिल्पी का मन इस प्रकार के छन्दः-सामंजस्य का स्पष्ट बोध न होने के कारण रचना-काल में समग्र ('होल') की संगति स्वाभाविक भाव से समझने में असमर्थ होता है, वह उपादान की प्रकृति का कैसा भी अच्छा जानकार क्यों न हो और उसे दक्षता का कितना भी अधिक सहयोग क्यों न प्राप्त हो, वह सफल स्रष्टा नहीं हो सकता ; वह रचना को नष्ट कर देता है।

छन्द के विषय में 'विश्वभारती पत्रिका' के प्रथम अंक में मैंने थोड़ी चर्चा की है। फिर भी यहाँ साधारण पाठकों के लिये यह बता रखना उचित जान पड़ता है कि वे "शिल्प का छंद"

शब्द सुनकर यह न समझ लें कि यह कोई ऐसी बात है जो शिल्पशास्त्र का विशेषज्ञ ही समझ सकता है। कुछ प्रचलित शब्दों के द्वारा छन्दोज्ञान को समझाया जा सकता है। ताल-मान का बोध, बड़ाई-छुटाई का ज्ञान, क्रमज्ञान, मात्राज्ञान, सामंजस्य-बोध, वज़न-तौल का बोध, मुख्य-गौण की धारणा, समय-असमय का ज्ञान, विषय का स्वरूप अर्थात् अपनी और दूसरों की स्वाभाविक भंगी को समझने और तुलना करने के सामर्थ्य को छन्दोज्ञान कहते हैं।

इस प्रकार उपादान की प्रकृति का ज्ञान, दक्षता, छन्दोज्ञान और इन सबका समन्वय ही शिल्प-सृष्टि की साधना के अंग हैं। इन सबकी साधना के लिये तीन बातों की ज़रूरत है। (१) मानव-प्रकृति और बाह्य प्रकृति का सूक्ष्म पर्यवेक्षण करके उनकी वास्तविकता ('रियेलिटी') का ज्ञान अर्जन कर लेना आवश्यक है। (२) पारम्परीण शिल्पसृष्टि अर्थात् प्राचीन कलाकारों के बनाए हुए चित्र और मूर्तियों को देखना और उनकी आलोचना करना निहायत ज़रूरी है। क्योंकि भिन्न-भिन्न युगों में पुराने शिल्पियों ने अपनी जीवनव्यापिनी साधना के बल पर जो शिल्पसृष्टि की है और इस प्रकार वे जिस प्रकार आनंद का मार्ग आविष्कार कर गए हैं, उसके उत्तराधिकारी वे सभी लोग हैं जो आज शिल्प की साधना करना चाहते हैं। इन दो बातों के अतिरिक्त शिल्पी में एक तीसरी बात की भी आवश्यकता है वह यह कि (३) उसमें स्वातंत्र्यबोध होना चाहिए। वह नक़्क़ाल नहीं है बल्कि स्वतंत्र स्रष्टा है। यह भाव भगवान की ओर से ही मिलता है इसे सिखाया नहीं जा सकता परन्तु इसका उत्कर्ष साधन किया जा सकता है।

इस प्रकार शिल्प-साधना के उपाय हैं (१) मानव प्रकृति और बहिः प्रकृति का ज्ञान और चर्चा, (२) पारंपरीण शिल्प-रीति की कुशलता और (३) स्वकीयता। यह आवश्यक है कि शिल्पी शिल्प-विषय के साथ एकात्मता अनुभव करे। वह यदि रूप-वस्तु का अन्तरंग हो जाय तभी उसमें शिल्प-विषय के साथ एकात्मता का बोध हो सकता है। विश्लेषण, तुलना, विचार और शिल्प के अंगों की शिक्षा से यह अन्तरंगता प्राप्त होती है। शिल्प के अंग का तात्पर्य है रूप का सादृश्य, उसका भेद और उसके लावण्य आदि की शिक्षा।

इस बात के लिये दूसरा उपाय है अनुषङ्ग ('एसोसिएशन')। एक ही वस्तु के साथ बहुत समय तक संग किया जाय तो उस एक वस्तु में ही अनेक रसों का समावेश दिखाई देता है और इस प्रकार अनेक रसों का वह समावेश नये-नये आनंद की सृष्टि करता है। उस आनन्द से एकात्मता का बोध होता है। तीसरा उपाय है गभीर सहानुभूति। श्रद्धा, भक्ति, प्रीति और स्नेह के द्वारा हम बाहरी चीज़ों के साथ हमदर्दी का अनुभव करते हैं और उसीसे एकात्मता का का बोध जनमता है। इसका मतलब यह हुआ कि हम बाह्य वस्तुओं में अपनेको ही देखने लगते हैं।

बहिःप्रकृति की ज्ञान-चर्चा के उपलक्ष्य में उसके उत्कर्ष और अपकर्ष की दृष्टि उद्भावन करानी चाहिए अर्थात् उसमें रूप का भेद, सादृश्य, लावण्य इत्यादि का सूक्ष्म बोध उत्पन्न कराना चाहिए। इस बात का प्रधान सहायक है अच्छे शिल्पी का सत्संग। फिर उत्कर्ष के उन अंगों की शिक्षा के समय यह ध्यान रखना बहुत आवश्यक है कि दृष्टिगत विषयों में उत्सुकता बढ़ रही है या नहीं, अच्छा लग रहा है या नहीं। ऐसा न किया जाय तो निपुणता प्राप्त नहीं होती और शिल्पी की स्वकीयता लुप्त हो जाती है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, शिल्प-सृष्टि के समय पुराने शिल्पियों ने जो रीतियाँ बनाई हैं उनका अनुधावन और अभ्यास ज़रूरी होता है, क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा से अपने मन का भाव आसानी से प्रकट करना सहज होता है। स्वयं उन रीतियों का आविष्कार करना बहुत समय-सापेक्ष है। अच्छी शिल्प-सृष्टि देखकर शिल्पी केवल प्रेरणा ही नहीं पाता साहस भी पाता है। परन्तु पुराकालागत चित्रों को देखते समय खूब सावधान रहना जरूरी है नहीं तो सिर्फ नक़ल करने की प्रवृत्ति भी बढ़ सकती है। पुराने चित्रों की नक़ल फैशन के लिये की जाती है। अच्छा शिल्पी पुराने चित्रों से केवल इंगितमात्र ग्रहण करता है। फिर परम्परागत शिल्प-सृष्टि में पुराने शिल्पी कहाँ तक अपने मनोभाव प्रकट कर सके हैं इसकी सीमा भी समझ में आ जाती है। शिल्पी को अपनी रचना के समय देश-काल-पात्र का ध्यान रखना चाहिए। केवल सीखने के समय ही पुराने चित्रों की रीति का शिक्षण करना चाहिए। स्वकीय चित्र बनाते समय उनका अनुकरण अवाञ्छनीय है क्योंकि वे चित्र अपने युग के देश-काल और पात्र की सीमा से ही सन्तुष्ट थे।

यह जान रखना चाहिए कि स्वकीयता क्या है? कोई रचना करते समय एक विषय के अन्तर्निहित सत्य को अपने चित्त-संभूत रस के भीतर से या अपने प्रकृतिगत कौशल के भीतर से विशिष्ट रूप देना ही स्वकीयता है। जहाँ उसका सत्य तक बदल जाता है, या ग़लत हो जाता है, वहाँ किसी प्रकार की स्वकीयता नहीं होती, अर्वाचीनता भले ही हो। स्वकीयता का उत्कर्ष-साधन होता है अच्छी शिल्प-सृष्टि की आलोचना और आराधना से, अच्छे रूपकार और रूपद्रष्टा के सत्संग से, अच्छे साहित्य की आलोचना से और उस साहित्य के अपने समय के देश-काल-पात्र का बोध प्रत्यक्ष होने से।

शिल्प के साधक की कठिनाइयों और उसके गुण-दोषों की जानकारी उन लोगों के लिये भी आवश्यक है जो शिल्प-सृष्टि का मर्म समझना चाहते हैं। इसीलिये ऊपर की बातें उन पाठकों के लिये भी लिखी गई समझी जानी चाहिए जो शिल्प-सौन्दर्य के जिज्ञासु हैं। स्रष्टा की समस्याएँ सृष्ट वस्तु के सौंदर्य को हृदयंगम करने में सहायता पहुँचाती हैं।

वैष्णवी

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

यद्यपि मैं लिखा करता हूँ, तथापि लोकरंजन मेरी लेखनी का धर्म नहीं है, इसीलिये लोग भी मुझे हमेशा जिस रंग में रञ्जित किया करते हैं उसमें 'स्याही' (या कालिमा) का हिस्सा ही ज्यादा रहा करता है। अपने संबंध में बहुत सी बातें सुननी पड़ती हैं, भाग्य के फेर से ये बातें हितकर नहीं होतीं, मनोहारि तो बिल्कुल नहीं।

शरीर में जिस स्थान पर चोट लगा करती है वह स्थान जितना भी तुच्छ क्यों न हो, पीड़ा के बल पर वह सारे शरीर को अतिक्रम कर जाता है। जो आदमी गाली-गलौज सुनते-सुनते ही बड़ा हुआ रहता है, वह अपने स्वभाव को मानों ठेलकर एकतर्फ़ा झुकाववाला बन जाता है—अपने इर्द-गिर्द के सब कुछ को छोड़कर वह सिर्फ अपने को ही याद किया करता है। यह आराम भी नहीं है, कल्याण भी नहीं है। अपनेको भूलने में ही तो आराम है। इसीलिये मैं हमेशा निर्जन स्थान की तलाश में रहता हूँ। मनुष्य का धक्का सहते-सहते मन के चारों ओर जो स्थान पिचक गए होते हैं, वे विश्व-प्रकृति के सेवानिपुण हाथों के गुण से भर जाया करते हैं।

कलकत्ते से दूर, एकान्त में मेरे अज्ञातवास का एक स्थान निश्चित है। यहीं मैं अपने को निज-चर्चा के दौरात्म्य में अन्तर्धान रखा करता हूँ। वहाँ के लोग-बाग अब भी मेरे विषय में किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँचे हैं। उन्होंने देखा है कि मैं भोगी नहीं हूँ क्योंकि देहात की रात को कलकत्ते की कालिमा से मलिन नहीं कर देता। फिर योगी भी नहीं हूँ क्योंकि दूर-दूर से मेरा जो कुछ परिचय मिलता है, उसमें धनी होने के लक्षण मौजूद हैं। मैं राहगीर नहीं हूँ, गाँव के रास्ते पर चक्कर ज़रूर काट लेता हूँ, पर कहीं पहुँचने की ओर मेरा लक्ष्य नहीं होता। फिर यह बात कह सकना भी मुश्किल है कि मैं गृहस्थ हूँ क्योंकि इस बात का कोई सबूत इन लोगों को अभी तक नहीं मिल सका है कि मेरे घर में कोई आदमी भी है। इसीलिये परिचित जीवश्रेणी के किसी प्रचलित खाने में न भर सकने के कारण गाँव के आदमियों ने मेरे बारे में सोचना-विचारना एक प्रकार से छोड़ दिया है,—मैं भी निश्चिन्त हूँ।

थोड़े ही दिन हुए खबर मिली है कि इस गाँव में एक व्यक्ति है जिसने मेरे बारे में कोई-एक राय ठीक करली है, कम-से-कम उसने मुझे बेवक़ूफ़ नहीं समझा है।

उसके साथ जब पहली मुलाकात हुई उस दिन आषाढ़ महीने की साँझ का समय था। रुलाई खतम हो जाने के बाद भी आँखों की पलकें भीगी रहने पर जैसा भाव होता है, वही भाव सबेरे की वृष्टि समाप्त हो जाने के बाद समस्त लता-गुल्म और आकाश तथा हवा में भरा हुआ था। अपने तालाब की ऊँची भींट पर खड़े होकर मैं एक कोमल-श्यामल गाय का घास खाना देख रहा था। उसकी चिकनी देह पर धूप पड़ रही थी, उसे देखकर मैं सोच रहा था कि आकाश के प्रकाश से अपने शरीर को बचा रखने के लिये सभ्यता ने जो इतने दर्जियों की दूकानें खोल रखी हैं इससे बढ़कर फिजूलखर्ची और कुछ नहीं है।

इसी समय अचानक क्या देखता हूँ कि एक अधेड़ स्त्री साष्टांग प्रणाम कर रही है। उसके आँचल में दोनों में चुने हुए कुछ कनेर, गंधराज और इसी प्रकार के और भी फूल थे। इनमें से एकको निकालकर मेरे हाथ में देते हुए वह भक्तिपूर्वक बोली—'यह मैंने अपने ठाकुर को दिया।'—कहकर वह चली गई।

मैं कुछ ऐसा विस्मित हुआ कि उसे भली भाँति देख ही नहीं सका।

यह घटना बहुत मामूली थी, परन्तु वह कुछ इस ढंग से प्रकट हुई कि वह गाय जो सायं-काल की धूसर धूप में पूँछ हिला-हिलाकर मक्खियों को भगाती हुई, लंबी-लंबी साँस लेकर नववर्षा की रस-कोमल घास को शान्त आनन्द के साथ खाती हुई विचरण कर रही थी, उसकी जीवलीला मुझे बहुत ही मनोहर लगी। यह बात सुनकर लोग हँसेंगे, लेकिन मेरा मन सचमुच ही भक्ति से भर उठा। मैंने सहज आनंदमय जीवनेश्वर को प्रणाम किया। बगीचे के आम के पेड़ से एक पत्ता-समेत आम तोड़कर मैंने गाय को खिलाया। मुझे ऐसा लगा कि मैंने देवता को सन्तुष्ट कर दिया है।

इसके दूसरे साल जब मैं वहाँ पहुँचा तब माघ का अन्त हो रहा था। उस वर्ष तब भी ठंड पड़ रही थी। सबेरे की धूप खिड़की की राह मेरी पीठ पर आ गिरी थी, मैंने भी मना नहीं किया। दुतल्ले के घर में लिख रहा था, ऐसे ही समय नौकर ने आकर खबर दी कि आनंदी वैष्णवी मुझसे भेंट करना चाहती है। मुझे मालूम नहीं कि यह कौन है, अन्यमनस्क होकर बोला, 'अच्छा, यहीं लिवा लाओ।'

वैष्णवी ने मेरे पैरों की धूल लेकर प्रणाम किया। मैंने देखा, वही मेरी पूर्वपरिचिता स्त्री है। वह सुंदरी है या नहीं, यह बात लक्ष्यगोचर होने की उसकी उमर पार हो गई है। दुहरा शरीर, साधारण स्त्रियों से लंबा। एक नियत भक्तिवश उसका शरीर नम्र है, फिर भी भाव-बलिष्ठ और निस्संकोच है। सबसे पहले उसकी दोनों आँखों पर ही नज़र जाती है। भीतर की किसी एक विशेष शक्ति से उसकी ये बड़ी-बड़ी आँखें मानों किसी दूर की चीज़ को नज़दीक करके देख रही हैं।

अपनी उन्हीं दोनों आँखों से मानों धक्का देकर उसने कहा 'अच्छा, भला तुमने यह क्या अनर्थ किया ? मुझे इस राज-सिंहासन के नीचे हाज़िर करने से क्या लाभ ? तुम्हें पेड़ के नीचे देख लिया करती थी, वही तो अच्छा था।'

मैं समझ गया, पेड़ के नीचे इसने मुझे बहुत बार देखा है किन्तु मैंने इसे नहीं देखा। कई दिनों से कुछ जुकाम-सा हो गया था इसीलिये रास्ते और बगीचे में घूमना बंद करके छत के ऊपर ही संध्या के आसमान के साथ मुक़ाबला किया करता हूँ। इसीलिये इसने कई दिन से मुझे देखा नहीं है।

ज़रा रुककर वह बोली—"गौर,* मुझे कुछ उपदेश दो।"

मैं संकट में पड़ गया। बोला, "मैं उपदेश दे भी नहीं सकता, ले भी नहीं सकता। आँख बंद करके चुपचाप जो पा जाता हूँ उसी के भरोसे मेरा कारबार चला करता है। यह जो तुम्हें देख रहा हूँ इसीसे मेरा देखना भी हो रहा है, सुनना भी हो रहा है।"

वैष्णवी अत्यन्त प्रसन्न होकर 'गौर गौर' कह उठी। फिर बोली—"भगवान् के केवल रसना ही नहीं है, वे तो अंग-अंग से बातें करते हैं।"

मैंने कहा—"चुप रहने से ही उनके अंग-अंग की बात अंग-अंग से सुनाई देती है। उसे सुनने के लिये ही शहर छोड़कर यहाँ आया करता हूँ।"

वैष्णवी ने कहा—"यह मैं समझ गई हूँ। इसीलिये तो तुम्हारे पास आकर बैठी हूँ।"

जाते समय जब वह मेरे पैर की धूल लेने लगी तो मैंने देखा कि मेरे मोजे में हाथ ठेकने से उसे बड़ी बाधा मालूम हुई।

दूसरे दिन सबेरे सूर्योदय होने के पूर्व ही मैं छत पर आकर बैठ गया। दक्षिण की ओर बगीचे के झाऊ पेड़ों के सिर पर से दिगन्त की सीमा तक मैदान झाँय-झाँय कर रहा था। जब से यहाँ रहने लगा हूँ, तभी से प्रतिदिन बाँस-वन से घिरे गाँव के बग़ल में जो ईख का खेत है उसीके किनारे से सूर्योदय होता हुआ दिखाई देता है। गाँव का रास्ता वृक्षों की घनी छाया में से, एकाएक निकलकर खुले मैदान के भीतर से होता हुआ टेढ़ा-मेढ़ा बनकर बहुत दूर के गाँवों का काम चलाने निकल पड़ा है। सूर्योदय हुआ है या नहीं, ठीक नहीं मालूम। एक सफेद कुहरे की चादर विधवा के घूँघट की तरह गाँव के वृक्षों के ऊपर खिंच आई है।

* बंगाल के वैष्णव महाप्रभु चैतन्यदेव को श्रीकृष्ण का अवतार मानते हैं। उनका शरीर गोरा था, इसीलिये उनका एक नाम "गौर" है।

मैंने देखा, वैष्णवी उसी प्रातःकालीन धुँधले प्रकाश में एक कुहासे की चलती हुई मूर्ति की नाईं करताल बजाकर हरिनाम कीर्तन करती हुई उसी पूर्व ओर के गाँव की ओर से चली है।

तंद्रा भंग होने पर जैसे आँख की पलक उट जाती है उसी प्रकार कुहासा एक समय उठ गया, और सारे मैदान के और घर के काम-काज के भीतर धूप इस प्रकार आकर बैठ गई जैसे गाँव के बूढ़े दादा आकर जम गए हों। मैं उस समय सम्पादक के चपरासी को विदा करने के लिये लिखने की टेबिल पर आकर बैठ गया था। ऐसे ही समय सीढ़ियों पर पैरों की आहट के साथ गाने का सुर सुनाई दिया। वैष्णवी गुनगुनाती हुई आई, मुझे प्रणाम किया और कुछ दूर हटकर ज़मीन पर बैठ गई। मैंने लिखना छोड़कर सिर उठाया।

वह बोली—"मैंने कल तुम्हारा प्रसाद पाया था।"

मैंने कहा—"सो क्या?"

उसने कहा—"कल शाम को मैं इस आसरे बैठी थी कि कब तुम्हारा खाना होगा। जब तुम्हारा भोजन हो गया तो नौकर बर्तन लेकर बाहर आया। उसमें क्या था—मुझे मालूम नहीं, लेकिन मैंने खा लिया था।"

मैं विस्मित हो रहा। यह सभी जानते हैं कि मैं विलायत से लौटा हूँ। वहाँ क्या खाया है, क्या नहीं खाया, यह अनुमान करना कठिन नहीं, किन्तु आकर मैंने गोबर अवश्य ही नहीं खाया। यह ठीक है कि बहुत दिनों से मांस-मछली खाने की ओर मेरी प्रवृत्ति नहीं है किन्तु मेरे रसोइये की जात-पाँत की बात खुले आम ऐलान न करना ही अच्छा है। मेरे मुँह पर विस्मय के भाव देखकर वैष्णवी ने कहा—"यदि तुम्हारा प्रसाद ही नहीं खा सकूँगी तो तुम्हारे पास आने की ज़रूरत ही क्या थी!"

मैंने कहा—"लोग यह बात जान जायँगे तो तुम्हारे ऊपर से उनकी भक्ति जाती रहेगी।"

उसने जवाब दिया—"मैं सबसे कहती फिरती हूँ। सुनकर ये लोग सोचते हैं कि मेरी हालत ही ऐसी है।"

इसके पहले वैष्णवी जिस गृहस्थ-परिवार में थी उसके बारे में मैं उसके मुँह से कुछ सुन नहीं सका। सिर्फ इतना ही जान सका कि उसकी माँ की अवस्था अच्छी ही है और वे अभी तक जीवित भी हैं। वे जानती हैं कि उनकी लड़की पर बहुत लोगों की भक्ति है। उनकी इच्छा है कि लड़की उन्हीं के यहाँ रहे, पर आनंदी का मन ऐसा करने को गवाही नहीं देता।

मैंने पूछा—"तुम्हारा चलता कैसे है?"

उत्तर में सुना कि उसके भक्तों में से किसीने उसे कुछ थोड़ी-सी ज़मीन दे दी है। उस से जो कुछ पैदा होता है उससे उसका भी चल जाता है और पाँच जने और भी खा लेते हैं, फिर

भी वह खतम होने का नाम नहीं लेता। यह कहकर वह ज़रा हँसी और कहने लगी—"मेरे यहाँ तो सब-कुछ था—सब छोड़ आई हूँ ; और फिर भी दूसरों से माँग-माँगकर संग्रह करती हूँ। अच्छा, इसकी क्या ज़रूरत थी भला, बोलो तो ?"

मैं यदि शहर में होता और यह सवाल उठता तो आसानी से नहीं छोड़ता। भिखमंगी के रोज़गार ने समाज का कितना अनिष्ट किया है, यह बात समझाता। परन्तु इस स्थान पर आते ही हमारी पुस्तकी विद्या का तीखापन एकदम मर जाता है। वैष्णवी के सामने मेरे मुँह से कोई तर्क निकला ही नहीं,—मैं चुप हो रहा। मेरे उत्तर की इन्तज़ारी किए बिना, वह आप ही बोल उठी—"नहीं, नहीं ; यही मेरे लिये अच्छा है। माँगकर जो खाती हूँ वही अन्न मेरे लिये अमृत है।"

उसके कथन का भाव मैं समझ गया। जो भगवान् प्रतिदिन अन्न की व्यवस्था कर देते हैं, भिक्षा के अन्न से बारबार उन्हींकी याद आती है। और घर के अन्न से मालूम होता रहता है कि यह मेरा ही अन्न है, मैं इसे अपनी शक्ति से भोग कर रहा हूँ।

इच्छा थी कि उसके पति के घर की बात पूछूँ, पर उसने स्वयं ही नाहीं कर दी, मैंने भी नहीं पूछा।

इस गाँव के जिस टोले में ऊँची जात के लोग रहते हैं, उसके प्रति वैष्णवी के मन में कोई श्रद्धा नहीं थी। कहती, वे लोग ठाकुर को कुछ भी नहीं देते और फिर भी ठाकुर के भोग में वही लोग सबसे अधिक हिस्सा ले बैठते हैं। ग़रीब बिचारे भक्ति करते हैं और उपासे मरते हैं।

उस मुहल्ले के दुष्कर्म की बातें बहुत सुनी हैं, इसीलिये बोला—"इन दुर्बुद्धि लोगों के बीच रहकर इनकी मति-गति ठीक करो, इसीसे तो भगवान् की सेवा होगी।"

इस प्रकार के मूल्यवान् उपदेश मैंने बहुत सुने हैं, दूसरों को सुनाने में मुझे मज़ा भी आता है। किन्तु वैष्णवी इससे विस्मित नहीं हुई। मेरे मुँह की ओर अपनी दोनों दीप्त आँखों को जमाकर वह बोल उठी—"तुम कहते हो भगवान् पापी में भी रहते हैं, इसीलिये उनका साथ करने से भी उन्हींकी पूजा होती है। यही न ?"

मैंने कहा—"हाँ।"

वह बोली—"जब ये लोग जीवित हैं, बचे हुए हैं, तो निश्चय ही भगवान् उनमें हैं। इसमें क्या संदेह है ? किन्तु मेरी पूजा तो वहाँ नहीं चल सकती—मेरे भगवान् तो उनमें नहीं हैं। वे जहाँ हैं वहीं पर मैं उन्हें ढूँढ़ती फिरती हूँ।"—कहकर उसने मुझे प्रणाम किया। उसके कहने का मतलब यह था कि सिर्फ मत को लेकर क्या होगा, सत्य चाहिए। भगवान् सर्वव्यापी हैं यह एक 'मत' है—किन्तु, मैं जहाँ उन्हें देखूँ वहीं पर वे मेरे 'सत्य' हैं।

यद्यपि बेकार है, तो भी किसी-किसीको यह बता देना ज़रूरी है कि मुझे उपलक्ष्य करके वैष्णवी जो भक्ति करती है, उसे मैं ग्रहण भी नहीं करता, लौटा भी नहीं देता। इस युग की छूत मुझे लगी है। मैं गीता पढ़ा करता हूँ और विद्वान् व्यक्तियों के दरवाज़ों पर हाज़िरी देकर धर्मतत्त्व की अनेक सूक्ष्म व्याख्याएँ सुन चुका हूँ। सुनते-सुनते ही उमर खतम होने को आई, लेकिन कहीं भी कुछ प्रत्यक्ष नहीं देख सका। इतने दिन बाद अपनी दृष्टि का अहंकार छोड़कर इस शास्त्रहीना स्त्री की दो आँखों के भीतर सत्य को देख सका। भक्ति करने के बहाने शिक्षा देने की यह कैसी अद्‌भुत प्रणाली है!

दूसरे दिन सबेरे वैष्णवी जब मुझे प्रणाम करने आई तो मैं तब भी लिखने में ही लगा हुआ था। वह कुछ चिढ़कर बोली—"तुमसे मेरे ठाकुर इतना झूठ-मूठ क्यों पिसाई करा रहे हैं; जभी आती हूँ, तुम्हें लिखता ही पाती हूँ!"

मैंने कहा—"जो आदमी किसी काम का नहीं होता उसे ठाकुर चुप नहीं बैठने देते, चुप बैठने से उसके मिट्टी में मिल जाने की आशंका रहती है। जितने बे-मसरफ़ के काम हैं उन सब को करने का भार उसीपर डाल देते हैं।"

मुझे कितने ही परदों में ढका हुआ देखकर वह अधीर हो जाती थी। मेरे पास आने के लिये पहले हुकुम लेना होता है फिर दुतल्ले पर चढ़ना होता है, प्रणाम करते समय हाथ मोज़ों में ठेक जाते हैं, फिर उसे दो सीधी-सादी बातें करनी होती हैं और मेरा मन किसी लेख में डूबा रहता है!

वह हाथ जोड़कर बोली, "गौर, आज प्रातःकाल बिछौने से उठकर ज्यों ही बैठी, त्यों ही तुम्हारे चरण पा गई। आहा वे तुम्हारे दोनों पैर किसी चीज़ से ढके नहीं थे—कितने शीतल थे वे! कितने कोमल! कितनी देर तक मैं उन्हें सिर पर लगाए रही! प्रभु, यह मेरा मोह तो नहीं है, ठीक-ठीक बताओ!"

मेरे लिखने की टेबिल पर पहले दिन के कुछ बासी फूल थे। माली आया और उन्हें निकालकर फूलदानी में ताजे फूल सजाने लगा। वैष्णवी कुछ व्यथित-सी होकर बोल उठी—"बस? ये फूल अब ख़तम? तुम्हें अब इनकी ज़रूरत नहीं? तो फिर दे दो, मुझे दे दो!" यह कहकर उसने फूलों को अंजलि में भर लिया और बड़ी देर तक उन्हें स्नेहपूर्वक एकटक देखती रही। कुछ देर बाद मुँह उठाकर बोली—"तुम इनकी ओर ताकते नहीं, इसीलिये ये फूल तुम्हारे पास मलिन हो जाते हैं। जब इनकी ओर देखने लगोगे तो लिखना-पढ़ना सब भूल जायगा।"

यह कहकर उसने बड़ी सावधानी से फूलों को अपने आँचल में बाँध लिया। उन्हें सिर से लगाती हुई बोली—"अपने ठाकुर को मैं ले जाती हूँ।"

मुझे यह समझने में बिल्कुल देर नहीं लगी कि सिर्फ फूलदानी में रख देने से ही फूल का आदर नहीं होता। मुझे ऐसा जान पड़ा कि स्कूल में पढ़ाई न कर सकने वाले बच्चों की तरह मैं फूलों को बेंच पर खड़ा कर रखता हूँ।

उसी दिन शाम को मैं छत पर बैठा था, वैष्णवी आकर मेरे पैरों के पास बैठ गई। बोली—"आज सबेरे नाम-कीर्तन के समय तुम्हारे प्रसादी फूलों को घर-घर बाँट आई हूँ। मेरी भक्ति देखकर वेनी चक्रवर्ती हँसकर बोला, 'पगली, तू किसकी भक्ति कर रही है? दुनिया जो तुझे बुरा कहेगी? हाँ जी, सुना है, तुम्हें सब लोग गाली देते हैं?"

केवल एक क्षण के लिये मेरा मन संकुचित हो गया। स्याही की छींटें इतनी दूर तक फैलती हैं!

वैष्णवी बोली—"बेनी ने समझा था कि मेरी भक्ति को एक फूँक में ही बुझा देगा। किन्तु यह तो तेल की बत्ती नहीं है, यह आग है आग। अच्छा, मेरे गौर, वे तुम्हें गाली क्यों देते हैं भला!"

मैं बोला—"मेरा पावना है इसीलिये। खूब संभव मैंने एक दिन चोरी-चोरी उनका मन चुराना चाहा था।"

वैष्णवी ने कहा—"मनुष्य के मन का ज़हर कितना है सो तो तुम ने देखा न? लोभ अधिक नहीं टिक सकता।"

मैं बोला—"मन में लोभ रहने से ही 'मार' के मुख में पड़ना पड़ता है। फिर तो अपने को मारने का ज़हर मन स्वयं तैयार करता रहता है। इसीलिये मेरे ओझा मन को निर्विष करने के लिये इतनी कड़ी झाड़-फूँक कर रहे हैं।"

वैष्णवी बोली—"दयाल ठाकुर मारते-मारते मार को खदेड़ते हैं। अन्त तक जो मार खा सकता है वही बचता है।"

उसी दिन सायंकाल अँधेरे में छत पर संध्या-तारा उदय होकर फिर अस्त भी हो गया—वैष्णवी ने अपने जीवन की कहानी मुझे सुनाई :

मेरे पति बहुत सीधे आदमी थे। कोई-कोई समझते थे कि उनमें समझने की शक्ति कम है। लेकिन मैं जानती हूँ, जो लोग सहज करके समझना जानते हैं, सब मिलाकर वही ठीक समझते हैं।

मैंने यह भी देखा है कि अपनी खेती-बारी, ज़मीन-जायदाद के मामले में वे कभी ठगे नहीं जाते थे। घर और बाहर—दोनों ही ओर का काम-काज उनका सलीके से होता था। धान-चावल-पाट वगैरः का जो थोड़ा-बहुत रोजगार करते थे उसमें कभी नुक़सान नहीं उठाना पड़ा।

क्योंकि उनका लोभ थोड़ा होता था। ज़रूरत-मुताबिक वे हिसाब से चलते थे ; इससे अधिक वे समझते भी नहीं थे और उसमें हाथ भी नहीं लगाते थे। मेरे विवाह के पहले ही मेरे श्वसुर का स्वर्गवास हो गया था और मेरे विवाह के थोड़े ही दिन बाद सास भी चल बसीं। संसार में हम दोनों के सिर पर और कोई नहीं था। मेरे पति अपने सिर पर किसी ऊपरवाले को बैठाए बिना नहीं रह सकते थे। यहाँ तक कि, कहते लाज लगती है, मुझे भक्ति भी करते थे। तो भी मेरा विश्वास है कि वे मुझसे अधिक समझते थे, मैं बोलती अधिक थी।

उनके एक गुरुजी थे, उन्हें ही वे सबसे अधिक भक्ति करते थे, सिर्फ भक्ति नहीं, प्रेम करते थे—ऐसा प्रेम कम देखने को मिलता है। गुरुजी उमर में उनसे कुछ कम थे। क्या ही सुन्दर उनका रूप था!

(यह कहते-कहते वैष्णवी क्षण भर रुक गई। अपनी दूर-विहारी आँखों को बहुत दूर भेजकर वह गुनगुनाने लगी—

अरुण-किरण खानि, तरुण अमृते छानि

कोन बिधि निरमिल देहा)

इस गुरुजी के साथ उन्होंने बचपन में खेल खेला था, और तभी से अपने मन और प्राण दे रखे थे। उस समय गुरुजी मेरे पति को बेवकूफ ही समझते थे इसीलिये उनके ऊपर उपद्रव भी बहुत करते थे। अन्यान्य संगियों के साथ मिलकर उनका मज़ाक बना-बनाके नाकों दम कर दिया करते थे।

जब मैं ब्याह के बाद सासुरे आई तो गुरुजी को नहीं देखा। उस समय वे पढ़ने के लिये काशी चले गए थे। मेरे पति ही उनके खर्च की व्यवस्था कर देते थे। जब गुरुजी घर लौटे तब मैं समझती हूँ मेरी उमर अट्ठारह की रही होगी।

पन्द्रह वर्ष की उमर में मेरे एक लड़का हुआ था। उमर कच्ची थी, इसीलिये मैंने उस लड़के का जतन करना सीखा नहीं था, टोल-पड़ोस की सखी-सहेलियों के साथ मिलने को ही मेरा मन भागता रहता। लड़के के लिये घर में बद्ध रहना पड़ता, इसलिये कभी-कभी उस पर भी मुझे गुस्सा आता था।

हाय रे! लड़का जब आ चुका था, माँ तब भी पीछे छूट गई थी, ऐसी विपदा और क्या हो सकती है। मेरा गोपाल आया। आकर देखा कि उसके लिये माखन तब भी तैयार नहीं हुआ था, इसीलिये वह रूठ कर चला गया—मैं आज भी मैदान में घाट-बाट में उसी को खोजती फिरती हूँ।

लड़का पिता की आँखों की पुतली था। मैं उसका जतन नहीं करती थी इसलिये उसके

पिता को कष्ट होता था। किन्तु उनका हृदय गूंगा था—आज तक उसके दुःख की बात किसी से कह नहीं सके।

लड़के का जतन वे स्त्रियों के समान करते थे। रात को यदि वह रोता तो मेरी कच्ची उमर की नींद वे तुड़वाना नहीं चाहते। कितने ही दिन स्वयं रात को उठते, दूध गरम करते, उसे पिलाते, फिर उसे ठोंक-ठोंककर सुला देते, मैं खबर ही नहीं पाने पाती। उनका सारा काम इसी तरह चुप-चाप होता था। पूजा-पार्वण के समय ज़मींदार के घर रामलीला या नाटक होता तो कहते, "रात को जग नहीं सकता, तुम्हीं जाओ मैं यहीं रहता हूँ।" वे अगर लड़के को न लेते तो मेरा जाना नहीं हो पाता, इसीलिये यह उनका बहाना हुआ करता।

आश्चर्य की बात यह है कि तो भी लड़का मुझे ही सबसे अधिक प्यार करता था। मानों वह समझता था कि मौका पाते ही मैं उसे फेंककर चल दूँगी, इसीलिये जब वह मेरे पास होता तब भी डरता-डरता रहता था। उसने मुझे थोड़ा ही पाया था, इसीलिये उसकी पाने की आकांक्षा मिटना ही नहीं चाहती थी। मैं जब नहाने के लिये घाट पर जाती तो साथ जाने के लिये वह मुझे रोज़ तंग करता। वह सहेलियों के साथ मिलने की मेरी जगह थी। वहाँ लड़के को लेकर उस की खबरगीरी करना मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था। इसीलिये जहाँ तक मेरी चलती, मैं उसे ले नहीं जाना चाहती।

उस दिन सावन का महीना था। घने काले मेघों के थक्के के थक्के दुपहरिया की बेला को ढक चुके थे। मैं नहाने जा रही थी, लड़के ने रोना शुरू किया। निस्तारिणी हमारे रसोईघर का काम करती थी। उसे कहती गई "ज़रा लल्लू को देखना तो बिटिया, मैं एक डुबकी लगा के अभी आई।"

उस समय घाट पर और कोई नहीं था। सहेलियों के आने की इन्तज़ारी में मैं तैरने लगी। तालाब पुराने ज़माने का था, न जाने किस रानी ने इसे कब खुदवाया था, इसीलिये नाम था 'रानी-सागर'। तैरकर इस तालाब को पार कर जाना सभी लड़कियों में अकेली मैं ही कर सकती थी। वर्षा के कारण उस समय तालाब लबालब भरा था। जब आधा तालाब पार कर गई उसी समय पीछे से आवाज़ सुनाई दी—'माँ'! फिरकर देखती हूँ कि लल्लू घाट की सीढ़ियों पर उतरते उतरते मुझे पुकार रहा है। चिल्लाकर बोली, "आगे मत बढ़, मैं अभी आई।" मैं ज्यों-ज्यों मना करती गई त्यों-त्यों वह हँसता-हँसता और भी नीचे उतरता गया। मारे डर के मेरे हाथ-पैर सन्न हो गये, जितना भी कोशिश करती हूँ, घाट तक आना मुश्किल होता जा रहा है। आँखें बंद कर दीं, जाने क्या देखना पड़े! ठीक ऐसे ही समय उस पिच्छिल घाट पर लल्लू की हँसी हमेशा के लिये बंद हो गई। पार होकर उस माँ की गोद के लिये कंगाल बने

हुए बालक को पानी के नीचे से उठाकर गोद में लिया, किन्तु उसने माँ कहकर फिर नहीं पुकारा।

मैंने अपने गोपाल को इतने दिनों रुलाया था, वह सारा अनादर आज मेरी ही ओर लौटकर मुझे मारने लगा। जब वह जीता था तब मैं बराबर उसे छोड़कर चली जाती थी इसीलिये आज वह दिन रात मेरे मन को कसके पकड़े हुए है।

मेरे पति के हृदय में कितनी चोट लगी यह बात उनके अन्तर्यामी ही जानते हैं। मुझे वे यदि गाली देते तो अच्छा होता। किन्तु वे तो केवल सहना ही जानते थे, कहना बिल्कुल नहीं।

ऐसी ही दशा में मैं जब एक प्रकार से पागल हो गई थी, गुरुजी देश लौटे। जब मेरे पति बचपन में इन गुरुजी के साथ खेलते-कूदते थे उस समय एक और तरह का भाव था। अब दीर्घकाल के विच्छेद के बाद वह भाव बदल गया। उनके बाल्यकाल के मित्र विद्या अर्जन करके देश लौटे थे, उनके ऊपर मेरे पति की भक्ति एकदम परिपूर्ण हो गई थी। आज कौन कह सकता था कि वे खेल के साथी हैं, इनके सामने वे मानों मुँह ही नहीं खोल सकते थे। पति ने मुझे समझा-बुझा कर शान्त करने के लिये गुरु से अनुरोध किया। गुरु ने मुझे शास्त्र सुनाना शुरू किया। ऐसा तो नहीं जान पड़ता कि शास्त्र की बातों से कुछ विशेष फल हुआ था। मेरे निकट उन वाक्यों का जो कुछ मूल्य था वह सिर्फ इसलिये कि वे उनके मुख से निकले थे। मनुष्य के कंठ से ही भगवान् अपना अमृत मनुष्य को पिलाया करते हैं—उनके हाथों ऐसा सुधा-पात्र दूसरा नहीं है। फिर इस मनुष्य के कंठ से ही वे भी अमृत पान किया करते हैं।

गुरु के प्रति मेरे पति की अजस्र भक्ति ने हमारे संसार को मधुचक्र की भाँति मधुपूर्ण कर रखा था। हमारा आहार-विहार धन-जन सब कुछ उसी भक्ति से परिपूर्ण था, कहीं भी खाली नहीं। मैं उसी रस में समस्त मन लेकर डूबी रहती थी। इसी प्रकार मुझे शान्ति मिली। इसीलिये देवता को मैंने गुरु के रूप में ही देखा था।

प्रतिदिन सबेरे सिर्फ यही बात याद आती कि वे आकर आहार करेंगे और हम उनका प्रसाद पाएँगे। मैं इसी की तैयारी में लग जाती। उनके लिये तरकारी काटती, तो अँगुलियों में आनंदध्वनि बज उठती। ब्राह्मणी न होने के कारण मैं उन्हें अपने हाथों भोजन बनाकर खिला नहीं सकती थी, इसीलिये मेरी सारी भूख मिटती नहीं थी।

वे ज्ञान के समुद्र थे—उस ओर से उन्हें कोई अभाव ही नहीं था। मैं एक मामूली स्त्री हूँ, उन्हें ज़रा खिला-पिलाकर प्रसन्न कर सकती थी, उसमें भी इतनी ओर से इतनी बाधाएँ थीं।

मेरी गुरु-सेवा देखकर पति का मन खिल उठता और मेरे ऊपर उनकी भक्ति और भी

बढ़ जाती। वे जब देखते कि मुझे शास्त्र सुनाने की ओर गुरु का विशेष उत्साह है तो सोचते कि गुरु के पास से अपनी निर्बुद्धिता के लिये उन्होंने बराबर अश्रद्धा पाई है, फिर भी यह उनका सौभाग्य है कि उनकी स्त्री ने अपनी बुद्धि के बल पर गुरु को प्रसन्न कर लिया है।

इसी तरह चार-पाँच वर्ष किस प्रकार कट गए, कुछ समझ में ही नहीं आया।

सारा जीवन यों ही कट जा सकता था। किन्तु गोपन में कहीं एक चोरी चल रही थी। उसे मैं पहले पकड़ नहीं सकी, वह अन्तर्यामी के हाथों पकड़ी गई। उसके बाद एक दिन एक ही मुहूर्त में सब कुछ उलट-पुलट गया।

उस दिन फागुन का प्रातःकाल था। घाट जाने के छायादार मार्ग पर मैं नहाकर लौट रही थी, गीला कपड़ा बदन से चिपका हुआ था। रास्ते के घुमाव पर एक आमका पेड़ था। वहीं गुरुजी से मुलाकात हुई। वे कंधे पर एक गमछा लिये कोई संस्कृत का मंत्र पढ़ते स्नान करने घाट की ओर जा रहे थे।

गीले कपड़ों में थी, उन्हें देखकर लजा गई, एक तरफ़ मुड़कर निकल जाना चाहती थी कि उन्होंने मेरा नाम लेकर पुकारा। मैं छुईमुई-सी होकर सिर झुकाकर एक ओर खड़ी हो गई। वे मेरे मुख पर दृष्टि रखते हुए बोले—"तुम बड़ी सुंदर हो!"

दुनिया भर के पक्षी वृक्ष-शाखाओं पर कूजन कर रहे थे, रास्ते के किनारे-किनारे गुच्छ के गुच्छ भाण्डीरक पुष्प खिले हुए थे, आम की शाखा-शाखा पर मंजरी फूटी हुई थी। जान पड़ा, सारा आकाश-पाताल पागल हो कर अस्त-व्यस्त हो गया है। कैसे मैं घर आई, कुछ पता नहीं। एकदम उस गीले वस्त्र समेत ठाकुर-घर में चली गई। वहाँ अपने ठाकुर को न देख सकी—सिर्फ घाट के रास्ते की छाया पर प्रकाश की वह झिलमिलाहट आंखों पर नाचने लगी।

उस दिन गुरु जब आहार करने बैठे तो पूछा "आनन्दी क्यों नहीं है?"

मेरे पति मुझे खोजते फिरे, कहीं देख न सके।

अजी, मेरी वह पृथ्वी अब नहीं है, मैं उस सूर्य का प्रकाश खोजकर भी फिर न पा सकी। ठाकुर-घर में अपने ठाकुर को पुकारती हूँ, वे मुँह फिरा लेते हैं।

सारा दिन कैसे और कहाँ कटा कुछ कह नहीं सकती। रात को पति के साथ भेंट होगी। उस समय सब कुछ चुप रहेगा और अंधकार रहेगा। उसी समय मेरे पति का मन मानों खिल उठता था। उसी अंधकार में उनके मुख से एकाध बात अचानक सुन लेती तो समझ जाती कि यह सीधा आदमी जो कुछ समझता है वह कितने सहज ढंग से समझ सकता है। गृहस्थी का काम संभाल कर आने में मुझे देर हुआ करती। वे मेरे लिये बिस्तर के बाहर ही इन्ताज़र करते। प्रायः ही उस समय हम दोनों में गुरुजी की कुछ-न-कुछ चर्चा हो जाती।

उस दिन बहुत रात बीत गई ? प्रायः तीन पहर बीत गये थे। घर में आकर देखती हूँ कि मेरे पतिदेव तब भी खाट पर नहीं गए थे। नीचे ही पड़े-पड़े सो गये थे। बड़ी सावधानी से कुछ भी आवाज़ किये बिना मैं उनके पैरों के नीचे सो गई। नींद में एक बार उन्होंने पैर फैलाया वह मेरी छाती पर आ लगा। इसीको मैंने उनका अन्तिम दान समझ कर ग्रहण किया है। दूसरे दिन सबेरे जब उनकी नींद खुली तो मैं उठकर बैठ गई थी। खिड़की के बाहर कटहल के पेड़ पर अंधकार की एक ओर ज़रा-सी लालिमा दिखाई दी—उस समय भी काग नहीं बोले थे।

मैंने सिर झुकाकर पति के चरणों में प्रणाम किया। वे जल्दी-जल्दी उठकर बैठ गए। मेरे मुँह की ओर देखकर अवाक् होकर ताकते रह गए।

मैंने कहा—"मैं अब संसार छोड़ना चाहती हूँ।" जान पड़ता है पति ने सोचा कि वे सपना देख रहे हैं—कुछ भी नहीं बोल सके।

मैंने कहा—"मेरे सिर की क़सम, तुम दूसरा विवाह कर लेना। मैं विदा होती हूँ।" पति बोले—"तुम यह सब क्या कहती हो ? तुम्हें वैराग्य लेने को किसने कहा।" मैंने कहा—"गुरुजी ने।" पति हत-बुद्धि हो गए ; बोले, "गुरु ने यह बात कब कही ?" मैंने कहा—"आज सबेरे मैं जब स्नान करके लौट रही थी तो उनके साथ भेंट हुई। उसी समय कहा था।" इस बार स्वामी का गला काँप गया। बोले—"ऐसी आज्ञा उन्होंने क्यों दी ?" मैंने जवाब दिया—"मैं नहीं जानती। उन्हींसे पूछना ; बता सकेंगे तो बता देंगे।" पति ने कहा—"संसार में रहकर भी तो संसार त्याग किया जा सकता है। मैं यही बात गुरु को समझाकर कहूँगा।" मैंने कहा—"शायद गुरु समझ सकेंगे, किन्तु मेरा दिल नहीं समझेगा। मेरी गृहस्थी के काम-काज आज से टूट गए।"

पति चुप बैठे रहे। आकाश जब साफ़ हो गया तो वे बोले—"चलो न, हम दोनों एक बार साथ ही उनके पास जाएँ।" मैंने हाथ जोड़कर कहा—"मैं अब उनके सामने नहीं जाऊँगी।" उन्होंने मेरे मुख की ओर देखा, मैंने मुँह नीचा कर लिया। वे और कुछ न बोले।

मैं जानती हूँ, उन्होंने एक प्रकार से मेरा मन देख लिया।

पृथ्वी में दो आदमियों ने मुझे सबसे अधिक प्यार किया था, मेरा लड़का और मेरे पति। वह प्रेम मेरा नारायण था। इसीलिये वह झूठ को बर्दाश्त न कर सका। एक मुझे छोड़कर चलता बना और दूसरे को मैं छोड़ आई। अब सत्य को खोज रही हूँ। अब धोखा नहीं खाऊंगी। यह कहकर उसने साष्टांग प्रणाम किया।

विदाई

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मुझे विदा दो, भाई, क्षमा करो ! मैं तो अब काम-काज के रास्ते नहीं रहा ।
तुम दल बाँधकर आगे निकल जाओ ना, विजयमाल्य गले में पहन लो ना,
मैं अब वनच्छाया तले चुपचाप पिछड़ जाना चाहता हूँ ;
ना भाई, तुम मुझे पुकारना नहीं ।

बहुत दूर तक हम साथ-साथ आए हैं, हाथ में हाथ मिलाकर चलते रहे हैं,
यहाँ इस मोड़ पर मेरा जी जाने कैसा-कैसा कर उठा है,
मालूम नहीं किस फूल की गंध न जाने कैसी विचित्र व्याकुल वेदना में घूम रही है ;
अब तो साथ-साथ चलना नहीं हो सकता ।

तुम लोग जिसके पीछे आज दौड़ रहे हो,
वह रत्न की खोज, राज्य का भंजन-सर्जन, मत-मतान्तर के लिये देश-विदेश में लड़ना,
ऊँची शाखावाले स्वर्ण-चम्पक के आलवाल को सींचना, यह सब मेरे लिये झूठा हो चुका है।
ना भाई, मैं तुम लोगों का अनुगमन नहीं कर सकता ।

आज प्रकाशभरी मनभावनी हँसी मेरे प्राणों में वंशी बजा रही है,
राह चलते-चलते आलस लग गया है, सभी कामकाज में अचानक बाधा पड़ गई है,
केवल एक ही बात सारे प्राण को छाकर बज रही है—
"प्यार करता हूँ, हाय, प्यार करता हूँ,"
हृदयभरी हँसी ही सबसे बड़ी बात है ।

तो फिर तुम मुझे विदा दो, मैंने जान बूझ कर अकाज को अपना लिया है ।
मैं आज मेघ-पथ का पथिक हूँ, हवा के साथ उड़ जाने का अभिलाषी हूँ,
मँझधार में बहनेवाली नैया का माँझी हूँ, अकारण के नशे से घूमता-फिरता हूँ ;
ना भाई, तुम लोग मुझे विदा दो ।

विदेशी संस्पर्श में आधुनिक भारतीय चित्रकला

विनोदविहारी मुखोपाध्याय

अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्त से उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक की देशी चित्रकला की परिचय-मीमांसा करने पर हम कुछ परिणामों तक पहुँच सकते हैं। यह समय लोक-चित्रों का युग है। पारिवार्श्विक अवस्था अर्थात् राष्ट्रीय अशान्ति के फलस्वरूप शिल्पी-समुदाय किसी खास पृष्ठपोषक के आश्रय में ज्यादा दिन टिक नहीं सका। बार बार केन्द्रच्युत होकर सर्वसाधारण के बीच उन्हें अपेक्षाकृत स्थायी आश्रय मिला। इसीलिये सुदीर्घ काल तक इन कारीगरों के चित्र शिक्षित समाज की दृष्टि से ओझल रहे। धीरे धीरे छापाखाना, विलायत के छपे चित्र और अंगरेजी शिक्षा की अभिसंधि से इनकी हालत लोकशिल्पी के नाते और भी करुण होती गई। जीविकार्जन की राह बंद हो जाने और नया रास्ता खोजने का नतीजा यह हुआ कि उनका दल समाज से निश्चिह्न होता गया। जिन मुट्ठीभर दरबारी चित्रकारों ने अन्त तक निर्दिष्ट आश्रय नहीं छोड़ा, उनके वंशधर दिल्ली, जयपुर और राजपूताने के नाना स्थानों में अब भी पाए जाते हैं।

इन सब चित्रकारों की रचनाओं में रस अथवा उस्तादी दक्षता की दृष्टि से उल्लेखयोग्य कुछ भी नहीं है और समसामयिक चित्र-संस्कृति पर भी इन्होंने कोई प्रभाव नहीं छोड़ा। बाहर की दुनिया के संस्पर्श-सुयोग से ये वंचित रहे। इसलिये इन्होंने आज वह थोड़ा-बहुत व्यक्तित्व भी खो दिया है जो ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के कारीगरों में था। अंग्रेज़ी शिक्षा के आगमन के पूर्व यूरोपीय शिल्प-वस्तु केवल धनी विलासी समाज में ही दिखाई देती है। विलायती सजावट, तैलचित्र, बड़े बड़े आईनों की सजावट और यूरोपीय गृहसज्जा लोभनीय वस्तु हो पड़ी थी; अंगरेज़ी शिक्षा के प्रभाव से नहीं, बल्कि हमारे धनी समाज के निकट दुर्लभ होने के कारण। इस समाज पर अंगरेजी सभ्यता का प्रभाव है, मगर अत्यंत सीमित रूप में। यह प्रभाव उन दिनों के शिक्षित और उच्च स्तर के मध्यवित्त समाज के भीतर से पड़ा—ऐसा कहना शायद ज्यादा उपयुक्त होगा। अंगरेज मिशनरियों के साथ क्रमशः हमारा परिचय और भी घनिष्ठ होता गया।

अंगरेजी शिल्प-संस्कृति के अनुकरण की चेष्टा करनेवालों में स्वर्गीय राजा रविवर्मा सर्वप्रधान थे। अपने जीवितकाल में जो ख्याति उन्होंने पाई वह उनकी मृत्यु के बाद क्रमशः म्लान होती गई। युग-सन्धि के काल में उनका आविर्भाव हुआ था; नई सभ्यता की चकाचौंध में उन दिनों पारिपार्श्विक कुछ भी देखने का अवकाश नहीं था। इस सभ्यता ने जिस तरह एक ओर हमें पथ

दिखाया, दूसरी ओर उद्‌भ्रान्त भी किया। देशवासियों ने रविवर्मा में ऐसी प्रतिभा देखी जिसने उस युग के अनुकरणधर्मी समाज को अभिभूत कर दिया। तुलना करके देखनेयोग्य कोई बड़ी चीज, उनके सामने थी ही नहीं। अंगरेजी-शिक्षित वर्ग के निकट भारतीय भास्कर्य अधिकांशतया कुसंस्कार का प्रतीकमात्र था। मुग़ल चित्रों को उन दिनों लगभग लोकरंजक चित्रों की श्रेणी में डाल दिया जाता था ; उनका श्रेष्ठ निदर्शन उनकी दृष्टि में नहीं पड़ा। राजपूत चित्रधारा अपेक्षाकृत अधिक जीवन्त होने पर भी आधुनिक मनोभावापन्न समाज की नज़रों से ओझल थी। अज्ञता के कारण राजा रविवर्मा का आविर्भाव लोगों को एकदम अभूतपूर्व घटना जैसा विलक्षण जान पड़ा। इस प्रभाव के कुछ निश्चित कारण थे। प्रथमतः विदेशी करण-कौशल को उन्होंने जिस तरह अपनाया था, उस दृष्टि से समसामयिक चित्रकारों के बीच वे अतुलनीय थे। दूसरे, आधुनिक गृहसज्जा के अंग के रूप में उनके चित्रों ने सहज ही स्थान पा लिया था। परवर्तीकाल में रविवर्मा के संबंध में हमें किसी भी तरह की अनुकूल आलोचना नहीं मिलती, यद्यपि यूरोपीय चित्र के अनुकारक की दृष्टि से अपने समकालीनों में वे ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

इतिहास में दो भिन्न प्रकृति की प्रतिभा देखने में आती है। एक वह है जो अपनी रूप-सृष्टि या आदर्श के द्वारा लोक-रुचि को मार्जित, संस्कृत या परिवर्तित किया करती है। दूसरी वर्तमान लोकप्रिय आदर्श के अनुसार ही सृष्टि करती है। राजा रविवर्मा की प्रतिभा इसी दूसरी श्रेणी की थी और इसीलिये अपने जीवित काल में ही वे इतने प्रसिद्ध हो गए। आज हम उन्हें अनुकारक के रूप में मानते हैं मगर उनके युग ने उन्हें रूपस्रष्टा माना था। विषय वस्तु में भारतीय संस्कृति का प्रकाश इनकी लोकप्रियता का एक और प्रधान कारण था। विलायती भावापन्न धनीवर्ग ने इनके चित्रों में अपनी रुचि की प्रतिध्वनि पाई थी और जनसाधारण ने इनके विषयवस्तु से अपनी संस्कारगत चिन्ता के लिये खुराक जुगाई थी। एक साथ इन दो श्रेणियों के दर्शकों को आकृष्ट कर पाने के कारण रविवर्मा ने नव्यशिक्षित और प्राचीनपन्थी—दोनों की तरफ़ से श्रद्धा पाई। भारतीय आख्यान-वस्तु को इन्होंने रूप देने का यत्न किया था ; यहाँ तक इनकी आन्तरिकता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किंतु चित्रकला का आदर्श इन्होंने पाया था यूरोप से। रविवर्मा वस्तुतः अपने शिल्पगुरु थियोडर के द्वारा प्रभावित हुए थे ; इन्हींके निकट उन्नीसवीं शताब्दी के एकेडेमिक शिल्पादर्श को इन्होंने पाया था। यूरोपीय क्लासिक आदर्श से परिचित होने का सुयोग इन्हें नहीं मिला। इसीलिये थियोडोर से इन्हें अत्यंत प्राणहीन विलायती करण-कौशल ही उपलब्ध हुआ। यूरोपीय अंकनरीति के सहारे भारतीय उपाख्यानादि को जिस तरह प्रकाश करने का इन्होंने प्रयत्न किया वह सचमुच उन दिनों के लिये एक अभावनीय वस्तु थी। प्रकृत स्रष्टा की अनुभूति-कल्पना न होने से उनके चित्रों में रस-गांभीर्य नहीं है। आज उनकी

आलोचना करते समय इसी कारण प्रतिकृतिमूलक चित्रों को केन्द्र करके शुरू करना चाहिए ; इन चित्रों में उनके करण-कौशल का ज्ञान और उनकी वास्तविक प्रतिभा सहज ही खोजी जा सकती है।

राजा रविवर्मा के जीवितकाल में ही भारतीय रूपकला और शिल्परुचि के क्षेत्र में अभावनीय परिवर्तन दिखाई दिया। इसकी प्रथम सूचना स्वर्गीय ई० बी० हैवेल द्वारा मिलती है। वे जब आए थे, उस समय समाज का एक वर्ग खूब स्पष्ट भाव से पश्चिमी सभ्यता के रंग में डूबा हुआ था। प्राचीन के साथ भी उसका योग नहीं था और नवीन को भली भाँति समझने का सुयोग भी नहीं घटित हुआ था। ऐसे ही अस्वाभाविक आवेष्टन के भीतर शिक्षित समाज ने अनुकरण के खतरे को पहचाना और उसके मोह से मुक्ति पाने की क्षीण संभावना भी देखी। ऐसे ही समय में ई० बी० हैवेल सरकारी आर्टस्कूल के अध्यक्ष बनकर मद्रास से कलकत्ते आए। अंग्रेजी सरकार ने इस बीच देशी कारीगरों के लिये जगह-जगह शिल्प-विद्यालय स्थापित किए थे जिनमें इंग्लैण्ड से आए हुए शिक्षकों और देशी कारीगरों के सहयोग से शिक्षा की व्यवस्था की गई थी। यही केन्द्र पीछे नाना आर्ट-स्कूलों के नाम से परिचित हुए। हैवेल सबसे पहले अध्यक्ष की हैसियत से मद्रास आए थे। उन्होंने सर्वप्रथम देशी कारुशिल्प और विशेषतया ताँतशिल्प की तरफ़ भारत-सरकार और देशवासियों का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा की। तत्कालीन सरकारी आर्ट स्कूल के अध्यक्ष का इस तरह जातीय आन्दोलन चलाना केवल आश्चर्यजनक और साहसपूर्ण कृतित्व ही नहीं था, वह स्वभावतया अनधिकार चर्चा के रूप में ही खटका था। उनका वास्तविक कर्मजीवन कलकत्ते आने से शुरू होता है। आगमन के थोड़े ही काल बाद तत्कालीन शिल्परुचि के विरुद्ध जो आन्दोलन उन्होंने आरंभ किया, उसे हम साधारणतः चित्रसंस्कृति के आन्दोलन के रूप में ही जानते हैं, कारण, चित्रसंस्कृति को केन्द्र करके ही वह आन्दोलन सफल हुआ था और हैवेल की प्रसिद्धि भी इसी ओर से हुई थी। किन्तु हमारे जातीय जीवन और उसकी नानाविध समस्याओं को लेकर जिन्होंने चिन्ता की है और परवर्तीकाल में इन जटिल समस्याओं से मुक्त करने का प्रयत्न किया है उनमें अंग्रेज़ हैवेल सर्वप्रथम हैं। यूरोपीय सभ्यता और अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रचार-प्रवर्तन जिस तरह मूलतः बंगाल से ही शेष भारतवर्ष में फैला, उसी तरह प्रतिकूल आन्दोलन भी पहले-पहल बंगाल में ही दिखाई दिया। शिल्प और साहित्य के सम्बन्ध में तो यह बात नितान्त सत्य है। अन्धानुकरण और जातीय संस्कृति के प्रति अज्ञता से हममें जो रुचि-विकृति हुई थी, उसी की प्रतिक्रिया हैवेल के आन्दोलन में हम पहले-पहल पाते हैं। इस आन्दोलन को भली भाँति समझने के लिये बंगाल की समसामयिक अवस्था की जानकारी ज़रूरी है।

यूरोपीय चित्र के अनुकरण और देशी रूपकला के साथ साक्षात् परिचय के अभाव के फलस्वरूप देश में सर्वत्र जातीय कला के आदर्श के सम्बन्ध में अगाध अज्ञता फैली हुई थी। भारत के अन्यान्य प्रदेशों के समान बंगाल में भी यूरोपियन शिल्प का अनुकरण चल रहा था। शिल्प के आदर्श में नवीन चिन्ता का आभास उस समय नहीं मिलता। किंतु और और दिशाओं में परिवर्तन दिख रहा था। साहित्य-आन्दोलन इस समय बहुत दूर तक अग्रसर हो गया था। बाहर अनुकरण का मनोभाव होने पर भी भीतर भीतर बंगाल विदेशी अनुकरण की व्यर्थता के सम्बन्ध में सचेत होता जा रहा था। वंकिमचन्द्र और अन्यान्य तत्कालीन साहित्यस्रष्टाओं की कृतियों में हमें इसका परिचय तथा प्रकाश मिलता है। हमारे नाना सामाजिक बन्धनों और अन्यान्य बहुविध समस्याओं पर नेताओं की दृष्टि पड़ती हुई दिखाई देती है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि भारतीय शिल्प और रूपकला की ओर किसीने दृष्टिपात नहीं किया। इस उदासीनता के कई कारण थे किन्तु वास्तव में समाज उदासीन नहीं था। अवश्य ही शिल्प के सम्बन्ध में उसका आदर्श विकृत था। यह बात अंग्रेज़ी शिक्षित समाज को लक्ष्य करके ही कही जा रही है। अंग्रेज़ी शिक्षा के सिवा और भी कितने ही कारणों से हमारी रुचि में इतना शोचनीय अपकर्ष घटा था। देखा जाता है कि हम लोग जब भी गत शताब्दी के सम्बन्ध में कुछ आलोचना करने बैठते हैं तब प्रधानतः तत्कालीन अंग्रेज़ी शिक्षाप्राप्त देशी समाज को ही लक्ष्य में रखते हैं। इसीलिये शिल्पसंस्कृति की आलोचना के समय हम उस सम्पूर्ण विकृति का आरोप समग्र समाज पर ही कर बैठते हैं। किंतु अपने उत्साह को किञ्चित् संयत करके देखने से जान पड़ेगा कि असली विकृति अंग्रेज़ी-भाषा-प्राप्त देशी समाज में ही घटित हुई थी। विकृत रुचि और अनुकरण की प्रवृत्ति देख कर लगता है मानो यही मनोभाव भारत के सर्वसाधारण में विद्यमान था।

उच्चशिक्षित वर्ग में रुचि परिवर्तन हुआ था अंग्रेज़ी शिक्षा और आदर्श तथा देशी संस्कृति के विषय में अज्ञता होने के कारण। जो सम्भ्रान्त थे और जिनमें मूलतः संस्कारगत शिक्षा बनी हुई थी उनमें रस-बोध भी था, रुचि का एक आदर्श भी था जिसे हम लोग अनेक अंश में देशी कह सकते हैं। किन्तु उसमें व्यय-बाहुल्य इतना अधिक था कि रसबोध उसके भीतर आपाताल डूब गया था ; वह अब आडम्बर में परिणत हो गया था। चित्र का सौन्दर्य उनके सूक्ष्म से सूक्ष्मतर कारुकार्य और मूल्य को देखकर ही समझा जाता था। यद्यपि समाज की यह दृष्टि अनेक अंशों में देशी भावापन्न ही कहलाएगी। अंगरेज़ी शिक्षित समाज में प्रचलित रुचि का जो आदर्श था उसकी तुलना में प्राचीन-पन्थी भारतवासियों का आदर्श उच्चतर था। अंगरेज़ी शिक्षित समाज की रुचि का स्टैण्डर्ड जिस अंग्रेज़ी आदर्श के अनुकरण पर

गढ़ उठा था, उस अंग्रेज़ी रुचि की अवस्था तब कई प्रकार से हमारे धनी समाज के आदर्श की सहधर्मी थी। इससे जान पड़ता है कि रसबोध में जो एक स्थिरता आ गई थी उसके मूल में अंगरेजी शिक्षा या ऐसा ही कोई विशेष कारण नहीं था। युग-युग में संस्कृति ने जिस प्रकार नाना कारणों से उत्कर्ष लाभ किया है उसी प्रकार विभिन्न कारणों से उसकी मृत्यु भी हुई है। उन्नीसवीं शताब्दी के कुछ पहले से यों भी शिल्प-संस्कृति म्रियमाण अवस्था तक आ पहुँची थी। इस अवनति के कारण भिन्न होने पर भी उस समय पृथिवी में सब जगह शिल्प की हालत एक ही सी थी। राष्ट्रीय परिवर्तन और नवीन सभ्यता के संस्पर्श में प्राचीन आदर्श का अवसान हो गया था। किंतु यहाँ ऐसा सोचना केवल दुःसाहसिकता होगी कि उस युग की भारतीय शिल्प-संस्कृति में कहीं भी प्राण नहीं थे। भारतवर्ष जैसे विराट महादेश में विचित्र शिल्पकला, स्थापत्य, भास्कर्य और चित्रशैली के भीतर प्राणों का एकदम अभाव कदापि नहीं था। राजपूत चित्र उन्नीसवीं शताब्दी में मुगल दरबारी चित्र के समान निष्प्राण नहीं हुआ था। स्थापत्य और भास्कर्य के क्षेत्र में सुनिपुण कारीगरों का अभाव नहीं था। इनमें स्वकीय सर्जनशक्ति थी या नहीं, हम नहीं कह सकते; कारण, अपनी सर्जनशक्ति प्रकाशित करने को उन्होंने क्षेत्र नहीं पाया। परन्तु भारतीय कारुशिल्प उस समय विदेश में यथेष्ट समादर पा रहा था, इसका भी पता हमारे शिक्षित समुदाय को नहीं था। प्रत्यक्षतः अंगरेजों ने हमारे रूपशिल्प को नष्ट करने की चेष्टा नहीं की; उन्होंने कभी कोई ऐसा आईन-क़ानून नहीं बनया जिसके परिणामस्वरूप हमारा रूपशिल्प नष्ट हुआ हो। किन्तु समग्रभाव से देशी संस्कृति के प्रति निदारुण और विराट उपेक्षा उनमें ज़रूर थी। प्रतिकूलता की अपेक्षा निर्मम उदासीनता कहीं अधिक अकरुण होती है। सुधारकों के आन्दोलन ने रूपशिल्प के रसबोध में प्रधान बाधा खड़ी की थी किंतु इन संस्कारकों ने हमें अर्थहीन प्राचीन संस्कार के जंजाल से त्राण भी दिया। साथ ही विदेशी संस्कृति के प्रवेश का पथ भी प्रशस्त हुआ। हमारा बहुत-सा उपकार इससे हुआ है, परन्तु अपकार की तो शायद ही कोई सीमा हो।

इसी पारिपार्श्विक अवस्था में जब हैवेल ने अपना आन्दोलन शुरू किया उस समय सहयोगिता की अपेक्षा उन्हें विरुद्धता ही अधिक मिली। एक ओर इसका कारण था देशी-विदेशी रूपकला के संबंध में भ्रान्त धारणा और जातीय संस्कृति के साथ चिन्ता-योग का अभाव। वैसे ही दूसरी ओर एक और भी कारण था। जिस आग्रह और आवेग को लेकर हम लोग एक दिन नवागत अंगरेजी जाति की संस्कृति, आचार और व्यवहार के सब कुछ के प्रति आकृष्ट हुए थे, वह नाना कारणों से इस समय उतार पर था। वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ और विगत शताब्दी के शेष के साथ ही उसकी प्रतिक्रिया की हमें सूचना मिलती है। अंगरेज़ों की शुभ-बुद्धि के सम्बन्ध में प्रथम संदेह का जागरण हो चुका था। पर अपनी निजी सभ्यता और सांस्कृतिक सम्पद् के

बारे में हम अब भी खूब कम ही सचेतन थे। इसी कारण हैवेल की चेष्टा और आंतरिकता के बारे में देशी समाज चौकन्ना हो गया था। जिस विशेष संस्कृति के प्रति हैवेल हमारी दृष्टि आकर्षित करने का प्रयास कर रहे थे उसके बारे में यदि हम थोड़े अभिज्ञ होते तो शायद हैवेल की सफ़ाई में अविश्वास न करते। फल यह हुआ कि विरोध प्रबल हो उठा। कारण, जो शिक्षित-संभ्रान्त वर्ग इस समय जातीय जीवनपथ का निर्देश कर रहा था, हैवेल ने परोक्ष में उनपर भी आघात किया था। वे उस पाश्चात्य रुचि के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में सामने आए जो गर्व की वस्तु और स्वतंत्रता की परिचायक थी। यदि वे केवल मृतप्राय भारतीय चित्रशिल्प को लेकर कोई आदर्श अथवा आन्दोलन प्रवर्तित करते तो उनका काम सरल होता ; मगर उन्होंने आन्दोलन चलाया था—समग्रभाव से तत्कालीन संपूर्ण भारतीय रुचि के खिलाफ़। इसीलिये उन्हें इतनी कठिनाई हुई और ठीक इसीलिये वे हमारे नवयुग के संस्कारकों में अन्यतम श्रेष्ठ माने जाते हैं। तत्कालीन समाज को लक्ष्य करके उन्होंने तत्कालीन पत्रों में "शिक्षित भारतीयों के नाम खुली चिट्ठी" प्रकाशित की थी जिससे उनके आदर्श, उद्देश्य और विरोधियों के मनोभावों का पता मिलता है।

पत्र ने तत्कालीन समाज को आहत करने के सिवा भारत के सर्वश्रेष्ठ लोकप्रिय चित्रकार राजा रविवर्मा और उन्हीं-जैसे समस्त तैल चित्रकारों के आदर्श का विरोध किया था।

अब तक सरकारी आर्ट स्कूलों में जो शिक्षा-पद्धति चल रही थी उसका मूल उद्देश्य भारतवासियों को अंग्रेज़ी शिल्प संबंधी शिक्षा देना था। हैवेल ने इस आदर्श को बदलने का प्रयत्न किया और पटने के लाला ईश्वरीप्रसाद को विशेषरूप से देशीय पद्धति से चित्राङ्कन की शिक्षा दिलाने के लिये कलकत्ते में नियुक्त किया। इस समय हैवेल के सहायकों की संख्या अधिक नहीं जान पड़ती। उन दिनों भारतीय शिल्पादर्श को केवलमात्र ऐतिहासिक गवेषणा का विषय समझा जाता था। इस संस्कृति को लेकर नवीन युग का शिल्प भी गढ़ उठ सकता है, ऐसी अश्रुतपूर्व बात हैवेल के सिवा पहले किसी ने नहीं कही थी। हैवेल ने भारतवासियों में शिल्परुचि जगाने के लिये नाना प्रकार से नाना दिशाओं से चिन्ता की थी। सब तरह से हमारे बीच एक आदर्श उद्बुद्ध करने के लिये उन्होंने प्रयत्न किया था। उनके प्रयत्न की सफलता के सर्वप्रधान सहायक अवनीन्द्रनाथ ठाकुर (१८७१ ई०) थे।*

* अप्रकाशित 'समसामयिक भारतीय चित्र' नामक पुस्तक से।

पुरानी पोथियों की विदेश-यात्रा

प्रह्लाद प्रधान

[२]

प्रथम अंक में मैंने जो कुछ लिखा था वह भारतवर्ष के गौरवमय इतिहास का एक अंश-मात्र था। वह बहुत ही उत्साहप्रद और दृप्त था। इस अंक में मुझे जो कुछ कहना है वह उतनी शानदार कहानी नहीं है। इस बार हमें पुरानी पोथियों की जो कथा कहनी है उसे उनकी विदेश-यात्रा न कहकर लूट-खसोट की कहानी कहना अधिक उपयुक्त होगा। दसवीं शताब्दी के बाद भारतवर्ष में हिंदुओं की केन्द्रीय शक्ति दुर्बल हो गई, उपनिवेशों से उसका संबंध टूट गया। उपनिवेशों को एक जबर्दस्त तूफान का धक्का सम्हालना पड़ा। भारतवर्ष में बौद्धधर्म कूलद्रुम की भाँति अपने पतन की घड़ियाँ गिन रहा था और विशाल चीन में भी उस पर विपत्ति के काले बादल मँडराने लगे थे। वहाँ की कहानी भी बड़ी ही करुण है। कहा जाता है कि चीन में तीन 'वु' हो गए हैं जो 'बौद्धधर्म पर कोड़ा' के नाम से विख्यात हैं। उनमें प्रधान है ताओधर्म का अनुयायी राजा 'वुत्सुङ्ग' है जिसने १६६०० विहार, ४०००० छोटे विहार (मठ) और बहुत-सी बुद्ध-मूर्तियां नष्ट कर दी थीं। उसने १५०००० बुद्ध-सेवकों को मंदिर से भगा दिया और २६०००० भिक्षु-भिक्षुणियों को गृहस्थ बनने को मजबूर किया। 'वे-इ' लोगों ने जब धावा किया तो 'युआन्-इ' ने विद्या और पोथियों को बेकार समझ कर १४०००० पोथियों का अपना विशाल ग्रन्थागार जला-कर भस्म कर दिया। कौन कह सकता है कि इस हृदयद्रावी ध्वंस लीला ने चीन और भारत के कितने बहुमूल्य ग्रन्थों को हमेशा के लिये बर्बाद कर दिया!

काल-परिवर्तन के साथ स्वयं बौद्ध भिक्षुओं में यह विश्वास घर कर गया कि पुरानी पोथियों को गाड़ देने से बहुत पुण्य होता है। ऐसी बहुत-सी गाड़ी हुई पोथियों का उद्धार इन दिनों कुछ कुछ हो सका है। हुएन्त्सांग ने लिखा है कि महाराज कनिष्क ने त्रिपिटक का नूतन संस्करण कराके ताम्रपत्रों पर खुदवा कर किसी स्तूप में गड़वा दिया था। अभी तक पुरातत्त्व-वेत्ता लोग इन गड़े ताम्रपत्रों को खोज निकालने में समर्थ नहीं हुए हैं। लंका के कण्डि जिले में हङ्गुरन्केत विहार के चैत्य में हजारों रुपये की बहुमूल्य पुस्तकें और अन्य वस्तुएं गड़वा दी गई थीं। रौप्यपत्र पर विनयपिटक के दो प्रकरण, अभिधम्म के सात प्रकरण और दीघनिकाय तथा अन्य कुछ ग्रन्थों को खुदवा कर गड़वाने में १९२०००) खर्च किए गए थे। तालपत्र पर मज्झिमनिकाय, संयुत्त-

निकाय, अङ्गुत्तरनिकाय और खुद्दकनिकाय को लिखाकर गड़वाने में लगभग पौने तीन सौ रुपये खर्च हुए थे। और इसके सिवा अन्यान्य सोनेके पत्तरों पर भी ३७ पुस्तकें लिखी गई थीं। अन्यान्य सोना-चाँदी जवाहरात का कोई हिसाब ही नहीं! भारतवर्ष के मुग़ल सम्राटों ने पुरानी पोथियों के संग्रह में बहुत उत्साह दिखाया था। रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी के लिये दिल्ली के शाहंशाह ने नाना स्थानों से—विशेष कर राजपूताने के राजाओं से संग्रह कर बहुत सी पोथियाँ दी थीं। लेकिन वे भी आज वृन्दाबन में 'समाधि' का सुख भोग रही हैं! बाद में चलकर पुरानी पोथियों के ऊपर इस देश में एक प्रकार की अंधश्रद्धा बढ़ गई और वे पूजा और सम्मान का पात्र हो कर रह गईं। बहुत बार तो विदेशियों के हाथ में पड़ने से कहीं उनकी पवित्रता नष्ट न हो जाय, इस डर से पोथियाँ गंगा में फेंक दी गईं। मराठा शासन-काल में पुरानी पोथियों को सुरक्षित करने की ओर एक बार फिर ध्यान गया था पर वह शासन जड़ जमाने के पहले ही खत्म हो गया।

भारत की भाग्यलक्ष्मी ने एक बार फिर पलटा खाया। अंगरेज़ों का राज हुआ। अंगरेजी की पढ़ाई ज़ारी हुई। अंधश्रद्धा की जगह उपेक्षा और अनादर ने ली। पूजागृह से पोथियाँ उठकर रसोईंघर के कोने में आने लगीं। आज का शिक्षित व्यक्ति एकदम बदल गया। उसे आज यह विश्वास करने में हिचक होती है कि कभी इस देशवालों का भी मान था, वे दूर दूर तक अपनी संस्कृति फैला सके थे। परन्तु विरोधाभास यह है कि यद्यपि इस युग के भारतीयों में अपनी पुरानी संस्कृति की महिमा का भाव घट चला था फिर भी बाद में चलकर पुरानी विद्याओं का पुनरुद्धार जितना इस युग में हुआ उतना कभी नहीं हुआ। अंगरेजों की जड़ जब यहाँ जम गई तो उनकी दृष्टि भारतवर्ष की सभ्यता और विद्याओं की ओर पड़ी। राजनीतिक दृष्टि से भारतवर्ष जैसे विशाल देश पर शासन करने के लिये उसकी सभ्यता और संस्कृति की जानकारी निहायत ज़रूरी थी। उन्होंने गंभीरतापूर्वक भारतीय विद्याओं का अध्ययन शुरू किया। पर पुरानी पोथियों तथा अन्य प्राचीन महत्त्वपूर्ण सामग्री को उद्धार करने के लिये तो अंगरेजों को वाध्य होना पड़ा था। उन दिनों यूरोप में रोमाण्टिक युग चल रहा था। सारा यूरोप रोमांस के पीछे पागल था। भारतवर्ष में जो ज्ञान की निधि कालक्रम से अन्तर्धान हो गई थी उसे खोज निकालने के लिये यूरोप व्यग्र था। यह एक रोमान्स ही था। भारतीय गौरव का थोड़ा सा परिचय पाकर एक जर्मन विद्वान् ने उन दिनों कहा था कि अंगरेज लोग भारत की दालचीनी पर और लौंग पर अपना अधिकार बनाए रहें लेकिन भारतीय चिन्तामणि के खजाने तो समस्त सभ्य-जगत् की साधारण संपत्ति हैं!

यूरोप में सर्वप्रथम ईसाई परिव्राजकों (पादरियों) द्वारा ही संस्कृत का परिचय हुआ।

सन् १६५१ ई० में एक डच पादरी अब्राहम शेजर ने भर्तृहरि के कुछ श्लोकों का एक अनुवाद प्रकाशित किया। यह अनुवाद एक ब्राह्मण पंडित ने पोर्चुगीज़ भाषा में किया था। हार्डर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'जातियों की आवाज़' में इसे संगृहीत किया। वास्तव में यूरोप की साहित्यिक दुनिया को यही सर्वप्रथम संस्कृत का परिचय हुआ। इधर अंगरेज लोग भी चुप नहीं थे। बंगाल के तत्कालीन गवर्नर वारेन हेस्टिंग्स ने कुछ पंडितों की सहायता से धर्मशास्त्र-संगत कानून की एक पुस्तक बनाई थी जो धार्मिक निबंधों का क़रीब-क़रीब अन्तिम ग्रन्थ है। इन्होंने अंगरेजों को संस्कृत पढ़ने के लिये खूब उत्साहित किया। लेकिन इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य सर विलियम जोन्स ने किया। इन्होंने 'बंगाल की एसियाटिक सोसायटी' नामक साहित्य-समाज का संघटन किया जो अब भी जीवित है। इस एक सभा ने पुरानी पोथियों और इतिहास के उद्धार में जो कार्य किया है वह अतुलनीय है। जोन्स ने ही कालिदास की शकुन्तला का प्रथम बार अनुवाद किया और उन्होंने सन १७६२ ई० में ऋतुसंहार प्रकाशित किया जो मुद्रित संस्कृत ग्रंथों में सर्वप्रथम है। फिर तो देखते देखते सारे यूरोप में भारतीय विद्याओं की आलोचना की बाढ़ आ गई। धर्म, ज्योतिष, दर्शन, इतिहास-पुराण कुछ भी बाकी नहीं रहा। यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि सर विलियम जोन्स को मूल पोथियाँ नहीं मिली थीं। उन्हें बहुत-कुछ नक़ल ही प्राप्त थे जो आज कल लंडन के इंडिया आफिस में सुरक्षित हैं। जोन्स के बाद कोलब्रुक ने उक्त सोसायटी का भार लिया था। यह गणितज्ञ ही नहीं थे बल्कि सर्वतोमुखी प्रतिभा लिए हुए थे। इन्होंने नाना शास्त्रों के संबंध में विवेचनात्मक लेख लिखे जो अब भी प्रामाणिक माने जाते हैं। पुरानी पोथियों का संग्रह इनका सबसे बड़ा कार्य था। लगभग १० हजार पाउंड (क़रीब क़रीब १५०००० रुपये) इन्होंने इस कार्य में व्यय किए थे। इंग्लैण्ड लौटने के बाद ये सारी पुस्तकें इन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी को उपहार में दे दीं। ये आज कल इण्डिया आफिस में सुरक्षित हैं।

कोलब्रुक के बाद बहुत से सरकारी अंग्रेज़ कर्मचारियों ने पोथियों के संग्रह का प्रयत्न किया। फिर कुछ राजभक्त भारतीयों ने भी इण्डिया आफिस को दान में बहुत-सी पोथियां दीं। 'केटेलागस केटेलोगोरम्' की भूमिका में औफ्रेख्ट् ने इण्डिया आफिस के संग्रह के प्रसंग में कई प्रसिद्ध ग्रंथसंग्राहकों के नाम दिए हैं; जैसे, कोलब्रुक, विल्किन्स, टेलर, गायकवाड़, जान्सन्, फ्लीट, वेलेन्टाइन, बर्नेल, मेकेन्ज़ी इत्यादि। इनमें से कई तो हिंदुस्तान से पोथियाँ बटोर कर इंग्लैण्ड ले गए थे। वहाँ उनके एकत्र करने की कोई व्यवस्था नहीं हो सकी थी। इन छितराई हुई पोथियों को एकत्र करने के लिये इंग्लैण्ड में जबर्दस्त आन्दोलन हुआ था। जब पुस्तकें फिर से एक जगह इकट्ठी हुईं तो कीथ ने आगे चलकर इनका वर्गीकरण किया। कुछको उन्होंने साधारण श्रेणी में रखा और कुछको विशेष में। विशेष श्रेणी में उन्होंने (१) औफ्रेख्ट, (२)

बूलर (३) बर्नेल (४) हडसन्, (५) मेकेन्ज़ी और (६) टागोर के संग्रहों को रखा। विल्किस की पोथियों को उन्होंने साधारण श्रेणी की ही माना।

इन संग्रहकर्त्ताओं का अध्यवसाय और धैर्य देख कर दंग रह जाना पड़ता है। एकाध उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं। बूलर और कीलहार्न दोनों ही जर्मन पंडित थे। पोथियों के संग्रह करने के उद्देश्य से ही वे यहाँ आए थे। पहले वे बंबई सरकार के अधीन काम करते थे, बाद में भारत सरकार के। फिर भी अन्यान्य विदेशी संस्थाओं के लिये भी पुस्तक संग्रह करने की उन्हें छूट थी। जैसल्मेर का जैन पुस्तक-भाण्डार देखने के लिये बूलर को बड़ा कष्ट भोगना पड़ा था। बिना पानी, बिना आश्रय के कड़ाके की गर्मी में उन्हें दूर जाना पड़ता था, सब प्रकार के कष्ट उन्होंने बर्दाश्त किए, फिर भी भाण्डार को पूर्ण रूप से वे नहीं देख सके। भाण्डार के अधिकारी किसी विदेशी को उसे दिखना नहीं चाहते थे। भाण्डारकर जैसे ब्राह्मण पंडित को भी जब उसे देखने में बेहद कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था तो विदेशी विद्वानों की तो बात ही क्या है। भाण्डारकर ने लिखा है कि भाण्डार एक पंचायत के हाथ में था। प्रत्येक पंच ने अलग अलग ताला लगा रखा था। एक आता था तो दूसरा लापता, दूसरा आया तो पहला गायब। सब पंचों को जुटाना बहुत कठिन कार्य था।

बर्नेल का कार्य-क्षेत्र दक्षिण था। उन्होंने अपने संग्रह का जो विवरण दिया है उसमें एक मजेदार बात यह है कि एक बार एक दीवानी मुक़द्दमे में ५०० प्राचीन पोथियाँ अन्य कागज-पत्रों के साथ नत्थी कर के पेश कर दी गई थीं जिनमें कई दुर्लभ और बहुमूल्य थीं। लेफ्टिनेंट कर्नेल कलिन मेकेन्ज़ी पहले मद्रास के और बाद में भारत सरकार के सर्वेयर थे। अपनी पैमायशी यात्रा में इन्होंने बहुत-से ताम्र-पत्र, शिलालेख और ग्रंथ संग्रह किए। १५००० पौन्ड खर्च करके जो बहुमूल्य संग्रह इन्होंने जुटाया था उसे बाद में १००००० पौन्ड पर इण्डिया आफिस को बेंच दिया। इस में ८०० पुरानीं पोथियाँ थीं। टागोर संगूह की सारी पुस्तकें शायद बंगाल से संगृहीत हुई थीं। पाथुरियाघाट (कलकत्ता) के यतीन्द्रमोहन ठाकुर के भाई सर सौरीन्द्रमोहन ठाकुर बहुत बड़े संगीतज्ञ और विद्याप्रेमी थे। इन्होंने ही यह संगूह दान किया था। इसी तरह हडसन ने नेपाल से बौद्ध धर्म की अनेक पोथियाँ संग्रह कीं। मैंने सुना है कि जिस जहाजमें इन पुस्तकों की प्रथम नक़ल भेजी गई वह जहाज समुद्र में डूब गया, पर हडसन फिर भी निरुत्साह नहीं हुए। उन्होंने दुबारा उनकी नक़ल करा के भेजा। उनके बाद डा० रिट नामक चिकित्सक ने हडसन के छोड़े कार्य को सम्हाला। अपने रोगियों को वे पुरानी पोथियों के ले आने के लिये फुसलाया करते थे। इनके संग्रह का विस्तृत विवरण बेण्डेल ने तैयार किया है।

अब साधारण संग्रह की चर्चा की जाय। बहुत-सी पुस्तकें तो अनुसंधान-प्रेमी कर्म-

चारियों ने इकट्ठी की थीं, बहुत-कुछ इण्डिया आफिस ने दाम देकर खरीदा भी था। लेकिन बहुत अधिक पोथियाँ पुराने राजाओं के क़िले दखल करते समय मिली थीं। प्रत्येक दुर्ग में पुस्तकों का अच्छा संग्रह हुआ करता था। टीपू सुलतान के क़िले से २००० प्राचीन पोथियाँ मिली थीं जिनमें कुछ विलायत के पुस्तकालयों को भेज दी गईं और कुछ बंगाल की एसियाटिक सोसायटी को मिलीं। द्वितीय बाजीराव पेशवा जिस श्रीमद्भगवद्गीता का पाठ किया करते थे वह भी इण्डिया आफिस में सुरक्षित है। परन्तु इस प्रकार की संग्रहकारिणी वृत्ति अंग्रेजों में बाद में आई। अवध के नवाब जब कलकत्ते आए थे तो उनके साथ कुछ पोथियाँ भी थीं। जब लखनऊ का पतन हुआ तो अंग्रेज़ सैनिकों के हाथ एक बहुत बड़ा पुस्तक-संग्रह लगा जिसे असावधानी और बेदर्दी के साथ नष्ट कर दिया गया। सिपाहियों ने बहुतेरी पोथियाँ जला दीं। जो बचीं उन्हें नीलाम पर चढ़ाया गया और इस प्रकार वे बंगाल की एसियाटिक सोसायटी के हाथ लगीं।

इण्डिया आफिस के सिवा ब्रिटिश, म्युज़ियम, रायल एसियाटिक सोसायटी तथा विश्वविद्यालयों के पुस्तकालयों में भी प्राचीन पोथियों का खासा संग्रह है। आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने हुल्‌स्‌ का सारा संग्रह खरीद लिया था और जोन्स, विल्सन और कोलब्रुक के संग्रहों का अच्छा-सा अंश भी वहाँ है। प्रथम बर्मा-युद्ध में बटोरी हुई पोथियाँ विशप्‌स कालेज के पुस्तकालय में हैं। इंग्लैण्ड की तरह फ्रांस में भी पुरानी भारतीय पोथियों का अच्छा संग्रह है। फ्रांसीसी लोगों का भी भारत में राज्य है और वे भी बहुत पहले से इस दिशा में सयत्न हैं। डुप्ले ने ही क़रीब ५०० पोथियाँ पेरिस भेजी थीं।

परन्तु इस संबंध में जर्मनी के पंडितों ने सबसे अधिक कार्य किया है। यद्यपि फ्रांस और इंग्लैण्ड की भाँति इनलोगोंका यहाँ साम्राज्य नहीं था फिर भी सब विषयों में मार्गदर्शक वे ही थे। सर विलियम जोन्स के भी पहले सन् १७७४ ई० सर चामर्स ने २५००० स्टर्लिंग खर्च करके बहुमूल्य ग्रंथ संग्रह किए थे जिन्हें बाद में प्रशिया की सरकार ने खरीद कर बर्लिन की इंपीरीयल लाइब्रेरी को दे दिया। इसी संग्रह में एक सामवेद की प्रति है जो अली इब्राहीम खाँ से प्राप्त हुई थी। और भी अनेक जर्मन परिव्राजक इस देश में पुस्तक संग्रह कार्य में नियुक्त रहे। बूलर, कीलहार्न और वेबर भी जर्मन ही थे।

इन देशों के अतिरिक्त इंग्लैण्ड, रोम, रूस आदि देशों में भी प्रचुर पोथियाँ गई हैं। सेन्टपीटर्सवर्ग से संस्कृत का जो विशाल शब्दकोष प्रकाशित हुआ है वह अब तक संस्कृत का अद्वितीय कोष माना जाता है। स्व० महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि सन् १८८६ ई० में उत्तरी बर्मा दखल करने के लिये जब एक घोषणा हुई तो उसी समय

सेन्टपीटर्सवर्ग से प्रो० मिनायेफ (जो उन दिनों इटली में थे) को एक तार मिला कि तत्काल मण्डले जा कर वहां जो कुछ पोथियाँ पाई जा सकें उन्हें वे संग्रह करें। उक्त प्रोफेसर जब मण्डले पहुँचे तो वहाँ उन्होंने देखा कि सैनिक लोग पोथियों से सिगार सुलगा रहे हैं! उनके अनुरोध पर अंग्रेजी सेना के सेनापति ने यह कुकार्य बंद करवाया और उन्होंने आज्ञा दी कि वे जितनी पोथियाँ ले जा सकते हैं उठा ले जाँय। उक्त प्रोफेसर ने सात बड़े बड़े संदूकों में पोथियाँ उठवाकर सेण्टपीटर्सवर्ग को रवाना किया। इस प्रकार भारतवर्ष, बर्मा, सीलोन और नेपाल से पुस्तकों की राशियाँ नाना भाव से यूरोप को पहुँचती रही हैं। बृहत्तर भारतके देशों से भी कम पुस्तकें नहीं गई हैं। जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, श्याम (वर्तमान थाईलैण्ड) आदि देशों से बहुमूल्य पुस्तकें यूरोप गई हैं। परन्तु इन सब की अपेक्षा अधिक पुस्तकें मध्य-एशिय, चीनी तुर्किस्तान आदि देशों से गई हैं। यह कहानी एक ही साथ मनोरंजक, करुण और स्फूर्तिदायिनी है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम जो नाम स्मरणीय है वह लेफ्टिनेन्ट बावर का है। वे उन दिनों कुच में ब्रिटिश रेजिडेंट थे। सन् १८९० ई० में दो तुर्कों ने उन्हें भोजपत्र पर लिखी कुछ प्राचीन पोथिया दिखाईं। बावर ने उन्हें खरीद कर बंगाल को एसियाटिक सोसायटी के पास भेज दिया। ये पोथियाँ एक विध्वस्त बौद्धस्तूप में मिली थीं। इन की परीक्षा हर्नेल ने की। परीक्षा से मालूम हुआ कि ये सन् इसवी की चौथी पांचवीं शताब्दी की हैं। इन पुस्तकों ने अनेक ग्रंथों के इतिहास-निर्णय में क्रान्तिकारी सहायता पहुँचाई। फिर तो यूरोपीय और रूसी अनुसंधाताओं के दल उधर ही पिल पड़े। इस प्रकार अनेक ग्रंथों का उद्धार हुआ। परन्तु हम उसकी चर्चा फिर कभी करेंगे।



अपूर्णता के पक्ष में साधारण मनुष्यकी दलील

कृष्ण कृपालानी

शेक्सपियर की भाषा में यह ज़िन्दगी किसी मूर्ख का सुनाया हुआ दास्तान है जिसमें कभी कभी स्वस्थ होकर साँस लेने लायक अवकाश और विश्वास के स्थल भी मिल जाते हैं। दुनिया के इतिहास में जब जब उन्माद रोगी के दो दौरों के बीच का यह चैतन्यकाल आकर हाज़िर हुआ है, तब तब ऐसा लगा है मानों मनुष्य ने आखिरकार स्वतंत्र और अनाविल दृष्टि पा ली और आत्मा की मुक्ति का स्वाद एक बार पाने पर अब वह उसे शायद कभी नहीं छोड़ेगा। मगर कहानी का दुःखान्त बार बार घटित हुआ है। बुद्धि और आत्मा की मुक्ति ने उसे जिस अनिर्दिष्ट जगत् में छोड़ा, वहाँ के वैचित्र्य और वैविध्य से घबराकर उसने फिर किसी प्रकार की मानसिक गुलामी को वरण कर लिया। नवीन चिन्ता हमें बहुत कुछ भटकाती है और हमारे स्नायुजाल को अनिश्चित तथा अज्ञात के श्रम से क्लान्त कर देती है; इसी कारण मनुष्य उसे सहन न कर पाकर शीघ्र ही अपने विचारों और भावों को किसी-न-किसी तरह के जड़ साँचे में ढालना शुरू कर देता है। नाविक जिस तरह पानी की अनजानी दुनिया के भीतर सहसा लंगर खोलते सकुचाता है, मनुष्य भी वैसे ही शंकित चित्त लेकर स्वंतत्र बुद्धि और चिन्ता के लोक में पाँव बढ़ाते घबरा जाता है। तब वह पथ निर्देश के लिये समाज के नीमहकीमों की ओर या फिर भविष्यद्वक्ताओं की तरफ़ ताका करता है।

ठीक ऐसे ही युग से हम गुज़र रहे हैं। युक्ति, विवेक, चैतन्य और उनके साथी संदेह को आज एकदम अस्पृश्य क़रार दे दिया गया है और किसी-न-किसी निर्दिष्ट मतवाद के साथ एक हो जाना ही आज की रीति बन गई है। जिनके पास बुद्धि है वे असहिष्णु होते जा रहे हैं, 'वादी' बनते जा रहे हैं। दो मतवाद सबसे प्रमुख हैं—काम्यूनिज्म और फासिज्म, जो परस्पर-विरोधी जान पड़ने पर भी बहुत अंशों में साम्य रखते हैं। इनमें से किसी एक के भक्त हो जाने पर फिर स्वतंत्र चिंता करने की तकलीफ़ नहीं उठानी पड़ती। दोनों ही का ख्याल है कि सारे अमंगल का मूल सामाजिक असामञ्जस्य है और सही ढंग की सर्वशक्तिमान् सरकार ही सब दोषों को—जादू की करामात से—दूर करने की क्षमता रखती है। यह जो सहसा साम्प्रदायिक अथवा बौद्धिक कट्टरता का उदय हुआ है, इसके मूल में वर्तमान समाज के प्रति मनुष्य का असन्तोष है। इसीके साथ-साथ यह धारणा भी विजड़ित है कि मशीन की तरह समाज को भी सौ-फ़ीसदी कामयाबी के साथ चलाया जा सकता है। फ़ासिस्ट चाहते हैं कि, राष्ट्रीय गौरव

और संस्कृति की तुमुल दुहाई द्वारा इस सामाजिक मशीन को चला सकें। काम्यूनिस्ट चाहते हैं, यह मशीन विपुलसंख्यक श्रमजीवियों के हित के लिये चलाई जा सके। फ़ासिस्ट आदर्श का अन्तर्निहित पूँजीवादी उद्देश्य तो साफ़ है, मगर काम्यूनिस्टों का दावा ज़रा व्यापक भूमि पर होने के कारण विचारणीय है।

समाज में आलसी और पर-पिण्डोपजीवी व्यक्ति न हों, अपनी क्षमता भर सबलोग उत्पादन करें और आवश्यकता भर उपभोग कर सकें, इस आदर्श को तो सभी स्वीकार कर लेंगे। मुश्किल इतनी ही है कि ज़रूरत और योग्यता का निर्णय कौन करेगा? कम्युनिस्ट का उत्तर है—राज। सिद्धान्ततया कम्युनिस्ट अराजकवादी होता है, मगर व्यवहार में वह राज का भक्त ही होता है, बशर्त्ते कि राज्यशक्ति उसके दलविशेष के हाथ में हो। और यह हक़ीक़त सभी राज्यतंत्रों की होती है, फिर सिद्धांत या आदर्श कुछ भी क्यों न हों। रूस का शासक श्रमजीवी क़तई नहीं है, जिस तरह ग्रेटब्रिटेन का शासक स्वतंत्र नागरिक नहीं है। जिसके पास राजनीतिक कौशल और चातुर्य है वह, चाहे जैसे भी हो, स्वामी बन जा सकता है। पूँजीवादी की व्यवसाय बुद्धि भी तो इसी तरह जीवन की प्रतियोगिता में अपने प्रतिद्वंदी को किसि-न-किसी तरह पछाड़ ही देती है। ट्राट्स्की से स्टेलिन में यह कौशल अधिक था, इसी कारण स्टेलिन कर्मयोगी की तरह क्रेमलिन का अध्यक्षपद सुशोभित किए हुए है, जब कि ट्राट्स्की के कर्मभोग की कहानी हम जानते ही हैं। हाँ, आर्थिक अपहरण को कम्युनिज्म अवश्यही समाप्त कर देता है और इस कारण समाज में विकास के अनुकूल परिस्थिति पैदा करने में वह काफ़ी मंज़िल तय कर चुकता है। मगर यह नितांत गलत ख़याल है कि आर्थिक अपहरण के मिट जाने पर अपहरण के सभी रूप मिट जाते हैं। असल में सत्ता हाथ में आते ही उसके दुरुपयोग का सूत्रपात भी हो जाता है।

साधारण जनतांत्रिक समाज में शक्ति के तीन केन्द्र हुआ करते हैं: राजनीतिज्ञ राज्य-शासन करता है, पूँजीवादी जीविका का नियंत्रण करता है और लेखकों तथा मनीषियों का दल मनुष्य की चिन्ताधारा को परिचालित किया करता है। कभी कभी एक ही दल नाना केन्द्रों से अपनी ताक़त आज़माया करता है मगर वह अन्य दलों का नियंत्रण नितांत अवरुद्ध नहीं कर देता। समष्टिवादी राज्यों में राजसत्ता ही एक साथ अभिभावक, नियामक, जीविकादाता और प्रधान उपदेशक की जगह अख़तियार किए रहती है। किन्तु यदि पदाधिकारी अत्याचारी या महत्त्वाकांक्षी हुए, तब फ़रियाद करने के लिये शब्द नहीं मिलते और न विरोध करने के लिये साधन। एक बार देश के किसी सुदूर कोने में भ्रमण करते हुए कान्फ्यूशियस ने एक स्त्री का विलाप सुना। मालूम हुआ कि उसी जगह उसके श्वशुर, स्वामी और सन्तान को बाघ ने खा

डाला हैं। "तब तुम कहीं और क्यों नहीं चली जातीं ?"—कान्फ्यूशियस ने पूछा। "ना, यहाँ और जो हो, अत्याचारी राज्य का शासन नहीं है"—उस स्त्री ने उत्तर दिया। यह कहानी भारत में अमन-चैन की दुहाई देते हुए कभी न थकनेवाली सरकार पर क्या घोर व्यंग्य नहीं है ?

काम्यूनिस्ट शासनतंत्र में भी स्वार्थसाधन की प्रवृत्ति एकबारगी अन्तर्धान नहीं हो जाती, केवल सीमितसंख्यक दल के हाथ में केन्द्रित हो जाती है। कोई शासन-विधान इस बात की गारंटी नहीं दे सकता कि शक्ति पानेवाला शक्ति के मद में भूल नहीं जायगा। प्लेटो का स्वप्न स्वप्न ही था ; आदर्श अभिभावक आज भी खोजे नहीं मिलते। ऐसा कोई साधन आज तक खोजा नहीं गया जिससे समाज के सर्वाधिक योग्य और त्यागी व्यक्ति ही किसी अव्यर्थ पद्धति से—अपने आप—सत्ता के शीर्ष पर पहुँच जायँ और वहीं से नेतृत्व करें। जिसे शक्ति का आकर्षण नहीं, सत्ता का लोभ नहीं, वह राजनीति का खेल खेलने नहीं आता। इसमें अपवाद हो सकते हैं, मगर नियम फिर भी अक्षुण्ण ही रहेगा। लेनिन और गांधी इने-गिने ही होते हैं। अक्सर योग्य व्यक्तियों को गौरव और सम्मान के नीचे दफ़ना दिए जाना पसन्द नहीं होता ; वे राजनीति के दुरारूढ़ रथचक्र की धूल-धक्कड़ से बचकर शांत ज़िन्दगी बिताना ही अच्छा मानते हैं। चीनी दार्शनिक और ऋषि च्वाङ्-त्सू के निकट प्यू राज्य के युवराज ने यह आह्वान भेजा था कि वे आकर शासन-कार्य सँभालें। संदेशवाहकों ने जाकर देखा, च्वाङ्-त्सू एकांत पोखर के छोर पर मछली फँसाने में मशगूल हैं। संदेश सुनकर भी वे वैसे ही शांत और निर्विकार रहे तथा अलस उपेक्षा के साथ पूछा—"मैंने सुना है, प्यू राज्य में एक पवित्र कछुआ है जिसके मृत शरीर को हज़ारों बरसों से राज्यमन्दिर की सुन्दर वेदी पर प्रतिष्ठित करके गंभीर पूजा-उपासना निवेदन की जाती है। अच्छा, कहो तो, इस कुछुए को मृत होकर इतनी वैभवशालिनी अर्चना पाना अच्छा लगता या ज़िन्दा रहकर कीचड़ में पड़े-पड़े अपनी पूँछ डुलाना ?" "अवश्य ही पूँछ डुलाना"—वार्तावह ने कहा। "तब भागो यहाँ से"—च्वाङ्-त्सू ने सहसा दीप्त होकर कहा—"मैं भी कीचड़ में अपनी पूँछ डुलाता पड़ा रहूँगा।"

परिपूर्ण सत्ता परिपूर्ण भाव से मनुष्य को विकृत कर देती है। इससे तो कहीं बेहतर है कि मनुष्य ग़लतियाँ करने के लिये आज़ाद कर दिया जाय। माया-ममताहीन विशालकाय समाज यंत्र का निर्दोष पुर्ज़ा होने की अपेक्षा हज़ार-हज़ार भूल करके आज़ाद रहना कहीं अच्छा है। काम्युनिज्म यदि आर्थिक अपहरण दूर करके ही छुट्टी न पा ले और मानव-मंगल के अगनित साधनों को भुला न दे तो इस तरह अनात्म समाजयंत्र का आविर्भाव कोई अनिवार्य नहीं है। यदि समाज केवल स्थूल अवश्यकताओं का समाधान जुटाने के अतिरिक्त आत्माके जटिल भोगों का भी

आयोजन पूरा करना चाहता है, तब व्यक्ति की बुद्धि और संकल्पशक्ति को बंधनहीन करना ही पड़ेगा। आर्थिक मुक्ति आखिर चरम मुक्ति नहीं है ; मानवीय विकास का प्रमुख साधन होते हुए भी वह उसका एकांत आधार नहीं है। मुक्त चिंता और मुक्त सौहार्द ही इस विकास के के आधार हैं। चारा-पानी का पक्का इन्तज़ाम करने से ही मनुष्य खुश-हाल नहीं रह पाता ; पशु भी रह पाते होंगे—यह सन्दिग्ध है, कारण पशु की सुख-बोध-धारणा को लेकर अब भी मनस्तत्त्व के जानकारों ने काफ़ी माथापच्ची नहीं की है। जिस समाज में मनुष्य ने मतभेदों को सहज भाव से बर्दाश्त करना तथा अपने मतवाद की निर्भ्रान्तता में संदेह करना सीख लिया है, वहीं वह अपना विकास कर पायगा। मुमकिन है, ऐसा जन-समाज पारस्परिक उग्रता के योग्य शक्ति संघटन का प्रतीक न भी हो सके, कारण वह उतना निर्मम नहीं होगा। वह असंपूर्ण ही होगा, क्योंकि वह भूल करने की आज़ादी देगा। वह किसी हद तक अहिंस होगा, क्योंकि विरोध को सहन न करने पर ही हिंसा का प्रयोजन होता है। ऐसे समाज में आर्थिक उत्पादन शायद केन्द्रीकृत न भी हो, कारण उसका मतलब होता है सत्ता को कुछ के हाथों पूरी तरह सौंप देना। मनुष्य को इतना सभ्य होना होगा कि शक्ति से अधिक उसे मुक्ति प्यारी हो, जड़ता से अधिक विकास, हिसाब से अधिक बेहिसाबी। जीवन और प्रेम उसे लाभ और सफलता की अपेक्षा बड़े जान पड़ें। वह भूल करे, ग़लती करे, मगर हाथ पर हाथ धरकर अचल न हो जाय।

लाभ और लोभ साथ-साथ चलते हैं, किंतु हमारे परिकल्पित समाज में वणिक का आदर्श स्थान नहीं पा सकेगा। फौजी शासन की निरंकुशता को भी निर्वासन भोगना पड़ेगा। स्वशासित, छोटे-छोटे जन समूह से बना हुआ होगा यह समाज, जो धीमी चाल से मजे मजे चलकर अपनी मंज़िल तै करना पसंद करेगा ; पथ के नशे में पाथेय को भी नहीं भूलेगा और पथ के गन्तव्य स्थान को भी नहीं। वह राजनीतिज्ञ के प्रति शांत अविश्वास की नज़र से देखेगा, मानो उसकी भीतरी चाल को उसने पहचान लिया है। आदर्शवादियों की शब्द-झंकार भी उसे सहसा मुग्ध नहीं करेगी। मनुष्य के भूल करने के सहज अधिकार पर उसे श्रद्धा होगी। इस समाज का साधारण आदमी विनम्रभाव से आदर्श प्रेमी को नमस्कार करके कहेगा—"आप हमारी नादानियों को क्षमा करें और अपनी राह लें।" आदर्शवादी जवाब देगा—"हमारी लतों और आदतों का आप ख्याल न करें—हम तो अपनी राह चले ही हैं।"

पंचांग-शोधन का नया प्रस्ताव

हजारीप्रसाद द्विवेदी

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा ने बाबू संपूर्णानन्दजी का निम्नलिखित आशय का महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव हमारे पास प्रचारार्थ भेजा है—

• "पंचांग का महत्व तो सभी देशों में है, परंतु हमारे देश में जहाँ लोगों का फलित ज्योतिष पर विश्वास है और विवाह, व्यापार, खेती-जैसे काम ज्योतिषियों के परामर्श से किए जाते हैं, इस शास्त्र का स्थान बहुत ऊँचा है। गणना में थोड़ी-सी भी भूल होने से सैकड़ों व्यक्तियों के जीवन पर गहिरा प्रभाव पड़ सकता है। इस समय मेरी समझ में पंचांग-संबंधी नीचे लिखे प्रश्न विशेष रूप से विचारणीय हैं: (१) संक्रांति की जो तिथियाँ पंचांगों में दी रहती हैं और हमारे घरों में मनाई जाती हैं, वे दृश्यगणित की तिथियों से, जो वस्तुस्थिति पर निर्भर हैं, नहीं मिलतीं। उदाहरणार्थ वर्तमान संवत् में दृश्यमत से मेषसंक्रान्ति २३ मार्च १९४१ को थी जब कि विश्व-पंचांग के मत से १३ अप्रैल १९४१ को। (२) चांद्रमास कहीं शुक्रपक्ष से आरंभ होते हैं, कहीं कृष्णपक्ष से। श्रीकृष्णजन्माष्टमी जिस दिन होती है उसको कहीं तो भाद्र कृष्ण-अष्टमी कहते हैं, कहीं श्रावण कृष्ण-अष्टमी। (३) पुराने ज्योतिष-ग्रन्थों में ग्रहों की गतिविधि के संबंध में जो अंक दिए गए हैं, उनके अनुसार ग्रहों के जो स्थान आते हैं, वे उन स्थानों से भिन्न हैं जहाँ पर ग्रह सचमुच हैं। उदाहरणार्थ सौर वर्ष का अर्वाचीन मान (३६५ दि० ६घं० ९मि० ९से०) सूर्यसिद्धांत के मत से ३ मि० २७.५६ से० कम है और आर्यभट के मत से ३ मि० २०.६४ सेकेन्ड।

"यदि दशमलव के दूसरे तीसरे स्थान में भी कुछ भूल हो तो वह सैकड़ों वर्षों में बड़ा रूप धारण कर लेती है। हमारे ज्योतिषी इस बात को जानते हैं। अब महत्त्व का प्रश्न यह है कि फलित ज्योतिष के लिये इन दृश्य-स्थानों से काम लिया जाय या अदृश्य से। इस विषय में बड़ा मतभेद है। इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि कुछ विद्वानों की एक समिति बुलाई जाय। वह विचार करे कि १. इन प्रश्नों पर विचार करना उचित और व्यावहारिक है या नहीं। २. ऐसे विचार के लिये काशी में एक सम्मेलन बुलाना ठीक होगा या नहीं। ३. यदि ठीक हो तो उसमें किस-किसको बुलाया जाय। ४. सम्मेलन के सामने

कौन-कौन से प्रश्न रक्खे जायँ और ५. सम्मेलन का आयोजन करने और उसकी रिपोर्ट निकालने में कितना व्यय होगा। इस समिति में मेरी राय में ये सदस्य हों : पं. रामव्यास ज्योतिषी, पं. बलदेव मिश्र ज्योतिषाचार्य, पं. रघुनाथ शर्मा ज्योतिषाचार्य, डा० गोरखप्रसाद, डा० अवधेशनारायण सिंह, बा० महावीरप्रसाद श्रीवास्तव। एक नाम कोई और हो। सात सदस्यों की समिति पर्याप्त है, जल्दी बैठ सकती है। किसी भी तीन-चार दिन की छुट्टी में लोग मिल सकते हैं। मैं समिति का सदस्य नहीं हो सकता, क्योंकि इस विषय का ज्ञाता नहीं हूँ। और हर प्रकार से सहायता दूँगा। मैंने जिन नामों का सुझाव किया है इनमें प्राचीन और अर्वाचीन गणित तथा फलित सभी के विशेषज्ञ हैं।"

उक्त प्रस्ताव में श्री संपूर्णानंदजी जिसे 'दृश्य' मत कहते हैं उसे वस्तुतः 'सायन' मत कहा गया होता तो ग़लतफ़हमी की कम गुंजायश होती। इसका कारण हम आगे यथासंभव ऐसी भाषा में बताने की चेष्टा करते हैं जो औसत शिक्षित व्यक्ति को आसानी से समझ में आ सके। यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि सायन मत को 'दृश्य', और निरयण मत को (जिस मत से विश्वपंचांग तथा अन्य भारतीय पत्रे बनते हैं) 'अदृश्य' नहीं कहा जा सकता। अपनी बात कहने के पहले यह कह रखना ज़रूरी है कि इस समस्या को विशेषज्ञ पंडितों के हाथ में न छोड़कर इस प्रश्न को ऐसा व्यापक बना देना चाहिए कि प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति इसमें रस ले सके। श्रीसंपूर्णानंदजी का समिति में रहना नाना कारणों से वाञ्छनीय है। उन्हें पूर्वी विद्या और पश्चिमी विज्ञान का समान भाव से ज्ञान है। फिर वे सभी प्रश्नों को सहजबुद्धि के द्वारा भी देख सकते हैं। इसीलिये उनका उस समिति में रहना आवश्यक है। अब असली बात पर आया जाय।

यूरोपियन ज्योतिष और भारतीय ज्योतिष का विकास दो भिन्न रास्तों में हुआ है, इसलिये दोनोंमें प्रकृतिगत पार्थक्य रह गया है। भारतीय ज्योतिष का विकास ही नाना प्रकार के आचार-विचार, परम्परागत रीतिनीति, व्रत-उपवास आदि की स्मृतिरक्षा के लिये हुआ है। इसलिये भारतीय पंचाग इसी लक्ष्य से बनते हैं कि उनके द्वारा उक्त घटनाओं, व्रतों, उपवासों आदि का यथार्थकाल निश्चित किया जाय। इसके अतिरिक्त शुभकर्मों की भी एक परम्परा है। जिस दिन, जिस नक्षत्र, जिस राशि में आज भारतीय विवाह हो रहे हैं, हज़ारों वर्षों से उसीमें हो रहे हैं। भारतीय ज्योतिष की प्रकृति के साथ ये बातें इस प्रकार घुल-मिल गई हैं कि उनको अलग करके सोचना भारतीय पंडित के लिये असम्भव है। परन्तु वह इन बातों के कारण सायन-गणना (या आधुनिक यूरोपीय गणना) के प्रचार का विरोधी नहीं है। गणना जितनी ही शुद्ध होगी, उतनी ही यथार्थता के साथ वह ग्रह-राशि-नक्षत्रों का निर्णय कर सकेगा।

पर नाना कारणों से वह पहली राशि को मेष और पहले नक्षत्र को अश्विनी कहने को बाध्य है। तभी उसकी परम्परा सुरक्षित रहेगी। यदि सायन-गणना प्रचलित कर दी जाय, तो आज जो राशि पहली है वह कल दूसरी हो सकती है और फिर एक ज़माने के बाद तीसरी, क्योंकि सम्पातविन्दु निरन्तर पीछे खिसकता जायगा। फिर संक्रान्ति, अधिमास, क्षयमास आदि में इतना अधिक उलट-पलट होगा कि भारतीय ज्योतिष की प्रकृति उसे बर्दाश्त नहीं कर सकेगी।

यह ध्यान में रखना चाहिए कि शुद्ध वर्षमान क्या पदार्थ है। आकाश में जो विन्दु स्थिर है, उस विन्दु से चलकर एक पूरा चक्कर लगाकर जब पृथिवी उसी विन्दु पर आ जाती है, तब एक वर्ष पूरा हुआ कहना चाहिए। पृथ्वी के घूमने के कारण हम सूर्य को चक्कर लगाते हुए देखते हैं, इसलिये व्यवहार में सूर्य की गणना ही की जाती है। हम सूर्य को ही एक राशि से दूसरी की ओर खिसकते देखते हैं, इसलिये यहाँ भी हम सूर्य का चलना ही कहते रहेंगे। अब सूर्य किस विन्दु पर से चल रहा है, यह तो स्थिर नहीं है। सम्पात-विन्दु पर से सम्पात-विन्दु पर अगर वह आ जाय तो पूरा चक्कर नहीं लगा सकेगा, क्योंकि सालभर में सम्पात-विन्दु थोड़ा-सा पीछे खिसक आया रहेगा। इसलिये यह स्थान ठीक नहीं है।

लेकिन उपाय यही भर नहीं है।

एक और विन्दु है जहाँ से सूर्य की गणना की जा सकती है। सूर्य की गति प्रतिदिन बराबर नहीं होती, इसीलिये उसकी एक औसत गति मान लेते हैं। सूर्य, मान लीजिए, एक दिन अपनी औसत गति के बराबर चला। अब सालभर उसकी गति बढ़ती-घटती रहेगी; फिर जब उस औसत गतिवाले स्थान पर आएगा, तो निश्चित है कि गति-सम्बन्धी सारी जटिलताओं को पार करके वह ठीक जगह पर आगया। इस स्थान से भी वर्ष नापा जा सकता है; पर कठिनाई यह है कि यह भी चला करता है, सम्पात की उल्टी दिशा में। इसपर से जो वर्ष निकाला जायगा, उसमें सूर्य को एक चक्कर से कुछ अधिक चलना पड़ेगा। अब यद्यपि उदयास्त आदि के लिये ये मान ठीक होंगे; पर उसको एक चक्कर पूरा करने का काल नहीं कह सकते। एक तीसरा रास्ता भी है। नक्षत्रगण प्रायः स्थिर हैं। अगर किसी एक नक्षत्र को स्थिर कर लें और सूर्य वहाँ से आरंभ करके चक्कर काटता हुआ फिर वहीं पहुँच जाय तो, कहेंगे कि यह मान अपेक्षाकृत शुद्ध है। इसीको नाक्षत्रमान कहते हैं। भारतीय पंडितों ने इसीको माना है। वे उदयास्त आदि कर्मों के लिये इसीमें अयन-सम्पात सम्बन्धी और उच्च सम्बन्धी गति जोड़ और घटाकर काम चला लेते हैं; पर नक्षत्रों को स्थिर रखते हैं। यह रास्ता बहुत सुविधा का है। इससे बहुत परिश्रम बच जाता है और भारतीय परम्परा की रक्षा भी होती है।

ग्रीनविच के ज्योतिषी जो पत्रा बनाते हैं, उसमें नाक्षत्रमान नहीं देते, बल्कि उसमें सम्पात की गति और उच्च की गति का संस्कार करके देते हैं। हमारे देश में इसीको सायन-मत कहा जाता है। इससे ग्रीनविचवाले ज्योतिषियों को ग्रहों की गणना में तो बड़ी सुविधा पड़ती है, पर नक्षत्रस्थान ठीक करने के लिये प्रतिवर्ष गणना करनी पड़ती है। ६५० पृष्ठ के पत्रे में २२८ पृष्ठ इन अनेक नक्षत्रों की गणना में लगाए जाते हैं। भारतीय पञ्चाङ्गों को इतनी झंझट की ज़रूरत नहीं होती।

इसीलिये मैं निरयण गणना का पक्षपाती हूँ।

परन्तु सायन और निरयण का अन्तर अयनांश है। और अयनांश के विषय में भारतीय पंडितों में "नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्"। मैंने सन् १९३८ में सात विभिन्न पंचांगों की तुलना करके देखा कि कोई भी दो पंचांग एक ही अयनांश नहीं मानते। दो एक उदाहरण देता हूँ। सन् १९३८ में निम्नलिखित पंचांगों के अयनांश इस प्रकार थे—

विश्वपंचांग (काशी)	२२°.	५३′	२५″
तिलक पंचांग (पूना)	१९°	०′	०″
विशुद्ध सिद्धान्त पंजिका (कलकत्ता)	२२°	५९′	२४′″६५
गुप्त प्रेस पंजिका (कलकत्ता)	२१°	१५′	०″
नाना-दाते-पंचांग (पूना)	२३°	३०′	०″
भारतविजय पंचांग (इन्दौर)	२२°	५९′	०″
दृग्गणित पंचाग (मद्रास)	२२°	५९′	३″
ग्रहलाघवीय पंचांग	२२°	३६′	०″

इस विषय में मैं विस्तृत रूप से अपना मत 'विशालभारत' (जनवरी, फ़रवरी १९३८) में व्यक्त कर चुका हूँ। यहाँ उन बातों को दुहराना बेकार है। पाठकों को अगर जानने की इच्छा हो तो वे वहाँ देख ले सकते हैं। परन्तु यहाँ इतना निवेदन कर देने में कोई हर्ज नहीं कि धार्मिक प्रश्नों को सावधानी से पहले अलग कर लेना चाहिए। प्रस्तावित सम्मेलन में केवल ज्योतिषिक विषयों की ही चर्चा हो तो अच्छा है। मुझे दो-तीन ज्योतिष-सम्मेलनों में उपस्थित रहने का सौभाग्य मिला है। प्रत्येक में मैंने यह लक्ष्य किया है कि धर्मशास्त्रीय और विश्वासगत मत ही अन्त तक प्रधान हो उठते हैं और मूल विषय दब जाता है। हमें उन पुराने अनुभवों से फ़ायदा उठाना चाहिए और प्रयत्न करना चाहिए कि प्रस्तावित सम्मेलन मूल विषय से अलग न हो जाय।

आज से लगभग दस वर्ष पूर्व इंदौर में एक अखिल-भारतीय ज्योतिष-सम्मेलन पूज्य पं० मदनमोहन मालवीयजी के सभापतित्व में हुआ था। उस समय उक्त सम्मेलन के कर्णधारों से जो कुछ निवेदन करना ज़रूरी था वही संक्षेप में इस प्रस्तावित सम्मेलन से भी किया जा सकता है। यह शुरू में ही मान लिया जा सकता है कि ऐसा ज्योतिषी शायद ही हो जो यह न जानता हो कि ज्योतिषशास्त्र (मेरा मतलब गणित ज्योतिष से है) ग्रह-नक्षत्रों की विद्या है। अगर ऐसा ज्योतिषी कोई हो तो उसको हम विचार के लिये निमंत्रित नहीं भी कर सकते हैं। भारतवर्ष के नाना स्थानों से नाना मतों के अनुसार पञ्चाङ्ग निकालनेवाले ज्योतिषी यह निश्चित जानते हैं कि उनका पंचाङ्ग किसी-न-किसी प्रकार आकाश से ज़रूर सम्बन्ध रखता है। वे यथासाध्य चेष्टा करते हैं कि उनके बताए हुए ग्रहण, उदय, अस्त सबको यथासमय प्रत्यक्ष दिखें, उनके बताए-अनुसार चंद्रदर्शन हो, सूर्योदय हो, इत्यादि। परन्तु बहुत-से ज्योतिषी यह नहीं मानते कि पञ्चाङ्ग का उद्देश्य केवल आकाश में यथास्थान ग्रहों या ज्योतिषिक विन्दुओं का दिखाई देना ही है। यह एक अद्भुत विरोधाभास है, पर है सच।

कारण क्या है? जो लोग ज्योतिष-सम्मेलन में विविध विवादास्पद प्रश्नों की मीमांसा करने के लिये एकत्रित हों उन्हें धैर्य और गम्भीरता के साथ इन दो परस्पर विरोधी विचारों का कारण अनुसन्धान करना चाहिए। कहते हैं, ज्योतिषशास्त्र प्रत्यक्ष विद्या है, सूर्य और चन्द्रमा इसके गवाह हैं—"प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रर्कौ यत्र साक्षिणौ।" फिर इस शास्त्र में दृश्य और अदृश्य गणना, चैत्र और रैवत पक्ष, सौर और ग्रहलाघवीय मत, इन दो-दो मतों का स्थान ही नहीं होना चाहिये। गणना दो प्रकार की हो सकती है; अर्थात् किसी अभीष्ट फल की प्राप्ति दो प्रकार से हो सकती है, मगर यह समझ में नहीं आता कि फल दो प्रकार के कैसे हो सकते हैं। अगर कोई कहे कि १५×१४ = २१० यह फल दो तरह की गणनाओं से आ सकता है [उदाहरणार्थ, १५×(१०+४) और १५×२×७] तो उसकी बात समझ में आ जायगी। मगर अगर कहनेवाला यों कहे कि गुणनफल दो तरह का होता है, सही और ग़लत, तो बुद्धिमान् मनुष्य उसकी बात सुनने-योग्य नहीं समझेंगे।

ग्रन्थों को लेकर अपने अपने मत खड़े करनेवाले पंडित भी न जाने क्या सोचते होंगे। सच्चा ज्योतिषी किसी ग्रन्थ को, वह कितना ही प्राचीन या कितना ही नवीन क्यों न हो—प्रमाण नहीं मानता। अगर ग्रन्थ प्राचीन है तो वह उसे आदर की दृष्टि से देखेगा पर उसके मत को बिना युक्ति की कसौटी पर कसे नहीं मान लेगा। वराहमिहिर ने दो अत्यन्त प्राचीन सिद्धान्तों को 'दूर-विभ्रष्ट' कहकर उपेक्षा की थी, भास्कराचार्य ने ज़ोर देकर कहा था, यह ज्योतिष शास्त्र अनन्त काल तक नूतन बनता रहेगा। ग्रहलाघव के आचार्य श्रीगणेश दैवज्ञ ने प्राचीन सिद्धान्तों की

फिर से जाँच की थी और जो बातें ग़लत मालूम हुईं, उन्हें साफ़ साफ़ ग़लत कहकर त्याग दिया। स्व० पं० सुधाकर द्विवेदीजी ने गणेश दैवज्ञ की जाँच की भी जाँच की थी। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि कोई ग्रन्थ या आचार्य ज्योतिषी के लिये उसके मार्ग का रोधक सिद्ध होगा।

भारतीय ज्योतिष का धर्मशास्त्र से गहरा सम्बन्ध है। पर यह कहना बिल्कुल ग़लत है कि अकेले भारतवर्ष में ही ज्योतिष और धर्मशास्त्र का सम्बन्ध रहा है। मिश्र में ज्योतिष और धर्मकृत्यों का बड़ा ज़बर्दस्त सम्बन्ध था; कैल्डिया और बैबिलोनिया, ग्रीस और रोम, ईरान और अरब इन सभी देशों में ज्योतिष और धर्म का गहरा सम्बन्ध था, कितनी ही जगह अब भी है। ज्योतिष और धर्मशास्त्र का गाढ़ सम्बन्ध न तो हिन्दुस्तान में अकेला है और न गर्व करने का ही विषय है। ज्योतिष और धर्मशास्त्र में संबंध हुए बिना रह नहीं सकता। अत्यन्त जंगली जातियाँ भी ज्योतिषिक पर्यवेक्षण से अपने धार्मिक अनुष्ठानों का पालन करती हैं। लेकिन ज्योतिष और धर्मशास्त्र के सम्बन्ध से भारतवर्ष के एक श्रेणी के ज्योतिर्विद्-मण्डल में एक समस्या खड़ी हो गई है। ये लोग समझते हैं कि प्राचीन काल से जिस ग्रन्थ के आधार पर वे गणना करते आ रहे हैं, वह ग्रन्थ ही धर्मकृत्यों का एकमात्र सहारा है। यह बात चिन्त्य है।

ज्योतिष और धर्मशास्त्र के सम्बन्ध में एक लक्ष्य करने की बात यह है कि जहाँ तक गणना का संबंध है, धर्मशास्त्र सदा ज्योतिष का अनुवर्तन करता आया है। स्वतंत्र रहा है ज्योतिष। ज्योतिष अगर शुक्रवार के दिन ५० दण्ड एकादशी का निर्देश करे तो धर्मशास्त्र को इसे मानना ही पड़ेगा। यह दूसरी बात है कि स्मार्तों की एकादशी एक दिन हो, वैष्णवों की दूसरे दिन,—धर्मशास्त्र को इस विषय के निर्णय करने का पूरा हक़ है—मगर, यह नहीं हो सकता की ज्योतिष के निर्णय में धर्मशास्त्र बाधा दे। धर्मशास्त्र विश्वास के ऊपर प्रतिष्ठित है, ज्योतिष युक्ति के ऊपर। ज्योतिष को पूरा अधिकार है कि आज अगर शुक्रवारवाली एकादशी के भोग में जो ५० दण्ड पड़े हैं तो कल इससे अधिक विशुद्ध गणना के बल पर बदलकर ४४ दण्ड कर दे। अगर धर्मशास्त्र को इस निर्णय पर से अपनी व्यवस्था बदलनी पड़े तो कुछ चिन्ता नहीं। धर्मशास्त्र के लिये ज्योतिष नहीं रुक सकता।

जो विद्वान् प्रस्तावित ज्योतिषसम्मेलन में एकत्र होंगे उन्होंने अयनांश के विवादास्पद प्रश्न पर ज़रूर ध्यान दिया होगा। हमारे पंचांगों में चैत्र और रैवत पक्ष का जो गज-कच्छप युद्ध चल रहा है वह बन्द होना चाहिए। इसका न तो ज्योतिष से गहरा सम्बन्ध है और न धर्मशास्त्र से। जिन देशों में अयनांश नहीं है—संसार में वह भारतवर्ष के सिवा और कहीं

भी नहीं है—वहाँ ज्योतिष की उन्नति और अग्रगति में कोई बाधा नहीं पहुँची है। अयनांश का अधिक संबंध परम्परा से है। ज्योतिष से इसका यही संबंध है कि निरयण गणना अगर जारी रहेगी तो शताब्दियों से हमारे पूर्वज जिस मेष को 'मेष' (या राशिचक्र की प्रथम राशि) कहते आ रहे हैं, उसे हम भी भविष्य में ज्यों-का-त्यों कहते रहेंगे। अर्थात् हमारी परम्परा द्वारा समर्थित बातें ज्यों-की-त्यों रह जायँगी। धर्मशास्त्र से इसका इतना ही सम्बन्ध है कि वर्षों से हम जिस तिथि के आस-पास संक्रान्ति आदि मनाते आ रहे हैं उसे वहीं मनावेंगे अर्थात् हमारी परम्परा ज्यों-की-त्यों बनी रहेगी। सच पूछिये, तो अयनांश एक कल्पित ज्योतिषिक तथ्य है। खूब संभव, अत्यन्त प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों में इसका चलन ही न था, फिर भी मैं स्वीकार करता हूँ कि आज हम अयनांश को छोड़ नहीं सकते। ऊपर हमने देखा है कि हमारा ज्योतिषशास्त्र विचित्र रूप में उससे उलझा हुआ है। पर हमें इसके महत्त्व की ठीक ठीक धारणा होनी चाहिए।

मेरी राय में ज्योतिषसम्मेलन को इस बात को एक निर्णय पर पहुँचाकर खत्म कर देना चाहिए। किसी सर्वमान्य ग्रंथ के किसी सर्वमान्य नियम से किसी सर्वमान्य तिथि को अयनांश निर्णय कर लेना चाहिए। फिर उसे विशुद्ध अयन-गति से चलाना चाहिए। मैं सूर्यसिद्धान्त के उस नियम की ओर पंडितमण्डली का ध्यान आकर्षित करूँगा जिसमें वेधागत और ग्रंथांगत सूर्य के अन्तर पर से अयनांश ठीक करने की बात बताई गई है। स्व० पं० सुधाकर द्विवेदी इस मत को मान्य समझते थे। काशी-विश्वविद्यालय का पंचांग उसी नियम से अयनांश स्थिर करता है। एक बार एक विशेष अवसर पर मैंने इस तिथि के लिये तीन नाम सुझाए थे। इनमें से किसीकी जन्म-तिथि, निर्वाण-तिथि या किसी विशेष तिथि के दिन अयनांश निर्णय कर लिया जाय। पहले दो सज्जन हैं, पं० सुधाकर द्विवेदी और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक। कहना नहीं होगा कि इन दोनों सज्जनों ने ज्योतिष की अशेष सेवाएँ की हैं। तीसरे सज्जन थे पूज्य पं० मदनमोहन मालवीय। मालवीयजी शायद हिन्दू विश्व-विद्यालय में वेधशाला स्थापित करानेवाले हैं। क्या ही अच्छा हो कि जिस दिन यह तपस्वी पंडित अपने हाथों वेधशाला का शिलान्यास करे उसी दिन को अयनांश निपटारे का दिन मान लिया जाय। इस प्रकार इस विवादास्पद प्रश्न को सदा के लिये हल किया जा सकेगा।

पञ्चाङ्गों के एकीकरण का विषय धर्मशास्त्र से इतना अधिक सम्बद्ध हो गया है कि ज्योतिषसम्मेलन में यह प्रश्न उठे बिना रह ही नहीं सकता। पंडितसमुदाय धार्मिक प्रश्नों का अगर वर्गीकरण कर ले तो मालूम होगा कि अधिकांश प्रश्न धार्मिक नहीं हैं।

पञ्चाङ्ग-एकीकरण के अवसर पर मूल विषय को ढँक देनेवाली बातें नहीं होनी चाहिए।

वह ज़माना अब लद गया जब कि केवल लाखों वर्षों की प्राचीनता के बल पर ही लोगों को प्रभावित किया जा सकता था। किसी संहिता या भाष्य का काल कितने लाख वर्ष पुराना है, यह बात ज्योतिषिक समस्याओं का समाधान नहीं करेगी। इस समय सत्ययुग चल रहा है या कलियुग, इस बेतुकी बात को उठाकर मूल प्रश्न को धुँधला नहीं कर देना चाहिए। यह सदा ध्यान रखना चाहिये कि ज्योतिषिक गणना के बल पर किसी प्राचीन ग्रंथ का काल-निर्णय करना सब समय न तो निरापद ही है और न उपयोगी ही। ज्योतिषसम्मेलन को दृढ़ता के साथ इन प्रश्नों को छाँटकर अलग कर देना चाहिए।

प्रस्तावित ज्योतिषसम्मेलन को हम आशा की दृष्टि से देखते हैं। उसके निर्णय ज्योतिष की रक्षा करते हुए होने चाहिए। उस एकता का कोई मूल्य नहीं जिसमें मूल वस्तु को ही बलिदान होना पड़े।

नागरीप्रचारिणी सभा ने ही विक्रमाब्द-इतिहास-निर्णय-समिति के संयोजक श्री डा० प० शरण की एक विज्ञप्ति भी प्रकाशनार्थ भेजी है। उक्त समिति विक्रमाब्द के संबंध में जितने लेख, निबंध आदि अब तक प्रकाशित हुए हैं उनका समन्वय करके निष्कर्ष प्रकाशित करने और इस विषय के निर्णयार्थ इतिहासज्ञों की नई स्थापनाओं का संकलन करने का महत्त्वपूर्ण निश्चय कर चुकी है। इस अंक में स्थानाभाव से हम इस विषय पर अपना विचार नहीं दे सके। परन्तु अगले अंक में हम ऐसा करने का प्रयत्न करेंगे। हम इतिहासप्रेमी विद्वानों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकृष्ट करते हैं।



पुस्तक-समीक्षा

आर्यों का आदि देश—ले०, श्री संपूर्णानन्द ; प्रकाशक, लीडर प्रेस, इलाहाबाद ; पृ० संख्या २६६, मूल्य ३)

श्रीसंपूर्णानन्द जी द्वारा लिखित 'आर्यों का आदि देश' नामक पुस्तक देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। बहुत दिनों बाद एक सजीव और शक्तिशाली पुस्तक दिखाई पड़ी है। जो कोई भी विचार के क्षेत्र में हमारे मन को थोड़ी भी मुक्ति देता है वही हमारे धन्यवाद का पात्र है। साधारण तौर पर हम भारतवासियों के विचार वेदों के विषय में रुद्ध होते हैं। हम उन्हें अपौरुषेय मानने के अभ्यस्त हैं, विचार का अवकाश हमें मिल ही नहीं पाता। श्रीसंपूर्णानन्द जी जो वेद को अपौरुषेय न मान कर विचार के क्षेत्र में ले आए हैं यह परम आनंद की बात है। प्राचीन और अर्वाचीन बड़े बड़े आचार्यों की बातों को उन्होंने सिर झुकाकर नहीं मान लिया बल्कि साहसपूर्वक उनकी परीक्षा की है। उदाहरणार्थ, लोकमान्य तिलक के साथ जो उनका मतभेद है उसे उन्होंने साहस और युक्तिपूर्वक उत्थापित किया है (पृ० १६३–१७२)। मतभेद ठीक भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता पर दो-टूक बात कहने का साहस निस्सन्देह प्रशंसनीय है। विचार के क्षेत्र में एक बड़ी भारी बाधा और भी है। वह है स्वयं अपने ही बनाए हुए पूर्वनिर्णीत विश्वास का मोह। इस बात में संपूर्णानन्द जी की पुस्तक कहाँ तक प्रभावित हुई है, यह ठीक ठीक तो वे ही बता सकते हैं, परन्तु यहाँ कुछ बातों की जाँच कर रहा हूँ।

जिन आधुनिक विद्वानों की खोजों को श्रीसंपूर्णानंद जी ने निर्भरयोग्य माना है उनमें मुख्य हैं श्रीअविनाशचंद्र दत्त और श्रीप्राणनाथ विद्यालंकार। वस्तुतः इस पुस्तक में उन्होंने श्रीअविनाशचंद्र दत्त द्वारा प्रतिपादित "प्राचीन मत का ही प्रतिपादन किया है।" क्योंकि उनका "दृढ़ विश्वास है कि अब तक एतद्विषयक जो-कुछ सामग्री उपलब्ध हुई है वह इसी पक्षका समर्थन करती है।" (भूमिका पृ० ४, तथा पृ० २५२, ७८ देखिए)। इसी प्रकार मोहन-जो-दड़ो के लेखादि के संबंध में उन्होंने श्रीप्राणनाथ विद्यालंकार के मत का अनुवर्तन किया है (पृ० २२०)। किन्तु इन दोनों पंडितों के निर्णय अन्तिम नहीं हैं और भविष्य में पंडितमंडली इनके मतों को किस श्रेणी में रखेगी, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कोई नहीं कह सकता कि काल के परीक्षा-निकष पर ये खरे ही उतरेंगे। वेदों के मंत्रों की रचना अत्यन्त प्राचीन काल में हुई थी, उनकी व्याख्या-परक पुस्तकें बहुत बाद में लिखी गई हैं। उनसे हम वास्तविक अर्थ का संकेत भर ही पाते हैं। दीर्घकाल तक पंडित लोगों के परस्पर विरोधी मत स्थापित और खंडित होते रहेंगे और तब कहीं हम उस सत्य के नजदीक पहुँचेंगे। प्रयत्न निष्फल नहीं होते। इस पुस्तक का महत्त्व भी इसीमें है।

इस पुस्तक में लेखक ने ऐसी सुंदर भाषा का प्रयोग किया है और अपने पक्ष के स्थापन में ऐसी युक्ति-परम्परा उपस्थित की है, कि पुस्तक एक साहित्यिक कृति हो गई है। अपना सिद्धान्त उन्होंने अत्यन्त संक्षेप में दो-तीन पंक्तियों में इस प्रकार प्रकट कर दिया है—"मेरा विश्वास है

कि न तो आर्य लोग ध्रुव प्रदेश में रहते थे, न मध्य एशिया में, न पश्चिमोत्तर यूरोप में। उनका घर सप्तसिंधव में ही था। यहीं से उनकी संस्कृति दूर देशों तक गई" (पृ० २३४।) यद्यपि मैं इस सिद्धान्त से पूर्णरूप से सहमत नहीं हो सका तौ भी उनकी उत्थापनशैली और स्पष्ट स्थापना की प्रशंसा किए बिना मैं नहीं रह सकता। असहमति के प्रधान कारण यह हैं कि उन्होंने भूतत्त्व-शास्त्र के मत से २५-३० हजार वर्ष पूर्व का जो सप्तसिंधव प्रदेश स्वीकार किया है—जिसके दक्षिण में विशाल समुद्र होने की कल्पना की गई है,—वह अब भी विचार-सापेक्ष है क्योंकि इसी बात में पर्याप्त संदेह है कि उक्त प्रकार की भौगोलिक स्थिति सचमुच ही वैदिक मंत्रों द्वारा समर्थित है या नहीं। इस सप्तसिंधव के संबंध में अपना मत चतुर्थ अध्याय में उन्होंने भली भाँति समझाया है। मैं जानता हूँ कि संपूर्णानंद जी ज्योतिष के अच्छे जानकार हैं, उन्होंने ज्योतिषिक प्रमाणों की लंबी विवेचना भी की है पर ज्योतिषिक प्रमाणों पर संपूर्ण रूप से निर्भर कर के किसी निर्भ्रान्त मत तक नहीं पहुँचा जा सकता। इसके उदाहरण के रूप में स्वयं संपूर्णानंद जी की पुस्तक ही रखी जा सकती है। तिलक इस युग में अपने देश के प्रमुख ज्योतिषी थे पर उनके मत को इसी पुस्तक में अप्रामाणिक सिद्ध किया गया है।

ऐसा जान पड़ता है कि वे डार्विन के विकासवाद को मानते हैं (पृ० २६२-२६३)। किन्तु उसके सभी सिद्धान्तों से उनकी सहमति है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। उनका मत ऐसा जान पड़ता है कि मानवसृष्टि का सर्वोत्तम विकास सत्यसिंधव प्रदेश में ही हुआ था। यहीं से आर्यलोग यूरोप मे भी गए थे। इन्हीं आर्यों की एक शाखा स्थानीय मूल अधिवासियों से मिल कर मोहन-ज-दड़ो और सुमेरकी सभ्यता बना सकी (पृ० २४६)। ईरानी आर्य भी इन्हीं को शाखा थे। कभी सप्तसिंधव के आर्यों से झगड़ कर ये उधर की ओर चले गए थे (सप्तम अध्याय)। इस प्रकार नानाभाव से भारतीय सभ्यता विदेशों में अपना प्रभाव विस्तार करती रही।

उन्होंने वणिक् (पृ० २३७), वृत्र (६०) दिति-अदिति (६१) के संबंध में जो कुछ कहा है वह अनेक पंडितों का सम्मत है पर २४ वें अध्याय में उन्होंने दस्यु और दास को आर्य कहा है इस विषय में सबकी सम्मति नहीं हो सकती। किन्तु उस अध्याय में उन्होंने यदु-तुर्वशु वगैरः को जो आर्य कहा है, इस बात में हम एकमत हैं। ग्रन्थके परिशिष्ट (क) में उन्होंने जो व्रात्यों के विषय के कहा है वह मेरे लिये विशेष आकर्षक है। मै इस विषय का विद्यार्थी रहा हूँ। संपूर्णानंद जी का एक महत्त्वपूर्ण मत यह है कि इन्द्र की पूज्यता के संबंध में आर्यों में मतभेद था। पृ० ६२ पर इस मत की स्थापना के लिये जिन मंत्रों को उद्धृत किया है उनसे अधिक समर्थक मंत्र उन्हींने पृ० २३६ पर उद्धृत किए हैं। इन मंत्रों के सिवा ऋक् १०-२२-१ ; २-१२-५ ; ये सूक्त उक्त विषय के और भी समर्थक हैं।

यह ग्रन्थ सब तरफ़ से आकर्षक और मनोरंजक हुआ है विशेष रूप से यज्ञों का विकास (पृ०२३८) का जो ब्यौरा दिया है वह जितना ही सुंदर है उतना ही साफ़। सब मिला-कर इस पुस्तक से उन्होंने भारतीय सभ्यता के अध्येताओं को यथेष्ट आनंद दिया है और चिन्ता का खाद्य जुटाया है। इस क्षेत्रके किसी बात से सहमत या असहमत होना बड़ी बात नहीं है, चिन्ता को जाग्रत करना ही बड़ी बात है। निस्सन्देह यह पुस्तक हमारी विचार-

संशोधन-सूचना

यहाँ से छ पृष्ठों तक पृष्ठसंख्या ग़लत छप गई है। कृपया क्रमशः इस प्रकार सुधार लें—१९८, १९९, २००, २०१, २०२, २०३।

परम्परा को जाग्रत बनाती है, और नये सिरे से बहुत-कुछ सोचने को चुनौती देती है। हम अत्यन्त हर्ष और प्रेम के साथ इस पुस्तक का स्वागत करते हैं।

—क्षितिमोहन सेन

भारतीय दर्शन—पं० बलदेव उपाध्याय एम, ए, साहित्याचार्य, (काशी विश्वविद्यालय के संस्कृत-पाली विभाग के अध्यापक) प्रकाशक, श्री गौरीशंकर उपाध्याय जतनबर, बनारस, पृ० सं० ६०४ ; मूल्य ३)

इस उपादेय ग्रन्थ को पढ़ कर मुझे बड़ा आनंद मिला। चार खंण्डों में विभक्त इस विपुल ग्रन्थ का परिचय दो चार पंक्तियों में देना संभव नहीं है। श्रौत दर्शन से लेकर तंत्रमत तक नास्तिक और आस्तिक दोनों मतवादों और मतवादियों के संबंध में इसमें निपुण भाव से विचार किया गया है। प्रत्येक मत का साहित्य और सिद्धान्त देने के बाद विद्वान् लेखक ने अन्यान्य दर्शनों द्वारा की गई उस मत की समीक्षा भी दे दी है। इस प्रकार यह पुस्तक केवल तत्तत् मतों का परिचय करा के ही चुप नहीं हो जाती बल्कि उस मत का ऐतिहासिक विकास और गुण दोष समझने का भी अवसर देती है। जिन लोगों के मन में दार्शनिक तत्त्वों की जिज्ञासा है वे इस ग्रन्थ को पढ़कर भारतीय दर्शनों और दार्शनिकों से परिचित होंगे और अपने देश की विशाल चिन्ताराशि का संधान पा सकेंगे। पुस्तक उन लोगों के लिये भी बहुत उपकारी होगी जो संस्कृत के काव्य-व्याकरणादि विषयों की ऊंची परीक्षाएँ पास कर चुके हैं, पर दर्शनशास्त्र से परिचित नहीं हैं।

आधुनिक काल में दर्शनादि विषयों के जो सब संग्रहग्रन्थ लोकभाषा में रचित हुए हैं वे मिशनरी और यूरोपीय पंडितों के लिखे हुए हैं। इन लोगों ने इस देश के दार्शनिक मतों को अपने प्रयोजन* के अनुसार अपनी भाषा में लिख कर प्रचार किया है। दुर्भाग्य की बात यह है कि ये ही विशेष प्रयोजन से लिखे हुए ग्रन्थ अब तक इस देश के विद्या-प्रेमियों के प्रधान अवलंब बने हुए हैं। इन दिनों नाना घात-प्रतिघातों कारण भारतीयों की दृष्टि अन्तर्मुखी हुई है। हमारे देशी पंडितों ने देशी भाषा में कुछ-कुछ लिखना आरंभ किया है किन्तु अब भी यह प्रयत्न पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। इस देश में इस देश की भाषाओं में लिखी हुई दर्शन-विषयक जितनी पुस्तकें मेरे देखने में आई हैं उनमें आलोच्य ग्रन्थ अविसंवादित श्रेष्ठ है। अंग्रेज़ी आदि समृद्ध भाषाओं में लिखी गई किसी भी पुस्तक से इस की गहराई कम नहीं है।

इस पुस्तक में एक उल्लेखयोग्य बात यह है कि अब तक दर्शन संबंधी जो पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें साधारण दर्शनों की ही आलोचना करने की प्रथा चल पड़ी है। किन्तु तंत्रशास्त्र के प्रतिपाद्य तत्त्व छोड़ देने पर भारतीय दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण अंश छूट जाता है। उन पुस्तकों के पढ़ने से तांत्रिक तत्त्ववाद का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। आलोच्य पुस्तक के लेखक ने इस अभाव को पूर्ण किया है। तंत्रशास्त्र का साहित्य बहुत विशाल है उसका जितना विवरण इस ग्रन्थ में दिया जा सका है उससे पाठकों की ज्ञानवृद्धि में सहायता मिलेगी। यह दुर्भाग्य की बात ही समझी जानी चाहिए कि आज भी इस देश की शिक्षित मण्डली में तंत्रशास्त्र के संबंध में नाना प्रकार की भ्रान्त धारणाएं फैली हुई हैं। इसीलिये ऐसे लोग इस देश में

बहुत हैं जो तंत्रमत को अश्रद्धा करते हैं। हम इस ग्रंथ के लेखक से तंत्र संबंधी एक पृथक् पुस्तक की आशा कर सकते हैं।

मैंने ध्यानपूर्वक पुस्तक पढ़ी है। कुछ छापे की ग़लतियों के सिवा उल्लेखयोग्य ग़लती इसमें मुझे कुछ भी नहीं मिली। फिर भी दो एक बात की ओर लेखक का ध्यान आकृष्ट करना ज़रूरी जान पड़ता है। मुझे ऐसा लगता है कि विषयक्रम के सन्निवेश में यदि गीतादर्शन-संबंधी आलोचना वेदान्तदर्शन के बाद दी गई होती तो साधारण पाठक के समझने में सुविधा होती। यद्यपि शाक्तमत के संबंध में थोड़ी ही विवेचना की गई है फिर भी इसमें यदि स्वर्गीय महामहोपाध्याय पंचानन तर्करत्न के शक्तिभाष्य की चर्चा कर दी गई होती पुस्तक अधिक पूर्ण हो जाती, क्योंकि यह भाष्य यद्यपि अति आधुनिक काल का है तथापि इस की चिन्ताधारा का प्रकाश अभिनव और मौलिक है।

ग्रंथ के अन्त में प्रमाण ग्रंथावली की तालिका, नामानुक्रमणी और विषयानुक्रमणी दे दी गई हैं, इससे ग्रंथ के व्यवहार में बहुत सुविधा होगी। ग्रंथों के नामों में कृपाकुसुमांजली और साधनकुसुमाञ्जली के रचयिता का नाम गौरगोविन्द उपाध्याय लिखा गया है यह नाम स्वामी गौर गोविन्दानन्द होना चाहिए। वस्तुतः ये दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं।

मेरी हार्दिक कामना है कि इस पुस्तक का सर्वत्र समादर हो।

—निताईविनोद गोस्वामी

भारतीय संस्कृति और नागरिक जीवन—ले० श्रीरामनारायण यादवेन्दु ;
प्रकाशक, सस्ता-साहित्य मंडल, नयी दिल्ली ;
पृष्ठ संख्या ३१४, मूल्य १।)

पुस्तक को अरंभ करते हुए लेखक ने 'अपनी ओर से' लिखा है कि "इस प्रन्थ द्वारा मैंने संस्कृतिक प्रकाश में भारत के नागरिक जीवन की एक झलक प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।" लेखक का यह भी कहना है कि "सांस्कृतिक जीवन (नामक) अध्याय बड़ा हो गया है। वह इस पुस्तका का मेरुदण्ड है।" पुस्तक का नाम देखने से यही बोध होता है कि इसका मुख्य विषय है भारतीय संस्कृति और उस भारतीय संस्कृति की नागरिक जीवन सम्बन्धी जो मान्यताएँ है उनका भी इसमें विवेचन किया गया है। किन्तु एक गंभीर पाठक ज्यों ज्यों पुस्तक पढ़ता जायगा, त्यों त्यों उसे इस विषय में निराशा ही होगी। कारण कि पुस्तक प्रायः सम्पूर्णतः आधुनिक नागरिक जीवन (civic life) के वर्णनात्मक विवरणों से भरी हुई है। कहना नहीं होगा कि आज का यह सार्वदेशिक नागरिक जीवन यंत्रयुग की ही देन है। 'सांस्कृतिक जीवन' सम्बन्धी अध्याय, जिसके बड़े हो जाने का लेखक को दुःख है, इतना अपूर्ण और 'स्केची' है कि पुस्तक में उसके होने अथवा न होने से शायद ही कोई अन्तर पड़ता हो ; हाँ, तब पुस्तक का नाम अवश्य ही कुछ और रखना होता। संस्कृति-जैसे व्यापक और विस्तृत विषय के साथ इस प्रकार न्याय किया भी नहीं जा सकता।

पुस्तक में 'आर्थिक जीवन' वाला अध्याय काफी अच्छा लिखा गया है और विद्यार्थियों के काम का है। कहीं कहीं लेखक ने ऐसा निर्णयात्मक वक्तव्य दिया है जो अविचारित रमणीय

हैं। वेदों को अपौरुषेय कहते समय और हिंदी साहित्य को भारतीय भाषाओं में सर्वश्रेष्ठ घोषित करते समय थोड़ा संयम से काम लेना ठीक होता। कम से कम ऐसे वक्तव्य के लिये कुछ जबर्दस्त प्रमाण तो ज़रूर दे लेना चाहिए। निश्चय ही ये विवादग्रस्त विषय हैं, जिनके बारे इतनी आसानी से एकतर्फ़ा डिग्री नहीं दी जा सकती।

आर्य-संस्कृति की प्रवृत्तियाँ बताते हुए लेखक ने लिखा है कि "आर्य-संस्कृति अपनी समाजवादी प्रवृत्ति के कारण ही त्याग पर अधिक जोर देती है।" यहाँ यदि लेखक का अर्थ वैज्ञानिक समाजवाद से है तो इन पंक्तियों के लेखक का विनम्र निवेदन है कि वैज्ञानिक समाजवाद 'त्याग' नहीं 'ग्रहण' के विचार- दर्शन से प्रेरणा प्राप्त करता है। यह कहना भी कि 'संघर्ष और वर्गवाद के लिये आर्य-संस्कृति में स्थान नहीं हैं" एक ऐतिहासिक सत्य की उपेक्षा करना है, क्योंकि वर्गवाद तो निश्चय ही यंत्रयुग की चीज़ है अतएव आर्य-संस्कृति के भीतर उसे खोजना ही ग़लत है। किन्तु किसी भी संस्कृति में संघर्ष के अस्तित्व से इनकार करना, इतिहास के अस्तित्व से ही इनकार करना है।

राजनीतिक जीवन सम्बन्धी अध्याय कुछ और विस्तृत होता तो अधिक उपयोगी होता, क्योंकि विधान सम्बन्धी बहुतेरी बातों की व्याख्या होने से रह गई है, जिससे समझने में कठिनाई होती है। पुस्तक में हमारे आर्थिक और राजनीतिक जीवन सम्बन्धी जो आँकड़े दिये गए हैं, वे विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी हैं।

सब मिलाकर पुस्तक पठनीय है और परिश्रमपूर्वक लिखी गई है।

—सु० बा०

दी स्टयूडेण्ट : (सोवियट-संख्या) : दिसंबर १९४१ ; सम्पादक—श्रीललिताशंकर ; प्रकाशक—भारत प्रेस, २२४, अन्धेरदेव, जबलपुर ; मूल्य—॥) ; अंग्रेज़ी में।

रूस के बारे में हमारी जिज्ञासाओं की सीमा नहीं है। इस अंक में लगभग सौ पृष्ठों के सीमित स्थान में सहयोगी मासिक ने रूस जैसे अद्वितीय देश के संबंध में सोचने-विचारने योग्य काफ़ी सामग्री प्रस्तुत की है। लगभग सभी पहलुओं से इस विचित्र देश की बहुमुखी समस्याओं, प्रयोगों और सफलताओं पर प्रकाश डाला गया है। किन्तु रूस-जैसे सजीव देश की नाकामयाबियाँ भी कम जानने-योग्य नहीं। अच्छा होता यदि सहयोगी इस संबंध में चुप न रहता। अंक के परिशिष्ट में सोवियट-यूनियन संबंधी साहित्य की एक विस्तृत सूची दी हुई है जो किसी भी जिज्ञासु अध्येता के लिये काम की सिद्ध होगी। यह अंक हमारे कुतूहल को सफलतापूर्वक जगा देता है और हम अपने देश को समझने के लिये भी रूस से परिचय प्राप्त करने के लिये उत्सुक हो उठते हैं।

—मो० बा०

दो काव्यग्रंथ

उन्मुक्त—ले० श्री सियाराम शरण गुप्त ; प्रकाशक, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी, मूल्य १॥) पृ० सं० १०८ ।

भैरवी—लेखक श्री सोहनलाल द्विवेदी, एम्. ए., एल-एल, बी ; प्रकाशक, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद ; पृष्ठ संख्या १३२ ; मूल्य का उल्लेख नहीं है ।

(१) उन्मुक्त श्रीसियारामशरण की उस समय की रचना है जब वे भयंकर श्वास-रोग से पीड़ित हैं । उन्मुक्त में जो प्रौढ़ता शुरू से आखिर तक वर्तमान है वह इस बात का सबूत है कि रोग ने कवि को अभिभूत नहीं किया है, उल्टे कवि ने ही रोग को दबाया है । श्रीसियाराम-शरण चिन्ताशील कवि हैं । उनकी रचनाएँ व्यक्तित्व का अनियंत्रित और आकस्मिक उद्भेद के रूप में नहीं निकलती बल्कि सोच-विचार कर और नाप-तौल कर लिखी जाती हैं । वे अपने आपके विषय में सतर्क कलाकार हैं । प्रस्तुत पुस्तक पद्यात्मक वार्तालाप के रूप में लिखी गई है । उद्देश्य आधुनिक युद्ध का घिनौनापन और क्रूरता दिखाना है । कवि ने पुस्तक के अन्त में इस निर्घृण व्यापार को रोकने के उपाय का आभास भी दिया है । यह उपाय अहिंसा और सेवा है । दुर्भाग्यवश रोग के अतिशय तीव्र हो जाने के कारण कवि अपने बताए हुए उपाय का व्यावहारिक और रचनात्मक उपाय नहीं दे सके हैं । किन्तु कविवर श्रीमैथिलीशरण गुप्त ने ठीक ही कहा है कि वर्तमान परिस्थिति में तो यही मुझे अपेक्षाकृत अधिक जान पड़ता है ।' पुस्तक की सफलता के बारे में भी गुप्तजी की यह बात सोलह आने सत्य है कि 'इस समय······ विज्ञान का दुरुपयोग कर जैसा पैशाचिक प्रलय मचाया जा रहा है उसे देखकर जिसने मारक रोग की उपेक्षा करके उसके विरुद्ध अपने पाठकों की सहानुभूति प्रबुद्ध करने का प्रयत्न किया है, मेरे निकट स्वयं सफलता से उस उद्योग का मूल्य अधिक है ।' यहाँ यह कह रखना अप्रासंगिक नहीं है कि न तो प्रस्तुत कवि ने और न उसके प्रस्तुत आलोचक ने ही इस मुहूर्त तक आग्नेयास्त्रों की मार का और उसके भयंकर परिणामों का चाक्षुष प्रत्यक्ष किया है । दोनों की सहायक कल्पना है और इस विषय में आलोचक की कल्पना कवि की कल्पना की सूक्ष्मदर्शिता देखकर आश्चर्य में पड़ गई है ।

(२) श्री सोहनलाल द्विवेदी हिंदी के लोकप्रिय कवियों में अन्यतम हैं । पं० रामचंद्र शुक्ल ने इसका कारण यह बताया है कि 'इनकी कविता सीधे हृदय से निकलती हुई हमारे मर्म को स्पर्श करती है और चिरस्थायी प्रभाव उत्पन्न करती है । श्री द्विवेदी जी को जीवन के मर्मस्पर्शी पक्ष की पूरी परख है, इनकी सफलता का सबसे बड़ा कारण यही है ।" वस्तुतः पं० सोहनलाल जी मूलतः श्रद्धा-भक्ति के कवि हैं । देश की सेवा में अपने को उत्सर्ग कर देने वाले व्यक्तित्व उनको बहुत आकर्षित करते हैं, उनके राजनीतिक और सामाजिक मत कुछ भी क्यों न हों । इस पुस्तक में राणाप्रताप, महात्मा गांधी, पूज्य मालवीय जी और पं० जवाहरलाल नेहरू आदि के व्यक्तित्व को कवि ने ऐसी श्रद्धापूर्ण भंगी में उपस्थित किया है कि पाठक मुग्ध

हो रहता है। साधारण जनता भक्ति-प्रेम चाहती है, बौद्धिक मार-पेंच नहीं। द्विवेदी जी इस बात को खूब जानते हैं। यही शायद वह वस्तु है जिसे शुक्ल जी ने जीवन के 'मर्मस्पर्शी पक्ष की परख' कहा है। जहाँ तक व्यक्ति का संबंध है, द्विवेदी जी की यह पहचान अद्भुत रूप से सफल हुई है, पर जहाँ व्यक्ति से हटकर वे समूह या सिद्धान्त की ओर झुकते हैं, वहाँ उन्हें वह सफलता नहीं मिलती। इस संग्रह की 'किसान'—जैसी कविताएँ मुझे कुछ कमज़ोर जान पड़ती हैं। झरने के समान स्वच्छ प्रवाहशील भाषा द्विवेदी जी का दूसरा गुण है। इन दो गुणों के मिश्रण से भैरवी की कविताएँ बहुत मनोरम और कान्त हो सकी हैं।

पिंजरापोल—ले० हरिशंकर शर्मा ; प्रकाशक, शंकरसदन, लोहामंडी, आगरा ; मूल्य १॥) ; पृष्ठ संख्या १८६।

पं० हरिशंकर शर्मा उन थोड़े से लेखकों में हैं जो विशुद्ध साहित्यिक हास्य लिखते हैं और फिर भी किसी साहित्यिक आन्दोलन की प्रतिक्रिया के रूप में ही कलम नहीं उठाते। उनकी काव्य-विडम्बना के लपेट में वे सभी साहित्यिक आ जाते हैं जो नाना नामों और व्यवसायों के द्वारा साहित्यक्षेत्र में भीड़ किए हुए हैं।' न तो वे प्राचीन-पंथियों को ही छोड़ते हैं और न नवीन-पंथियों को। प्रस्तुत पुस्तक में 'परिहास पद्य पाढंत' की विडंबनात्मक काव्यानुकृतियों को पढ़कर तो ऐसा लगता है कि इस क्षेत्र में शर्मा जी हिंदी के एकमात्र साहित्यिक हैं। प्रत्येक कविता अनुकार्य की विशेषताओं से ऐसी लदी है कि मामूली पाठक भी छूटते ही कह सकता है कि कौन-सी कविता किस की अनुकृति है। एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यद्यपि पुस्तक का प्रत्येक पृष्ठ व्यंग्यों से भरा है तथापि कहीं भी ऐसा नहीं लगता कि किसी साहित्यिक के व्यक्तित्व पर आक्रमण किया गया हो। यही कारण है कि वे लोग भी इसे पढ़ कर आनंद पाते हैं जो आक्रान्त हुए हैं। इस प्रकार प्रभावशाली और संयत व्यंग्य लिखने के लिये शर्मा जी बधाई के पात्र हैं। पुस्तक की भाषा के विषय में इतना ही कहना काफी है कि हिंदी व्याकरण के आचार्य पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी ने लेखक की एक ऐसी ही पुस्तक के बारे में एक बार लिखा था कि जिसे अच्छी भाषा सीखनी हो वह इसे अवश्य पढ़े। हास्यरसिकों को पुस्तक संग्रह करनी चाहिए।

ह० द्वि०

अपनी बात

नये संवत्सर का नया कवच धारण करो

"जिस दिन मनुष्य ने मनुष्य के घर जन्म लिया उसी दिन विधाता ने उसके ललाट पर जयतिलक पहना दिया। अब से वह पशुकी भाँति मिट्टी की ओर सिर झुका कर नहीं चल सकता, उसे छाती खोल कर आसमान में सिर उठा कर चलना होगा। विधाता ने मनुष्य को पुकार कर कहा है—हे वीर, उठो, जागो, जड़ता की प्राचीरों को एक एक करके तोड़ते निकल जाओ—मुक्त बनो, अपने-आपमें बँधे न रहो, भूमा में तुम्हारा प्रकाश हो! जिस युद्ध में उन्होंने हमें ललकारा है उसका अस्त्र भी दिया है। वह उनका ब्रह्मास्त्र है—वह शक्ति हमारे अपने आपमें ही है। जब हम दुर्बल कंठ से चिल्ला उठते हैं, कि हममें शक्ति नहीं है तब असल में यह हमारा मोह होता है। भगवान् ने निरस्त्र सैनिक को रणभूमि में भेज कर मज़ाक करने का आयोजन नहीं किया है, वे इस निरुपाय सैनिक के पराभव का रस नहीं लेने बैठे। उनके शाणित अस्त्रसमूह हमारे अन्तर की अस्त्रशाला में चमक रहे हैं। ये हथियार सजा कर रख देने के नहीं है। इन्हें मजबूती के साथ पकड़ना होगा, रास्ता न हो तो बना लेना पड़ेगा, वाधा-विघ्नों को विध्वस्त करके निकल पड़ना होगा। आओ, दल बाँध कर निकल पड़ो—आज नये वर्ष के प्रातः काल में पूर्वी आकाश की ओर से जयडंका बज उठा है—सारे अवसाद कट जाँय, सारी दुबिधा और आत्म-अविश्वास पैरों के नीचे कुचल जांय, जय हो तुम्हारी, जय हो तुम्हारे प्रभु की!

"देखो, यह शान्ति का नववर्ष नहीं है। पुराने संवत्सर का छिन्न-भिन्न कवच खोल कर फेंक दो। आज नवीन कवच पहनाने का संकल्प ले कर आया हूं। दौड़ना पड़ेगा। सामने महान् कर्म है, मनुष्यता पाने की दुःसाध्य साधना करनी है। यह स्मरण करके आनन्दित होओ। मानव की विजय-लक्ष्मी तुम्हारे ही लिये प्रतीक्षा कर रही है। यह याद रखो और जाओ आलस्यहीन उत्साह के साथ वीर की भाँति दुःखव्रत को वरण करो।"—एक पुराने प्रवचन से।

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

"सब साँच मिलै सो साँच है"

ऐसा जान पड़ता है कि इधर हमारे साहित्यिकों का ध्यान भाषा की समस्या पर बहुत अधिक केन्द्रित हो गया है। साहित्य-सभाओं में भाषा के प्रश्न पर काफ़ी बहस होती है और वज़नदार विचार के विद्वान् और नेता इस विषय पर अपना मत किसी-न-किसी बहाने प्रकट करते रहते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रकार अपने अपने मत को प्रकट करने का कारण जनता के मतों का दबाव ही है। क्योंकि हम अपने अनुभव से कह सकते हैं कि जो लोग इस विषय में मौन रहना पसंद करते हैं उन्हें भी बारबार निमंत्रण दिया जाता है कि, वे अपना मत प्रकट करें। कभी कभी यह सुनने को भी मिल जाया करता है कि अमुक व्यक्ति राजनीति की चर्चा

करता है इसलिये उसे इस विषय में दखल देने का अधिकार नहीं। परन्तु धीर भाव से विचार किया जाय तो भाषा का प्रश्न सारे देश के प्रश्न से अलग नहीं है। कार्य का विभाजन वाला सिद्धान्त ठीक है पर कार्य-विभाजन के मूल में एक उद्देश्यगत एकता अवश्य रहनी चाहिए। जो लोग साहित्य की सेवा कर रहे हैं उनका उद्देश्य यदि उन लोगों के उद्देश्य से भिन्न हो जो राजनीति या समाजनीति का कार्य कर रहे हैं तो कार्य-विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता। यह प्रश्न तभी उठता है जब दोनों का उद्देश्य एक हो। अगर सब के उद्देश्य भिन्न भिन्न हों तो प्रत्येक को अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये प्रत्येक क्षेत्र और प्रत्येक साधन का उपयोग करने की छूट होनी चाहिये। परन्तु वास्तविक बात यह है कि जो लोग नाना भाव से भिन्न भिन्न क्षेत्र में इस समय काम कर रहे हैं उनका लक्ष्य एक ही है। कम-से-कम एक ही लक्ष्य होना वाञ्छनीय ज़रूर है। यह लक्ष्य क्या है? लक्ष्य हैं देश-वासी। यदि किसी देश का बाह्यरूप सम्मान योग्य तथा सुंदर नहीं बन सका है तो समझना चाहिये की उस राष्ट्र की आत्मा में किसी ऊँचे आदर्श की या किसी महान् सत्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई है। एक बार अगर उड़ती नजरों से भी इस देश के निवासियों को देख लिया जाय तो यह समझने में देर नहीं लगेगी कि ग़रीबी, कुसंस्कार, कुशिक्षा भय-भीति से जर्जरित इस जनसमूह में सच्ची मानवता अभी प्रतिष्ठित नहीं हुई है। नाना मार्गों के साधक जो कुछ भी साधना कर रहे हैं उसका लक्ष्य ही होना चाहिए इस विशाल जनसमूह की मुक्ति। जहाँ हमारी अधिकांश संख्या रूढ़ियों, मिथ्या आशंकाओं और कुसंस्कारों के मलवे के नीचे दबी हुई है वहाँ हमारा लक्ष्य निस्सन्देह इन्हें मनुष्यत्व के ऊँचे आसन पर बैठाना है। इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये हमें साहित्य लिखना है, राजनीतिक आन्दोलन चलाना है, सामाजिक सुधार का आयोजन करना है, आर्थिक उन्नयन का प्रयत्न करना है, धार्मिक दृढ़ता प्रतिष्ठित करनी है। अगर कार्य-विभाजन की नीति में हमें विश्वास है तो इस ऊँचे लक्ष्य पर भी हमें विश्वास करना होगा। एक ऊँचे लक्ष्य के बिना कार्य विभाजन की नीति बेकार गप्प है। वस्तुतः सत्य को किसी एक कोण से देखना सही देखना नहीं है। सत्य के विभिन्न पहलुओं में सामंजस्य होना चाहिए। भक्तवर रज्जब ने कहा है—'सब सांच मिले सो सांच है, ना मिले सो झूठ।'

हमारी भाषा को महत्ता किस बात में है?

हिन्दी इसलिये महान् नहीं है कि हम में से कुछ लोग इस भाषा में कविता या कहानी लिख लेते हैं या सभा-मंचों पर व्याख्यान दे लेते हैं या दस-बारह करोड़ आदमी उसमें बातचीत कर लेते हैं। हिन्दी को इतनी ही सी सीमा में आबद्ध समझना उसकी वास्तविक शक्ति को ग़लत कूतना है। हिन्दी विराट जनसंख्या के कारण बड़ी नहीं है। कोई भी भाषा महज़ इसलिये बड़ी नहीं हो जाती कि उसके बोलनेवालों की संख्या अधिक है। वह इसलिये बड़ी है कि करोड़-करोड़ जनता की हृदय और मस्तिष्ककी भूख मिटाने का वह इस देश में सबसे जबर्दस्त साधन है, वह इसलिये बड़ी है कि भारतवर्ष की हज़ारों वर्ष की अपरिमेय चिन्ताराशि को ठीक-ठीक सुरक्षित रख सकने का वह मजबूत पात्र है, वह इसलिये बड़ी है कि करोड़ोंकी तादाद में अकारण कुचली हुई गूंगी जनता तक आशा और उत्साह का संदेश इस जीवन्त और समर्थ भाषा के द्वारा दिया जा सकता है, वह इसलिये बड़ी है कि उसके आँचल की छाया में ऐसे

हजारों महापुरुषोंके पनपने की संभावना है जो न केवल इस देश को बल्कि समूचे संसार को विनाश के मार्ग से बचाने की साधना करेंगे। अगर हम हिन्दी के इसी महत्त्व को समझ कर इन्हीं सम्भावनाओं को स्वरूप देने के लिये हिन्दी की साधना कर रहे हैं तभी हमारी साधना का महत्त्व है, तभी हमारी श्रद्धा का मूल्य है। यदि हम इन बातों का विचार किये बिना केवल इस भाषा का विरोध करने के लिये या उस भाषा की स्तुति करने के लिये अन्धश्रद्धा के आवेश में हिन्दी-हिन्दी चिल्ला रहे हैं तो निश्चित रूप से ग़लत रास्ते जा रहे हैं।

हमारा कर्तव्य

जो लोग राजनीति, धर्म या समाज की सेवा करने की साधना कर रहे हैं, उनकी बात यहाँ हम नहीं उठाना चाहते पर जो लोग साहित्य की साधना करना चाहते हैं उन्हें याद रखना चाहिए कि यदि हम हिंदी को ऐसी भाषा बना दें जो अङ्गरेजी की ही भाँति विदेशी बनी रहे या संस्कृत की तरह कुछ चुने हुए विद्वानों की मनोविनोदिनी हो सके तो उसे हम इतनी कमज़ोर बना देंगे जितनी कोई भी दूसरी शक्ति नहीं बना सकती। आनेवाला काल उनलोगों का होगा जो आज उपेक्षित हैं, दीन हैं, भुला दिए गए हैं। अगर हमने अपनी भाषा ऐसी नहीं बना दी जो उनके भी काम आ सके, उनके भी हृदय में साहस और सद्वृत्तियों को उत्तेजित कर सके, उन्हें भी मनुष्यता के दरबार में समान आसन दिला सके तो निश्चित मानिए कि हमारी मातृभाषा के नसीब अच्छे नहीं हैं। साथ ही यदि हम इस भाषा को सिर्फ ऐसे लोगों की भाषा बनाकर चुप बैठ जायँ जो सीखने ही वाले हैं, जो वर्तमान ज्ञान के प्रकाश से एकदम वंचित हैं तब भी हम उसे उस महिमा-भरे पद पर नहीं पहुँचा सकेंगे जहाँ से वह संसार के बड़े से बड़े विचारकों का चिन्तन-सामग्री दे सके, जहाँ पहुँचे बिना कोई भाषा इस युग में गिनी जाने योग्य नहीं रह जाती। इसलिये हमें इस भाषा को इस योग्य बना देना है जो अत्यन्त साधारण मजदूर से लेकर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी के दिमाग़ में समान भाव से विहार कर सके। इसमें से कोई भी पक्ष किसीसे कम या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। बड़ी-बड़ी योजनाओं की जरूरत नहीं है। हम सभी अपनी शक्ति के अनुसार अपनी-अपनी रुचि के विषय चुन कर काम शुरू कर दें तो यह असाध्यसाधन शीघ्र ही सिद्ध हो सकता है। परन्तु चाहे हम अपना साहित्य साधारण आदमी के लिये लिख रहे हों या विशिष्ट के लिये, हमें अपने महान् लक्ष्य को नहीं भूलना चाहिए। उस लक्ष्य को ध्यान में रखने पर ही समझौतों और सुलहनामों का मूल्य ठीक ठीक समझ में आ सकता है।

भाषा का भी स्वधर्म है

प्रत्येक भाषा की अपनी विशेषता है। उस विशेषता को प्रयत्नपूर्वक दूर कर देने से किसी प्रकार के लाभ की संभावना नहीं है। बहुत दिन पहले गुरुदेव ने इस संबंध में जो कुछ कहा था वह आज भी हमारा मार्गदर्शक हो सकता है।—

"बंगाली बंगला भाषा के विशेषत्व को अवलंबन करके ही अगर अपने साहित्य की उन्नति करें तभी हिन्दी-भाषियों के साथ उसका अच्छा मिलन होगा। वह अगर हिन्दुस्थानियों के साथ

सस्ते में प्रेम करने के लिये हिन्दी के साँचे में ढालकर बँगला लिखा करें तो बँगला साहित्य का अधःपात होगा और कोई भी हिन्दुस्थानी उसकी ओर दृष्टि भी नहीं देगा। हमें खूब याद है, बहुत दिन पहले एक विशेष बुद्धिमान् शिक्षित व्यक्ति ने मुझसे कहा था, 'बँगला साहित्य जितना ही उन्नत हो रहा है उतना ही वह राष्ट्रीय मिलन के लिये विघ्न-स्वरूप होता जा रहा है। क्योंकि यह साहित्य अगर श्रेष्ठ हो उठे तो यह मरना नहीं चाहेगा—और उसे पकड़ कर अन्त तक बंगला भाषा उससे चिपटी रहेगी। ऐसी अवस्था में भारतीय भाषाओं की ऐक्य-साधना में सबसे बड़ी बाधा होगी बँगला भाषा। अतएव बँगला भाषा की उन्नति भारतवर्ष के लिये मंगल-कर नहीं।' सब प्रकार के भेद को ढेंकी में कूटकर पिण्डाकार पदार्थ गढ़ देना ही राष्ट्रीय उन्नति का चरम परिणाम है, उन दिनों यही बात सब के मन में उठा करती थी। किन्तु असल बात यह है कि विशेषत्व को ही महत्त्व में ले जा कर जो सुविधा होगी वही सत्य होगी।"

महान् अतिथियों का शुभागमन

पिछला महीना हमारे आश्रम के लिये और समूचे देश के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। चीन देश के प्रधान सेनानी जेनरल चियां काई शेक और उन की सहधर्मिणी मैडेम चियां काई शेक के शुभागमन ने देशवासियों के हृदय में हजारों वर्ष पुरानी बंधुता जाग्रत कर दी है। दुर्भाग्यवश इस समय आश्रम में वह व्यक्ति नहीं था जिसने हमारे आनंद और बंधुत्व-स्मृति को यथार्थ रूप में प्रकट किया होता। हमारा मतलब गुरुदेव से है। परन्तु हमें सन्तोष है कि हमारे महान् अतिथियों ने हमारी कृतज्ञता को समझा। भारतवर्ष और चीन की पुरानी मैत्री और भी दृढ़ हुई है। इस ऐतिहासिक शुभागमन से शान्तिनिकेतन आश्रम धन्य हुआ है और उसे उपलक्ष्य कर के दो महान् देशों के सांस्कृतिक मिलन में जो नवीन उत्साह संचारित हुआ उसके लिये गर्व अनुभव करता है।

स्व० जमनालाल जी बजाज

इस कठिन समय में श्री जमनालाल जी जैसे कर्मयोगी देश-नायक का हमारे बीच से उठ जाना दुर्भाग्य की बात है। वे उन महाप्राण व्यक्तियों में से थे जिनका जीवन और मरण दोनों पर-सेवा के लिये था। वे महात्माजी के सुयोग्य शिष्य थे। उनका सारा जीवन त्याग और बलिदान का जीवन है। उनके उठ जाने से देश की जो अपार क्षति हुई है वह सहज ही पूरी नहीं हो सकती। उनके शोकमग्न परिवार के साथ हम सहानुभूति प्रकट करते हैं और परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि देशवासियों को इस महान दुःख को सहन करने की शक्ति दें।

इस अंक में का प्रथम चित्र

इस अंक के आरंभ में जो चित्र दिया गया है वह गुरुदेव का अंकित है। इस का परिचय देते हुए उन्होंने स्वयं एक छोटी-सी कविता लिखी थी, इसका भाव यह है कि 'कठिन के वक्ष पर खिंची हुई करुण की शोभा को कवि ने एक दिन वर्णपट की भूमिका पर देखा था।'



नया भारतीय मंच

आषाढ़, १९९९ खण्ड १, अंक ३ जुलाई, १९४२

शक्ति दो, शक्ति दो

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

•

जिस दिन मेरा चैतन्य लुप्ति की गुहा से मुक्त हुआ उस दिन उसने एक दुःसह विस्मय की आँधी के साथ, दारुण दुर्योग के बीच, मुझे जाने किस नरकाग्नि-वर्षी ज्वालामुखी के गिरि-गह्वर के किनारे लाकर खड़ा कर दिया ; वह (ज्वालामुखी) तप्त धूम के रूप में मनुष्य का तीव्र अपमान उगलता हुआ फुफकार रहा है, अमंगलध्वनि से धरातल को कंपित कर रहा है, और वायुमंडल के स्तरों में कालिमा पोत रहा है। (वहीं से) मैंने इस युग की आत्मघाती मूढ़ उन्मत्तता देखी और यह भी देखा कि उसके समूचे शरीर में विकृति का घिनौना परिहास छा गया है। एक तरफ़ है स्पर्द्धित क्रूरता, मत्तता का निर्लज्ज हुंकार और दूसरी तरफ़ भीरुता का दुबिधा-भरा पद-संचार, कृपण का छाती से चिपटाआ हुआ सतर्क संबल ; यह संत्रस्त प्राणी की भाँति क्षणिक गर्जन के बाद तत्काल ही क्षीण स्वर से अपनी निरापद नीरव नम्रता बता देता है। जितने प्रौढ़ प्रतापशाली राष्ट्रपति हैं उन सभी ने मंत्र-सभा के मंडप-तले संशय और संकोचवश अपने समस्त आदेशों और निर्देशों को अधरोष्ठों से दबाकर पीस रखा है। इधर वैतरणी नदी के उस पार से दानवपक्षियों के दल के दल क्षुब्ध शून्य से उड़े आ रहे हैं और ये नर-मांस के भुक्खड़ गिद्ध, अपने यंत्ररूपी पक्षों को हुंकारित करके आकाश को अपवित्र कर रहे हैं।

हे महाकाल के सिंहासन पर बैठे हुए विचारक, मुझे शक्ति दो, शक्ति दो, मेरे कंठ में वज्रवाणी संचारित करो ताकि मैं इस शिशुघाती, नारीघाती कुत्सित बीभत्सता को धिक्कार दे सकूँ—जो धिक्कार, लज्जातुर इतिहास के हृत्स्पन्दन में उस समय सदा स्पन्दित होता रहेगा,

जब कि यह रुद्ध-कंठ, भयार्त, शृंखलित युग चुपचाप अपने चिता-भस्म के नीचे प्रच्छन्न हो गया रहेगा—

येदिन चैतन्य मोर मुक्ति पेल लुप्तिगुहा हते
निये एल दुःसह विस्मयझड़े दारुण दुर्योगे
कोन् नरकाग्निगिरिगह्वरेर तटे ; तप्तधूमे
गर्जि उठि फुँसिछे से मानुषेर तीव्र अपमान,
अमङ्गलध्वनि तार कम्पान्वित करे धरातल,
कालिमा माखाय वायुस्तरे। देखिलाम एकालेर
आत्मघाती मूढ़ उन्मत्तता, देखिनु सर्वाङ्गे तार
विकृतिर कदर्य विद्रूप। एकदिके स्पर्धित क्रूरता,
मत्ततार निर्लज्ज हुंकार, अन्यदिके भीरुतार
द्विधाग्रस्त चरण-विक्षेप, वक्षे आलिङ्गिया धरि
कृपणेर सतर्क सम्बल ; सन्त्रस्त प्राणीर मतो
क्षणिक गर्जन अन्ते क्षीणस्वरे तखनि जानाय
निरापद नीरव नम्रता। राष्ट्रपति यत आछे
प्रौढ़ प्रतापेर, मन्त्रसभातले आदेश निर्देश
रेखेछे निष्पिष्ट करि रुद्ध ओष्ठ अधरेर चापे
संशये संकोचे। एदिके दानव-पक्षी क्षुब्धशून्ये
उड़े आसे झाँके झाँके वैतरणी नदीपार हते
यन्त्रपक्ष हुंकारिया नरमांसक्षुधित शकुनि,
आकाशेरे करिल अशुचि। महाकाल-सिंहासने
समासीन विचारक, शक्ति दाओ, शक्ति दाओ मोरे,
कण्ठे मोर आनो वज्रवाणी, शिशुघाती नारीघाती
कुत्सित बिभत्सा परे धिक्कार हानिते पारि येन
नित्यकाल र'बे या स्पन्दित लज्जातुर ऐतिह्येर
हृत्स्पन्दने, रुद्धकण्ठ भयार्त ए शृङ्खलित युग यबे
निःशब्दे प्रच्छन्न हबे आपन चितार भस्मतले ॥

शान्तिनिकेतन
२५।१२।३७

लाल कनेर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

[अनु०—हजारीप्रसाद द्विवेदी]

[इस नाटक की घटना जिस नगर में घटी है उसका नाम है यक्षपुरी। यहां के मज़दूर मिट्टी के नीचे से सोना निकालने के कार्य में नियुक्त हैं। यहां का राजा एक अत्यन्त जटिल जाल के आवरण के अन्तराल में रहा करता है। महल में जहां उस जाल का आवरण है वही स्थान इस नाटक का एकमात्र दृश्य है। उसी आवरण के बाहर की ओर सभी घटनाएँ घटती हैं।]

नन्दिनी और किशोर (खदान खोदनेवाले बालक)

किशोर। नंदिनी, नंदिनी, नंदिनी!

नंदिनी। मुझे इस तरह चिल्ला चिल्ला के क्यों पुकार रहा है किशोर! मैं क्या सुन नहीं सकती?

किशोर। जानता हूँ, तू सुन सकती है। लेकिन मुझे पुकारना अच्छा लगता है। तुम्हें और फूल चाहिए? अच्छा, तो मैं ले आऊँ।

नंदिनी। जा, जा, अभी काम पर लौट जा, देर न कर।

किशोर। सारा दिन तो सिर्फ सोने का ताल ही खोदता रहता हूँ। ज़रा-सा समय उसी में से चुराकर तेरे लिये फूल ले आने का जो मौक़ा पाता हूँ तो ऐसा लगता है मानो प्राण बच गए।

नंदिनी। अरे किशोर, वे अगर जान गए तो तुझे सज़ा देंगे।

किशोर। तुम्हींने तो कहा था कि जैसे भी हो तुम्हें लाल कनेर चाहिए ही। मुझे इसमें यही मज़ा आता है कि लाल कनेर यहां आसानी से नहीं मिलता। बहुत खोज-पूछ करने पर एक ही पेड़ पा सका हूँ, वह यहां के जंजाल के पीछे है।

नंदिनी। तो मुझे दिखा दे, मैं जाकर खुद फूल चुन लाऊंगी।

किशोर। ऐसी बात न बोलो नंदिनी, इतनी निठुर मत बनो। उस पेड़ को मेरी एकमात्र गोपन बात की तरह छिपा रहने दो। विशू तुम्हें गान सुनाया करता है, वह गान उसका अपना होता है। आज से मैं तुम्हें फूल दिया करूँगा, ये मेरे अपने फूल होंगे।

नंदिनी। मगर यहाँ के ये हैवान तुझे दण्ड जो देते हैं। देखकर मेरी छाती फट जाती है!

किशोर। उस दुःख से मेरे फूल और भी अधिक मेरे अपने होकर खिलते हैं; वे मेरे दुःख के धन हैं।

नंदिनी। किन्तु तुम लोगों के ये दुःख मैं कैसे सहूँगी?

किशोर। कैसा दुःख? नंदिनी, मैं एक दिन तेरे लिये प्राण दूँगा, यही बात कितनी बार मन ही मन सोचा करता हूँ!

नंदिनी। तुमने तो मुझे इतना दिया, पर मैं तुझे क्या दूँ, बता तो किशोर?

किशोर। तू? तू मुझे वचन दे कि मेरे ही हाथ से रोज़ सबेरे फूल लेगी।

नंदिनी। अच्छा, यही सही। लेकिन तू ज़रा सम्हलकर चल।

किशोर। ना, मैं सम्हलकर नहीं चलूँगा, नहीं चलूँगा। उनकी मार की नाक के ऊपर से तेरे लिये रोज़ फूल ले आ दूँगा।

[प्रस्थान

[अध्यापक का प्रवेश]

अध्यापक। नंदिनी, रुको, जाना नहीं।

नंदिनी। क्या है अध्यापक!

अध्यापक। बार बार इस तरह चकाचौंध लगाकर चली क्यों जाती हो? जब तुमने चित्त को झकझोर दिया है तो ज़रा बोलते जाने में क्या हर्ज है? तनिक ठहरो, दो बातें कर लूँ।

नंदिनी। तुम्हें मेरी क्या ज़रूरत है?

अध्यापक। ज़रूरत की बात तुमने एक ही कही। उधर ज़रा नज़र फिराओ। हमारे खुदाई करनेवाले मजूरों के दल पृथ्वी की छाती चीरकर, ज़रूरत का बोझ सिर पर धारण किए, कीड़ों की तरह खदान से बाहर निकल रहे हैं। इस यक्षपुरी में हमारे पास जो कुछ धन है वह उसी धूल की नाड़ी का धन है—सोना! किन्तु सुन्दरी, तुम जो सोना हो वह तो धूल का सोना नहीं है, वह तो प्रकाश का सोना है। ज़रूरत के बंधन में उसे कौन बाँध सकेगा?

नंदिनी। बार बार यह एक ही बात कहा करते हो। अच्छा मुझे देखकर तुम्हें इतना अचरज क्यों है अध्यापक?

अध्यापक। सबेरे फूल के वन में जो प्रकाश आता है उसमें अचरज की कोई बात नहीं, किन्तु पक्की दीवाल के दरार से जो प्रकाश आता है उसकी बात ही कुछ और होती है।

यक्षपुरी में तुम वही अचरज-भरी रोशनी हो। अच्छा बताओ तो सही, तुम यहाँ के बारे में क्या सोचती हो?

नंदिनी। अवाक् होकर देखती हूँ कि सारा शहर मिट्टी के नीचे सिर घुसेड़कर अँधेरे में टटोल रहा है। पाताल में खदान खोदकर तुम लोग यक्ष का धन निकाल लाते हो। परन्तु वह तो बहुत दिनों का मरा धन है, धरती ने उसे कबर दे रखी थी।

अध्यापक। हम लोग उसी मरे धन की शव-साधना करते हैं। उसके प्रेत को बस करना चाहते हैं। सोने के ताल में यदि ताल-बेताल को बाँध सकेंगे तो सारी पृथ्वी मुट्ठी में कर लेंगे।

नंदिनी। और फिर तुम लोगों ने अपने राजा को एक अद्भुत जाल की दीवाल की ओट में बाँध रखा है, तुम्हें डर है कि कहीं यह बात खुल न जाय कि तुम्हारा राजा भी आदमी है। तुम्हारी उस खदान के अंधकार के ढक्कन को तोड़कर उसमें प्रकाश उँड़ेल देने की इच्छा होती है। उसी प्रकार जी में आता है कि इस भद्दे जाल को तोड़कर उस बेचारे मनुष्य का उद्धार करूँ।

अध्यापक। हमारे मरे धन के प्रेत की जैसी भयंकर शक्ति है वैसा ही भयंकर प्रताप है हमारे मनुष्यता-छने राजा का भी।

नंदिनी। ये सब तुम्हारी बनाकर गढ़ी हुई बातें हैं।

अध्यापक। गढ़ी हुई तो हैं ही। नंगे आदमी का कोई परिचय नहीं है। बना सँवारकर तैयार किए हुए कपड़े से ही कोई राजा है, कोई रंक है। चलो मेरे घर में। तुम्हें तत्त्व की बातें समझाने में बड़ा आनंद आता है।

नंदिनी। तुम्हारे खुदाई के मजूर जिस प्रकार खान खोदते खोदते मिट्टी के नीचे डूबते ही जा रहे हैं, उसी प्रकार दिन रात तुम भी पोथी-पत्रे में गर्त खोदते ही जा रहे हो। मुझे ले जाकर बेकार समय क्यों नष्ट करोगे?

अध्यापक। हम लोग ठोस अवकाश-रहित बिल के फतिंगे हैं, घने काम में डूबे हुए हैं; तुम खुले समय के आकाश की संध्या-तारा हो, तुम्हें देख कर हमारे पंख फड़फड़ाने लगते हैं। आओ मेरे घर में, तुम्हें लेकर थोड़ा समय नष्ट करने दो मुझे!

नंदिनी। ना, ना, इस समय नहीं। मैं आई हूँ तुम्हारे राजा को उसके अपने घर में देखने।

अध्यापक। वह तो जाल की ओट में रहता है, तुम्हें घर में घुसने नहीं देगा।

नंदिनी। मैं जाल की बाधा नहीं मानती, मैं घर के भीतर घुसने आई हूँ।

अध्यापक। जानती हो नंदिनी, मैं भी एक जाल के पीछे हूँ। मुझमें भी मनुष्य

का बहुत-कुछ छूट गया है, सिर्फ पंडित-भर जगा हुआ है। हमारा राजा जैसा भयंकर राजा है, मैं भी वैसा ही भयंकर पंडित हूँ।

नंदिनी। तुम मेरे साथ मज़ाक कर रहे हो। तुम तो भयंकर नहीं लगते। एक बात पूछूँ, ये लोग मुझे यहाँ ले आए पर रंजन को साथ क्यों नहीं लाए भला ?

अध्यापक। सभी चीज़ों को टुकड़े टुकड़े करके ले आना ही इनका दस्तूर है। मगर मैं पूछता हूँ कि इस जगह के मरे धन के बीच अपने प्राणों के धन को क्यों ले आना चाहती हो ?

नंदिनी। मेरे रंजन को ले आवें तो इनके मरे पंजर में प्राण नाच उठेंगे।

अध्यापक। अकेली नंदिनी को ले आकर ही यक्षपुरी के सर्दार हतबुद्धि हो गए हैं, रंजन को लाने से उनका क्या होगा ?

नंदिनी। वे जानते ही नहीं कि वे कैसे विचित्र हैं! उनके बीच विधाता यदि एक अच्छी-सी हँसी हँस दें तो उनकी नींद टूट जा सकती है। रंजन विधाता की वही हँसी है।

अध्यापक। देवता की हँसी सूर्य का प्रकाश है, उससे बर्फ पिघलती है, किन्तु पत्थर नहीं गलता ; हमारे सर्दारों को गलाने के लिये ताक़त चाहिए।

नंदिनी। मेरे रंजन की ताक़त तुम्हारी शंखिनी नदी के समान है। उस नदी की ही तरह वह जिस प्रकार हँस सकता है उसी प्रकार तोड़-फोड़ भी सकता है। अध्यापक, तुम्हें आज के दिन की अपनी एक गुप्त खबर दूँ। आज रंजन के साथ मेरी मुलाक़ात होगी।

अध्यापक। कैसे समझीं ?

नंदिनी। होगी, होगी, ज़रूर मुलाक़ात होगी। खबर आई है।

अध्यापक। सर्दार की आँख बचाकर किस रास्ते खबर आ सकती है भला ?

नंदिनी। जिस रास्ते वसन्त के आने की खबर आती है उसी रास्ते से। उसमें लगा हुआ है आकाश का रंग और पवन की लीला!

अध्यापक। अर्थात् आकाश के रंग में—पवन की लीला में—उड़ती-उड़ती खबर आ पहुँची है!

नंदिनी। जब रंजन आयगा तो दिखा दूँगी कि उड़ती खबर किस प्रकार मिट्टी पर आ पहुँचती है।

अध्यापक। रंजन की बात चलते ही नंदिनी के मुख की बातें रुकने का नाम नहीं लेना चाहतीं। जाने भी दो, मेरे तो वस्तु-तत्त्व-विद्या है, उसीके गह्वर में घुस पड़ता हूँ। अब हिम्मत नहीं होती। (थोड़ी दूर जाकर फिर लौट आता है) नंदिनी, एक बात तुमसे पूछूँ, यक्षपुरी से तुम डरतीं नहीं ?

नंदिनी। डरने की क्या बात है?

अध्यापक। ग्रहण के सूर्य से लोग डरा करते हैं, पूर्ण सूर्य से कोई नहीं डरता। यक्षपुरी ग्रहण-लगी पुरी है। सोने के खदान रूपी राहु ने उसे निगल लिया है। वह स्वयं पूर्ण नहीं है, किसी को पूर्ण रहने भी नहीं देना चाहती। मैं तुमसे कहता हूँ, तुम यहाँ मत रहो। तुम जब चली जाओगी तो ये खदानें और भी मुँह बाकर हमारी ओर ताकती रहेंगी; फिर भी कहता हूँ, भाग जाओ! जहाँ के लोग डकैती करके माता वसुंधरा के आँचल को टुकड़े टुकड़े करके चिँथड़ नहीं देते, वहीं रंजन को लेकर सुखपूर्वक वास करो। (कुछ दूर जा कर फिर लौटता है) नंदिनी, तुम्हारे हाथ में वह जो लाल कनेर का कंगन है उसमें से एक फूल निकाल के दोगी?

नंदिनी। क्यों, तुम क्या करोगे?

अध्यापक। कितनी ही बार सोचा है कि तुम जो लाल कनेर का कंगन पहनती हो, उसका कुछ अर्थ है।

नंदिनी। मैं तो उसका अर्थ नहीं जानती।

अध्यापक। शायद तुम्हारा भाग्यपुरुष जानता है। उस लाल आभा में एक भय-सना रहस्य है, केवल माधुर्य नहीं।

नंदिनी। मुझमें भय?

अध्यापक। विधाता ने सुंदर के हाथों रक्त की तूलिका दी है। पता नहीं इस लाल रंग से तुम कौन-सा लेखा लिखने आई हो। मालती थी, मल्लिका थी, चमेली थी; सब छोड़कर तुमने इसी फूल को क्यों चुन लिया? जानती हो, मनुष्य इसी प्रकार अनजान में अपना भाग्य चुन लेता है।

नंदिनी। रंजन कभी कभी मुझे दुलराकर लाल कनेर कहा करता है। मालूम नहीं क्यों, मुझे ऐसा लगता है कि रंजन के प्रेम का रंग लाल है, मैंने उसी रंग को गले में पहना है, वक्षःस्थल पर धारण किया है, हाथ में पहन रखा है।

अध्यापक। तो मुझे उसका एक फूल दे दो, सिर्फ एक क्षण का दान। मैं उस रंग के तत्त्व को समझने की चेष्टा करूँ।

नंदिनी। यह लो। आज रंजन की अवाई की खुशी में यह फूल मैंने तुम्हें उपहार दिया।

[**अध्यापक का प्रस्थान**

(खदान के मजूर गोकुल का प्रवेश)

गोकुल। एक बार मुँह फिराओ तो भला। तुम्हें समझ ही नहीं सका। कौन हो तुम ?

नंदिनी। मुझे जो कुछ देख रहे हो, उसके सिवा मैं और कुछ नहीं हूँ। समझने की तुम्हें ज़रूरत क्या है ?

गोकुल। समझे बिना अच्छा नहीं लगता। यहाँ राजा तुम्हें किस काम के लिये ले आए हैं ?

नंदिनी। अकाज के लिये।

गोकुल। तुम्हारे पास जैसे कोई मन्तर है! सबको तुमने बस कर लिया है! सत्यानाशी हो तुम! जो लोग तुम्हारा यह सुंदर मुख देखकर भूलेंगे, वे मरेंगे। देखूँ भला, तुम्हारी माँग में वह क्या झूल रहा है ?

नंदिनी। लाल कनेर की मंजरी।

गोकुल। उसका मतलब ?

नंदिनी। उसका कोई मतलब नहीं।

गोकुल। मैं तुम्हें बिल्कुल विश्वास नहीं करता। एक कैसा जाल तुमने फैलाया है। दिन बीतते-न-बीतते कोई-न-कोई एक आफ़त तुम ज़रूर ले आओगी। इसीलिये इतना सिंगार किया है। भयंकरी हो तुम, भयंकरी!

नंदिनी। मैं तुम्हें इतनी भयंकर क्यों लगती हूँ ?

गोकुल। देखकर जान पड़ता है तुम लाल रोशनी की मशाल हो। जाता हूँ बेवक़ूफ़ों को समझाकर कह देने, "सावधान, सावधान, सावधान!"

[प्रस्थान

नंदिनी। (जाल के दरवाज़े पर धक्का मारती है) सुन रहे हो ?

नेपथ्य से। सुन रहा हूँ नन्दा! लेकिन बार बार मत पुकारो, मुझे समय नहीं है, बिल्कुल नहीं।

नंदिनी। आज मेरा मन खुशी से भरा है। उसी खुशी को लेकर तुम्हारे घर में आना चाहती हूँ।

नेपथ्य से। नहीं, घर में नहीं। जो-कुछ कहना हो बाहर से ही कहो।

नंदिनी। कुन्द फूल की माला गूँथकर लाई हूँ, पद्मपत्रों के दोने में।

नेपथ्य से। खुद पहन लो।

नंदिनी। मुझे नहीं फबता, मेरी माला लाल कनेर की है।

नेपथ्य से। मैं पर्वत की चोटी की तरह हूँ। शून्यता ही मेरी शोभा है।

नंदिनी। उस चोटी के वक्षःस्थल से भी झरना झरा करता है, तुम्हारे गले में भी हार लहराएगा। जाल खोल दो, मैं भीतर आऊँगी।

नेपथ्य से। आने नहीं दूँगा, जो कहना हो शीघ्र बोलो, समय नहीं है।

नंदिनी। दूर का वह गान सुन रहे हो?

नेपथ्य से। कैसा गान?

नंदिनी। पौष का गान। फ़सल पक गई है, काटनी होगी ; यह उसीका गान है।

(गान)

पौष तोदेर डाक दियेछे—आय रे चले
आय, आय, आय!
डाला रे तार भ'रेछे आज पाका फसले
मरि हाय, हाय, हाय!१

देखते नहीं हो पौष की धूप पके धान की सुंदरता को आकाश में फैलाए दे रही है।

हावार नेशाय उठ्लो मेते
दिग्वधूरा धानेर क्षेते,
रौद्रेर सोना छड़िये पड़े माटिर आँचले—
मरि हाय हाय हाय!२

तुम भी निकल आओ राजा, तुम्हें मैं मैदान की ओर ले चलूँगी—

माठेर बाँशि शुने' शुने' आकाश खुसि ह'लो
घरेते आज के रबे गो? खोलो दुयार खोलो।३

नेपथ्य से। मैं मैदान जाऊँगा? वहाँ मैं किस काम आऊँगा?

१. पौष तुम्हें बुला रहा है, आ जाओ, आ जाओ! आज उसकी डलिया पकी फ़सल से भर गई है, आहा कैसा सुंदर है यह!

२. दिग्वधुएँ धान के खेतों में हवा के नशे से मतवाली हो उठी हैं। मिट्टी के आँचल पर धूप का सोना बिखर पड़ा है। आहा, कैसी विचित्र शोभा है!

३. मैदान की वंशीध्वनि सुन-सुनकर आकाश आनंदित हो उठा है। कौन है जो आज घर में रहना चाहता है, द्वार खोलो, द्वार खोलो।

नंदिनी। मैदान का काम तुम्हारी इस यक्षपुरी के काम से कहीं अधिक सहज है!

नेपथ्य से। सहज काम ही मेरे लिये कठिन होता है, कभी तालाब भी फेन के नूपुर पहननेवाले झरने के समान नाच सकता है? जाओ, जाओ, अब मत बोलो, समय नहीं है।

नंदिनी। अद्भुत है तुम्हारी शक्ति! जिस दिन तुमने मुझे अपने भाण्डार में घुसने दिया था, उस दिन तुम्हारे सोने के ताल को देखकर मुझे बिल्कुल आश्चर्य नहीं हुआ था, किन्तु जिस विराट् शक्ति के बल पर अनायास ही उसे लेकर पहाड़ की चोटी की तरह सजा रहे थे, वही देखकर मैं मुग्ध हो गई थी। तौ भी पूछती हूँ राजा, सोने का पिंड क्या तुम्हारे हाथों के अचरज-भरे छन्द से उसी प्रकार चंचल हो उठता है जिस प्रकार धान का खेत हो सकता है? अच्छा राजा, बताओ तो भला, पृथ्वी का यह मरा धन दिन रात उलटते-पुलटते रहते हो, तुम्हें डर नहीं लगता?

नेपथ्य से। क्यों, डर काहेका?

नंदिनी। पृथ्वी हमारे प्राणों की वस्तु को प्रसन्न होकर स्वयं देती है, किन्तु जब उसकी छाती चीरकर मरे हाड़ को ऐश्वर्य कहकर छीन लाते हो, तब तुम अंधेरे में से एक अंधे राक्षस का श्राप ले आते हो। देखते नहीं, यहाँ सभी कैसे-कैसे झुँझलाए हुए-से लगते हैं।

नेपथ्य से। श्राप?

नंदिनी। हाँ, खून-खच्चर, लूट-खसोट का श्राप?

नेपथ्य से। उस श्राप की बात मैं नहीं जानता। इतना जानता हूँ कि हम शक्ति लेकर आते हैं। मेरी शक्ति देखकर तुम खुश होती हो नंदिनी?

नंदिनी। बड़ी खुशी होती है। इसीलिये तो कहती हूँ कि उजेले में निकल आओ, धरती पर पाँव रखो, पृथ्वी भी खुश हो जाय।

आलोर खुशी उठ्लो जेगे
धानेर शीषे शिशिर लेगे,
धरार खुशी धरे ना गो ओइ जे उथले,
मरि हाय, हाय, हाय!*

नेपथ्य से। नंदिनी, तुम्हें क्या मालूम है कि विधाता ने रूप की माया के अन्तराल

* धान की फुनगियों पर ओस लगने से आलोक की प्रसन्नता जाग उठी है। आहा, पृथ्वी की खुशी आज उसके हृदय में समा नहीं रही है, वह देखो, वह आनंद उछल रहा है! आहा, कैसी विचित्र शोभा है!

में तुम्हें अनुपम बना रखा है ? उसमें से छीनकर तुम्हें मुट्ठी में करना चाहता हूँ, पर पकड़ नहीं पाता। मैं तुम्हें उलट-पुलटकर देखना चाहता हूँ, और न देख सका तो तोड़-फोड़ देना चाहता हूँ।

नंदिनी। तुम क्या कह रहे हो ?

नेपथ्य से। तुम्हारे उस लाल कनेर की जो आभा है, महज़ उस आभा को निचोड़कर मैं अपनी आँखों में अंजन क्यों नहीं कर पाता ? मामूली-सी कई पँखड़ियों ने आँचल से उसे ढक रखा है। ऐसी ही बाधा तुममें भी है—कोमल है, इसीलिये कठोर है! अच्छा नंदिनी, साफ़ साफ़ बताओ, तुम मुझे क्या समझती हो ?

नंदिनी। यह और किसी दिन बताऊँगी। आज तो तुम्हारे पास समय नहीं है, आज जाती हूँ।

नेपथ्य से। नहीं नहीं, जाओ मत! मुझे क्या समझती हो, बताए जाओ।

नंदिनी। कितनी ही बार तो कहा है, तुम्हें आश्चर्यमय समझती हूँ। अपने प्रकाण्ड हाथों से प्रचंड ज़ोर के साथ तुम फूलते-फूलते ऊपर उठे हो, ठीक तूफ़ान के आगे आगे चलनेवाले बादल की तरह—देखकर मेरा मन नाच उठता है।

नेपथ्य से। रंजन को देखकर भी तो तुम्हारा मन नाच उठता है, वह भी क्या—

नंदिनी। रहने दो उस बात को। तुम्हें तो समय नहीं है।

नेपथ्य से। समय है, सिर्फ वही बताए जाओ!

नंदिनी। उस नाच का ताल और तरह का है, तुम नहीं समझ सकोगे।

नेपथ्य से। समझूँगा। समझना चाहता हूँ।

नंदिनी। सारी बात खोलकर नहीं समझा सकती, मैं जाती हूँ।

नेपथ्य से। रुको ज़रा। बताओ मैं अच्छा लगता हूँ या नहीं ?

नंदिनी। हाँ, खूब अच्छे लगते हो।

नेपथ्य से। रंजन की ही तरह ?

नंदिनी। घूम-फिरकर एक ही बात। ये सारी बातें तुम नहीं समझते।

नेपथ्य से। कुछ कुछ समझता हूँ। मैं जानता हूँ रंजन के साथ मेरा अन्तर क्या है ? मेरे अन्दर ज़ोर ही ज़ोर है, रंजन में जादू है।

नंदिनी। जादू किसे कहते हो ?

नेपथ्य से। समझाकर कहूँ ? पृथ्वी के निचले तले में पिंडीभूत पत्थर है, लोहा है, सोना है ; यहाँ ज़ोर की मूर्ति रहती है। उपरले तले में ज़रा-सी कच्ची मिट्टी है, उसपर

उगी है घास, खिले हैं फूल—वहीं जादू का खेल है। मैं दुर्गम के बीच से हीरा ले आता हूँ, मनि-मानिक ले आता हूँ लेकिन सहज के बीच से प्राण के उस जादू को नहीं ला पाता।

नंदिनी। तुम्हारे पास इतना है तौ भी बराबर इस प्रकार लोभी की तरह बातें क्यों किया करते हो?

नेपथ्य से। मेरे पास जो कुछ है सब बोझ हो गया है। सोना जमाते रहने से वह पारस पत्थर थोड़े ही हो जाता है!—शक्ति को जितना भी क्यों न बढ़ाऊँ वह यौवन तक नहीं उठ सकती। इसीलिये पहरा बैठाकर तुम्हें बाँधना चाहता हूँ, रंजन की तरह मेरे यौवन होता तो तुम्हें खुली रखकर ही बाँध सकता। इसी तरह बंधन की रस्सी में गाँठ देते देते दिन कट गए। हाय रे हाय, सब कुछ बँधता है, केवल आनंद नहीं बंधता।

नंदिनी। तुमने तो खुद को ही जाल में बाँध रखा है, तब फिर क्यों इस प्रकार छटफटा रहे हो, कुछ समझ में नहीं आता।

नेपथ्य से। तुम नहीं समझ सकोगी। मैं एक विशाल रेगिस्तान हूँ—मरुभूमि। तुम्हारे समान एक एक छोटी-सी घास की तरफ़ हाथ फैलाकर चिल्ला रहा हूँ—मैं तप्त हूँ, मैं रिक्त हूँ, मैं क्लान्त हूँ। प्यास की जलन से इस रेगिस्तान ने न जाने कितनी उपजाऊ ज़मीनों को चाट डाला है, लेकिन इससे रेगिस्तान का ही फैलाव बढ़ता गया है, एक मामूली-सी कमज़ोर घास में जो प्राण है उसे वह अपना नहीं सका है।

नंदिनी। तुम्हें देखकर तो ऐसा नहीं लगता कि तुम क्लान्त हो। मैं तो तुम्हारी ज़बर्दस्त ताक़त ही देख रही हूँ।

नेपथ्य से। नंदिन, एक दिन दूर देश में मेरे ही जैसा एक क्लान्त पहाड़ दिखाई पड़ा था। बाहर से मैं समझ ही नहीं सका कि उसके सभी पत्थर भीतर ही भीतर व्यथित हो उठे हैं। एक दिन बड़ी रात गए भयंकर आवाज़ सुनाई पड़ी, ऐसा जान पड़ा मानों किसी दैत्य का दुःस्वप्न उमड़-घुमड़कर एकाएक फट पड़ा हो। सबेरे क्या देखता हूँ कि पहाड़ भूकंप से ढह पड़ा है। शक्ति का भार अनजान में किस तरह आदमी को पीस देता है, यह बात उस पहाड़ को देखकर ही समझ सका था। और तुममें एक बात है—ठीक इससे उल्टी।

नंदिनी। मुझमें क्या देख रहे हो?

नेपथ्य से। विश्व की वंशी में नाच का जो छंद बजा करता है, वही छन्द।

नंदिनी। कुछ समझ नहीं सकी।

नेपथ्य से। उस छन्द में वस्तु का विपुल भार हल्का हो जाता है। उस छंद में ग्रह-नक्षत्रों के दल भिखारी नट-बालकों की भाँति आसमान के कोने कोने में नाचते फिर रहे हैं।

उसी नाच के छंद में तुम इतनी सहज हो गई हो, नंदिनी, इतनी सुंदर। मेरी तुलना में तुम कितनी-सी हो, फिर भी मैं तुम्हें ईर्ष्या करता हूँ।

नंदिनी। तुमने अपने को सबसे छीनकर वंचित कर रखा है, सहज होकर सबकी पकड़ के भीतर क्यों नहीं आते ?

नेपथ्य से। अपने को गुप्त रखकर विश्व के बड़े बड़े माल-खज़ानों की मोटी मोटी रकमें चुराने बैठा हूँ। लेकिन जो दान विधाता के हाथ की मुट्ठी में बंद है उस दान तक तुम्हारी चम्पे की कली-सरीखी उँगलियाँ जितना पहुँच सकती हैं, मेरे सारे शरीर की ताक़त भी उसके पास तक भी नहीं पहुँच पाती। विधाता की वह बँधी मुट्ठी मुझे खोलनी ही पड़ेगी।

नंदिनी। तुम्हारी ये सब बातें मैं अच्छी तरह समझ नहीं सकती, मैं चली।

नेपथ्य से। अच्छा, जाना—लेकिन खिड़की से मैं अपना हाथ बढ़ा रहा हूँ, तुम एक बार अपना हाथ इसपर रखो तो।

नंदिनी। ना, ना, तुम्हारा सब कुछ छोड़कर सिर्फ एक हाथ निकलने से मुझे डर लगता है।

नेपथ्य से। सिर्फ एक हाथ से पकड़ना चाहता हूँ, इसीलिये सभी मेरे पास से भाग जाते हैं। लेकिन सब-कुछ से अगर तुम्हें पकड़ना चाहूँ तो तुम धराई दोगी नंदिन ?

नंदिनी। तुमने तो मुझे घर में आने ही नहीं दिया तब वह सब क्यों कह रहे हो ?

नेपथ्य से। अपनी अवकाश-हीनता की उल्टी धारा में ठेलकर मैं तुम्हें घर में नहीं ले आना चाहता। जिस दिन अनुकूल हवा पाल में लगेगी और तुम अनायास ही आ जाओगी उसी दिन प्रवेश का शुभलग्न होगा। वह हवा अगर तूफ़ान की हवा हो, तो भी अच्छा है। अभी भी समय नहीं आया है।

नंदिनी। मैं तुमसे कहे रखती हूँ राजा, उस हवा को रंजन ले आएगा। वह जहीं जाता है वहीं साथ में छुट्टी लिए जाता है।

नेपथ्य से। तुम्हारा रंजन जिस छुट्टी को ढोता फिरता है उसे लाल कनेर के मधु से कौन भरे रहता है, यह क्या मैं नहीं जानता ? नंदिनी, तुमने तो मुझे खाली छुट्टी की खबर दी है, उसे भरने के लिये मैं मधु कहाँ पाऊँगा ?

नंदिनी। तो फिर आज मैं जाऊँ।

नेपथ्य से। नहीं इस बात का जवाब दिए जाओ।

नंदिनी। रंजन को देखकर ही जान सकोगे कि छुट्टी मधु से कैसे भर उठती है। वह बहुत सुंदर है।

नेपथ्य से। सुंदर का जवाब सुंदर ही पाता है। असुंदर जब जवाब छीन लेना चाहता है तो वीणा का तार बजता नहीं, टूट जाता है। अब नहीं, जाओ, जल्दी चली जाओ—नहीं तो आफ़त आ सकती है।

नंदिनी। जाती हूँ, किन्तु कहे जाती हूँ, आज मेरा रंजन आएगा, आएगा, तुम उसे रोक नहीं सकोगे, किसी प्रकार नहीं।

[प्रस्थान

[खदान का मजूर फागूलाल और उसकी स्त्री चंद्रा का प्रवेश]

फागूलाल। मेरी शराब तुमने कहाँ छिपा रखी है चंद्रा? निकालो!

चंद्रा। सो क्या? सुबह-सुबह शराब की ही बात?

फागूलाल। आज छुट्टी का दिन है। कल उन लोगों का मारणचंडी का व्रत था। आज ध्वजा-पूजा होगी और उसीके साथ अस्त्र-पूजा भी।

चंद्रा। क्या कह रहे हो? वे भी देवी देवता मानते हैं क्या?

फागूलाल। नहीं देखा तुमने? उनका शराब का भाण्डार, अस्त्रशाला और मंदिर बिल्कुल सटे हुए हैं।

चंद्रा। तो तुम्हें छुट्टी मिली है इसीलिये शराब चाहिए। गाँव में रहते थे तो परब की छुट्टी को तो—

फागूलाल। वन की चिड़िया छुट्टी पाती है तो उड़ती है और पिंजड़े में बंद रहती है तो छुट्टी देने पर सिर कूटकर मर जाती है। यक्षपुर में काम-काज की अपेक्षा छुट्टी ही एक बला है।

चंद्रा। छोड़ दो ना काम; चलो घर चलें।

फागूलाल। तुम्हें शायद मालूम नहीं, घर का रास्ता बंद है।

चंद्रा। बंद क्यों होगा?

फागूलाल। क्योंकि हमारे घर से इन लोगों को कोई मुनाफ़ा नहीं है।

चंद्रा। हम क्या उनकी ज़रूरत से कसके चिपका दिए गए हैं? हममें फालतू कुछ भी नहीं है?

फागूलाल। हम लोगों का विशू पगला कहा करता है कि पूरा बनकर रहना बकरे को खुद के लिये ही ज़रूरी है; जो लोग उसे खाते हैं वे उसकी हड्डी-पसली, खुर-पूँछ अलग करके ही खाते हैं। यहाँ तक कि वह जब कसाई के खूँटे के पास 'म्याँ म्याँ' करके चिल्लाता है,

उसे भी वे लोग बेकार कहकर ही एतराज़ किया करते हैं। वह देखो विशू पगला गान गाता गाता इधर ही आ रहा है।

चंद्रा। अचानक कुछ दिनों से उसके गले में गान खुल गया है।

फागूलाल। यही तो देख रहा हूँ।

चंद्रा। उसे नंदिनी लगी है, उसने इसके प्राण भी खीचे हैं, गान भी।

फागूलाल। इसमें अचरज क्या है ?

चंद्रा। नहीं, अचरज कुछ भो नहीं है। अजी, तुम भी सावधान रहो, किसी दिन तुम्हारे गले से भी गान निकाल लेगी—उस दिन मुहल्लेवालों की क्या दशा होगी ? मायाविनी माया जानती है। आफ़त लाएगी।

फागूलाल। विशू की आफ़त तो आज नहीं आई है। यहाँ आने के बहुत पहले से वह नंदिनी को जानता है।

चंद्रा। (विशू को पुकारकर) समधी, सुनते जाओ, सुनते जाओ। कहाँ चले ? गान सुननेवाले यहाँ एकाध मिल सकते हैं, बिल्कुल नुक़सान ही नहीं होगा।

[विशू का प्रवेश और गान]

मोर स्वपन-तरीर के तुइ नेये ?
लागलो पाले नेशार हावा पागल परान चले गेये।
आमाय भुलिये' दिये या
तोर दुलिये' दिये ना,
तोर सुदूर घाटे चल् रे बेये।१

चंद्रा। तब तो कोई आशा नहीं है। हम लोग तो बहुत नज़दीक हैं।

विशू। आमार भावना तो सब मिछे,
आमार सब पड़े थाक् पिछे।
तोमार घोमटा खुले दाओ,
तोमार नयन तुले चाओ,
दाओ हासिते मोर पराण छेये।२

---

१. कौन थे, तुम मेरी स्वप्न-नौका के नाविक ? पाल में नशीली हवा लगी, पागल प्राण गाता हुआ चल पड़ा। मुझे भुलावा दे जाओ, अपनी नैया खेकर मुझे अपने सुदूर घाट की ओर ले चलो।

२. मेरी सारी चिन्ताएँ झूठी हैं ; मेरा सब-कुछ पीछे रह जाय ; तुम अपना घूँघट खोल दो, अपनी आँखें उठाकर देखो, अपनी हँसी से मेरे प्राण आच्छादित कर लो !

चंद्रा। तुम्हारी स्वप्न-नौका की उस लड़की को मैं जानती हूँ।

विशू। बाहर से कैसे जानोगी? मेरी नैया के भीतर से तो तुमने देखा नहीं।

चंद्रा। कहे देती हूँ, वह एक दिन नाव डुबा देगी—वही तुम्हारे दुलार की नंदिनी!

[खदान-मजूर गोकुल का प्रवेश]

गोकुल। देखो विशू, वह तुम्हारी नंदिनी अच्छी नहीं जँचती।

विशू। क्यों, क्या किया उसने?

गोकुल। कुछ किया नहीं, इसीलिये तो खटका लगता है। यहाँ का राजा खामखा उसे क्यों यहाँ ले आया है? उसका रँग-ढँग कुछ समझ में नहीं आता।

चंद्रा। समधी, यह हमारे दुःख की जगह है, यहाँ आकर वह आठों पहर सुंदरीगिरी करती फिरेगी, यह हम नहीं देख सकतीं!

गोकुल। हमारा तो सीधे-सादे मोटे-सोटे चेहरे में विश्वास है, ज़रा भारी-भरकम और वज़नदार होना चाहिए।

विशू। दिक्क़त यह है कि यक्षपुरी की हवा सुंदर के प्रति अवज्ञा सिखा देती है। सुंदर तो नरक में भी है, पर वहाँ रहनेवाले उसे समझ नहीं पाते, यही तो उनकी सबसे बड़ी सज़ा है।

चंद्रा। अच्छा, तुम्हारी ही सही। मान लिया हम लोग मूर्ख ही हैं, परन्तु जानते हो, यहाँ का सर्दार भी उसे फूटी आँखों नहीं देख पाता?

विशू। देखो चंद्रा, ऐसा न हो कि सर्दार की 'फूटी आँखों' की छूत तुम्हें भी लग जाय। यह छूत लगी तो हमें देखकर भी तुम्हारी आँखें लाल हो जायँगी। अच्छा फागू, तेरा क्या ख्याल है?

फागूलाल। सच कहता हूँ दादा! नंदिनी को जब देखता हूँ तो अपनी ओर देखने पर शर्म मालूम होती है। उसके सामने मुँह से बात ही नहीं निकलती।

गोकुल। विशू भाई, उस लड़की ने तुम्हारा मन भुला लिया है, इसीलिये तुम देख नहीं सकते कि कैसी कुलच्छनी है वह। यह बात समझने में बहुत देर नहीं लगेगी, मैं कहे रखता हूँ।

फागूलाल। विशू भैया, तुम्हारी समधिन जानना चाहती है कि हम लोग शराब क्यों पीते हैं?

विशू। स्वयं विधाता की कृपा से चारों ओर मदिरा की ही जय-जयकार है, यहाँ तक कि तुम्हारी आँखों के उस कटाक्ष में भी। हम अपनी इस भुजा से काम जुगाया करते हैं और

तुम अपनी भुजलताओं के बंधन से मदिरा जुगाया करती हो। जानती हो समधिन, जीवलोक में मजूरी करनी पड़ती है और उसे भूलना भी पड़ता है। मदिरा न हो तो उसे भुलाएगा कौन?

चन्द्रा। और नहीं तो क्या! तुम्हारे-जैसे जनम के मतवालों के ऊपर विधाता की दया का कोई आरपार नहीं है। शराब का भाण्ड एकदम उलट दिया है।

विशू। एक तरफ़ भूख और प्यास चाबुक मार रही हैं; कलेजे में आग लगाए दे रही हैं; कहती हैं, काम करो। दूसरी तरफ़ वन की हरियाली ने माया फैला दी है, धूप के सोने ने माया बखेर दी है, वे चित्र में मस्ती ले आ दे रहे हैं, कहते हैं, छुट्टी छुट्टी छुट्टी!

चन्द्रा। इसीको शराब कहते हैं क्या?

विशू। प्राणों की शराब! नशा हल्का है मगर खुमारी दिन-रात लगी हुई है। सुबूत देता हूँ। इस राज में आया और पाताल में सेंध मारने के काम में लग गया। सहज शराब का नसीब होना दूभर हो गया। इसीलिये तो अन्तरात्मा बाज़ारू शराब से मतवाला बना घूम रहा है। जब सहज ही साँस लेने में बाधा पड़ती है, तभी आदमी हाँफने लगता है।

तोर प्राणेर रस तो शुकिये गेलो ओरे,
तबे मरण-रसे ने पेयाला भरे।
से ये चितार आगुन गालिये ढाला,
सब ज्वलनेर मेटाय ज्वाला,
सब शून्यके से अट्टहेसे देय ये रङ्गीन करे।*

चन्द्रा। चलो ना समधी, भाग चलें हम!

विशू। उस नील चँदोवे के नीचे खुली शराब के अड्डे पर! राह बंद है। इसीलिये तो इस कैदखाने की शराब पर, जो असल में चोरी का माल है, हमारा खिंचाव इतना ज्यादा है। हमारे पास न तो आकाश है न अवकाश है; इसीलिये बारह घंटे की सारी हँसी और गान को, सूर्य के उजाले को बड़ा करके एक घूँट तरल आग के रूप में चुआ लिया है। जैसी ही ठोस ग़ुलामी है, वैसी ही घनी छुट्टी भी।

तोर सूर्य छिलो गहन मेघेर माझे,
तोर दिन मरेछे अकाजेरि काजे,

---

* तेरे प्राणों का रस तो सूख गया है, तो फिर तू मरण-रस से प्याला भर ले। चिताग्नि को पिघलाकर ढाला गया है जो समस्त ज्वालाओं की ज्वाला मिटा देता है। अपनी ठहाके की हँसी से वह समस्त शून्य को रङ्गीन बना देता है।

तबे आसुक् ना सेइ तिमिर राति,
लुप्ति-नेशार चरम साथी,
तोर क्लान्त आँखि दिक् से ढाकि दिक्-भोलाबार घोरे ।*

चन्द्रा । कुछ भी कहो समधी, यक्षपुरी में आकर तुम्हीं लोगों में मस्ती आई है। हम औरतें तो कुछ भी नहीं बदलीं ।

विशू । बदलीं नहीं तो क्या ? तुम लोगों का फूल सूख गया है, अब सोना सोना करके प्राण हाँफ रहा है ।

चन्द्रा । कभी नहीं ।

विशू । मैं कहता हूँ, हाँ । वह अभागा फागू बारह घंटे के बाद और भी चार घंटा सिर कूटता है ; इसका कारण न फागू जानता है, न तुम जानती हो, अन्तर्यामी जानते हैं। तुम्हारे सोने के स्वप्न भीतर ही भीतर उसे चाबुक मारते हैं, यह चाबुक सर्दार के चाबुक से भी कड़ा है ।

चन्द्रा । अच्छा, बहुत अच्छा । अब चलो ना यहाँ से देस लौट जायँ ।

फागूलाल । अच्छा भाई विशू, तुम तो एक दिन पोथी पढ़-पढ़कर आँख खराब करने बैठे थे, तुम्हें भला हमारे-जैसे मूर्खों के साथ कुदाल पकड़वा दिया, सो कैसे हुआ ?

चंद्रा । इतने दिनों से हूँ, समधी से इस सवाल का जवाब नहीं वसूल किया जा सका ।

फागूलाल । और मज़ा यह है कि बात सभी को मालूम है ।

विशू । क्या मालूम है, सुनूँ भला ?

फागूलाल । हमारी खबर लेने के लिये उन्होंने तुम्हें चर बनाकर रखा था ।

विशू । तुम सब जानते थे तो मुझे जीता क्यों छोड़ दिया ?

फागूलाल । यह भी जानते हैं कि यह काम तुमसे हुआ नहीं ।

चंद्रा । क्यों समधी, ऐसे आराम के काम में भी नहीं टिक सके ?

विशू । आराम का काम कहती हो ? एक जीती-जागती देह के पीछे पीठ के फोड़े की तरह लगे रहने को ? मैंने कहा, 'शरीर खराब लग रहा है, देस जाऊँगा ।' सर्दार बोले, 'आहा, इतना कमज़ोर शरीर लेकर देस जा भी कैसे सकोगे ? फिर भी कोशिश करके देखो ।' कोशिश करके देख लिया । मालूम हुआ कि यक्षपुरी के कौर में घुस जाने पर उसका बाया हुआ

---

* तेरा सूर्य गहन मेघ के नीचे था, तेरा दिन बेकाम के काम में ही नष्ट हो गया, तो फिर लुप्तिरूपी नशे की चरमसंगिनी अंधकार-रात्रि ही क्यों न आ जाय और दिग्भ्रम के नशे से तेरी क्लान्त आँखों को ढँक दे ।

मुँह बंद हो जाता है, फिर तो उसके पेट में जाने के सिवा और कोई रास्ता रही नहीं जाता। आज मैं उसके उसी आशाहीन आलोकहीन पेट में ग़ायब हो गया हूँ। अब तुममें-मुझमें फ़र्क इतना ही है कि सर्दार तुम्हें जितनी अवज्ञा करता है, मुझे उससे कहीं अधिक। केले के फटे पत्ते की अपेक्षा फूटी हाँड़ी पर आदमी की अवहेला ज्यादा होती है।

फागूलाल। कुछ परवा नहीं, विशू दादा, हम तो तुम्हें सिर-माथे लिए ही हैं।

विशू। बात फूटते ही मार डाला जाऊँगा। जहाँ तुम सबोंका दुलार जाता है वहीं सर्दार की आँख पहुँचती है। सुनहरा मेढक जितना ही झकमकाकर काले मेढक का स्वागत करता है, उतना ही वह साँप के कानों पहुँचता है।

चंद्रा। तुम लोगों का काम कब खतम होगा?

विशू। पत्रे में दिन का अन्त तो लिखा नहीं। एक दिन के बाद दो दिन, दो दिन के बाद तीन दिन; खदान काटते ही जा रहे हैं, एक हाथ के बाद दो हाथ, दो हाथ के बाद तीन हाथ। ताल का ताल सोना काट लाते हैं—एक ताल के बाद दो ताल, दो ताल के बाद तीन ताल। यक्षपुरी में अंक-पर-अंक क़तार बाँधकर चले हैं, किसी अर्थ तक वे नहीं पहुँचते। इसीलिये उनके यहाँ आदमी नहीं, संख्या हैं। फागू भाई, तुम क्या हो?

फागूलाल। पीठ के कपड़े पर निशान है, मैं ४७ फ हूँ।

विशू। मैं ६९ ङ। गाँव में आदमी था, यहाँ आकर दस-पचीस का छक हो गया हूँ। छाती पर जुए का खेल चल रहा है।

चन्द्रा। समधी, सोना तो उनके बहुत हो गया, अब और की क्या ज़रूरत है?

विशू। ज़रूरत नामक वस्तु का कोई अन्त है? खाने की ज़रूरत है, पेट भरने पर उसका अन्त मिल जाता है; नशे की ज़रूरत नहीं है, इस कारण उसका अन्त भी नहीं है। वे सोने के ताल भी तो शराब हैं, हमारे यक्षराज्य की ठोस शराब? नहीं समझीं?

चन्द्रा। ना!

विशू। शराब का प्याला लेकर हम भूल जाते हैं कि हम भाग्य की सीमा में बँधे हैं। समझते हैं, हमारी छुटी अबाध है! यहाँ के मालिकों के मन में भी सोने का ताल हाथ में आते ही ऐ ही मोह लगता है। वह सोचता है कि सर्वसाधारण की मिट्टी का खिंचाव उसतक नहीं पहुँचता, और फिर वे असाधारण के आसमान में भी उड़ते हैं।

चन्द्रा। नवान्न का समय आया ही समझो। गाँव गाँव में उसकी तैयारी हो रही है। पैरों पड़ती हूँ, चलो घर चलें। एक बार हम सब लोग अगर सर्दार से—

विशू। स्त्री-बुद्धि से तुमने शायद अभी भी सर्दार को नहीं पहचाना?

चन्द्रा। क्यों उसे देखने से तो मुझे अच्छा ही—

विशू। हाँ हाँ, बहुत अच्छा 'जगर मगर तन जोति!' घड़ियाल के दाँत हैं, बड़े क़ायदे से प्रत्येक खाँज पर गड़ जाते हैं। मकरराज स्वयं चाहें तो भी नहीं निकाल सकते।

चन्द्रा। वह देखो सर्दार आ रहे हैं।

विशू। हो चुका! उसने हमारी बात ज़रूर सुनी है।

चन्द्रा। क्यों हमने ऐसा तो कुछ नहीं कहा जिससे—

विशू। नहीं जानतीं, समधिन, बात हम करते हैं, मानी वे लगाते हैं। इसीलिये किस बात की टीका किस छप्पर में आग लगा देगी, कोई नहीं जानता।

(सर्दार का प्रवेश)

चन्द्रा। सर्दार दादा!

सर्दार। क्या, नातिन, समाचार तो अच्छे हैं न?

चन्द्रा। एक बार घर जाने की छुट्टी दो।

सर्दार। क्यों? रहने की जो कोठरियाँ दी हैं वे तो बहुत अच्छी हैं, घर से कहीं अधिक अच्छी। सरकारी खर्च से चौकीदार तक का इन्तज़ाम कर रखा है। क्यों जी, ६९ ङ! तुम्हें इनके बीच देखने से ऐसा लगता है जैसे सारस बगलों के दल को नाच सिखाने आए हैं।

विशू। सर्दार जी, तुम्हारे मज़ाक से तबीयत खिलती नहीं। पावों में नचाने की ताक़त होती तो यहाँ से उन्हें समेटकर दौड़ लगाता। तुम्हारे इलाके में नचाने का रोज़गार कितना खतरनाक है इस बात के मोटे मोटे दृष्टान्त मैंने देखे हैं, अब तो ऐसा हुआ है कि सीधी चाल चलते भी पैर काँपने लगते हैं।

सर्दार। नातिन, एक अच्छी खबर है। इन लोगों को अच्छी बातें सुनाने के लिये कीनाराम गोसाईं को बुलवाया है। इन लोगों से प्रणामी वसूल होने पर खर्चा निकल आयगा। गोसाईं जी से ये लोग रोज़ साँझ को—

फागूलाल। ना, ना, सर्दार, यह नहीं होने का। आज-कल साँझ को शराब पीकर हम बुद्द बने रहते हैं, कोई उपदेश सुनाने आया तो खून-खराबी हो जायगी।

विशू। चुप चुप फागूलाल!

[गोसाईं का प्रवेश]

सर्दार। यह लो, नाम लेते ही गोसाईं जी आ पहुँचे। प्रणाम करता हूँ महाराज! हमारे इन कारीगर बेचारों का दिल कमज़ोर है, बीच बीच में चंचल हो उठता है। इनके कान में ज़रा शान्ति-मंत्र फूँक दें—बड़ी ज़रूरत है!

गोसाईं। इनकी बात कह रहे हो? आहा, ये तो साक्षात् कच्छप-अवतार हैं। इन्होंने अपने आपको बोझ के नीचे दबा रखा है, तभी तो संसार टिका हुआ है। सोचने से रोमांच होता है। हाँ बाबा ४७ फ, एक बार विचार देखो तो, हम जिस मुख से नाम-कीर्तन करते हैं उस मुख के लिये अन्न कौन जुगाता है? तुम्हीं लोग न? जिस राम नाम से मेरा शरीर पवित्र हो रहा है उसे तुमने ही तो एड़ी-चोटी का पसीना एक करके बनाया है। यह कोई मामूली बात है! आशीर्वाद करता हूँ—तुम लोग सदा अचल रहो, तभी भगवान् की दया भी तुम्हारे ऊपर अचल होकर विराजेगी। हाँ बाबा, एक बार दिल खोलकर बोलो तो—हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे! भगवान् तुम्हारा सब बोझ हल्का कर दें! हरिनाम ही 'आद्यावन्ते च मध्ये च'।

चंद्रा। आहा, कितना मीठा लग रहा है, बाबा, बहुत दिनों से ऐसी बात नहीं सुनी। ज़रा चरनों की धूल तो दो महाराज!

फागूलाल। अब तक चुप्पी साधे था, पर अब नहीं रह सकता। सर्दार, इतनी बड़ी फुज़ूलखर्ची काहेके लिये भला? प्रणामी वसूल करना चाहते हो कर लो, मगर पाखंड नहीं सहा जायगा।

विशू। अरे फागूलाल, पगलाया तो खैर नहीं, चुप चुप!

चंद्रा। तुम नरलोक परलोक दोनों खोने बैठे हो? तुम्हारी क्या गति होगी? ऐसी कुबुद्धि तो पहले तुममें नहीं थी। मैं ठीक देख रही हूँ, तुम लोगों को उस नंदिनी की हवा लगी है।

गोसाईं। जो कहो, सर्दार, ऐसी सरलता हमने नहीं देखी! पेट और मुँह बिल्कुल एक! इन्हें हम क्या सिखाएँगें, इन्हींसे तो बहुत-कुछ सीखना है। समझे?

सर्दार। ज़रूर समझा। यह भी समझ रहा हूँ कि उत्पात कहाँ से शुरू हुआ है। इनका भार मुझे ही लेना पड़ेगा। महाराज, बल्कि उस मुहल्ले में हरिनाम सुना आवें। वहाँ करातियों ने कुछ गोलमाल शुरू किया है।

गोसाईं। किस मुहल्ले की ओर कहा, सर्दार?

सर्दार। वो उस ट-ठ-महाल में। वहाँ का मुखिया है ७१ ट। ६५ ण जहाँ रहता है न, उसकी बाईं ओर वह महाल खतम हो जाता है।

गोसाईं। हाँ बाबा, न-महाल अब भी नटखटपन में मशगूल है लेकिन ण-महाल वाले मधुर रस में बहुत कुछ डूब चले हैं। उनके कान प्रायः मंत्र लेने लायक़ हालत में आ गए हैं। तो भी और कई महीने उस मुहल्ले में पल्टन रखने की ज़रूरत पड़ेगी, क्योंकि लिखा ही

है, 'नाहंकारात् परो रिपुः'। पल्टनवालों के दबाव से अहंकार का दमन होता है, फिर हम लोगों की पारी आती है। अच्छा तो फिर चलता हूँ।

चंद्रा। प्रभु, आशीर्वाद करो कि इन्हें सुबुद्धि हो, इन ग़लतियों का बुरा न मानना।

गोसाईं। कोई डर नहीं है, लच्छिमी माँ, ये सब ठंडे हो जाएँगे।

[प्रस्थान

सर्दार। क्यों जी, ६९ ङ, तुम्हारे उस मुहल्लेवालों का मिज़ाज कुछ कैसा-कैसा देख रहा हूँ?

विशू। हो सकता है। गोसाईं जी ने इन्हें कच्छप-अवतार कहा है। किन्तु शास्त्र के मत से अवतार बदलते भी हैं। कच्छप अचानक वराह हो जाते हैं और हड्डी की मोटी खोल की जगह दाँत निकल आते हैं, धैर्य की जगह गुर्राहट पैदा हो जाती है।

चंद्रा। विशू समधी, ज़रा रुको। सर्दार दादा, मेरी अरदास न भूलना।

सर्दार। बिल्कुल नहीं, सुन लिया है, याद रखूँगा।

[प्रस्थान

चंद्रा। देखा? सर्दार कैसा भला आदमी है। सबके साथ हँसकर ही बोलता है।

विशू। घड़ियाल के दाँत में शुरू में हँसी होती है, बाद में काट।

चंद्रा। काटने की कौन-सी बात है इसमें भला!

विशू। तुम नहीं जानतीं, इन्होंने ठीक किया है कि अब से कारीगरों के साथ उनकी स्त्रियाँ नहीं आ सकेंगी।

चंद्रा। क्यों?

विशू। उनके हिसाब से हम संख्यारूप में ही खाते में जगह पाते हैं। लेकिन संख्या के अंक के साथ नारी के अंक का योग गणितशास्त्र में नहीं मिलता।

चंद्रा। कहते क्या हो! उनके स्त्रियाँ नहीं हैं? वे क्या कहती हैं?

विशू। वे भी सोने के ताल की शराब से बेहोश हैं। नशे में वे अपने पतियों को बहुत पीछे छोड़ गई हैं। हम लोग उनकी नज़रों पड़ते ही नहीं।

चंद्रा। अच्छा समधी, तुम्हारे घर तो स्त्री थी, उसका क्या हुआ? बहुत दिनों से उसकी कोई खबर नहीं मिली।

विशू। जब तक गुप्तचर के ऊँचे ओहदे पर बहाल रहा उतने दिन उसे सर्दारनियों के दुतल्ले पर ताश खेलने का न्योता मिलता रहा। परन्तु जब फागूलाल के दल में आ भिड़ा तो उधर का न्यौता बंद हो गया। उसी गुस्से से मुझे छोड़कर वह चली गई है।

चंद्रा। छि छि! ऐसा भी पाप करना था!

विशू। इस पाप का फल भोगने के लिये वह अगले जनम में सर्दारनी होकर जनम लेगी।

चंद्रा। विशू समधी, वह देखो, कौन हैं, धूमधाम से चली हैं। क़तार की क़तार मोरपंखियाँ हैं, हाथियों के हौदों की झालर देख रहे हो? कैसा जगर-मगर हो रहा है! उनके साथ-साथ कैसे-कैसे घुड़ सवार हैं! भालों की फलक पर मानों एक एक टुकड़ा सूर्य की रोशनी गोले लिए जा रहे हैं।

विशू। वही तो सर्दारनियाँ ध्वजा-पूजा के भोज में चली हैं।

चंद्रा। आहा, क्या धूमधाम का जुलूस है! और कैसे सुंदर चेहरे हैं! अच्छा समधी, अगर तुमने काम न छोड़ दिया होता तो तुम भी उनके दल में इसी धूम-धाम के साथ निकलते और तुम्हारी वह स्त्री—

विशू। हाँ, हम दोनों की भी यही दशा होती।

चंद्रा। अब क्या लौटने का रास्ता नहीं है? एकदम बंद हो चुका है?

विशू। ना, है—पनारे के भीतर से।

नेपथ्य से। पागल भाई!

विशू। क्या है पगली!

फागूलाल। लो, तुम्हारी नंदिनी की पुकार आई। आज अब विशू दादा को नहीं पाया जा सकता।

चंद्रा। तुम लोग अब विशू दादा की आशा मत रखो। अच्छा समधी, किस आशा पर उसने तुम्हें भुला रखा है?

विशू। दुःख से भुलाया है।

चंद्रा। समधी, तुम बात उलटके क्यों बोला करते हो?

विशू। तुम सब नहीं समझ सकोगी। वह ऐसा दुःख है जिसे भूलने के समान दुःख दुनिया में नहीं है।

फागूलाल। विशू दादा, साफ़ बात किया करो, नहीं तो गुस्सा आता है।

विशू। अच्छा कहता हूँ, सुन। नज़दीक की चीज़ को हथियाने के लिये जो वासना-जनित दुःख होता है वह पशु का दुःख है, और दूर की चीज़ को पाने के लिये आकांक्षाजनित जो दुःख होता है वह मनुष्य का होता है। मेरे उस चिरन्तन दुःख के पूर का प्रकाश नंदिनी में प्रकट हुआ है।

चंद्रा। ये सब बातें मैं नहीं समझती, समधी, एक बात समझती हूँ कि जिस स्त्री को तुम लोग जितना ही कम समझते हो वह तुम्हें उतना ही अधिक खींचती है। हम लोग सीधी-सादी हैं, हमारा मोल कम है, तो भी, और चाहे जो हो, हम तुम्हें सीधे रास्ते लिए चलतीं हैं। लेकिन आज कह रखती हूँ, यह छोकरी तुम्हें अपनी लाल कनेर की माला में फाँसकर सत्यानाश के रास्ते खींच ले जायगी।

[चंद्रा और फागूलाल का प्रस्थान

(नंदिनी का प्रवेश)

नंदिनी। पागल भाई, आज सबेरे दूर के रास्ते से वे पौष का गान गाते हुए मैदान की ओर जा रहे थे, सुना था तुमने ?

विशू। मेरा सबेरा क्या तेरे सबेरे-जैसा है जो गान सुन सकूँगा ? वह तो थकी रात का झाड़ फेंका हुआ जूठन है।

नंदिनी। आज मौज में आकर सोचा कि यहाँ के परकोटे पर चढ़कर उनके गान में मैं भी जुट जाऊँगी। पर कहीं रास्ता न पा सकी, इसीलिये तुम्हारे पास आई हूँ।

विशू। मैं तो परकोटा नहीं हूँ।

नंदिनी। हो, तुम्हीं मेरे परकोटा हो। तुम्हारे पास आती हूँ तो ऊँचे उठकर बाहर को देखती हूँ।

विशू। तुम्हारे मुँह से यह बात सुनकर आश्चर्य होता है।

नंदिनी। क्यों ?

विशू। जब से यक्षपुरी में घुसा तब से अब तक यही मालूम होता था कि मैंने अपना आकाश ही खो दिया है, अब वह नहीं मिलने का। ऐसा जान पड़ता था कि यहाँ के टुकड़े मनुष्यों के साथ मुझे एक ही ढेंकी में कूटकर ये लोग एक पिंड के रूप में तैयार कर चुके हैं, इसमें कहीं भी दरार नहीं है, पोलापन नहीं है। ऐसे ही समय तुमने आकर मेरी ओर इस प्रकार ताका कि मुझे लगा, मानो मुझमें अब भी प्रकाश दिखाई देता है।

नंदिनी। पागल भाई, इस चारों ओर से बंद गढ़ में सिर्फ तुममें और मुझमें एक आकाश बचा हुआ है। बाक़ी और सबमें बंद हो गया है।

विशू। वह आकाश बचा हुआ है, इसीलिये तुम्हें गान सुना सकता हूँ।

(गान)

तोमाय गान शोनाबो ताइ तो आमाय जागिये' राखो,
ओगो घम भाङानिया !

बुके   चमक दिये ताइ तो डाको
ओगो दुख जागानिया !
एलो आँधार घिरे,'
पाखी एलो नीड़े,
तरी एलो तीरे,
शुधु   आमार हिया विराम पाय नाको,
ओगो दुख जागानिया !१

नंदिनी। विशू पागल, तुम मुझे "दुख-जगाने-वाली" कहते हो ?

विशू। तुम मेरे समुद्र के अगम पार की दूती हो। जिस दिन आईं उसी दिन मेरे हृदय के खारे जल की हवा में धक्का मार दिया।

आमार   काजेर माझे माझे
कान्नाधरार दोला तुमि थामते दिले ना-ये।
आमाय परश क'रे,
प्राण सुधाय भ'रे,
तुमि जाओ स'रे,
बुझि   आमार व्यथार आड़ालेते दाँड़िये' थाको,
ओगो दुख जागानिया !२

नंदिनी। तुम्हें एक बात बताऊँ पगले ! जिस दुःख का गान तुम गाते हो, मैं उसकी बात पहले नहीं जानती थी।

विशू। क्यों, रंजन के पास से ?

नंदिनी। नहीं। दोनों हाथों से दो डाँड़ पकड़कर वह मुझे तूफ़ान की नदी पार करा देता है ; जंगली घोड़े का अयाल पकड़कर जंगल के भीतर से दौड़ा ले जाता है ; उछलते

१। तुम्हें गान सुनाऊँगा, इसीलिये तो जगा रखती हो, ओ नींद तोड़नेवाली ! हृदय को चौंकाकर इसीलिये तो पुकारती हो, ओ दुःख जगानेवाली ! अंधेरा घिर आया, पक्षी घोंसलों में आगए, नैया किनारे लगी ; सिर्फ मेरा हृदय विराम नहीं पा रहा है, ओ (मेरी) दुःख जगानेवाली !

२। मेरे काम-काज के बीच में रुलाई के झूले को तुमने तो रुकने ही नहीं दिया ! मुझे छूकर, मेरे प्राणों को अमृतरस से भरकर, तुम हट जाया करती हो ! जान पड़ता है तुम मेरी व्यथा की ओट में खड़ी रहती हो, ओ दुःख जगानेवाली !

हुए बाघ की भौंहों के बीच तीर मारकर मेरा डर दूर करके वह हँसा करता है। हमारी नगाई नदी के स्रोत में कूदकर वह जिस प्रकार प्रवाह में उथल-पुथल मचा देता है, उसी तरह मुझे भी लेकर उथल पुथल मचाता रहता है। प्राणों की बाज़ी लगाकर, सर्वस्व को दाँव पर रखकर वह हार-जीत का खेल खेलता है। उस खेल में उसने मुझे जीत लिया है। एक दिन तुम भी तो उसीमें थे, किन्तु न-जाने क्या सोचकर उस बाज़ी के खेल की भीड़ में से तुम अकेले निकल पड़े। जाते समय जाने किस तरह मेरी ओर तुमने ताका था, मैं ठीक समझ नहीं सकी। —इसके बाद बहुत दिनों तक कोई खबर नहीं मिली। अच्छा, तुम कहाँ चले गए थे, बताओ तो ?

विशू। (गान)

ओ चाँद, चोखेर जलेर लाग्लो जोयार दुखेर पारावारे,
ह'लो कानाय कानाय कानाकानि एइ पारे ओइ पारे।
आमार तरी छिलो चेनार कूले, बाँधन ताहार गेलो खुले',
तारे हावाय हावाय निये गेलो कोन् अचेनार धारे।*

नंदिनी। उस अन-चीन्हे के किनारे से इस यक्षपुरी की खुदाई के काम में तुम्हें कौन घसीट लाया ?

विशू। एक स्त्री। अचानक तीर की चोट खाकर उड़ती चिड़िया जिस प्रकार मिट्टी में गिर जाती है, उसी प्रकार उसने मुझे धूल में गिरा दिया है; मैं अपने को भूल गया था।

नंदिनी। वह तुम्हें कैसे छू सकी ?

विशू। जब प्यासे को पानी मिलने की आशा नहीं रह जाती तो मरीचिका उसे सहज ही भुला देती है। इसके बाद आदमी दिङ्मूढ़ हो जाता है, अपने-आपको खोज नहीं पाता। एक दिन मैं पश्चिम ओर की खिड़की से मेघों की स्वर्णपुरी देख रहा था, वह देख रही थी सर्दार के महल की सोने की चोटी। मुझसे कटाक्ष करके बोली, "वहाँ मुझे ले चलो, देखूँ तुम्हारी ताक़त कितनी है।" मैंने दर्प के साथ कहा, 'ले जाऊँगा'। उसे सोने की चोटी के नीचे ले आया। तब मेरा नशा टूटा!

नंदिनी। अब मैं आ गई हूँ, तुम्हें यहाँ से निकालकर ले जाऊँगी। सोने की बेड़ी तोड़ दूँगी।

---

* ओ चाँद, दुःख के सागर में आँखों के पानी का ज्वार उमड़ आया। इस पार और उस पार के किनारों में आपस में कानाफूसी होने लगी। मेरी नैया पहचाने घाट पर बँधी थी, उसका बंधन खुल गया। उसे हवा में उड़ाता हुआ न जाने किस अन-पहचाने घाट को ले चला है!

विशू। तुमने जब यहाँ के राजा तक को हिला दिया है, तब तुम्हें कौन रोक सकता है? अच्छा तुम उससे डरतीं नहीं?

नंदिनी। इस जाल के बाहर से डर लगता है, लेकिन मैंने तो भीतर जाकर देखा है।

विशू। कैसा देखा तुमने?

नंदिनी। देखा है मनुष्य ही, लेकिन प्रकाण्ड। माथा सततल्ले महल के सिंहद्वार की तरह है। दोनों भुजाएँ किसी दुर्गम दुर्ग के लोहे के अर्गल की भाँति हैं। ऐसा जान पड़ा जैसे रामायण-महाभारत में से उतर पड़ा हो कोई।

विशू। घर के भीतर जाकर क्या देखा?

नंदिनी। उसके बायें हाथ पर बाज़ बैठा हुआ था, उसे दाँड़ पर बैठाकर वह मेरे मुँह की ओर ताकता रहा। फिर जिस तरह बाज़ के पंखों को उँगली से सहला रहा था, उसी प्रकार मेरा हाथ लेकर धीरे धीरे सहलाता रहा। ज़रा देर बाद अचानक पूछ बैठा, 'तुम मुझसे डरतीं नहीं?' मैंने कहा, 'बिल्कुल नहीं!' फिर मेरे खुले केशों में उसने दोनों हाथ उलझा दिए और फिर कुछ देर तक आँखें मूँदे बैठा रहा।

विशू। तुम्हें कैसा लगा?

नंदिनी। अच्छा लगा—कैसा बताऊँ? वह जैसे हज़ार बरसों का पुराना बरगद का पेड़ हो और मैं मानों नन्हीं-सी चिड़िया हूँ। उसकी डाल की किसी टहनी पर ज़रा झूल लूँ तो निश्चय ही उसकी मज्जा में आनंद लगेगा। उस अकेले प्राण को इतनी-सी खुशी देने की इच्छा होती है।

विशू। फिर उसने क्या कहा?

नंदिनी। एकबार झमककर उठ पड़ा और अपनी भाले की फलक-जैसी आँखें मेरे मुँह पर रखकर बोल उठा—'मैं तुम्हें जानना चाहता हूँ।' मुझे कैसा-कैसा लगा, सारा शरीर सिहर उठा। बोली—'जानने को क्या है? मैं क्या तुम्हारी पोथी हूँ?' उसने कहा—'पोथी में जो है सब जानता हूँ, तुम्हें नहीं जानता।' इसके बाद जाने-कैसा हो उठा। बोला, 'रंजन की बात मुझे बताओ। उसे किस प्रकार प्यार करती हो?' मैंने जवाब दिया, 'पानी के भीतर की पतवार जिस प्रकार ऊपर के आसमान के पाल को प्यार करती है—पाल में हवा का गान लगा करता है और पतवार में तरंगों का नाच।' किसी बड़े चटोर लड़के की तरह एक-टक देखता हुआ वह चुप-चाप सुनता रहा। अचानक चौंककर बोल उठा, 'उसके लिये प्राण दे सकती हो?' मैं बोली—'अभी ही।' वह गरजकर मानों गुस्से में भरा हुआ चिल्ला उठा, 'कभी नहीं'। मैंने कहा, 'हाँ, प्राण दे सकती हूँ।' 'उसमें तुम्हारा क्या फ़ायदा है?' मैं बोली—

'नहीं जानती'। तब वह छटपटाकर बोल उठा—'जाओ, मेरे घर से चली जाओ! जाओ, काम का हर्ज मत करो।' मैं ठीक मतलब नहीं समझ सकी।

विशू। वह सभी बातों का साफ़ अर्थ जानना चाहता है। जो बात उसकी समझ में नहीं आती वह उसे व्याकुल कर देती है, इसीसे वह गुस्सा कर जाता है।

नंदिनी। पागल भाई, उसके ऊपर तुम्हें दया नहीं आती?

विशू। जिस दिन उसपर विधाता की दया होगी उसी दिन वह मरेगा।

नंदिनी। नहीं नहीं; तुम्हें मालूम नहीं कि जीते रहने के लिये वह किस प्रकार प्राण देने को उतारू है।

विशू। उसके जीवित रहने का क्या अर्थ है यह बात तुम आज ही देख सकोगी।

नंदिनी। वह देखो पागल भाई, वह छाया! निश्चय ही सर्दार ने छिपकर हमारी बातें सुनी हैं।

विशू। यहाँ तो चारों ओर सर्दार की ही छाया दिखती रहती है। बचकर चलने का उपाय क्या है? सर्दार तुम्हें कैसा लगता है?

नंदिनी। उसके समान मरी चीज़ मैंने देखी ही नहीं। ऐसा जान पड़ता है कि बेंत के जंगल से काटकर लाया हुआ बेंत है। पत्ता नहीं, जड़ नहीं, मज्जा में रस नहीं, सूखकर लचलचा रहा है।

विशू। अभागे ने औरों के प्राणों को सज़ा देने के लिये ही प्राण दिया है!

नंदिनी। चुप रहो, सुन लेगा।

विशू। चुप रहने को भी तो वह सुन सकता है, इससे आफ़त और बढ़ जाती है। जब मैं खुदाई करनेवालों के साथ रहता हूँ, तब बातचीत में सर्दार से बचकर चला करता हूँ। इसीलिये उन्होंने मुझे बेमसरफ का जीव समझकर ही अब तक बचा रहने दिया है। अपने डंडे से भी मुझे नहीं छूते। किंतु पगली, तेरे सामने मेरा मन बढ़बढ़कर बातें करने लगता है, सावधान रहने से घृणा होती है।

नंदिनी। नहीं नहीं, तुम विपत्ति को बुलाकर मत ले आओ।

(सर्दार का प्रवेश)

सर्दार। क्यों जी ६९ ङ, सबके साथ तुम्हारी प्रणयलीला चलती रहती है, चुनाव-विचार एकदम नहीं है!

विशू। यहाँ तक कि तुम्हारे साथ भी शुरू हो चली थी, चुनाव-विचार के कारण ही रुक गई।

सर्दार। आखिर बातचीत का विषय क्या है ?

विशू। किस प्रकार तुम्हारे इस क़िले से निकल भागा जाय, इसी बात पर विचार कर रहे हैं।

सर्दार। क्या कह रहे हो, हिम्मत इतनी बढ़ गई है ? क़बूल करते भी डर नहीं लगा।

विशू। सर्दार, तुम मन ही मन तो सब कुछ जानते ही हो। पिंजड़े के पक्षी सींकचों को जो ठुकराया करते हैं, सो तो दुलार के कारण नहीं करते। यह बात क़बूल ही की तो क्या, न की तो क्या!

सर्दार। दुलार नहीं करते यह तो जानी हुई बात है, लेकिन क़बूल करते डरते नहीं यह बात हाल ही में कई दिनों से जनाई देने लगी है!

नंदिनी। सर्दार जी, तुमने कहा था कि आज रंजन को ले आ दोगे। कहाँ,—तुमने बात तो नहीं रखी ?

सर्दार। आज उसे देख सकोगी।

नंदिनी। यह मुझे मालूम था। तो भी तुमने आशा दी है, जय हो तुम्हारी! यह लो कुन्द पुष्प की माला।

विशू। छी छी, माला को तुमने नष्ट कर दिया। रंजन के लिये क्यों नहीं रखा उसे ?

नंदिनी। उसके लिये माला है।

सर्दार। ज़रूर है, वह गले में झूल रही है, वही न ? जयमाला कुन्द के फूलों की है, क्योंकि वह हाथ का दान है और वरणमाला लाल कनेर की है, वह हृदय का दान है। ठीक है, ठीक है, हाथों का दान हाथों-हाथ चुका दो, नहीं तो सूख जायगा ; हृदय का दान जितनी ही इन्तज़ारी करेगा, उतना ही उसका दाम बढ़ेगा।

[प्रस्थान

नंदिनी। (खिड़की के पास) सुन रहे हो ?

नेपथ्य से। क्या कहना चाहती हो, बोलो।

नंदिनी। एक बार खिड़की के पास आकर खड़े हो जाओ।

नेपथ्य से। यह खड़ा हुआ।

नंदिनी। घर में आने दो, बहुत सी बातें करनी हैं।

नेपथ्य से। बार बार क्यों झूठमूठ का अनुरोध करती हो। अभी भी समय नहीं हुआ। तुम्हारे साथ वह कौन है ? रंजन का जोड़ीदार है क्या ?

विशू । ना राजा, मैं रंजन की वह उल्टी पीठ हूँ जिधर रोशनी नहीं पड़ती । मैं अमावस हूँ।

नेपथ्य से । नंदिनी से तुम्हारा क्या काम है ? नंदिनी, यह आदमी तुम्हारा कौन होता है ?

नंदिनी । यह मेरा साथी है, मुझे गान सिखाता है । इसीने तो वह "भालोबासि" गान सिखाया है ।

नेपथ्य से । यही तुम्हारा साथी है ? यदि अभी इसका और तुम्हारा साथ छुड़ा दूँ तो क्या होगा ?

नंदिनी । यह क्या ! तुम्हारे गले की आवाज़ कैसी हो गई ? ज़रा रुको । तुम्हारा क्या कोई साथी नहीं है ?

नेपथ्य से । मेरा साथी ? दुपहरी के सूरज का कोई साथी होता है ?

नंदिनी । अच्छा, रहने दो यह बात । मैया रे, तुम्हारे हाथ में वह क्या है ?

नेपथ्य से । एक मरा मेढक ।

नंदिनी । उसे लेकर क्या करोगे ?

नेपथ्य से । यह मेढक एक दिन एक पत्थर के कोटर में घुसा था । तीन हज़ार साल तक उसी की ओट में टिका रहा । मैं इस मेढक से यही रहस्य सीख रहा था कि इसी प्रकार कैसे टिके रहा जा सकता है । कैसे जीवित रहा जा सकता है, यह बात उसे नहीं मालूम । आज ऐसा लगा कि ज्यादा दिनों तक यों सीखते रहना ठीक नहीं है, इसीलिये मैंने पत्थर का पर्दा तोड़ दिया, हमेशा टिके रहने से इसे मुक्ति दे दी । तुम्हें क्या यह खबर अच्छी नहीं मालूम होती ?

नंदिनी । मेरे चारों ओर से भी आज तुम्हारा यह पत्थर का क़िला खुल जायगा । मैं जानती हूँ, आज रंजन के साथ मेरी मुलाक़ात होगी ।

नेपथ्य से । तब मैं तुम दोनों को एक साथ देखना चाहता हूँ ।

नंदिनी । जाल की ओट से अपने चश्मे से होकर तुम नहीं देख सकोगे ।

नेपथ्य से । घर में बैठाकर देखूँगा ।

नंदिनी । इससे क्या होगा ?

नेपथ्य से । मैं जानना चाहता हूँ ।

नंदिनी । तुम जब जानने की बात कहते हो तो कैसा डर-सा लगता है ।

नेपथ्य से । क्यों ?

नंदिनी । जान पड़ता है, जिस चीज़ को मन से नहीं जाना जाता, प्राणों से समझा जाता है, उसपर तुम्हें दरद नहीं है ।

नेपथ्य से। ऐसी चीज़ का विश्वास करने की हिम्मत नहीं होती, खटका लगा रहता है कि कहीं ठगा न जाऊँ। अच्छा, तुम जाओ, समय बर्बाद मत करो।—नहीं नहीं, ज़रा रुको। तुम्हारे केशों से लाल कनेर का वह गुच्छा गालों पर लटक आया है। मुझे दे दो।

नंदिनी। इससे क्या होगा ?

नेपथ्य से। उस फूल के गुच्छे को देखता हूँ और ऐसा लगता है जैसे मेरे ही रक्त प्रकाश का शनिग्रह फूल का रूप धारण करके आया है। कभी कभी जी में आता है, तुम्हारे पास से छीनकर टुकड़े-टुकड़े कर दूँ। फिर सोचता हूँ, नंदिनी यदि किसी दिन अपने हाथों वह माला मेरे सिर पर पहना दे तो—

नंदिनी। तो क्या होगा ?

नेपथ्य से। तो फिर शायद मैं सहज ही मर सकूँगा।

नंदिनी। कोई एक मनुष्य लाल कनेर को बहुत चाहता है ; मैंने उसीको याद करके इन फूलों को कान का झुमका बनाया है।

नेपथ्य से। तो फिर कहे देता हूँ, ये फूल मेरे भी शनिग्रह हैं और उसके भी शनिग्रह हैं।

नंदिनी। छी छी, ऐसी बात क्या कह रहे हो ! मैं जाऊँ।

नेपथ्य से। कहाँ जाओगी ?

नंदिनी। तुम्हारे क़िले के दरवाज़े के पास बैठी रहूँगी।

नेपथ्य से। क्यों ?

नंदिनी। रंजन जब उस रास्ते आएगा तो देखेगा कि मैं उसीका इन्तज़ार कर रही हूँ।

नेपथ्य से। रंजन को यदि पीसकर धूल में मिला दूँ और उसे ज़रा भी पहचाना न जा सके !

नंदिनी। आज तुम्हें क्या हो गया है ? मुझे झूठमूठ डर क्यों दिखा रहे हो ?

नेपथ्य से। झूठमूठ डर ? तुम नहीं जानतीं—मैं भयंकर हूँ।

नंदिनी। अचानक यह तुम्हारा कैसा भाव बदल गया ? सब तुमसे डरते हैं—क्या यही देखने में तुम्हें मज़ा आता है ? हमारे गाँव का श्रीकंठ रामलीला में राक्षस बनता है ; जब उसका संवाद होता है तो बच्चे डर से आतंकित हो उठते हैं, इसपर वह बहुत खुश होता है। तुम्हारी भी यही हालत है। मेरे मन में कैसा लगता है, सच बताऊँ ? गुस्सा तो नहीं करोगे ?

नेपथ्य से। कैसा लगता है, बताओ भला !

नंदिनी। यहाँ के आदमियों का व्यवसाय ही डर दिखाना है। इसीलिये तुम्हें जाल से घेरकर अद्भुत बना रखा है उन्होंने। इस हौवा की तस्वीर बनने में तुम्हें लाज नहीं लगती ?

नेपथ्य से। क्या कहती हो नंदिनी !

नंदिनी। इतने दिनों तक जिन्हें तुम डराते आ रहे हो, वे एक दिन डरने से शर्माएँगे। मेरा रंजन यदि यहाँ होता तो तुम्हारी नाक के सामने चुटकी बजाके मर जाता, पर डरता नहीं।

नेपथ्य से। हिमाक़त तो कम नहीं है तुम्हारी ! इतने दिनों तक तोड़-मरोड़कर जो कुछ मैंने तहस-नहस किया है, उसी पुंजीभूत पहाड़ की चोटी पर तुम्हें खड़ी करके दिखाने की इच्छा हो रही है। फिर तो—

नंदिनी। फिर क्या !

नेपथ्य से। फिर मैं अपना अन्तिम तोड़ना तोड़ दूँ। अनार के दाने फटफटाकर जिस तरह दस अंगुलों के फांक से अपना रस निकाल देते हैं, उसी प्रकार मैं अपने इन दोनों हाथों से—जाओ जाओ ! अभी भाग जाओ, अभी !

नंदिनी। मैं यह खड़ी रही, क्या कर सकते हो, करो। इस तरह भद्दे ढंग से क्यों गरज रहे हो ?

नेपथ्य से। मैं कितना अद्भुत निष्ठुर हूँ, उसका समूचा प्रमाण तुम्हें दिखा देने की इच्छा हो रही है। मेरे घर में से कभी तुमने आर्तनाद नहीं सुना क्या ?

नंदिनी। सुना है। किसका आर्तनाद है वह ?

नेपथ्य से। मैं सृष्टिकर्ता की चातुरी तोड़ा करता हूँ। विश्व के मर्मस्थल में जो कुछ छिपा हुआ है उसे छीन लेना चाहता हूँ। उन्हीं छिने प्राणों की रुलाई है वह। पेड़ से यदि आग चुराना हो तो उसे जला देना होता है। नंदिनी, तुम्हारे भीतर भी आग है—लाल आग ! एक दिन जलाकर उस आग को निकाले बिना निस्तार नहीं।

नंदिनी। क्यों तुम इतने निष्ठुर हो ?

नेपथ्य से। मैं या तो प्राप्त करूँगा या नष्ट कर दूँगा। जिसे मैं पा नहीं सकता उस पर दया नहीं कर सकता। उसे तोड़ देना भी एक तरह का पाना ही है।

नंदिनी। यह क्या ! इस तरह मुक्का बाँधकर हाथ क्यों निकाल रहे हो ?

नेपथ्य से। अच्छा, हाथ खींच लेता हूँ, तुम भाग जाओ ; जैसे कबूतर बाज़ की छाया से भागता है, उसी तरह।

नंदिनी। अच्छा जाती हूँ, तुम्हें अब नहीं चिढ़ाऊँगी !

नेपथ्य से। सुनो सुनो, तुम लौट आओ ! नंदिनी ! नंदिनी !

नंदिनी। क्या कहते हो ?

नेपथ्य से। सामने तुम्हारे मुँह पर और आँखों में जीवन की लीला खेल रही है और पीछे तुम्हारे काले केशों की धारा में ही मृत्यु का निस्तब्ध झरना है ! मेरे ये दोनों हाथ उस दिन उसमें डूब मरने का आराम पा गए थे। और कभी भी मैंने मृत्यु के माधुर्य को इस प्रकार नहीं सोचा था। इन गुच्छे-के-गुच्छे काले केशों के नीचे मुँह छिपाकर सोने की बड़ी इच्छा हो रही है। तुम नहीं जानतीं मैं कितना थका हूँ !

नंदिनी। तुम क्या कभी सोते नहीं ?

नेपथ्य से। सोते डर लगता है।

नंदिनी। तुमको मैं वह 'भालोबासि' गान पूरा सुना दूँ—

भालोबासि भालोबासि—
एइ सुरे काछे-दूरे,जले-स्थले बाजाय बाँशी।
आकाशे कार बुकेर माझे
व्यथा बाजे
दिगन्ते कार कालो आँखि आँखिर जले जाय गो भासि।1

नेपथ्य से। बस बस, अब रहने दो, अब मत गाओ—

नंदिनी।
सेइ सुरे सागर-कूले
बाँधन खुले
अतल रोदन उठे दुले'।
सेइ सुरे बाजे मने
अकारणे
भुले जावा गानेर वाणी, भोला दिनेर काँदन-हासि।2

पागल भाई, वह देखो, मरे मेढक को फेंककर वह जाने-कब भाग गया है। वह गान सुनते डरता है। [आगामी अंक में समाप्य

---

1. प्यार करता हूँ, प्यार करता हूँ—इसी सुर में पास और दूर, जल और स्थलमें वंशी बजा करती है। आकाश में किसके हृदय में पीड़ा हो रही है, दिगंत में किसकी काली आँखें आँखों के पानी से बही जा रही हैं ?

2. उसी सुर से समुद्र के किनारे बंधन खुल जाता है, अतल रोदन हिल उठता है। उसी सुर से अकारण ही मन में भूले हुए गान की बात, भूले हुए दिनों की हँसी और रुलाई याद आ जाती है।

पाशुपत मत

बलदेव उपाध्याय

वैदिक धर्म के इतिहास में शैवधर्म का अभ्युदय बहुत महत्त्वशाली है। प्राचीनता तथा व्यापकता दोनों दृष्टियों से 'शिवधर्म' की महत्ता माननी पड़ती है। सिन्धु की उपत्यका में आविर्भूत सभ्यता को विद्वान् लोग आर्य या अनार्य, वैदिक अथवा पूर्व-वैदिक, किसी भी नाम से पुकारें, इतना तो निश्चित है कि मोहन-जो-दड़ो की उस सभ्यता में शिव की पूजा अवश्य ही प्रचलित थी। वैदिक संहिताओं में भगवान् रुद्र की भव्य स्तुतियाँ उपलब्ध होती ही हैं। आर्य सभ्यता के नवीन केन्द्रभूत आर्य उपनिवेशों में भी वैदिक धर्म के साथ साथ शिव की उपासना प्रचुर मात्रा में प्रचारित जान पड़ती है। जहाँ जहाँ भारतीय आर्यों ने अपने ऐहिक अभ्युदय की सिद्धि के लिये या वैदिक संस्कृति के प्रचार के लिये नये उपनिवेशों की स्थापना की, वहाँ वहाँ शिव की आराधना ने भी अपना पैर जमाया। सुमात्रा, जावा, बालि तथा चम्पा में शिवमूर्तियों के मिलने का प्रधान कारण यही है। जावा की प्राचीन भाषा में निर्मित 'सूर्यसेवन' नामक ग्रन्थ में आदित्यरूप में शिव की ही उपासना वर्णित है। बालिद्वीप से प्राप्त शिवस्तवों का संपादन स्व० डा० लेवी ने किया है। ये स्तव "बालिद्वीपग्रंथाः" नाम से गायकवाड़-सीरीज़ (नं० ६७) में प्रकाशित हो चुके हैं। इन्हें पढ़कर तथा इनकी भाषा और भाव को देखकर कौन कह सकता है कि इनकी रचना इस पवित्र आर्यावर्त के कहीं बाहर हुई होगी ?—

> शिवः कर्ता शिवो धाता शिवो दत्तवरप्रदः।
> शिवो रक्षतु मां नित्यं शिवाय च नमोऽस्तु ते॥
> शिवो भोक्ता शिवो भोग्यं दासकं च शिवात्मकम्।
> यजमानः शिवश्चापि मां रक्षतु नमोऽस्तु ते॥

बालिद्वीप के शिवोपासक 'पेदण्ड' (पुरोहित=ब्राह्मण) भक्तिभाव-संवलित हृदय से इन श्लोकों का उच्चारण कर आज भी अपनी अटूट शैव-श्रद्धा का परिचय देते हैं। अतः भारतीय संस्कृति के बहुमुख प्रसार से भली भाँति परिचय पाने के लिये शिव के वैदिक तथा तान्त्रिक स्वरूप को जानना अत्यन्त आवश्यक है।

रुद्र-शिव की कल्पना नितान्त आर्य और वैदिक है। पश्चिमी विद्वान् तथा उनके अन्धाधुन्ध अनुयायी कतिपय भारतीय वैदिक स्कालर लोग भी रुद्र की कल्पना को अनार्य द्राविड़ धर्म

के सम्पर्क का फल बतलाने में नहीं हिचकते, परन्तु वैदिकधर्म के मर्मस्थल के पारखी विद्वज्जनों की दृष्टि में यह कथन विशेष मूल्य नहीं रखता। वैदिक संहिताओं में रुद्र, शङ्कर, शिव, शर्व आदि का प्रयोग एक ही देवता के लिये दृष्टिगोचर होता है। शिव अग्नि के ही प्रतीक हैं। वैदिक आर्यगण अग्निदेव के उपासक थे ही। अरघे के भीतर लिङ्गमय शिव की कल्पना में वेदी के भीतर दुग्ध या हविष्य से प्रज्ज्वलित अग्निशिखा का ही प्रतिनिधित्व दृष्टिगत होता है। इस प्रसङ्ग में 'ज्योतिर्लिङ्ग' शब्द पर ध्यान देना आवश्यक है। शुक्लयजुर्वेदसंहिता के शतरुद्रिय अध्याय में रुद्र की प्रकृष्ट महनीयता का प्रतिपादन किया गया है। रुद्र के ही लिये भव, शर्व, पशुपति, नीलग्रीव तथा शितिकण्ठ शब्दों का प्रयोग किया गया है।* सुख के उदयस्थान होने से रुद्र ही 'शम्भव' हैं; ऐहिक सुख के उत्पादक होने के कारण उनकी संज्ञा 'शंकर' है तथा मोक्षरूपी आनन्द के देने से उनका ही नाम 'मयोभव' है (स्रक्चन्दनादिरूपेण लौकिकसुखकारित्वं शास्त्रादिरूपेण ज्ञानप्रदत्वात् मोक्षसुखकारित्वमित्यर्थः—यजुःसंहिता, १६।४१ पर महीधरभाष्य)। उपनिषदों के अनुशीलन से रुद्र की 'महादेवता' तथा व्यापकता का काफ़ी परिचय मिलता है। इस प्रसङ्ग में 'अथर्वशिर'-उपनिषद् का पर्याप्त महत्त्व है। इस उपनिषद् के आरम्भ में रुद्र ब्रह्मा, विष्णु, स्कन्द, चन्द्र, अग्नि, वायु, सूर्य आदि समग्र देवात्मक माने गए हैं। जगत् के समस्त पदार्थ रुद्ररूप ही हैं। 'श्वेताश्वतर'-उपनिषद् की दृष्टि में रुद्र एक ही है—दूसरा नहीं—जो अपनी शक्तियों से इन लोकों को वश में रखता है :

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थु-
र्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ॥ (३।२)

इस उपनिषद् में रुद्र तथा शिव की एकता मानकर शिव के विराट् रूप का वर्णन स्पष्ट शब्दों में किया गया है (श्वेता० ३।११)। 'रुद्रहृदय'-उपनिषद् में रुद्र की व्यापकता का विस्तृत विवेचन है। रुद्र तथा उमा की युगल मूर्ति जगत् के समस्त पदार्थों की प्रतीक बताई गई है। ब्रह्मा-वाणी, विष्णु-लक्ष्मी, सूर्य-छाया, सोम-तारा, दिवा-रात्रि, यज्ञ-वेदि, वह्नि-स्वाहा, वृक्ष-वल्ली—यावत् स्त्री-पुरुषमय विश्व का समावेश रुद्र-उमा के युगल रूप में हो जाता है। अतः रुद्र की श्रेष्ठता सर्वतोमुखी है—

कार्यं विष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः।
प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरेका त्रिधाकृता ॥—रुद्रहृदयोपनिषत्, ८

---

*। नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च ॥ १६।२८

पुराणों के अध्ययन से शैव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों की स्थिति का पता चलता है। महाभारत, शिवपुराण, वायुपुराण, कूर्मपुराण आदि ग्रन्थों में शैव धर्म का बड़ा विस्तार दिखलाई पड़ता है। वामनपुराण के अनुसार शैवों के चार विख्यात सम्प्रदाय थे—शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। ब्रह्मसूत्रों के तर्कपाद (द्वितीय अध्याय के दूसरे पाद) में ईश्वरको केवल निमित्त-कारण माननेवाले पाशुपतों के इस विषय के मत का खण्डन किया गया है। ब्रह्मसूत्र (२।२।३७) के भाष्य तथा टीकाओं में सम्प्रदाय-विषयक अनेक महत्त्व की बातों की ओर संकेत किया गया है। शाङ्करभाष्य की भामती तथा रत्नप्रभा में माहेश्वरों के चारों सम्प्रदायों के नाम इस प्रकार दिए गए हैं—शैव, पाशुपत, कारुणिक-सिद्धान्ती तथा कापालिक। इस सूची के तीसरे नाम के विषय में मतभेद दीखता है, क्योंकि भास्कर ने अपने भास्करभाष्य में इसके स्थान पर 'काठक-सिद्धान्ती' तथा यामुनाचार्य ने 'आगमप्रामाण्य'-ग्रन्थ में 'कालामुख' नाम दिया है। कालामुख नाम के अधिक लोकप्रिय होने के कारण हम भी माहेश्वरों के सम्प्रदाय-चतुष्टय में इसीको स्थान देते हैं। ये समस्त मत शैवतन्त्रों के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। इन शैवतन्त्रों की प्रामाणिकता के विषयमें प्राचीन आचार्यों में स्पष्टतः दो मत दृष्टिगत होते हैं। एक मत पाशुपतों को वेदबाह्य मानता है। महिम्नःस्तोत्र की यह उक्ति 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति' पाशुपत मत की वेदबाह्यता की समर्थक है। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद में इसका खण्डन इसी दृष्टिकोण से किया गया है। परन्तु शैवागम के पारंगत आचार्यों की माननीय सम्मति में पाशुपत सम्प्रदाय नितान्त वैदिक है। श्रीकण्ठाचार्य शैवतन्त्रों को वेदों के समान ही माननीय, प्रामाणिक तथा प्राचीन बतलाते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टि में शिव ही दोनों के रचयिता हैं।[1] श्रीकण्ठभाष्य की 'शिवार्कमणिदीपिका'-व्याख्या में सुप्रसिद्ध दार्शनिक अप्पयदीक्षित ने शैव तन्त्रों को वैदिक तथा अवैदिक रूपसे द्विविध मानकर भी दोनों का प्रामाण्य समान भाव से स्वीकार किया है। अधिकारी भी अधिकार-भेदसे दो तरह के हैं। वेदाधिकारियों के लिये वैदिक शैवतन्त्रों की उपादेयता है, परन्तु वेदानधिकारी स्त्री-शूद्रादिकों के लिये अवैदिक तन्त्रों की। इस प्रकार शैवमत के इन प्रसिद्ध विद्वानों की सम्मति में शैवतन्त्र अप्रामाणिक नहीं है। अतः पाशुपत सम्प्रदाय की भी प्रामाणिकता तथा उपादेयता निःसन्दिग्ध मान्य है।

---

१. वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः। वेदेऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः। तस्य तत्कर्तृत्वात्। अतः शिवागमो द्विविधः त्रैवर्णिकविषयः सर्वविषयश्चेति। उभयोरेकः कर्ता शिवः। उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ।—श्रीकण्ठभाष्य, २।२।३८

इतिहास

इन चारों सम्प्रदायों में से प्राचीनतम पाशुपत मत का संक्षिप्त वर्णन इस छोटे-से लेख में किया जाता है। तान्त्रिक शैवमतों में पाशुपतों की प्राचीनता उनके लिये गौरव की चीज़ है। अथर्वशिर-उपनिषद् में पाशुपतों के विशिष्ट 'व्रत' तथा पशु-पाश-पति आदि पारिभाषिक शब्दों से साफ़ मालूम होता है कि अवान्तर उपनिषद्काल में इस तान्त्रिक सम्प्रदाय का जन्म हो चुका था तथा यह विकासोन्मुख हो चला था। महाभारत, शिवपुराण तथा वायुपुराण में पाशुपतों के विशिष्ट सिद्धान्तों का भली भाँति परिचय मिलता है। महाभारत के कथनानुसार भगवान् पशुपति ने ही मानवजनों के कल्याणार्थ इस मत के सिद्धान्तों की उद्भावना की थी। उस समय उपमन्यु पाशुपत-सम्प्रदाय के इतने बड़े आचार्य थे कि स्वयं श्रीकृष्ण ने इस शास्त्र के विषय में उनकी शिष्यता ग्रहण की थी। वायुपुराण में 'पाशुपतयोग' का विशेष विवेचन किया गया है। श्रीमद्भागवतपुराण (४ स्कन्ध, २—५ अध्याय) में सती के भस्म होने तथा दक्ष के यज्ञविध्वंस के प्रसङ्ग से अनुशीलनकर्ता को यह ज्ञात हुए बिना न रहेगा कि उस समय ऐसे शैव सम्प्रदायों का जन्म हो चुका था जो अनेक अंशों में वैदिक मार्ग के विपरीत चलनेवाले थे तथा वैदिक मार्गों में उन्हें भाग देना किसी प्रकार न्यायसंगत नहीं माना जाता था।*

पाशुपत सम्प्रदाय के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम लकुलीश या नकुलीश था। शिव-पुराणान्तर्गत कारवण-माहात्म्य से पता चलता है कि लकुलीश का जन्म कारवण ग्राम में हुआ था जो आज भी बड़ौदा रियासत में भड़ौंच के आसपास एक छोटा-सा गाँव है। लकुलीश की मूर्तियाँ राजपूताना, गुजरात, मालवा, दक्षिण-भारत तथा गौड़देश में भी पाई जाती हैं। इन मूर्तियों की बाह्य वेशभूषा ही उन्हें अन्य मूर्तियों से पृथक् करने के लिये पर्याप्त मानी जा सकती है। माथे पर घना केशकलाप, एक हाथ में बीजपूरक का फूल और दूसरे में लगुड (दण्ड)—इन मूर्तियों का विशेषताएँ हैं। लगुली या लकुटी धारण करने के कारण ही लकुलीश की लकुलीशता है। शिव के १८ विभिन्न अवतारों में लकुलीश आद्य अवतार माने जाते हैं। मथुरा में उपलब्ध शैवस्तम्भ तथा उसपर उत्कीर्ण शिलालेख के अध्ययन से लकुलीश के आविर्भावकाल का पता

---

* भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः।
पाखण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः ॥२८
नष्टशौचा मूढधियो जटाभस्मास्थिधारिणः।
विशन्तु शिवदीक्षायां यत्र दैवं सुरासवम् ॥२९—भागवत ४।२

चलता है। यह शिलालेख* गुप्तसंवत् ६१ (सन् ३८० ईस्वी) का है तथा गुप्तनरेश चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के राज्यकाल से सम्बद्ध है। इसमें उदिताचार्य नामक पाशुपताचार्य के द्वारा एक शैवमन्दिर की प्रतिष्ठा तथा उसमें अपने गुरुओं की मूर्तियों के प्रतीकरूप उपमितेश्वर तथा कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों को स्थापना का वर्णन मिलता है। उदिताचार्य अपने को कुशिक से दशम बतलाते हैं और ये कुशिक लकुलीश के साक्षात् शिष्य थे। अतः उदिताचार्य और लकुलीश के समय में ग्यारह पीढ़ियों का अन्तर है। यदि एक पीढ़ी के लिये बीस साल का समय माना जाय, तो लकुलीश का समय द्वितीय शताब्दी का अन्तिम भाग ठहरता है। और यह वही युग है जिसमें कुषाणवंशीय नरेश हुविष्क की सुवर्णमुद्राओं पर लकुटधारी शिवकी मूर्तियाँ मिलती हैं। इस प्रकार विक्रम के दो सौ वर्ष बाद लकुलीश ने इस सम्प्रदाय को गुजरात में चलाया और वहीं से यह धर्म धीरे धीरे समग्र भारत में फैल गया। न्याय-वैशेषिक दर्शन का पाशुपत मत से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। गुणरत्न के अनुसार न्याय के अनुयायी 'शिव' के उपासक थे तथा वैशेषिक के मतावलम्बी 'पशुपति' के ('—द्रष्टव्य 'षड्दर्शनसमुच्चय' की वृत्ति)। न्याय-वार्तिक के रचयिता उद्योतकर ने 'पाशुपताचार्य' उपाधि धारण करने की बात लिखी है। काश्मीर के विख्यात नैयायिक भासर्वज्ञ ने तो 'गण-कारिका'-जैसे मान्य पाशुपत ग्रन्थ की रचना ही की है। दशम शताब्दी के अनन्तर पाशुपतों की लोकप्रियता में ह्रास दीख पड़ता है।

पाशुपत-साहित्य

पाशुपत सम्प्रदाय के ग्रन्थों की स्वल्पता का यही कारण है। पुराणों को छोड़ देने पर केवल इसी मत के प्रतिपादक विशेष ग्रन्थों की न्यूनता बेतरह खटकती है। माधवाचार्य ने अपने सुप्रसिद्ध 'सर्वदर्शनसंग्रह' में 'नकुलीशपाशुपत' नाम से जो कुछ लिखा है वही बहुत दिनों तक इस मत का केवलमात्र विवेचन माना जाता था। जैन दार्शनिक राजशेखर सूरि के 'षड्दर्शन-समुच्चय' में 'यौगमत' के नाम से इस सम्प्रदाय का वर्णन उतना प्रसिद्ध नहीं है। गुणरत्न ने अपनी वृत्ति में अनेक प्रामाणिक बातों का संग्रह किया है। 'न्यायसार' के रचयिता भासर्वज्ञ (८०० ई०) ने गणकारिका में केवल आठ कारिकाओं में पाशुपत तत्त्वों का सारांश उपस्थित किया है, परन्तु इसकी किसी अज्ञातनामा लेखक के द्वारा विरचित 'रत्नटीका' पाशुपत सिद्धान्तों के विद्योतन के लिये वस्तुतः रत्नरूपा है। इस ग्रन्थ में समस्त तत्त्वों की छानबीन बड़े विस्तार के साथ की गई है। इस ग्रन्थ के अनुशीलन से इस मत के दार्शनिक रूप का सजीव चित्र सामने खड़ा हो जाता है। इसका प्रकाशन बड़ोदे से 'गायकवाड़ ओरिएन्टल सीरीज़' में हुआ है। परन्तु

---

* देखिए 'एपिग्राफ़िका इंडिका', १९३१, डा० भाण्डारकर का एतद्विषयक निबन्ध।

सौभाग्यवश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ प्राचीन माननीय भाष्य के साथ अभी हाल ही में उपलब्ध हुआ है और अनन्तशयन-संस्कृत-ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। इसके पाँच अध्याय हैं और सूत्रों की संख्या १६८ है। भगवान् पशुपति के द्वारा रचे हुए इन सूत्रों का प्राचीन भाष्य—कौण्डिन्यकृत पञ्चार्थभाष्य—भी प्रकाशित हुआ है। यह नितान्त प्रामाणिक, प्राचीन तथा महत्त्वशाली है। माधवाचार्य ने 'राशीकरभाष्य' के नाम से इसीका अनेक बार उल्लेख किया है। राशीकर व्यक्तिगत नाम प्रतीत होता है और कौण्डिन्य गोत्र-नाम। अभी तक पाशुपत-साहित्य का इतना ही अंश उपलब्ध तथा प्रकाशित हो पाया है।

सिद्धान्त

पाशुपत मत की आध्यात्मिक दृष्टि द्वैतवाद की है। जीव वस्तुतः शिवरूप ही है, परन्तु वह अनेक पाशों में जकड़ा हुआ अपनेको उसी भाँति पराधीन तथा निःसहाय पाता है जिस प्रकार सींकड़ों में बँधा हुआ पशु। इसी समता के बल पर वह 'पशु'-पदवाच्य होता है। शिवरूप होकर भी जीव माया के बन्धनों के कारण इतना संसारी बन गया है कि वह अपने को शिव से पृथक् समझने लगता है। योग तथा विधि के अनुष्ठान से वह शिवरूपता को प्राप्त कर लेता है, पर शिव के साथ तादात्म्य नहीं प्राप्त कर सकता; मुक्तावस्था की उन्नत दशाओं में भी जीव तथा शिव में किञ्चिन्मात्र अन्तर बना ही रहता है। 'शैवसिद्धान्त' के अनुयायी भी द्वैतवादी ही हैं, परन्तु इन दोनों मतों के सिद्धान्तों में गहरा मतभेद है।[1]

पाशुपतों के अनुसार पाँच ही पदार्थ होते हैं जिनका ज्ञान शिवत्व प्राप्ति का द्वार माना जाता है। इन पदार्थों के नाम हैं (१) कारण, (२) कार्य, (३) योग, (४) विधि, और (५) दुःखान्त। इनमें 'कारण' से साक्षात् पशुपति शिव का बोध होता है। वह निरतिशय ऐश्वर्य-सम्पन्न होता है। वह इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का कारण होता है तथा क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति का आश्रय होता है। व्याकरण शास्त्र भी शैवागम के ही अन्तर्भुक्त स्वीकृत किया गया है। अतः महर्षि पाणिनि-रचित कर्तृत्व की परिभाषा 'स्वतन्त्रः कर्ता' शैवतन्त्रों को भी उतनी ही माननीय है। स्वतन्त्रता कर्तृत्व की प्रधान परिचायिका है। जो पदार्थ किसी भी अन्य वस्तु पर अवलम्बित हुए बिना—स्वनिरपेक्ष भाव से—कार्य-सम्पादन की योग्यता धारण करता है, वही 'कर्ता' है। शिव में निरतिशय स्वातन्त्र्य होने के कारण ही उनमें

---

१. जिज्ञासु पाठक लेखक के 'भारतीय दर्शन' के पृष्ठ ५४५—५८० में इन समस्त तान्त्रिक शैव-सम्प्रदायों का विवेचन देख सकते हैं।

कर्तृत्व की स्थिति है। वे किसी अन्य कारण की सहायता के बिना ही समग्र व्यापार के संचालन में कृतकार्य हैं, इसीलिये उनके वास्ते 'कारण'-पदका प्रयोग किया गया है—

कर्मादिनिरपेक्षस्तु स्वेच्छाचारी यतो ह्ययम् ।
अतः कारणतः शास्त्रे सर्वकारणकारणम् ॥

(२) **कार्य**—कारण के द्वारा निर्मित पदार्थ 'कार्य' कहलाता है। अतः अपनी सत्ता के लिये कारणद्रव्य पर प्रधानतया आश्रित होने के कारण कार्य सदा परतन्त्र रहता है (यदस्वतन्त्रं तत्कार्यम्)। यह तीन प्रकार का होता है—(क) विद्या, (ख) कला, (ग) पशु। विद्या पशु का गुण होता है जो बोध और अबोधभेद से दो तरह का है। बोधात्मिका विद्या विवेक तथा अविवेक-प्रवृत्ति-जनक होने से द्विविधा मानी गई है। विवेकप्रवृत्ति का ही अन्य नाम चित्त है। अबोध पशुओं के अधर्म का उत्पादक है। (ख) चेतन के परतन्त्र होनेवाले स्वयं अचेतन द्रव्य की संज्ञा 'कला' है (चेतनपरतन्त्रत्वे सति अचेतना कला)। यह दो प्रकार की होती है—कार्यरूपाकला, पृथिव्यादिभूतपञ्चक तथा रूपरसादि विषयपञ्चक-संवलित होने से सहज में दशविध है; करणरूपाकला के अन्तर्गत पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय तथा बुद्धि-अहङ्कार-मनरूप अन्तः-करणत्रय की गणना की जाती है। (ग) 'पशु' से तात्पर्य बद्ध जीव से है। कौण्डिन्यभाष्य में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। पाशा नाम कार्यकरणाख्याः कलाः। ताभिः पाशिता बद्धा सन्निरुद्धाः शब्दादिविषयपरवशा भूत्वाऽवतिष्ठन्ते।' अर्थात् कलाओं के द्वारा वशीभूत किए जाने के कारण ही जीव 'पशु'-पदवाच्य होता है। वह पाशुपतों की दृष्टि में दो प्रकार का होता है—साञ्जन और निरञ्जन। शरीरेन्द्रियधारी जीव 'साञ्जन' और उससे विरहित जीव 'निरञ्जन' कहलाता है।

(३) **योग**—चित्त के द्वारा आत्मा और ईश्वर के संयोग को 'योग' कहते हैं (चित्तद्वारेण आत्मेश्वरसंयोगो योगः)। यह भी दो प्रकार का होता है—क्रियालक्षण तथा क्रियोपरमलक्षण। जप्य देवता की ध्यान-धारणा करना क्रियात्मक योग है। संविद्‌गत्यादि-संज्ञक योग की गणना दूसरे प्रकार में है। वायुपुराण के अनेक अध्यायों में (११-१६ अ०) पाशुपत योग के स्वरूप, भेद, अन्तराय तथा सिद्धियों का विशद-विस्तृत वर्णन मिलता है। जिज्ञासु पाठक उसे वहीं देखें।

(४) **विधि**—योग यदि मानस आचार का द्योतक है, तो विधि बाह्य आचार का। इसका बड़ा विस्तार है जिसके अनुशीलन से पाशुपत मत के वैशिष्ट्य का पता चलता है। कुछ विधियाँ प्रधान और कुछ गौण होती हैं। प्रधान विधि व्रत तथा द्वार-भेद से दो प्रकार की होती है। पाशुपतों के प्रधान व्रतों में भस्मस्नान, भस्मशयन, उपहार (नियम), जप तथा प्रदक्षिणा की गणना है। उपहार के छः भेद पाशुपतसूत्रों में निर्दिष्ट किए गए हैं :—(१)

हसित (अट्टहास करना), (२) गीत (शैवपदों का नियमानुकूल गायन) (३) नृत्य या नाट्य (नाट्यशास्त्रानुकूल नाचना) (४) हुडुक्कार—जीभ तथा तालु के संयोग से बैल के समान 'हुड्' 'हुंड्' शब्द करना (५) नमस्कार, (६) जप्य। 'द्वार' के अनेक भेद बतलाए जाते हैं :—(१) क्राथन—न सोए हुए पुरुष का सुप्त पुरुष की भाँति चेष्टा करना, (२) स्पन्दन—लकवा से अभिभूत के समान अंगों का कम्पन, (३) मन्दन—लँगड़े के भाँति लँगड़ाते हुए चलना, (४) शृङ्गारण—रूपयौवनसम्पन्ना सुन्दरी के सामने कामीजन के समान शृंगारिक चेष्टाओं का प्रदर्शन, (५) अवित्करण—लोकविनिन्दित कार्यों का सम्पादन (६) अविद्भाषण—ऊटपटाँग, अनर्गल बातों का कहना। गौणविधि में उच्छिष्टभक्षण आदि अनेक वस्तुओं का ग्रहण होता है। इन विधिओं का सम्पादन करना पाशुपतों के लिये नितान्त आवश्यक है। प्राचीन ग्रन्थों में 'पाशुपत-व्रत' शब्द के द्वारा इन्हीं विशिष्ट अनुष्ठानों की ओर संकेत किया गया है।

(५) **दुःखान्त**—जिसे अन्य दर्शनों में सामान्यतः 'मोक्ष' कहते हैं। यह दो प्रकार का है—अनात्मक तथा सात्मक। त्रिविध दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्ति को अनात्मक (निषेधमूलक) दुःखान्त कहते हैं, परन्तु परमैश्वर्य की उपलब्धि 'सात्मक' कही जाती है। तान्त्रिकी मुक्ति की कल्पना भावात्मक है, अभावरूप नहीं। त्रिविध ताप के निवृत्त होने पर भी अन्य दर्शनों द्वारा अभिमत मोक्ष किसी भाव पदार्थ की प्राप्ति नहीं कराता ; अतः वह उपादेय नहीं हो सकता। परन्तु तन्त्र-शास्त्र में मुक्ति लाभ करते ही ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति का उदय स्वतःसिद्ध हो जाता है। ज्ञान के आविर्भाव से मुक्त पुरुष सूक्ष्म, विप्रकृष्ट तथा व्यवहित पदार्थों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेता है (दर्शन), अशेष शब्दों को सुन सकता है (श्रवण), समस्त वस्तुओं के चिन्तन में सिद्धि लाभ करता है (मनन), समस्त शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करता है (विज्ञान), अतीत तथा अनागत समग्र पदार्थों का सर्वदा तथा सर्वथा ज्ञान प्राप्त कर लेता है (सर्वज्ञत्व)। तन्त्र क्रिया तथा ज्ञान का सामञ्जस्य मानता है। अतः ज्ञान के साथ ही साथ क्रिया-शक्ति का भी आविर्भाव एक ही समय निष्पन्न हो जाता है जिससे पुरुष किसी भी कार्य को निरतिशय वेग से सिद्ध कर लेता है (मनोजवित्व), कर्म के बिना स्वेच्छया विलक्षण कार्यों का संपादन करता है (कामरूपित्व) तथा शरीरेन्द्रियहीन होने पर भी निरतिशय ऐश्वर्य से वह संसद्ध बन जाता है (विकरणधर्मित्व)। इतनी योग्यता की प्राप्ति तन्त्र की दृष्टि में मुक्ति की सहचारिणी होती है। जीव जब शिवरूप बन जाता है, तब भला उसकी इच्छा का विघात कभी हो सकता है ? कहना न होगा कि इन विविध आचारों की सार्थकता भक्ति की कल्पना पर निर्भर होती है। भक्ति-भाव से आप्यायित भक्त योग तथा विधि का अनुष्ठान कर उस परमैश्वर्यपद को पा सकता है। पाशुपत-तन्त्र की यह शिक्षा कितनी महनीय तथा माननीय है !

गान

ये तोरे पागल बले,
तारे तुइ बलिसने किछु ।
आजके तोरे केमन भेबे,
अङ्गे जे तोर धूला देबे,
काल से प्राते माला हाते,
आसबे रे तोर पिछु पिछु ॥
आजके आपन मानेर भरे,
थाक् से बसे गदिर 'परे,
कालके प्रेमे आसबे नेमे,
करबे से तार माथा निचु ॥

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

छाया

जो तुझे पागल कहे,
उससे तू कुछ मत कह ।
आज जो तुझे कैसा-कुछ समझकर
तुझ पर धूल उड़ता है,
वही कल प्रातःकाल हाथ में माला लिए
तेरे पीछे-पीछे फिरेगा ।
आज चाहे वह मान करके
गद्दी पर बैठा रहे,
(किन्तु) कल प्रेम से नीचे उतरकर
वह अपना शीश नवाएगा ।

शिक्षा का उद्देश्य

सम्पूर्णानन्द

अध्यापक और समाज के सामने सबसे बड़ा प्रश्न है : शिक्षा किसलिये दी जाय ? शिक्षा का जैसा उद्देश्य होगा, तदनुसार ही पाठ्य-विषयों का चुनाव होगा। पर शिक्षा का उद्देश्य स्वतंत्र नहीं है। वह इस बात पर निर्भर है कि मनुष्य-जीवन का उद्देश्य—मनुष्य का सबसे बड़ा पुरुषार्थ—क्या है। मनुष्य को उस पुरुषार्थ की सिद्धि के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है।

पुरुषार्थ दार्शनिक विषय है पर दर्शन का जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह थोड़े-से विद्यार्थियों का पाठ्य-विषय मात्र नहीं है। प्रत्येक समाज को एक दार्शनिक मत स्वीकार करना होगा। उसीके आधार पर उसकी राजनीतिक, सामाजिक और कौटुम्बिक व्यवस्था का व्यूह खड़ा होगा। जो समाज अपने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन को केवल प्रतीयमान उपयोगिता के आधार पर चलाना चाहेगा उसको बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। एक विभाग के आदर्श दूसरे विभाग के आदर्श से टकराएँगे। जो बात एक क्षेत्र में ठीक जँचेगी वही दूसरे क्षेत्र में अनुचित कहलाएगी और मनुष्य के लिये अपना कर्तव्य स्थिर करना कठिन हो जाएगा। इसका तमाशा आज दीख पड़ा रहा है। चोरी करना बुरा है पर पराये देश का शोषण करना बुरा नहीं है। झूठ बोलना बुरा है पर राजनीतिक क्षेत्र में सच बोलने पर अड़े रहना मूर्खता है। घरवालों के साथ, देशवासियों के साथ और परदेशियों के साथ बर्ताव करने के लिये अलग अलग आचारावलियाँ बन गई हैं। इससे विवेकशील मनुष्य को कष्ट होता है, वह पग-पग पर धर्मसङ्कट में पड़ जाता है कि क्या करूँ। कल्याण इसीमें है कि खूब सोच-विचारकर एक व्यापक दार्शनिक मत अङ्गीकार किया जाय और फिर उसे सारे व्यवहार की नीवँ बनाया जाय। यह असम्भव प्रयत्न नहीं है। प्राचीन भारत ने वर्णाश्रम-धर्म इसी प्रकार स्थापित किया था। वर्तमानकाल में इसने मार्क्सवाद को अपने राष्ट्रीय जीवन की सभी चेष्टाओं का केन्द्र बनाया है। ऐसा करने से सभी उद्योग एक-सूत्र में बँध जाते हैं और आदर्शों और कर्त्तव्यों के टकराने की सम्भावना बहुत ही कम हो जाती है।

इस निबन्ध में दार्शनिक शास्त्रार्थ के लिये स्थान नहीं है। मैं यहाँ इतना ही कह सकता हूँ कि मेरी समझ में भारतीय संस्कृति ने पुराकाल में अपने लिये जो आधार ढूँढ़ निकाला था, वह अब भी वैसा ही श्रेयस्कर है, क्योंकि उसका संश्रय शाश्वत है।

आत्मा अजर और अमर है। उसमें अनन्त ज्ञान, शक्ति और आनन्द का भण्डार है। अकेले ज्ञान कहना भी पर्याप्त हो सकता है, क्योंकि जहाँ ज्ञान होता है वहीं शक्ति होती है, और जहाँ ज्ञान और शक्ति होते हैं वहीं आनन्द भी होता है। परन्तु अविद्यावशात् वह अपने स्वरूप को भूला हुआ है। इसीसे अपनेको अल्पज्ञ पाता है। अल्पज्ञता के साथ अल्पशक्तिमत्ता आती है और इनका परिणाम दुःख होता है। भीतर से ऐसा प्रतीत होता है जैसे कुछ खोया हुआ है परन्तु यह नहीं समझ में आता कि क्या खो गया है। उस खोई हुई वस्तु, अपने स्वरूप की निरन्तर खोज रहती है। आत्मा अनजान में भटका करता है; कभी इस विषय की ओर दौड़ता है कभी उसकी ओर, परन्तु किसीकी प्राप्ति से तृप्ति नहीं होती, क्योंकि अपना स्वरूप इन विषयों में नहीं है। जब तक आत्मसाक्षात्कार न होगा, तब तक अपूर्णता की अनुभूति बनी रहेगी और आनन्द की खोज भी जारी रहेगी। इस खोज में सफलता, आनन्द की प्राप्ति, अपने परम ज्ञानमय स्वरूप में स्थिति—यही मनुष्य का पुरुषार्थ, उसके जीवन का चरम लक्ष्य है, और उसको इस पुरुषार्थ-साधन के योग्य बनाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। वही राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था सबसे अच्छी है जिसमें पुरुषार्थ-सिद्धि में सहायता मिल सके; कम-से-कम बाधाएँ तो न्यूनतम हों।

आत्मसाक्षात्कार का मुख्य साधन योगाभ्यास है। योगाभ्यास सिखाने का प्रबन्ध राज नहीं कर सकता, न पाठशाला का अध्यापक ही इसका दायित्व ले सकता है। जो इस विद्या का खोजी होगा वह अपने लिये गुरु ढूँढ़ लेगा। परन्तु इतना किया जा सकता है—और यही समाज और अध्यापक का कर्तव्य है—कि व्यक्ति के अधिकारी बनने में सहायता दी जाय, अनुकूल वातावरण उत्पन्न किया जाय।

यहाँ पाठ्य-विषयों की चर्चा करना अनावश्यक है; वह ब्योरे की बात है। परन्तु चरित्र का विकास ब्योरे की बात नहीं है। उसका महत्त्व सर्वोपरि है। चरित्र शब्द का भी व्यापक अर्थ लेना होगा। पुरुषार्थ को सामने रखकर ही चरित्र सँवारा जा सकता है। प्रत्येक छात्र की आत्मा अपने को ढूँढ़ रही है पर उसे इसका पता नहीं है। अज्ञानवशात् वह उस आनन्द को, जो उसका अपना स्वरूप है, बाहरी चीज़ों में ढूँढ़ती है। जब कोई अभिलषित वस्तु मिल जाती है तो थोड़ी देर के लिये सुख का अनुभव होता है परन्तु थोड़ी ही देर के बाद चित्त किसी और वस्तु की ओर जा दौड़ता है, क्योंकि जिसकी खोज है वह कहीं मिलता नहीं। सब इसी खोज में हैं। ऐसी दशा में आपस में संघर्ष होना स्वाभाविक है। यदि दस आदमी अँधेरी कोठरी में टटोलते फिरेंगे तो बिना टकराए रह नहीं सकते। एक ही वस्तु की अभिलाषा जब दो या अधिक मनुष्य करेंगे तो उनमें अवश्य ही मुठभेड़ होगी। चीज़ का उपभोग तो

कोई एक ही कर सकेगा। इस प्रकार ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध बढ़ते रहते हैं। ज्ञान और शक्ति की कमी से सफलता कम ही मिलती है। इससे अपने ऊपर ग्लानि होती है, दृश्यमान सुखों के नीचे एक मूक वेदना टीसती रहती है।

यह अध्यापक का काम है कि वह अपने छात्र में चित्त एकाग्र करने का अभ्यास डाले। एकाग्रता ही आत्म-साक्षात्कार की कुंजी है। एकाग्रता का उपाय यह है कि छात्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का भाव उत्पन्न किया जाय और उसे निष्काम कर्म में प्रवृत्त किया जाय। दूसरे के सुख को देखकर सुखी होना मैत्री, और दुःख को देखकर दुखी होना करुणा है। किसीको अच्छा काम करते देखकर प्रसन्न होना और उसका प्रोत्साहन करना मुदिता और दुष्कर्म का विरोध करते हुए अनिष्टकारी से शत्रुता न करना उपेक्षा है। ज्यों ज्यों यह भाव जागते हैं त्यों त्यों ईर्ष्या-द्वेष की कमी होती है। निष्काम कर्म भी राग-द्वेष को नष्ट करता है। ये बातें हँसी-खेल नहीं हैं परन्तु चित्त को उधर फेरना तो होगा ही, सफलता चाहे बहुत धीरे ही प्राप्त हो। इस प्रकार का प्रयास भी मनुष्य को ऊपर उठाता है।

निष्कामिता की कुंजी यह है कि अपना ख्याल कम और दूसरों का अधिक किया जाय। आरम्भ से ही परार्थसाधन, लोकसंग्रह और जीव-सेवा के भाव उत्पन्न किए जाएँ। जब कभी मनुष्य से थोड़ी देर के लिये सच्ची सेवा बन पड़ती है तो उसे बड़ा आनन्द मिलता है। भूखे को अन्न देते समय, जलते या डूबते को बचाते समय, रोगी की शुश्रुषा करते समय कुछ देर के लिये उसके साथ तन्ययता हो जाती है, मैं-पर का भाव तिरोहित हो जाता है। उस समय अपने 'स्व' की एक झलक मिल जाती है। मैं-तू के कृत्रिम भेदों के परे जो अपना सर्वात्मक, शुद्ध स्वरूप है, उसका साक्षात्कार हो जाता है। जो जितने ही बड़े क्षेत्र के साथ तन्मयता प्राप्त कर सकेगा, उसको आनन्द और स्वरूप-दर्शन की उतनी ही उपलब्धि होगी। हमारी सुविधा और चरित्र-निर्माण के लिये यह तो नहीं हो सकता कि लोग आए-दिन डूबा और जला करें या भूखप्यास से तड़पा करें, परन्तु सेवा के अवसरों की कमी भी कभी नहीं होती। सेवा करने में भाव यह न होना चाहिए कि मैं इसका उपकार कर रहा हूँ, वरन् यह कि इसकी बड़ी कृपा है जो मेरी तुच्छ सेवा स्वीकार कर रहा है। यह भी याद रहे कि सेवा केवल मनुष्य की नहीं, जीव-मात्र की करनी है। पशु-पक्षी-कीट-पतंग के भी स्वत्व होते हैं; उनका भी आदर करना है।

चित्त को क्षुद्र वासनाओं से विरत करने का एक बहुत बड़ा साधन कला है। काव्य, चित्र, सङ्गीत आदि का जिस समय रस मिला करता है उस समय भी शरीर और इन्द्रियों के बन्धन ढीले पड़ गए होते हैं और चित्त आध्यात्मिक जगत् में खिंच जाता है। यही बात प्रकृति के निरीक्षण से भी होती है। प्रकृति का उपयोग निकृष्ट कोटि के काव्य में कामोद्दीपन के लिये किया जाता है

परन्तु वह शान्त-रस का भी उद्दीपन करती है। अध्यापक का कर्तव्य है कि छात्र में सौन्दर्य के प्रति प्रेम उत्पन्न करे। यह स्मरण रखना चाहिए कि सौन्दर्य-प्रेम भी निष्काम होता है। जहाँ तक यह भाव रहता है कि मैं इसका अमुक प्रकार से उपयोग करूँ, वहाँ तक उसके सौन्दर्य की अनुभूति नहीं होती। सौन्दर्य के प्रत्यक्ष का स्वरूप तो यह है कि द्रष्टा अपने को भूलकर तन्मय हो जाय।

कहने का तात्पर्य यह है कि छात्र के चरित्र को इस प्रकार विकास देना है कि वह मैं-तू के ऊपर उठ सके। जहाँ तक उपयोग का भाव रहेगा, वहाँ तक स्वाम्य की आकांक्षा होगी : यह वस्तु मेरी होकर रहे। इसीमें संघर्ष और कलह होता है। परन्तु सेवा और सुकृत में संघर्ष नहीं हो सकता। हम, तुम, सौ आदमी सच बोलें, धर्माचरण करें, उपासना करें, लोगों के दुःख निवारण करें, इसमें कोई झगड़ा नहीं है ; परन्तु इस वस्तु को मैं लूँ या तुम, यह झगड़े का विषय हो सकता है, क्योंकि एक वस्तु का उपयोग एक समय में प्रायः एक ही मनुष्य कर सकता है। गाना हो रहा हो, आकाश में तारे खिले हों, फूलों की सुवास से लदी समीर बह रही हो, इनके सुख को युगपत् हज़ारों व्यक्ति ले सकते हैं। काव्य-पाठ से मुझको जो आनन्द होता है वह आपके आनन्द को कम नहीं करता। इसीलिये प्राचीन आचार्यों ने धर्म की दीक्षा दी थी। आज भी अध्यापक को, चाहे उसका विषय गणित हो या भूगोल, इतिहास हो या तर्क-शास्त्र, अपने शिष्यों में धर्म की प्रवृत्ति उत्पन्न करनी चाहिए। धर्म का तात्पर्य पूजा-पाठ नहीं है। धर्म उन सब कामों की समष्टि का नाम है जो कल्याणकारी हैं। अपना कल्याण समाज के कल्याण से पृथक् नहीं हो सकता। मनुष्य के बहुत-से ऐसे गुण हैं जिनका विकास समाज में रहकर ही होता है और बहुत-से ऐसे भोग और सुख हैं जो समाज में ही प्राप्त हो सकते हैं। इसलिये समाज को ध्यान में रखकर ही धर्म का आदेश होता है। परन्तु हमारे समाज में केवल मनुष्य नहीं हैं। हम जिस समाज के अङ्ग हैं उसमें देव भी हैं, पशु भी हैं, मनुष्य भी हैं। इन सबका हमपर प्रभाव पड़ता है, सबका हमारे ऊपर ऋण है, इसलिये सबके प्रति हमारा कर्तव्य है। हमको इस प्रकार रहना है कि हमारे पूर्वज संस्कृति का जो प्रकाश हमारे लिये छोड़ गए हैं, उसका लोप न होने पाए—हमारे पीछे आनेवालों तक वह पहुँच जाए। इसलिये हमारे कर्तव्यों की डोर पितरों से लेकर वंशजों तक पहुँचती है। इसी विस्तृत कर्तव्यराशि को धर्म कहते हैं। आज सब अपने-अपने अधिकारों के लिये लड़ते हैं। इस झगड़े का अन्त नहीं हो सकता। यदि धर्म-बुद्धि जगाई जाय और सब अपने-अपने कर्तव्यों में तत्पर हो जाएँ तो विवाद की जड़ ही कट जाय और सबको अपने उचित अधिकार स्वतः प्राप्त हो जाएँ। और लोग हमारे साथ कैसा व्यवहार करते हैं—इसकी

और कम, और हम खुद औरों के साथ कैसा आचरण करें—इसकी ओर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

परन्तु इस बुद्धि की जड़ तभी दृढ़ हो सकती है जब चित्त में सत्य के लिये निर्बाध प्रेम हो। सभी शास्त्र इस प्रेम को उत्पन्न कर सकते हैं पर शर्त यह है कि ज्ञान औषध की घूँट की भाँति ऊपर से न पिला दिया गया हो। सत्य को धारण करने के लिये अनुसन्धान और आलोचना की बुद्धि का उद्बोधन होना चाहिए। यह बुद्धि निर्भयता के वातावरण में ही पनप सकती है। अध्यापक को यथाशक्य यह वातावरण उत्पन्न करना है।

इससे यह स्पष्ट हो गया होगा कि अध्यापक को अपने छात्र में कैसा चरित्र विकसित करने का प्रयत्न करना चाहिए। अच्छे उपाध्याय के निकट पढ़ा हुआ स्नातक सत्य का प्रेमी और खोजी होगा। उसके चित्त में जिज्ञासा—ज्ञान का आदर—होगा और हृदय में नम्रता, अनसूया, प्राणिमात्र के लिये सौहार्द। वह तपस्वी, संयमी और परिश्रमी होगा, सौन्दर्य्य का उपासक होगा और हर प्रकार के अन्याय, अत्याचार और कदाचार का निर्मम विरोधी होगा। धर्म और त्याग उसके जीवन की प्रबल प्रेरक शक्तियाँ होंगी। उसका सदैव यह प्रयत्न होगा कि यह पृथिवी अधिक सभ्य और संस्कृत हो, समाज अधिक उन्नत हो। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सब संन्यासी होंगे। गृहस्थ पर धर्म का भार संन्यासी से कम नहीं होता। व्यापार, शासन, कुटुंब के क्षेत्रों में भी धर्म का स्थान है। यह भी दावा नहीं किया जा सकता कि इन लोगों में राग-द्वेष का नितान्त अभाव हो जायगा, कोई दुराचारी होगा ही नहीं। अध्यापक और समाज प्रयत्न-मात्र कर सकते हैं। इस प्रयत्न का इतना परिणाम तो निःसन्देह होगा कि बहुत-से लोग ठीक राह पर लग जाएँगे और अपने पुरुषार्थ को पहचानने लगेंगे। पथभ्रष्ट भी होंगे, गिरेंगे भी, पर अपनी भूलों पर आप ही पश्चात्ताप करेंगे और इन ग़लतियों को सीढ़ी बनाकर आत्मोन्नति करेंगे। भूल करना बुरा नहीं है, भूल को भूल न समझना ही बड़ा दुर्भाग्य है।

यह मानी हुई बात है कि अकेला अध्यापक ऐसा मनोभाव नहीं उत्पन्न कर सकता। उसको सफलता तभी मिल सकती है जब समाज उसकी सहायता करे। जिस प्रदेश में कलह मचा रहता हो, जिस समाज में ग़रीब-अमीर, ऊँच-नीच की विषमता पुकार-पुकारकर द्वन्द्व और प्रतियोगिता को प्रोत्साहन दे रही हो, जिस राष्ट्र की नीति परस्वत्वापहरण और शोषण पर खड़ी हो, उसमें अध्यापक अकेला भला क्या करे? जिन घरों में दाल-रोटी का ठिकाना न हो, पिता मद्यप और माता स्वैरिणी हो, बाप-माँ में मार-पीट गाली-गलौज मची रहती हो, उनके बच्चों को तो पालने में ही मानस-विष दे दिया जाता है। तंग गलियों और गंदे घरों के

रहनेवाले, जो छोटे वय से अश्लीलता और अभद्रता में ही पले हैं, सौन्दर्य को जल्दी नहीं समझ पाते। ऐसी दशा में अध्यापक को दोष देना अन्याय है। फिर भी अध्यापक परिस्थितियों को दोष देकर बैठा नहीं रह सकता। उसको तो अपना कर्तव्य-पालन करना ही है, सफलता कम हो या अधिक।

साधारणतः शिक्षक योगी नहीं होता पर उसका भाव वही होना चाहिए जो किसी योगी का अपने शिष्य के प्रति होता है: "अनेक शरीरों में भ्रमते हुए आज इसने नर-देह पाई है और मेरे पास छात्र-रूप में आया है। यदि मैं इसको ठीक मार्ग पर लगा सका, इसके चरित्र के यथोचित विकास प्राप्त करने में संबल जुगा सका, तो समाज का भला होगा और इसका न केवल ऐहिक, वरन् आमुष्मिक कल्याण होगा। यदि इसे आगे शरीर धारण भी करना पड़ा तो वे जन्म इस जन्म से ऊँचे होंगे। इस समय यह बात-बात में परिस्थितियों से अभिभूत हो जाता है। इसकी स्वतंत्र आत्मा प्रतिक्षण अपने बन्धनों को तोड़ना चाहती है पर ऐसा कर नहीं पाती। यदि इसकी बुद्धि को शुद्ध किया जाय और क्षुद्र वासनाओं से ऊपर उठाया जाय, तो आत्मा परिस्थितियों पर विजय पाने में समर्थ होने लगेगी और इसको अपने अनन्त ज्ञान-शक्ति-आनन्दमय स्वरूप का आभास मिलने लगेगा। इस प्रकार यह अपने परम पुरुषार्थ को सिद्ध करने का अधिकारी बन सकेगा"—इस भावना से जो अध्यापक प्रेरित होगा वह अपने शिष्य के कामों को उसी दृष्टि से देखेगा जिससे बड़ा भाई अपने घुटनों के बल चलनेवाले छोटे भाई की चेष्टाओं को देखता है। उसकी भूलों को तो ठीक करना ही होगा, परन्तु सहानुभूति और प्रेम के साथ।

यह आदर्श बहुत ऊँचा है, पर अध्यापक का पद भी तो कम ऊँचा नहीं है। जो वेतन का लोलुप है और वेतन की मात्रा के अनुसार ही काम करना चाहता है उसके लिये इसमें जगह नहीं है। अध्यापक का जो कर्तव्य है उसका मूल्य रुपयों में नहीं आँका जा सकता। किसी समय जो शिक्षक होता था वही धर्म-गुरु और पुरोहित भी होता था और जो बड़ा विद्वान् और तपस्वी होता था वही इस भार को उठाया करता था। शिष्य को ब्रह्मविद्या का पात्र और यजमान को दिव्य लोकों का अधिकारी बनाना सबका काम नहीं है। आज न वे धर्म गुरु रहे, न वे पुरोहित। पर क्या हम शिक्षक भी इसीलिये कर्तव्यच्युत हो जाएँ? हमको तो अपने सामने वही आदर्श रखना चाहिए और अपने को उस दायित्व का बोझ उठाने के योग्य बनाने का निरन्तर अथक प्रयत्न करना चाहिए।

सापेक्षतावाद

(शेषांश)

राहुल सांकृत्यायन

आइन्स्टाइन् ने अपनी सीमित-सापेक्षता में बतलाया है कि काल और देश की जो धारणा अभी तक बनी है, उसमें उसी तरह एक बार ज़बर्दस्त परिवर्तन की ज़रूरत है, जैसा कि गेलिलेयो और न्यूटन की कृतियों ने दो-तीन सदियों पूर्व किया था। सापेक्षतावाद काल से इन्कार नहीं करता, यदि ऐसा करता, तो घटनाओं के आगे-पीछे के क्रम को उलटने या एक समय में रख सकने का दावा करना पड़ता। वह इन्कार करता है काल की परमार्थ-सत्ता से। मान लीजिए, एक-दूसरे से लाखों प्रकाश-वर्ष की दूरी पर दो चक्करदार नीहारिकाओं क, ख में विस्फोट हुए, और वहाँ दो नये तारे उत्पन्न हुए। इन नीहारिकाओं में उपस्थित दर्शकों के लिये अपने यहाँ की घटना तुरंत-हुई मालूम होगी। किन्तु दोनों के बीच लाखों प्रकाश-वर्ष की दूरी होने से क का दर्शक ख की घटना को एक लाख वर्ष बाद घटित हुई कहेगा, जबकि दूसरा दर्शक अपनी घटना को तुरन्त और क की घटना को एक लाख वर्ष बाद घटित होनेवाली बतलाएगा। इस प्रकार विस्फोट का परमार्थ-काल नहीं, सापेक्ष-काल ही बतलाया जा सकता है। सापेक्षता का कहना है कि ऐसे झगड़े का निबटारा किसी परमार्थ सत्य को दिखलाकर नहीं किया जा सकता, क्योंकि घटना के वाहक प्रकाश से अधिक तेज़ हमें कोई नहीं मिल सकता ; और प्रकाश हमें सापेक्ष-काल की ही सूचना देता है। परमार्थ को न पाने से व्यवहार में कोई क्षति नहीं, क्योंकि व्यवहार सापेक्ष घटना को ही अपने लिये पर्याप्त समझता है। वस्तुतः सापेक्षतावाद का एक बड़ा उद्देश्य यह भी है कि 'वाद' (सिद्धान्त) को प्रयोग या व्यवहार के साथ मिलाया जाए। भारत और अमेरिका में रहनेवाले दर्शक रेखागणित के अचल-देश और न्यूटन तथा हमारे कितने ही दार्शनिकों के परमार्थ-काल में देखकर किसी घटना के एक समय (एक क्षण) में होने के बारे में एक-मत नहीं हो सकते। दोनोंमें किसीके पक्ष में निर्णय नहीं दिया जा सकता, क्योंकि निर्णय के लिये परमार्थ स्थिरता (निश्चल मान) विश्व में न है, न सिद्ध की जा सकती है। एक-कालीनता और स्थिरता दोनों ही परमार्थ रूप में लेने पर सिद्ध होनेवाली वस्तुएँ नहीं हैं। वे दर्शन, अध्यात्मशास्त्र की कोरी दलीलबाज़ी या आत्मवंचना का विषय भले ही हो सकती हैं, किन्तु वैज्ञानिक गवेषणा का उनसे कोई संबंध

नहीं। कारण, प्राकृतिक वस्तुओं के परे, मन की कल्पना-द्वारा निर्मित, देश-काल की ऐसी सत्ता का, जिसकी कि अपने भीतर घटनेवाली घटनाओं के अतिरिक्त भी अपनी विशेषता हो, कोई सुबूत नहीं मिलता।

यहाँ देश-काल की सापेक्ष-सत्ता से इन्कार नहीं है। जैसा कि आइन्स्टाइन् के सिद्धान्त के प्रकाशित होने से एक या दो वर्ष पहिले लेनिन ने लिखा था—"देश और काल के संबंध में मनुष्य के विचार सापेक्ष हैं, किन्तु सापेक्ष विचारों के आधार पर हम परम सत्य तक पहुँच सकते हैं। उनके संबंध के ये सापेक्ष विचार उनके विकाश में परम सत्य की दिशा की ओर अग्रसर हो रहे हैं, और लगातार उसके अधिक नज़दीक होते जा रहे हैं। देश-काल-संबंधी मानव-विचार बदल रहे हैं, इससे उनकी सत्ता का प्रतिषेध उसी तरह नहीं होता, जिस तरह कि गति-शील भौतिक तत्त्वों के ढांचे और आकार-संबंधी वैज्ञानिक ज्ञान में परिवर्तन होने से बाह्य जगत् के वस्तु-सत् होने का प्रतिषेध नहीं होता।" परम या परमार्थ-सत्य धर्मकीर्ति के शब्दों में वह है जो 'अर्थ क्रिया में समर्थ है'—'अर्थ क्रिया समर्थं यत् तदत्र परमार्थं सत्'—प्रमाणवार्तिक, ३।३।

पहलेके वैज्ञानिक ताराओं को स्थिर समझकर देश (दिशा) की सत्ता को परमार्थरूपेण ले सकते थे। ताराओं के ढांचे में पृथिवी के कक्षा-भ्रमण का अपना एक खास देश बतलाया जाता है; किन्तु हम जानते हैं कि ऐसा कोई खास निश्चित देश नहीं है। ताराओं का वह "स्थिर ढांचा" खुद घूम रहा है। हम और हर्कुल तारा-मंडल एक-दूसरे की ओर बड़ी तेज़ी से दौड़ रहे हैं, यह बात वेध से सिद्ध है, लेकिन 'परमार्थ'-देश की अपेक्षा से किसी आकाशीय पिंड का वेध कभी नहीं मिला। ऐसी कोई नापी हुई गति मौजूद नहीं, जिसे हम मोटे तौर पर भी कह सकें कि वह देश में पृथिवी की परमार्थ-गति है। सापेक्षता बतलाती है कि कोई वस्तु या घटना जो वेध से सिद्ध नहीं है, वह है ही नहीं। वाद या सिद्धान्त से प्रयोग को अधिक प्रमाणिक मानना सापेक्षता की एक खास विशेषता है। 'परमार्थ'-देश या 'परमार्थ' एक-कालीनता, जिनको वेध-द्वारा, प्रयोग-द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता, सिर्फ श्रद्धावश ही मानी जा सकती हैं।

उन्नीसवीं सदी के भौतिकशास्त्री जिस ईथर को अपनी सारी समस्याओं का हल समझते थे, वह यही 'परमार्थ'-देश (दिशा या आकाश) था, जो कि किसी भी प्रयोग से सिद्ध नहीं होता था। न करोड़ों वर्षों की यात्रा करके आनेवाली द्रुतगामिनी प्रकाश-किरणों पर उसका कोई प्रभाव था, और न उसमें 'तैरते' कहे जानेवाले आकाशीय पिंड हज़ारों मील प्रति घंटे की चाल से चलते हुए भी उससे प्रभावित होते थे। आगे मालूम होगा कि स्थूल-सूक्ष्म सारा जगत् विद्युत्-चुम्बकीय तत्त्व है। वह चाहे ग्रह या तारा के रूप में हो, चाहे प्रकाश-किरण के रूप में,

उसका अपना सापेक्ष-आकाश है। वह आकाश उस तत्त्व से अलग नहीं है बल्कि उसका अभिन्न अंग है। भौतिक तत्त्वों के संकोच-विकाश से उसकी सत्ता का पता लगता है।

देश-काल एक

सापेक्षता ने देश-काल की परमार्थ-सत्ता को अस्वीकार किया, क्योंकि वह वेध से अप्रमाणित एक काल्पनिक वस्तु थी। किन्तु साथ ही उसने देश-काल को प्रकृति (भौतिकतत्त्व) का एक अभिन्न धर्म मान लिया और बतलाया कि देश और काल के बिना भौतिक पदार्थ की कल्पना ही नहीं हो सकती। भौतिक पदार्थों के लम्बाई-चौड़ाई-मुटाई ऐसे तीन देशीय परिमाण माने जाते थे, सापेक्षता ने उन्हें चौथा परिमाण काल का दिया। इस प्रकार प्रकृति अपने रूप में चार परिमाण सदा रखती है। गतिमान् वस्तु के लिये ये चार परिमाण अनिवार्य हैं। इसको समझने के लिये एक उदाहरण लें :—पंजाब-एक्सप्रेस १-४७ बजे बनारस छावनी छोड़ता है, और ४३९ मील की यात्रा करके १९-४ बजे हावड़ा पहुँचता है। हम आड़ी-खड़ी रेखाओं से देश-काल के परिमाण प्रकट कर सकते हैं। आड़ी रेखा बनारस-हावड़ा के ४३९ मील-व्यापी अंतर को सूचित करेगी और उसके सिरे पर खड़ी हुई लंब-रूप रेखा १-४७ से लेकर १९-४ बजे तक के वक्त के फ़ासले को। इनके बीच कर्ण के रूप में एक और रेखा के द्वारा हम रेलगाड़ी की यात्रा की कल्पना कर सकते हैं। इस रेखा पर 'स' वह स्थान होगा जहाँ ट्रेन ८-४ बजे पहुँचती है और जो १८१ वें मील के ऊपर है। आसन्सोल ३०८ वें मील पर है। उसके नज़दीक कोई 'प' स्थान भी हो सकता है, मगर उसे हम कर्ण पर जगह नहीं दे सकते, क्योंकि उसके अनुसार ६-५२ बजे तो गाड़ी आसन्सोल नहीं पहुँचती। हमारा यह चित्र बनारस-हावड़ा के मध्यवर्ती समस्त स्थानों और गुज़रने वाले सारे वक्त को प्रकट करेगा। जिस तरह हम देश और काल के परिमाणों को अंकित कर सकते हैं, उसी तरह अपने मन में तीन देशीय और एक कालिक परिमाण को मिश्रित करके एक चित्र बना सकते हैं। सापेक्षतावाद के व्याख्याकार मिन्कोव्स्की का कहना है कि सभी विद्युत-चुम्बकीय घटनाएँ (एलेक्ट्रन प्रकाश-किरणों का प्रसार) इन्हीं चार परिमाणवाले विस्तर (continuum) में हो रही हैं। वहाँ देश और काल इतने मिश्रित हैं कि उन्हें अलग नहीं किया जा सकता, जैसे ऊपर दिए रेल-यात्रा के दो परिमाणों को अलग करके नहीं देखा जा सकता। इस तरह यह विस्तर ऐसा है जिसमें देश-काल एक-दूसरे से इतने मिल गए हैं, इतने पूर्णतया एक हो गए हैं कि प्रकृति उन्हें एक अभिन्न चीज़ समझती है। एक-दो आदि संख्या की सत्ता भी एक-दो आम के फलों से अलग प्रकृति के यहाँ नहीं है, यद्यपि हम इसी संख्या को अलग

कल्पित कर अपना गणित बनाते हैं। किन्तु साथ ही हमारे गणित की कोई प्रमाणिकता नहीं, यदि वह पग-पग पर प्रकृति से मेल न खाए। और जब हम मेल बैठाने जाते हैं, तो फिर प्रकृति उसी—आमों में मिश्रित—एक-दो आदि के अभिन्न रूप में उन्हें दिखलाती है।

वक्रता

सापेक्ष देश-काल को अभी हमने अभिन्न देश-काल-विस्तर के रूप में बतलाया। यह सारा विस्तर भौतिक विश्व से पृथक् नहीं किया जा सकता। देश-काल भौतिक विश्व से परे हो नहीं सकते, क्योंकि भौतिक विश्व ही उनके व्यवहार का कारण है। यह विस्तर चार परिमाणोंवाले —विश्व के गतिशील होने से उसके चौथे परिमाण 'काल' को सदा ध्यान में रखना होगा—गोल पिंड-जैसा है। उसकी सीमाएँ नहीं हैं, किन्तु वह सान्त है, अनन्त नहीं। यदि हमारी गति उतनी तेज़ हो तो भूगोल की भाँति उसके पृष्ठ पर भी चलकर हम उसी स्थान पर लौट आवेंगे। इस गोल की रेखा-गणित यूक्लिड की रेखा-गणित नहीं है। इस रेखागणित को जर्मन गणितज्ञ रेमान् ने बनाया है। इस देश-काल-विस्तर के चार परिमाणवाले 'गोल' में जो वक्रता (curvature) है वह भौतिक तत्त्वों के पड़ोस में अधिकाधिक दिखलाई पड़ती है। विश्व में सीधी रेखा का पता नहीं है, यह हम कह ही आए हैं। आदतवश हम वृत्त के क्षुद्र अंश को सरल-रेखा मानते हैं, और जब आकाशीय पिंडों को सरल रेखा से न जाते देख उन्हें वृत्त के चाप पर मुड़ते देखते हैं, तो उस मुड़ने को गुरुत्वाकर्षण नाम दे देते हैं। पृथिवी, चन्द्रमा, ग्रह, केतु, सूर्य सभी इसी स्वभाविक वक्रता (गोलाई) के कारण वक्र (गोल) पथ पर चल रहे हैं। उसी पथ को हम आसानी के लिये नक्षत्र-जगत् में निश्चित स्थान और निश्चित आकार—वृत्त, दीर्घवृत्त—कहने लगते हैं। किन्तु विश्व के भीतर जैसी गति अभी हम बतला चुके हैं, उससे ऐसी निश्चित आकृति सिद्ध नहीं हो सकती। फुटबाल ज़मीन पर गिरता है, उसका कारण भी वही वक्रता है। विश्व के कोने-कोने में, हर गति में वह वक्रता मौजूद है। प्रकाश-किरणें भी इसी वक्रता में चलती हैं। यदि किरणों या आकाशीय पिंडों को किसी माध्यम की आवश्यकता हो, तो यह चार परिमाणोंवाला वक्र विस्तर मौजूद ही है, जिसकी सत्ता गति के वेध से सिद्ध है। उसके अतिरिक्त किसी ईथर-जैसे माध्यम की कोई आवश्यकता नहीं। जिसकी सत्ता वेध-सिद्ध नहीं है, और जो समस्याओं को सुलझाने की जगह दुरूह और नई समस्याएँ पैदा करता जाता है, उसको मानना व्यर्थ है।

आइन्स्टाइन् ने इस वक्रता के सिद्ध करने के लिये तीन कसौटियाँ बतलाई हैं :—

(१) ग्रहों की कक्षाएँ उस तरह की दीर्घवर्तुलाकार (अंडाकार) नहीं हैं, जैसी

कि उन्हें हम अब तक समझते आए हैं; बल्कि उस वक्रता के कारण वे कुछ भेद रखती हैं जिसे हम गणित से जान सकते हैं। शुक्र की कक्षा ज्ञात कारणों से जिस प्रकार की होनी चाहिए वैसी नहीं है, उसमें फ़र्क पाया जाता है, और सापेक्षता से पहिले उस फ़र्क का कोई समाधान नहीं मिला था। सापेक्षता ने उसका समाधान कर अपने को प्रमाणित किया।

(२) प्रकाश-किरणें सूर्य-जैसे विशाल पिंड के पास से गुज़रती हैं। पृथिवी से देखते हुए जो पथ हमें सीधा मालूम होता है, उससे वे हटकर चलती हैं—कितनी हटकर चलती हैं इसे भी आइन्स्टाइन् ने गणना करके बतलाया है। सूर्य के पिछले दो पूर्ण-ग्रहणों के वेध से इस बात की पुष्टि पूरी तौर से हो चुकी है।

(३) ताराओं के रश्मिवर्ण (spectra) में पाई जानेवाली रेखाएँ, सातों रंगों में जिधर लाल छोर है, उधर हटी हुई दिखलाई पड़ती हैं। यह हटना गति के कारण होनेवाले हटने से अलग है। इसकी मात्रा को भी गणित से बतलाया जा सकता है, यदि उक्त ताराओं की पिंड-मात्रा (mass) और दूरी ठीक-ठीक मालूम हो। यह परीक्षा ज्यादा कठिन साबित हुई, तो भी जो परिणाम निकला है वह संतोषजनक है।

उदयन (९८४ ई०) ने वेग (inertia) को समझाते हुए कहा है कि "वेग से रुकावट होने के कारण बाहर फेंके हुए तीर आदि (नीचे) नहीं गिरते" ("वेगेन प्रतिबन्धादपतनं बहिः क्षिप्तस्य शरशलाकादेः"—न्यायकन्दली)। आज-कल के वैज्ञानिक पिंड के उस गुण (धर्म) को वेग कहते हैं, जिसके कारण उसकी गति की अवस्था को बदलने के लिये शक्ति की ज़रूरत पड़ती है, चाहे वह बदलना सिर्फ गति को घटाने-बढ़ाने के लिये हो अथवा दिशा पलटने के लिये। हम मोटर या दूसरी तेज़ सवारी पर जाते वक्त अनुभव करते हैं कि कोई 'शक्ति' हमें मजबूर कर रही है, एक खास आसन से—हाथ-पैर, सिर-शरीर को खास स्थिति में करके—रहने के लिये। वस्तुतः वहाँ कोई ऐसी शक्ति है नहीं। हर-एक चलनेवाली वस्तु का अपना अलग आकाश (देश) होता है जो उसके आकार के अनुसार होता है। रेलगाड़ी में वह 'आकाश' बड़ा होता है, मोटर पर छोटा, साइकल पर और छोटा। बाहर के हमारे परिचित आकाश से यह आकाश अलग होता है, इसका हमें तब पता लगता है, जब ट्रेन के भीतरी आकाश की शरीर-स्थिति के साथ हम बाहरवाले आकाश में जाने की कोशिश करते हैं और गिरकर हाथ-पैर तोड़ लेते हैं। चलते हुए पिंड की अपने लिये एक खास 'आकाश' बनाने की इसी प्रवृत्ति को वेग कहते हैं। वेग और गुरुत्वाकर्षण में बहुत समानता है। दोनों अपना 'आकाश' बनाने में एक-से हैं। जो भी पिंड गति कर सकते हैं, उन्हें उसी 'आकाश' में गति करना होता है, और उसीकी मात्रा में ही द्रुतगामिता को स्वीकार करना पड़ता है। यह इसीसे स्पष्ट है कि सड़क के

किसी स्थान को पहिया जिस चाल से छोड़कर आगे बढ़ रहा है, सवार भी उसी चाल से उसे छोड़ रहा है।

गुरुत्वाकर्षण और वेग में इतनी समानता इसीलिये है कि दोनों एक ही प्राकृतिक घटना के दो रूप हैं। न गुरुत्वाकर्षण ही किसी शक्ति से पैदा हुआ है और न वेग ही। परमार्थ आकाश (देश) प्रकृति में है ही नहीं, यह हम कह आए हैं। उसकी जगह सभी सापेक्ष स्थिति रखनेवाले पिंड अपना-अपना आकाश—सापेक्ष आकाश—रखते हैं। चलती हुई भिन्न-भिन्न मोटरों का अलग-अलग आकाश है, यह हम यात्रा करते वक्त अनुभव करते हैं।

पिंडों की गति 'आकाश' या वेग को पैदा करती है। पृथिवी पर २५-९० मील प्रति घंटे की चाल से चलनेवाली सवारियों के वेग का हमें अनुभव है। आकाशीय पिंडों के 'वेग' को जानने के लिये हमें याद रखना चाहिए कि पृथिवी ६४ हज़ार मील प्रति घंटे की चाल से अपनी कक्षा पर भाग रही है। सूर्य प्रायः ६७ हज़ार मील और तारे १८ हज़ार मील और अधिक की चाल से सर्राटे मार रहे हैं। इनके पिंड कितने विशाल हैं इसे भी ज़रा ध्यान में रखिए और फिर अन्दाज़ा लगाइए कि उनके वे पिंड और यह गति अपने-अपने लिये कितना बड़ा आकाश या वेग बनाएँगे। आइनस्टाइन् की सापेक्षता के पहले इसी 'वेग' को हम गुरुत्वाकर्षण का नाम दे रहे थे, जिसे मानकर सौर-परिवार तक तो अब भी काम चलाया जा सकता है, किन्तु सारे विश्व का विचार करने पर उसे वेग या चार परिमाणवाली वक्रता कहना ही ठीक होगा।

भौतिक तत्त्वों की मात्रा को पृथिवी, सूर्य आदि के पिंडों के गुरुत्वाकर्षण के कारण बड़ा-छोटा कहा जा रहा है। हम कह आए हैं कि चन्द्रमा की पिंड-मात्रा पृथिवी का पचासवाँ हिस्सा है, इसलिये परमाणु-भार एक-सा रहने पर भी पृथिवी पर सौ सेर की भारी चीज़ वहाँ दो सेर की ही रह जावेगी। इस भेद का कारण न्यूटनीय भौतिक-शास्त्र में पिंड का गुरुत्वाकर्षण कहलाएगा किन्तु सापेक्षता पिंड के वेग को इसका प्रकृत कारण बतलाती है। गति के कारण एक ही वस्तु की मात्रा बढ़ जाती है, यह बात प्रयोग से सिद्ध है। इस प्रकार सापेक्षता ने भूत-मात्रा (mass) के 'परमार्थत्व' पर भी प्रहार किया।

१९०५ ई० से १९१५ ई० तक आइनस्टाइन ने सापेक्षता का प्रयोग सीमित क्षेत्र में किया था, इसीलिये उसे 'सीमित-सापेक्षता' कहते हैं। १९१५ ई० के बाद उसका प्रयोग सीमितक्षेत्र से बढ़ाकर साधारण क्षेत्र में करके आइनस्टाइन् ने बतलाया कि वेग विश्वव्यापी है और वही किसी एक स्थान में गुरुत्वाकर्षण की भाँति मालूम होता है ; भूत-मात्रा कोई अचल मात्रा नहीं है, वेग उसे घटा-बढ़ा सकता है ; घटनाओं की एक-कालीनता सिद्ध नहीं की जा सकती —इत्यादि। इसे ही 'साधारण-सापेक्षता' कहते हैं।

हिंदी की उपभाषाओं तथा बोलियों का वर्गीकरण

धीरेन्द्र वर्मा

ग्रियर्सन ने हिंदी की दो उपभाषाएँ मानी हैं—पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी। उनके अनुसार पश्चिमी हिंदी के अन्तर्गत पाँच बोलियाँ हैं : वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली। इनमें वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी अथवा खड़ी बोली के आधार पर हिंदुस्तानी उर्दू तथा आधुनिक साहित्यिक हिंदी का निर्माण हुआ। ब्रज की बोली का प्रयोग भी साहित्य-रचना के लिये सोलहवीं शताब्दी से होता रहा है। पूर्वी हिंदी के अन्तर्गत तीन बोलियाँ हैं : अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी। इनमें केवल अवधी साहित्यिक भाषा रही है। ग्रियर्सन के अनुसार हिंदी भाषा का क्षेत्र साधारणतया पश्चिम में हिसार से लेकर पूर्व में मिर्ज़ापुर तक, तथा उत्तर में अम्बाला से लेकर दक्षिण में रायपुर तक है। वे पूर्वी संयुक्त-प्रान्त की बनारस और गोरखपुर कमिश्नरियों की भोजपुरी बोली तथा बिहार प्रदेश की मैथिली और मगही बोलियों को हिंदी के अन्तर्गत नहीं रखते, इन तीनों को बिहारी के नाम से पृथक् भाषा समझते हैं। उनके अनुसार बिहारी भाषा का संबंध हिंदी की अपेक्षा बंगाली, उड़िया, आसामी से अधिक है। इसी प्रकार राजस्थान तथा मालवा प्रदेशों की मारवाड़ी, मेवाती, जयपुरी तथा मालवी बोलियों के समूह को वे राजस्थानी नाम से एक पृथक् भाषा मानते हैं। ग्रियर्सन के अनुसार राजस्थानी पहाड़ी, पंजाबी, गुजराती तथा पश्चिमी हिंदी एक ही वर्ग की भाषाएँ हैं और इस तरह राजस्थानी भाषा पश्चिमी हिंदी से उतनी भिन्न नहीं है जितनी बिहारी भाषा पूर्वी हिंदी से।

ग्रियर्सन महोदय के मत से मिलता-जुलता ही मत सुनीतिकुमार चैटर्जी का है। हिंदी के पड़ोस की भाषाओं के साथ संबंध के विषय में चैटर्जी महाशय के विचार कुछ भिन्न हैं। वे पश्चिमी हिंदी को मध्यदेशीय भाषा मानते हैं तथा उसके प्रभाव से पश्चिम में राजस्थानी और कुछ-कुछ पंजाबी को तथा पूर्व में पूर्वी हिंदी और कुछ-कुछ बिहारी को प्रभावित समझते हैं। बिहारी की तीन बोलियों के वे दो वर्ग बनाते हैं : भोजपुरी और मैथिली-मगही। इनमें से भोजपुरी को वे पूर्वी हिंदी के कुछ अधिक निकट समझते हैं और मैथिली-मगही का घनिष्ठ संपर्क बंगाली आदि पूर्वी आर्य-भाषाओं के साथ मानते हैं।

हिंदी की उपभाषाओं के संबंध में ग्रियर्सन का मत साधारणतया हिंदी लेखकों के बीच सर्वमान्य हो गया है। श्यामसुन्दरदास ने अपने 'हिन्दी भाषा और साहित्य' में 'साहित्यिक हिंदी की उपभाषाएँ'-शीर्षक पाँचवें अध्याय में खड़ी-बोली, ब्रजभाषा और अवधी के साथ

राजस्थानी को भी रक्खा है यद्यपि बिहारी अथवा मैथिली को सम्मिलित नहीं किया है। यों साधारणतया पश्चिमी हिंदी और पूर्वी हिंदी उपभाषाओं तथा इनके अन्तर्गत आठ बोलियों के संबंध में श्यामसुन्दरदास ने ग्रियर्सन के मत का ही अनुसरण किया है।

हिंदी की उपभाषाओं के वर्गीकरण के संबंध में ग्रियर्सन के मत की अधिक गंभीर तथा स्वतन्त्र समीक्षा की आवश्यकता है। ग्रियर्सन जिन्हें पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, बिहारी, तथा राजस्थानी भाषाएँ-संज्ञा देते हैं, वे पृथक् स्वतन्त्र भाषाओं के रूप में अस्तित्व नहीं रखतीं। वास्तव में इनमें से प्रत्येक बोलियों का समूह मात्र है जिसमें कुछ विभिन्नताओं के रहते हुए भी समानताओं की मात्रा अधिक स्पष्ट है। उदाहरण के लिये यदि कोई ग्रियर्सन की पश्चिमी हिंदी का एक नमूना माँगे तो वह पाँच भिन्न-भिन्न बोलियों के रूप में होगा। इनमें से किसी एक को आदर्श टकसाली पश्चिमी हिंदी नहीं कहा जा सकता। यही अवस्था पूर्वी हिंदी, बिहारी तथा राजस्थानी भाषाओं की भी है। आर्यावर्त्त की अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अन्तर्गत भी बोलियों का भेद है, किन्तु वह इतना तीव्र और स्पष्ट नहीं है जितना कि उपर्युक्त चार मध्यदेशीय भाषाओं की बोलियों में पाया जाता है। सच तो यह है कि हिंदी अनेक मिलती-जुलती बोलियों के संगठन का नाम है, किसी एक निश्चित भाषा का नहीं। हिंदी भाषा के इस संगठन के अन्तर्गत स्थित बोलियों में से कोई एक या अधिक बोली साहित्यिक भाषा के सिंहासन पर आरूढ़ कर दी जाती है। एक समय ब्रज और अवधी हिंदी-भाषियों की सर्वसम्मत साहित्यिक भाषाएँ थीं, आज खड़ी बोली इस स्थान पर स्थापित है।

यदि हिंदी उस प्रकार से कोई निश्चित रूपवाली भाषा नहीं है जैसे गुजराती, मराठी, सिंधी, उड़िया, आसामी आदि हैं (वास्तव में इन प्रादेशिक भाषाओं की तुलना हिंदी की बोलियों —जैसे ब्रज, अवधी, छत्तीसगढ़ी आदि से करनी चाहिए, पश्चिमी या पूर्वी हिंदी से नहीं), बल्कि वह कुछ बोलियों का संगठन-मात्र है, तब दूसरा प्रश्न यह हो सकता है कि हिंदी का यह संगठन क्या ग्रियर्सन की पाँच पश्चिमी और तीन पूर्वी बोलियाँ तक ही सीमित है ? राजस्थानी बोलियों को ग्रियर्सन भी पश्चिमी हिंदी की बोलियों के बहुत निकट मानते हैं। राजस्थानी की मेवाती और जयपुरी बोलियाँ, ग्रियर्सन के अनुसार, पश्चिमी हिंदी की ब्रज-भाषा और बुंदेली के बहुत ही निकट हैं। मेवाती को राजस्थानी के अन्तर्गत रक्खा जावे या पश्चिमी हिंदी के अन्तर्गत, इस संबंध में एक स्थल पर ग्रियर्सन साहब तक को शंका हुई है। इसी प्रकार चैटर्जी महोदय भोजपुरी को मैथिली-मगही के साथ रखने में हिचकते हैं—भोजपुरी को वे पश्चिमी मागधी और मैथिली-मगही को मध्यवर्त्ती मागधी मानते हैं। ग्रियर्सन के समान तीनों बोलियों को वे एक नाम—बिहारी भाषा—के अन्तर्गत रखना बहुत उचित नहीं समझते।

वास्तव में मूल प्रश्न भाषा तथा बोली की परिभाषा का है। कितनी मात्रा में समानता होने पर बोलियों को एक भाषा का उपरूप माना जा सकता है, तथा किस मात्रा में विभिन्नता होने पर बोलियों का एक समूह दूसरे समूह से भिन्न भाषा के रूप में पृथक् किया जाना चाहिए ? इन समानताओं तथा विभिन्नताओं के संबंध में निर्णय ध्वनि तथा व्याकरण-संबंधी नियमों के बहुमत के आधार पर होना चाहिए अथवा कुछ थोड़े-से महत्त्वपूर्ण रूपों के आधार पर ? ग्रियर्सन ने प्रायः अन्तिम मत का अनुसरण किया है, किन्तु क्या यह मत वास्तव में निर्विवाद है ? फिर जिन अधिकांश समानताओं की ग्रियर्सन ने प्रायः उपेक्षा की है क्या वे वास्तव में ऐसी अवहेलना के योग्य हैं ? पश्चिमी हिंदी, पूर्वी हिंदी, राजस्थानी, बिहारी, तथा पहाड़ी और पंजाबी भाषाओं की बोलियों से संबंध रखनेवाली मूल सामग्री की फिर से पूर्ण परीक्षा होने की आवश्यकता है ; उसके उपरान्त ही ग्रियर्सन का यह वर्गीकरण हिंदी विद्वानों द्वारा स्वीकृत होना चाहिए या परीक्षण के फलस्वरूप उसमें आवश्यक परिवर्तन होने चाहिएँ।

साहित्यिक हिंदी का प्रभाव-क्षेत्र प्राचीन काल से आज तक राजस्थान से बिहार तक रहा है। भागलपुर तक गंगा की घाटी में कोई एक ही साहित्यिक भाषा जनता के बीच आदृत रही है। हिंदी प्रदेश के पश्चिमी तथा पूर्वी सीमाप्रान्तों में ठेठ मध्यदेशीय भाषा का प्रभाव कुछ क्षीण होना स्वाभाविक है, इसी कारण मारवाड़ी तथा मैथिली में भी साथ-साथ कुछ प्रादेशिक साहित्य-चर्चा चलती रही है और आज भी चल रही है, किन्तु यों आज इस समस्त प्रदेश में हिंदी का खड़ी बोली-रूप ही साहित्य-सृजन, शिक्षा के माध्यम, समाचार-पत्रों के प्रयोग तथा विचार-विनिमय के लिए सर्वमान्य है। भाषाविज्ञान के पंडितों द्वारा किए गए भाषाओं के वर्गीकरण के साथ-साथ व्यवहार के क्षेत्र में साहित्य तथा संस्कृति-संबंधी प्रभावों को भी ध्यान में रखना चाहिए। इस व्यापक दृष्टि से ग्रियर्सन की बिहारी तथा राजस्थानी भाषाएँ हिंदी की ही उपभाषाएँ कही जा सकती हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, ग्रियर्सन का मत भाषाविज्ञान की दृष्टि से भी समीचीन है या नहीं, यह विषय भी वास्तव में चिन्त्य है।

हिंदी भाषा के अन्तर्गत ग्रियर्सन ने आठ बोलियाँ मानी हैं यह वर्गीकरण भी परीक्षा करने पर निर्विवाद नहीं सिद्ध होता। बाबूराम सकसेना ने अवधी के विकास पर एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने बघेली बोली को अवधी से भिन्न नहीं माना है और इस संबंध में यथेष्ट प्रमाण दिए हैं। सकसेना के अनुसार अवधी और छत्तीसगढ़ी ये दो ही हिंदी की पूर्वी बोलियाँ कही जा सकती हैं। मैंने स्वयं ब्रजभाषा के संबंध में कुछ अध्ययन किया है और यह प्रकाशित हो चुका है। मेरी समझ में पश्चिमी हिंदी की कन्नौजी बोली ब्रज का ही रूपान्तर-मात्र है—स्वतन्त्र बोली नहीं। बुंदेली को भी पृथक् बोली मानने की युक्तियाँ बहुत

पुष्ट नहीं दिखलाई पड़तीं। इसी प्रकार बाँगरू स्वतन्त्र बोली न होकर खड़ीं बोली का पंजाबी-राजस्थानी-मिश्रित रूप-मात्र है। अतः पश्चिमी हिंदी के अन्तर्गत पाँच बोलियों के स्थान पर, दो या अधिक-से-अधिक तीन—खड़ी, ब्रज, बुंदेली—बोलियाँ ही सिद्ध होती हैं। इस प्रकार नवीनतम खोजों के आधार पर हिंदी की बोलियों की संख्या आठ से घटकर केवल पाँच ही रह जाती है। यदि राजस्थानी और बिहारी की बोलियों की भी परीक्षा विस्तृत अध्ययन के रूप में निष्पक्ष दृष्टि से की जाय, तो बहुत संभव है कि इनकी संख्या में भी हेर-फेर की ज़रूरत पड़े।

भारतीय भाषाओं के संबंध में ग्रियर्सन ने पथ-प्रदर्शन के रूप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, किंतु इस निर्दिष्ट मार्ग में अब आगे बढ़ने का समय आ गया है। यह कार्य अब भारतीय विद्वान् ही कर सकते हैं।



रवीन्द्रनाथ की परिपूर्ण साधना

क्षितिमोहन सेन

वैशाख महीने की २५ वीं तारीख हमारे लिये चिरस्मरणीय हो गई है। इसी दिन को हमने महामानव रवीन्द्रनाथ को अपने बीच पाया था। आज से इक्यासी वर्ष पहले इसी दिन उनका जन्म हुआ था। हमारे भीतर उन्हें पा सकने की कोई योग्यता नहीं थी तौ भी वे हमें मिल गए थे, इससे इतना ही मालूम होता है कि विधाता हमारे ऊपर प्रसन्न थे।

रवीन्द्रनाथ महामानव थे। जिनके द्वारा समस्त काल, समस्त स्थान और समस्त प्राणों की मर्मवाणी, सुख-दुःख, आशा-नैराश्य की अभिव्यक्ति होती है, जो सबका दुःख दूर करने की ही तपस्या करते हैं और सबके प्रति प्रेम ही जिनके जीवन का लक्ष्य होता है, वे ही महामानव हैं। रवीन्द्रनाथ ऐसे ही नर-रत्न थे। किसी विशेष देश या विशेष काल या विशेष श्रेणी के प्रति पक्षपात करके वे अपने स्वाभाविक साधना-मार्ग से विचलित नहीं हुए। संसार की समस्त जातियों के प्रति उनकी जो हमदर्दी थी उसके कारण उन्हें घर में और बाहर—देश में और विदेश में—सर्वत्र कटूक्ति सहनी पड़ी है। फिर भी वे विचलित नहीं हुए। संवत् १९५८ में लगभग बत्तीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने नैवेद्य नामक काव्य लिखा था। उसकी एक कविता में उन्होंने लिखा था : "हे विश्वमोहन नाथ, तुम्हारे इस भुवन में मैं मुग्ध की भाँति घूम रहा हूँ, मेरी आँखों में प्रशान्त आनन्दघन, अनन्त आकाश लग रहा है ; शरत्कालीन मध्याह्न में भरा हुआ सुनहरा उच्छ्वास मेरी शिराओं में प्रविष्ट होकर मेरे रक्त में आतप्त आवेश का मिश्रण कर रहा है।" यहाँ तक समस्त देश, समस्त काल और समस्त मानव का शोभा-सौंदर्य ही उन्हें आकृष्ट करता है, परन्तु आगे चलकर मालूम होता है कि कवि का मुग्ध चित्त सिर्फ विश्व के सौंदर्य-जाल से ही आकृष्ट नहीं है, समस्त नर-नारियों का दुःख उसे खींच रहा है। "तुम्हारे संसार की रुलाई और हँसी विचित्र भाषा में मुझे भुला रही है, तुम्हारे स्त्री-पुरुष न जाने कितनी वेदनाओं की डोरी में, वासना के आकर्षण से मुझे दिग्विदिक् में खींच रहे हैं"—

तोमार भुवन माझे फिरि मुग्ध सम
हे विश्वमोहन नाथ। चक्षे लागे मम
प्रशान्त आनन्दघन अनन्त आकाश ;
शरत्मध्याह्ने पूर्ण अनन्त उच्छ्वास

आमार शिरार माझे करिया प्रवेश
मिशाय रक्तेर साथे आतप्त आवेश।

भुलाय आमारे सबे। विचित्र भाषाय
तोमार संसार मोरे काँदाय हासाय
तव नर-नारी सबे दिग्विदिके मोरे
टेने निये जाय कत वेदनार डोरे,
वासनार टाने।

इसके बाद वे कह उठते हैं—हे नाथ, वीणा की भाँति अपने उस मुग्ध मन को मैं तुम्हारी गोद में सौंप देता हूँ, उसके सैकड़ों मोह-तंत्रों पर आघात करके अपना विचित्र संगीत मुखरित करो—

सेइ मोर मुग्ध मन
वीणासम तव अंके करिनु अर्पण,—
ता'र शत मोह-तंत्रे करिया आघात
विचित्र संगीत तव जागाओ, हे नाथ।

सचमुच ही रवीन्द्रनाथ ने अपने सुकुमार और जीवन्त मन को भगवान् के चरणों में सौंप दिया था। उन्हींके प्रेम-स्पर्श से चित्त-वीणा समस्त जगत् के सुख-दुःख से बज उठा करती थी। कोई प्रकृति को, और कोई मनुष्य को लेकर पागल बना है, फिर ऐसे बड़भागी भी हैं जो प्रकृति और मनुष्य, दोनों को लेकर साधना कर रहे हैं। फिर ऐसे साधक भी हैं जो सिर्फ भगवान् को लेकर ही मस्त बने डोल रहे हैं। रवीन्द्रनाथ ने किसी को नहीं छोड़ा। वे पूर्ण साधक थे। किसी काल-विशेष या देश-विशेष के प्रति उनका पक्षपात नहीं था। प्राचीन काल की बात करते समय वर्तमान को उन्होंने तुच्छ नहीं समझा और वर्तमान की बात करते समय अतीत की महिमा को खर्व नहीं किया। फिर भी मजेदार बात यह है कि सभी काल उनके भीतर से ही अपने को प्रकाशित कर सके हैं। वे मानों समस्त काल के प्रतिनिधि हैं। उनके सिवा दूसरा कोई ऐसा था ही नहीं जो समस्त युग और काल के निगूढ़ मर्म-सत्य को प्रकाशित कर सके।

जो बात काल के विषय में सच है वही देश के विषय में भी। लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि समस्त जगत् के विभिन्न देशों के प्रति रवीन्द्रनाथ की हमदर्दी ने उनके स्वदेश-प्रेम में बाधा पहुँचाई थी। कितने आदमी हैं जिन्हें स्वदेश को देखने की ऐसी गभीर दृष्टि प्राप्त है? कौन है जो रवीन्द्रनाथ से अधिक देश के दर्द का दावा कर सके? वैष्णव कवि की कविता में जो अपूर्व भाव-रस अर्थात् नर-नारायण-मिलन का अपूर्व रस है, उसे साधारण मनुष्य भी

अपने सुख-दुःख में उपयोग करता है। इससे भागवत रस की कविता अपवित्र थोड़े ही हो जाती है? फिर मानवीय रस में भी भागवत भाव वर्तमान है, तो क्या इतने ही से भागवत रस अवास्तव हो जायगा? लेकिन फिर भी वैष्णव कविता को इन दोनों प्रकार के अपवादों को सहना पड़ा है। यदि कोई प्रेम-सरस चित्त न लेकर कामलुब्ध होकर वैष्णव कविता का रस लेने बैठेगा तो उसके लिये दोषी वैष्णव कविता है? मध्ययुग के कबीर, रैदास, सूरदास और मीरा आदि जिस भक्त की भी वाणी पढ़ी जाय, पहले-पहल यह कह सकना मुश्किल होगा कि वह मनुष्य को लक्ष्य करके लिखी गई है या भगवान् को। सबमें मानवरस लबालब भरा मिलेगा। ऐसा क्यों होता है? इसका एक कारण है। मध्ययुग की विशेषता ही यह है कि उसमें देवता को मनुष्य होना पड़ा है। ब्रज के कवियों के कृष्ण यशोदा के लाल हैं, गोपियों के प्रेमी हैं और तुलसीदास के राम दशरथ-अजिर-विहारी हैं, शंकर-मानस-मंजु-मराल हैं और जनक-नंदिनी के प्रेमी हैं। बंगाल के वैष्णवों के विषय में भी यही बात सच है। यहाँ तक कि निर्गुण भाव से भजन करनेवाले कबीर, दादू, और नानक आदि के भगवान् भी सुंदर और मधुर हैं। असीम भी मानो मनुष्य की भाँति सीमित प्रत्यक्ष है। यहाँ तक कि असीम की निगूढ़ सत्ता भी मानवभाव के भीतर से प्रेम और भक्ति के संबंध से पकड़ में आती है।

इसीलिये चाहे गौड़ीय वैष्णवों का मत हो, अथवा तुलसीदास और सूरदास-जैसे सगुण उपासकों का, या फिर कबीर नानक आदि निर्गुण उपासकों का मत हो, कहीं भी शुष्क ज्ञान और शुष्क वैराग्य ही परम और चरम सत्य नहीं माना गया। प्रधान बात यहाँ प्रेम है। यहाँ तक कि असीम के साथ उनकी लेन-देन भी प्रेम के भीतर से ही होती है। उनके गान मानवरस के लिये भी उतने ही उपयुक्त हैं जितने भागवत रस के लिये। रवीन्द्रनाथ का भी यही हाल है। इसीलिये रवीन्द्रनाथ को बीच-बीच में अनेक आघात सहने पड़े हैं। लोगों ने सोच-विचारकर यह देखने का कष्ट नहीं किया कि यह अपने यहाँ की कितनी पुरानी साधन-धारा है। उसी मध्ययुग की परिपूर्णता ही रवीन्द्रनाथ हैं। उनमें आकर भागवत और मानव दोनों भाव प्रेम में मिल गए हैं। जिस प्रकार उनकी भगवत् प्रेमानुभूति मानवरस की परिपंथी नहीं है उसी प्रकार उनका विश्वप्रेम भी स्वदेशप्रेम का अविरोधी है।

सं० १९६० में ५२ वर्ष की अवस्था में कवि ने 'गीतिमाल्य' में भगवान् को व्याकुल भाव से पुकारकर कहा था कि 'हे नाथ, हमें उन लोगों के साथ मिलाओ, जो तुम्हारी गाएँ चराते हैं, जो तुम्हारे नाम पर अपनी वंशी बजाया करते हैं।' कवि इस कल्पलोक को नहीं पा सके, वे पाषाण से बँधे आधुनिक सभ्यता के मार्ग पर चलने को बाध्य थे। वे हैरान होकर पूछते हैं कि मैं किस लोभ से इस कोलाहलपूर्ण हाट में आ गया हूँ। लेकिन इस पाषाण बँधे मार्ग पर आ जाने

पर भी वे श्यामल वन की पुकार सुन रहे हैं, तृणों में किसीकी अंगुलि-निर्देश का इशारा पा रहे हैं, और पक्षियों के मुख से अपने प्राणेश्वर के लीला-निकेतन की मधुर लीला का समाचार पा रहे हैं—

ओदेर साथे मेलाओ, यारा चराय तोमार धेनु ।
तोमार नामे बाजाय यारा वेणु ।
पाषाण दिये बाँधा घाटे एइ-ये कोलाहलेर हाटे
केन आमि किसेर लोभे एनु ॥
की डाक डाके बनेर पातागुलि, कार इशारा तृणेर अंगुलि ।
प्राणेश आमार लीला भरे, खेलेन प्राणेर खेलाघरे
पाखीर मुखे एइ ये खबर पेनु ॥

ब्रज के सौंदर्य और प्रेम-भाव में विभोर कवि आज भी कम नहीं हैं, मध्ययुग में तो ऐसे कवि अनेक हो गए हैं, फिर रवीन्द्रनाथ और उन कवियों में अन्तर क्या है ? रवीन्द्रनाथ की विशेषता किस बात में है ? उनकी विशेषता यह है कि इस विराट असीम विश्वलोक में भी उन्होंने उसी ब्रज की महिमा देखी है । महाविश्व के महाकाश के तिमिर प्रान्तर में जो अपरिगणित ग्रह चंद्र तारिकाएँ दीप्यमान नृत्य-यात्रा कर रही हैं, उन्हींके समान श्यामल प्रान्तरों के बीच से आलोक-धेनुओं की आनन्द यात्रा हो रही है, वे मानो किसी महान् चालक की धेनुओं की ताल से ताल मिलाती हुई छन्दोमयी आलोकयात्रा में नृत्य करती चल रही हैं । वस्तुतः रवीन्द्रनाथ के निकट सीमा और असीम एक अनुपम प्रेम के मिलन में युक्त होकर हमारी अन्तरात्मा को मुग्ध करते हैं । सूर्य-ताराओं का यह जो दल है यही तो उस परम प्रियतम की आलोकधेनु हैं, न जाने कहाँ बैठे-बैठे वे वंशी बजाया करते हैं, और इन्हें महाकाश में चराया करते हैं ? यह जो तृण सिर उठा रहे हैं, तरुशाखाओं पर श्यामल पत्र शोभमान हैं, ये ही तो उनकी आलोकचारी धेनुएँ हैं जो प्रत्येक फूल और प्रत्येक फल पर भीड़ किए हैं । उस मोहन-मुरलीधारी गोपाल की वंशी की तान पर ये प्रातःकल चारों ओर जाने कहाँ-कहाँ निकल पड़ती हैं और संध्या होते ही, अंधकार की मृदुतान पर अपने गोठों को लौट जाती हैं । कवि कहते हैं : हे मेरे जीवन के गोपाल, मेरी कितनी आशा-तृष्णाएँ न जाने कहाँ-कहाँ चक्कर काट रही हैं, तुम क्या साँझ होते ही उन्हें पुकार लोगे ?—

एइ तो तोमार आलोक-धेनु सूर्य-तारा दले दले ;
कोथाय ब'से बाजाओ वेणु चराओ महा गगन तले ।
तृणेर सारि तुलछे माथा, तरुर शाखे श्यामल पाता,
आलोय चरा धेनु एरा भिड़ करेछे फुले फले ।

सकाल वेला दूरे दूरे उड़िये धुलि कोथाय छोटे,
आंधार होले सांभेर सुरे फिरिये आनो आपन गोठे ।
आशा तृषा आमार यत घुरे बेड़ाय कोथाय कत,
मोर जीवनेर राखाल ओगो डाक देबे कि संध्या होले ॥

मध्ययुग के भक्तिकालीन कवियों के अनेक वक्तव्य रवीन्द्रनाथ में पाए जाते हैं, यहाँ तक कि नाम-महिमा भी (दे० गीतिमाल्य, ३२ वां और ४४ वां गान)। इस नाम के आनंद में प्रयोजन का कोई तक़ाज़ा नहीं है, उसमें भी एक सहज आनन्द की मस्ती है। रवीन्द्रनाथ के बहुत-से गान तो उन भजनों की श्रेणी में ही पड़ते हैं जिन्हें भाव-विह्वल होकर भक्ति-काल के कवि करते थे। हे मेरे जीवन वल्लभ, साधन-दुर्लभ, मैं अपने मर्मव्यथा, अन्तस्तल की कथा, कुछ भी नहीं कहूँगा। मैं अपना जीवन और मन तुम्हारे चरणों में देता हूँ, तुम सब समझ लो—मैं क्या कहूँ !—

ओहे जीवन-वल्लभ, ओहे साधन दुर्लभ
आमि मर्मेर कथा अन्तरव्यथा किछुइ नाहि कबो,
शुधु जीवन मन चरणे दिनु बुझिया लह सब ।
आमि की आर कबो ।

यही नहीं, उस परम मुरलीधारी की वंशी भी रवीन्द्रनाथ के हाथों कम रस-सृष्टि में नियुक्त नहीं रही है। कवि कहते हैं कि हे मुरलीधर, तुम अपनी वंशी मेरे हाथों दे दो...... मैं उसे अपनी गोद में उठा लूँगा, अधरों पर रखूंगा, अपने मन चाहे ढँग से जहाँ-तहाँ रखूंगा, उठाऊँगा—सिर्फ एक वक्त के लिये !

ऐ तोमार ऐ बाँशि खानि शुधु क्षणेक त'रे
दाओ गो आमार करे ।
... ...
तुले नेब' कोलेर परे, अधरेते राखबो धरे,
तारे निये येमन खुसि, येथाय सेथाय फेला—
एमनि करे' आपन मने करबो आमि खेला
शुधु एकटि बेला ।

यह वंशी जो सिर्फ बांस की बांसरी मात्र नहीं है इसका आभास हमें "सुदूर" नाम की कविता में मिलता है (दे० 'विश्वभारती पत्रिका', प्रथम संख्या, पृ० १)। सौंदर्य की इस परम वंशी रागिणी से रवीन्द्रनाथ अपने जीवन के समस्त कुंजों को परिपूर्ण कर लेना चाहते हैं, यह वंशी

सिर्फ वन में बजने के लिये नहीं है, उसकी छेड़ी हुई तान, उसकी गाई हुई रागिणी, समस्त हृदय मन और प्राणों को पूर्ण कर देती है। कवि की व्याकुल आकांक्षा है कि उसके हृदय कुंज में यह रागिणी बजती रहे और उसके परम प्रियतम का आसन हृदय-पद्म पर बिराजता रहे—

तोमारि रागिणी जीवनकुंजे बाजे येन सदा बाजे गो।
तोमारि आसन हृदय-पद्मे राजे येन सदा राजे गो॥

मध्ययुग के भक्ति-रस के द्वारा इस प्रकार रवीन्द्रनाथ के गान परिपूर्ण हैं, परन्तु इस भक्तिभाव ने उन्हें मनुष्य की ओर से उदासीन नहीं बनाया। मनुष्य-समाज के प्रति जो उनका उत्तरदायित्व है उसके साथ उनके भगवद्भाव का कोई विरोध नहीं है। अपने अन्तर की समस्त व्यथा को ज्वालामुखी के अग्नि-उच्छ्वास की भाँति उन्होंने उस गान में भर दिया है जिस में वे कहते हैं कि क्यों तू देवालय का दरवाज़ा बंद करके उसके कोने में पड़ा हुआ है? अरे पड़ा रहने दे अपने इस भजन और पूजन को, ध्यान और आराधना को। अपने मन से अंधेरे में छिपा हुआ तू गोपन में किसकी पूजा कर रहा है? ज़रा आँख खोलकर देख तो भला, देवता तेरे घर में नहीं हैं। ये वहाँ चले गए हैं जहाँ किसान मिट्टी तोड़कर हल जोत रहा है, जहाँ मजदूर बारह महीने पत्थर काटकर रास्ता तैयार कर रहा है। वे धूप में और पानी में सबके साथ हैं, उनके दोनों हाथों में धूल लगी हुई है; भले मानस, तू भी उन्हींके समान इस शुचिवस्त्र को छोड़कर धूल में उतर आ। रहने दे अपनी ध्यान-धारणा, पड़ी रहने दे फूलों की डलिया, फट जाने दे इस वस्त्र को, लगने दे शरीर में धूल और बालू। उनके साथ कर्मयोग में एक होकर तेरा पसीना चुए।—

भजन पूजन साधन आराधना समस्त थाक् पड़े'।
रुद्धद्वारे देवालयेर कोणे केन आछिस ओरे?
अन्धकार लुकिये आपन मने काहारे तुइ पुजिस संगोपने,
नयन मेले देख देखि तुइ चेये देवता नाइ घरे।
तिनि गेछेन येथाय माटि भेङे करछे चाषा चाष,—

पाथर भेङे काटछे येथाय पथ, खाटछे बारो मास।
रौद्रे जले आछेन सबार साथे, धूला ताँहार लेगेछे दुइ हाते;
ताँरि मतन शुचि वसन छाड़ि आयरे धुलार परे।
... ...

राखो रे ध्यान थाक् रे फुलेर डालि,

छिँड़ुक वस्त्र, लागुक धुलाबालि,
कर्मयोगे ताँर साथ एक हये घर्म पड़ुक झरे ॥

इसीलिये देवता के मंदिर में बैठा हुआ जो प्रवीण भक्त जपमाला लिये व्यस्त है, वह जब मनुष्य की अवहेला करता है तो वह वस्तुतः देवता को ही विदाई देता है, वह देवता से विच्छिन्न हो जाता है। मनुष्य की सेवा में यदि वह अपने को खपा देता तभी उसकी पूजा सार्थक होती। 'चैतालि' की एक कविता में कवि ने इसी बात को दिखाने के लिये एक कथा की अवतारणा की है। प्रवीण भक्त ने जब एक जीर्ण कंथाधारी मनुष्य को आश्रय नहीं दिया तो देवता स्वयं रूठकर चल पड़े। भक्त ने कातर भाव से इसका कारण पूछा तब देवता ने बताया कि तुम्हींने तो मुझे दूर कर दिया है, मैं तो जगत् में दया के लिये दरिद्र-रूप में फिरा करता हूँ। घर में तभी रहता हूँ जब आश्रयहीन को आश्रय दिया जाता है !—

जगते दरिद्र रूपे फिरि दया तरे,
गृहहीने गृह दिले आमि थाकि घरे।

एक दूसरी कविता में एक कथा इस प्रकार है—संसार से वैराग्य लेनेवाला वैरागी गंभीर रात्रि में बोल उठा, आज मैं इष्टदेव के लिये घर छोड़ूँगा। कौन मुझे भुलाकर यहाँ बाँधे हुए है ? देवता ने कहा 'मैं'—किसीने नहीं सुना। सुप्तिमग्न शिशु को छाती से चिपटाकर प्रेयसी शय्या पर सो रही थी। वैरागी ने कहा, ऐ माया की छलना, तू कौन है ? देवता बोल उठे 'मैं'—किसी ने नहीं सुना। शय्यापर से उठकर वैरागी ने पुकारा—प्रभो, तुम कहाँ हो ? देवता ने कहा—'यहाँ'। तो भी वैरागी ने नहीं सुना। माता को खींच स्वप्न में शिशु रो पड़ा,—देवता ने कहा, 'लौटो'। वैरागी को यह वाणी भी नहीं सुनाई दी। अन्त में देवता ने निःश्वास लेकर कहा—'हाय मेरा भक्त मुझे छोड़कर कहाँ चला !'

कहिल गभीर रात्रे संसारे विरागी—
गृह तेयागिब आजि इष्टदेव लागि'।
के आमारे भुलाइया रेखेछे एखाने ?
देवता कहिला "आमि"।—शुनिल ना काने।
सुप्तिमग्न शिशुटिरे आँकड़िया बुके
प्रेयसी शय्यार प्रान्ते घुमाइछे सुखे।
कहिल—के तोरा ओरे मायार छलना ?
देवता कहिला "आमि"।—केह शुनिल ना।
डाकिल शयन छाड़ि'—तुमि कोथा प्रभु !—

देवता कहिला—"हेथा।" शुनिल ना तबु।
स्वपने काँदिल शिशु जननीरे टानि',—
देवता कहिला "फिर!"—शुनिल ना वाणी।
देवता निःश्वास छाड़ि कहिलेन—हाय,
आमारे छाड़िया भक्त चलिल कोथाय।

वस्तुतः वैराग्य-मार्ग का साधक जब मनुष्य को छोड़कर साधना की दुनिया में प्रवेश करना चाहता है तो वह जानता ही नहीं कि नर के साथ वह नारायण को भी छोड़कर चल पड़ा है। 'चैतालि' में एक बहुत ही आकर्षक कविता है जिसमें कहा गया है कि एक साधु स्वर्ग गए। उन्हें यह विश्वास था कि यौवन में तो उन्होंने पुण्य किया नहीं है, जो कुछ साधना है वह अन्तिम जीवन में ही हुई है। पर चित्रगुप्त के खाते में बिल्कुल उल्टी बात दिखाई दी। वस्तुतः यौवनकाल के पुण्यों से ही हिसाब का पन्ना भरा था। साधु हैरान था कि यौवन में उसने पुण्य कहाँ किया! चित्रगुप्त ने हँसकर बाबाजी को समझाया कि जिसे प्रेम कहते हैं उसीको पूजा भी कहते हैं!—

साधु महा रेगे बले—यौवनेर पाते
एत पुण्य केन लेख देव पूजा खाते?
चित्रगुप्त हेसे बले बड़ शक्त बुझा;
यारे बले भालवासा, ता'रे बले पूजा।

रवीन्द्रनाथ की वाणी और साधना में नर और नारायण युक्त-भाव से गृहीत हैं। इन दोनों में कहीं विरोध नहीं है। इसीलिये उनकी साधना परिपूर्ण और सार्वभौम है। उसमें कहीं भी कोई संकीर्ण सीमा नहीं है।



शिल्पी—कानाई सामन्त

छाया-छवि

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

ध्यान एक दिन का आता है—
नील-मुकुट ऊषा का उस दिन,
घन-सावन ने छीन लिया था,
बादल की वेला ने उस दिन,
भैरव तूरी-नाद किया था।

पहरों ने अपना मुँह ढँककर,
था उस दिन आलोक चुराया।
अरुक भाव से लगी झड़ी ने
स्वर का पर्दा खींच गिराया ;
ध्वनि अनेक हो गईं एक तब।

दिक्-मुख पांशु प्रबल वर्षण से,
नभ उदास—उत्सुकता के बिन,
पाण्डु-आवरणयुक्त नीलिमा—
नदी-पार-वाली थी उस दिन।

दिवस कर्म-संकुल की सीमा
लुप्त हुई, परिमाण खो गया।
विद्यापति का गीत 'भरा बादर'
मेरे मन-प्राण भर गया।

डूबा बैठा था कुटिया में
मैं उन्मन, अपने को भूला।

'समय कदाचित् हुआ' कि तत्क्षण,
खिंची अचानक उर में रेखा—
'छात्री आती होगी पढ़ने' ;
गान रोककर पीछे देखा।

खड़ी, किताबें लिए हाथ में,
भीरु बालिका आकर कब की ।
नीरव-पाँव, दुआरे दबकी ।

पाठ किया प्रारंभ, कपोलों पर
उसके कुछ रंग आ गया ।
कंपित वक्ष कदाचित् , उसके—
कंठ आज स्वर-भंग छा गया ।

केवल भूल चली मानो वह—
अन्यमनस्का, पृष्ठ खोलकर ।

उससे कहा 'पड़ा रहने दो आज'—
कि उसने मुँह भर ताका,
आँख उठाकर, बिना बोलकर ।

घटना है यह तुच्छ, न तब से
ध्यान कभी भी मन में लाया,
समय-सिन्धु के पार कभी की,
उतर गई उसकी छवि-छाया ।

लहरहीन सरिता बहती है,
शब्दहीन है बादल-बेला,
श्लथ-मन मैं घर में बैठा हूँ,
अलस-प्राण निस्संग अकेला ।

बरबस हिय-पट पर दिखती है
भीरु बालिका की मन-आँकी,
अश्रु-भरा, बिन-बरसीं दो-दो
बड़ी-बड़ी आँखों की झाँकी ।

—अनु० भवानीप्रसाद मिश्र

विलायत में पहली बार

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कहा जा सकता है कि बचपन से ही बाहर की दुनिया के साथ मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। ऐसी दशा में हठात् सत्रह बरस की उम्र में विलायत के जन-समुद्र में आ पड़ने पर एक बार डटकर डुबकियाँ खाने की आशंका थी। लेकिन हमारी मँझली भाभी ('बहूठकुरानी') सब बच्चों को लेकर ब्राइटन में रह रही थीं, इसलिये उनके आश्रय में विदेश का पहला धक्का मुझे नहीं लग पाया।

तब सर्दियाँ आ चुकी थीं। एक दिन घर में बैठा आग तापते हुए गप लड़ा रहा था, उसी समय बच्चों ने आकर उत्तेजित भाव से कहा—बरफ़ पड़ रही है। बाहर जाकर देखा, काटनेवाली शीत है, आकाश शुभ्र चाँदनी और पृथिवी सफेद बरफ़ से ढँकी हुई है। हमेशा से पृथिवी की जो मूर्ति देखता आया हूँ, यह वह नहीं है—यह मानो सपना है, मानो और-कुछ है—सभी पास की चीज़ें जैसे दूर जा पड़ी हैं—कोई शुभ्रदेह निश्चल तपस्वी मानो गभीर ध्यान के आवरण में लिपटा पड़ा है। अचानक घर से बाहर निकलते ही ऐसा अद्भुत विराट् सौन्दर्य और कभी नहीं देखा।

बहूठकुरानी के यत्न और बच्चों के विचित्र उत्पात-उपद्रव के आनन्द में दिन मज़े में कटने लगे। बच्चों को मेरा अजीब अँगरेज़ी उच्चारण सुनकर बड़ा मज़ा आता था। उनके किसी भी खेल में मैं कभी कोई बाधा नहीं देता, केवल इसी एक आमोद में संपूर्ण मन से योग देते मुझसे नहीं बनता था। Warm शब्द में a का उच्चारण o के समान है और Worm शब्द के o का a के समान—यह बात किसी भी तरह सहज ज्ञान के द्वारा जानी नहीं जा सकती, सो बच्चों को मैं क्योंकर समझाऊँ? दुर्भाग्यवश उनकी सारी हँसी मुझी पर आकर पड़ती, जब कि पड़ना था उसे असल में अँगरेज़ी की उच्चारण-विधि पर। इन दोनों छोटे लड़कों का मन बहलाने, उन्हें हँसाने और आमोद देने के तरह-तरह के उपाय मैं रोज़ ढूँढ़ निकालता। बच्चों को भुला रखने की इस उद्भावनी शक्ति की ज़रूरत और भी कई बार हुई है—अब भी उसका प्रयोजन गया नहीं है—किंतु उस शक्ति का अजस्र प्राचुर्य अब उतना अनुभव नहीं होता। बच्चों के निकट हृदय दान करने का अवसर मेरे जीवन में वही पहले-पहल आया था, इसीसे दान का आयोजन इस तरह विचित्र रूप से पूर्ण होकर प्रकाशित हुआ था।

लेकिन समुद्र के इस पार के घर से उस पार के घर में प्रवेश करने ही के लिये तो मैंने

यह यात्रा की नहीं थी; तय हुआ था कि पढ़ाई-लिखाई करूँगा; बैरिस्टर होकर देश लौटूँगा। अतएव एक दिन ब्राइटन के एक पब्लिक स्कूल में भर्ती हो गया। विद्यालय के अध्यक्ष शुरू दिन ही मेरे चेहरे की ओर ताककर बोल उठे, 'वाह! तुम्हारा सिर तो बहुत बढ़िया है' (What a splendid head you have !)। यह बात जो याद रह गई सो इसका कारण है। घर में मेरा दर्प हरण करने के लिये जिन्होंने प्रबल अध्यवसाय लेकर अविराम चेष्टा की थी, उन्होंने मुझे यह बात भली प्रकार समझा दी थी कि पृथ्वी के बहुत लोगों की तुलना में मेरे ललाट और मुख की श्री मध्यश्रेणी की ही कहला सकती है। आशा है पाठक इसे मेरा गुण ही समझेंगे कि मैंने उनकी बात पर पूरा विश्वास कर लिया था और अपने सम्बन्ध में सृष्टिकर्ता की नाना कृपणता का बोध करके मैं दुःख से चुपचाप रह गया था। इसी तरह उनके मत के साथ क्रमशः और भी दो-एक विषयों में विलायतवासियों का मतभेद देखकर मैंने कई बार गंभीर होकर सोचा है कि शायद दोनों देशों की विचार-प्रणाली और आदर्श संपूर्णतया भिन्न हैं।

ब्राइटन के इस स्कूल में एक बात लक्ष्य करके मुझे विस्मय हुआ, वह ऐसी कि विद्यार्थियों ने मेरे साथ ज़रा भी भद्दा व्यवहार नहीं किया। कई बार वे लोग मेरी जेब में संतरा-सेब आदि फल डालकर भाग जाया करते थे। मुझे विदेशी जानकर ही मेरे प्रति वे इस तरह सदय आचरण करते थे—ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

इस स्कूल में भी मेरा पढ़ना अधिक दिन नहीं चला—यह स्कूल का दोष नहीं है। उस समय तारक पालित महाशय इंग्लैण्ड में ही थे। वे समझ गए कि इस तरह मुझसे कुछ नहीं होने का। उन्होंने मँझले भैया से कहकर मुझे लन्दन बुलवाकर पहले एक आवास में अकेला छोड़ दिया। यह अवास रीजेण्ट-बाग़ के सामने ही था। तब घोरतर शीत पड़ रही थी। सामने के बाग़ में पेड़ों पर एक भी पत्ता नहीं; बर्फ़ से ढँकी टेढ़ी-तिरछी डालें लेकर वृक्षों की क़तार-की-क़तार आसमान की तरफ़ ताकती खड़ी हैं—यह देखकर जैसे मेरी हड्डियों के भीतर तक शीत घुस जाती। नवागत प्रवासी के लिये शीतकाल के लन्दन के समान निर्मम स्थान और नहीं। आसपास परिचित कोई नहीं; राह-घाट भी अभी अच्छी तरह जानी-पहचानी नहीं। सूने घर में बैठे हुए बाहर की ओर चुपचाप ताकते रहने के दिन फिर मेरे जीवन में आ पड़े। किंतु इस समय बाहर मनोरम कुछ भी नहीं है—उसके ललाट पर तनी भृकुटि ही भर है। आकाश का रंग मैला है, प्रकाश मृत व्यक्तियों की आँखों की तारिका के समान दीप्तिहीन है, दिशाएँ जैसे अपने को समेट-सी रही हैं—जगत में कहीं उदार आह्वान नहीं। घर में असबाब प्रायः कुछ भी नहीं था—दैवात् न जाने क्यों सिर्फ एक हार्मोनियम था। दिन जब खूब जल्दी ही अस्त होकर अँधियारा छा जाता तब मैं उसे ही अपने आप बजाया करता। कभी-कभी कोई भारतवासी भी

मिलने चले आते, पर उनके साथ मेरा परिचय खूब कम ही था। तब भी जब वे विदा लेकर चले जाते तब मन करता कि इसी समय उनका कोट पकड़कर उन्हें घर में खींच लाऊँ और बिठाऊँ।

जिन दिनों इसी जगह रहता था, मुझे लैटिन सिखाने के लिये एक सज्जन आया करते। अत्यंत बीमार, कपड़े फटे-पुराने—लगता, शीतकाल के नंगे वृक्षों के समान ही वे जैसे अपने को सर्दी से बचा नहीं पा रहे हैं। उनकी उम्र क्या रही होगी—सो पता नहीं, लेकिन वे अपनी अवस्था की अपेक्षा बूढ़े हो गए हैं, यह बात उन्हें देखते ही समझ में आ जाती। कभी-कभी पढ़ाते समय जैसे उन्हें बात ही नहीं मिलती : शर्मा जाते। उनके परिवार के सब लोग उन्हें वायुग्रस्त कहते थे। एक खयाल उनके सिर चढ़ा हुआ था। वे कहते, एक-एक युग में एक ही समय अलग-अलग देशों के मानव-समाज में एक ही भाव आविर्भूत हुआ करता है ; सभ्यता के तारतम्यानुसार उस भाव में रूपान्तर घटता है सही, किंतु हवा एक ही बहती है। एक-दूसरे को देखकर ही अनुकरण-द्वारा एक ही भाव फैल जाता हो, सो नहीं, कारण जहाँ एक-दूसरे को नहीं देख पाते वहाँ भी इसका उल्टा नहीं घटित होता। इस मत को सिद्ध करने के लिये वे बराबर तथ्य संग्रह किया करते और लिखा करते। यहाँ घर में अन्न नहीं, देह पर कपड़ा नहीं, उनकी लड़कियाँ उनके सिद्धांत पर श्रद्धा तक नहीं करतीं और शायद उल्टे इस पागलपन के लिये सदा उनकी भर्त्सना ही किया करतीं। कभी-कभी उनका मुँह देखकर ही समझ में आ जाता कि आज एकाध अच्छा-सा प्रमाण मिल गया है और लिखना भी काफ़ी अग्रसर हो रहा है। मैं उस दिन उसी विषय की चर्चा छेड़कर उनके उत्साह में और भी उत्साह सञ्चार करता। फिर किसी-किसी दिन वे बड़े उदास होकर आते, मानो जो भार उन्होंने लिया है उसे अब और नहीं ढो पा रहे हैं। उस दिन पढ़ाई में पग-पग पर बाधा पड़ती, आँखें जाने-किस शून्य की ओर ताकती रह जातीं, मन को वे किसी भी तरह लैटिन की पहली पुस्तक के व्याकरण के भीतर खींचकर नहीं ला पाते। भाव के भार और लिखने के ज़रूरी काम से झुके हुए इस अनशन-क्लिष्ट भले आदमी को देखकर मुझे बड़ी पीड़ा होती। यद्यपि अच्छी तरह समझ गया था कि इनकी सहायता से मेरी पढ़ाई ज़रा भी नहीं हो पाएगी, तब भी उन्हें विदा करने के लिये मन किसी भी तरह राज़ी नहीं होता था। जितने दिन उस घर में रहा उतने दिन ऐसे ही लैटिन पढ़ने के छल में कट गए। विदा माँगते समय जब मैं उनका वेतन उन्हें चुकाने लगा तब वे करुण स्वर में कह उठे—'मैंने तो सिर्फ तुम्हारा समय ही नष्ट किया है, काम तो कुछ भी नहीं किया! ना, मैं नहीं ले सकूँगा'। मैंने बड़े कष्ट से उन्हें लेने के लिये राज़ी किया था। मेरे इन लैटिन-शिक्षक ने यद्यपि कभी अपने मत को प्रमाण-सहित मेरे सामने प्रस्तुत नहीं किया, तब भी उनकी उस बात में मैंने आज तक अविश्वास नहीं किया है। अब भी मैं बराबर विश्वास करता हूँ कि सब मनुष्यों के मन में

एक अखण्ड, गभीर योग है ; उसके एक स्थान में जिस शक्ति की क्रिया होती हैं, वह गूढ़ भाव से अन्यत्र संक्रमित होती रहती है।

पालित महाशय मुझे यहाँ से बार्कर नामक एक शिक्षक के यहाँ लिवा ले गए। ये छात्रों को घर में पढ़ाकर परीक्षा के लिये तैयार किया करते थे। उनके यहाँ उनकी शांत-स्वभाव स्त्री को छोड़कर और ज़रा-सी भी कोई रम्य वस्तु नहीं थी। ऐसे शिक्षक को छात्र क्यों जुट जाते हैं यह समझ सकता हूँ, कारण बेचारे छात्रों को अपनी पसंदगी-नापसंदगी चलाने का मौक़ा ही कहाँ रहता है ; किंतु ऐसे आदमी को भला स्त्री क्योंकर मिल जाती है, यही सोचकर मन व्यथित हो उठता। श्रीमती बार्कर की एक मात्र सान्त्वना की सामग्री था एक कुत्ता, लेकिन जब भी वे पत्नी को दण्ड देना चाहते तब पीड़ा देते उसी कुत्ते को। इसलिये इस कुत्ते का सहारा लेकर मिसेज़ बार्कर ने अपनी वेदना का क्षेत्र कुछ और भी बढ़ा लिया था।

ऐसे ही समय जब बहूठकुरानी ने डेवनशायर के टर्की नगर से मुझे बुला भेजा, तब मैं आनन्दपूर्वक दौड़ गया। वहाँ पहाड़ पर, समुद्र में, फूल-बिछे हुए प्रान्त में, पाइन-वन की छाया तले अपने दोनों लीला-चञ्चल शिशु-साथियों को लेकर किस सुख से दिन काटे, कह नहीं सकता। दोनों आँखे जब कि मुग्ध हैं, मन आनन्द में डूबा हुआ है और अवकाशपूर्ण दिन निष्कंटक सुख का खेवा लिए रोज़ अनंत के निस्तब्ध नीलाकाश-समुद्र को पार करने जा रहे हैं, तब कविता लिखने की प्रेरणा क्यों मन में नहीं आ रही—यही बात सोचकर कभी-कभी आहत हुआ करता था। इसीसे एक दिन हाथ में कापी और सिर पर छाता लगाकर सुनील सागर के शैलतट पर कवि-कर्त्तव्य का पालन करने निकल पड़ा। जगह सुंदर चुनी थी, कारण वह तो छंद भी नहीं थी, भाव भी नहीं। एक समुन्नत शिलातट चिरव्यग्रता के समान नीचे शून्य की ओर झुका हुआ है, सामने फेनरेखाङ्कित तरल नीलिमा की दोला पर दिन का आकाश लहरों के कल-गान में हँसते हुए—झूलते हुए—सो रहा है। पीछे क़तार-बाँधे पाइन वृक्षों की सुरभित छाया वनलक्ष्मी के आलस्य से खिसके हुए आँचल के समान बिखरी पड़ी है। उसी शिलासन पर बैठकर 'मग्नतरी' नामक एक कविता लिख रहा था। कविता को वहीं समुद्र के जल में मग्न कर आने पर शायद आज बैठे-बैठे सोचा जा सकता कि चीज़ अच्छी ही हुई थी, किंतु वह रास्ता बंद हो गया है। दुर्भाग्यवश यद्यपि वह ग्रन्थावली से निर्वासित है, फिर भी जासूसी करने पर उसका पता लगाना मुश्किल नहीं होगा।

लेकिन कर्तव्य का सेवक निश्चित नहीं हुआ। फिर ताक़ीद आई, फिर लन्दन लौट जाना पड़ा। इस बार डाक्टर स्काट नामक एक भद्र गृहस्थ के घर में आश्रय मिला। एक दिन साँझ के समय बसना-बोरिया लेकर उनके घर में प्रवेश किया। घर में सिर्फ पके बालोंवाले डाक्टर,

उनकी पत्नी और बड़ी लड़की है ; दोनों छोटी लड़कियाँ भारतवासी अतिथि के आगमन की आशंका से घबराकर किसी संबंधी के यहाँ भाग गई हैं। मेरा खयाल है कि जब उन्हें खबर मिल गई कि अतिथि-द्वारा किसी सांघातिक विपत्ति के घटने की तात्कालिक संभावना नहीं है, तब वे लौट आईं। इस परिवार के निकट मैं थोड़े ही दिनों में बिल्कुल घर का आदमी हो गया। मिसेज़ स्काट मुझ पर अपने लड़के के समान ही स्नेह करती थीं। उनकी लड़कियाँ जिस तरह फ़िक्र के साथ मेरा यत्न करतीं, उस तरह आत्मीयों के निकट भी यत्न पाना कठिन है।

इस परिवार में रहकर मैं एक बात लक्ष्य कर पाया था ; मनुष्य की प्रकृति सभी जगह एक-सी है। हम लोग कहा करते हैं, और मैं स्वयं भी विश्वास करता था, कि पतिभक्ति हमारे देश की एक खास चीज़ है, यूरोप में वह नहीं है। किंतु अपने देश की साध्वी गृहिणियों के साथ मिसेज़ स्काट का मैंने तो विशेष फ़र्क नहीं देखा। पति की सेवा में उनका सम्पूर्ण मन लगा रहता था। मध्यवित्त घर की गिरिस्ती में नौकर-चाकर की झंझट नहीं, प्रायः सब काम अपने हाथ से ही उठाने होते, इसीसे पति के छोटे-मोटे काम मिसेज़ स्काट खुद ही करतीं। साँझ के समय पति काम करके घर लौटेंगे, इसके पहले ही आग के पास वे उनकी आरामकुर्सी और ऊनी जूते की जोड़ी अपने हाथ से सजा रखतीं। डाक्टर स्काट को क्या अच्छा लगता, क्या नहीं, कौन-सा व्यवहार उन्हें पसंद है, कौन-सा नहीं, इसे उनकी स्त्री तिल भर के लिये भी नहीं भूलतीं। सबेरे सिर्फ एक नौकरानी को लेकर दुतल्ले से लेकर नीचे के रसोईघर तक, सीढ़ी दरवाज़ों पर जड़ी हुई पीतल की चीज़ों आदि को याद कर-करके वे खुद धो-माँजकर झकाझक कर देतीं। इसके बाद दुनियादारी के जाने-कितने कामकाज तो रहते ही थे। घर-गिरिस्ती के काम-काज निबटाकर शाम के समय हम लोगों के गाने-बजाने में वे बराबर साथ देतीं। फ़ुर्सत के समय आमोद-प्रमोद को जमा सकना—यह भी तो गृहिणी के कर्त्तव्य का ही अंग है।

लड़कियों के साथ कभी-कभी शाम को टेबिल-संचालन होता। हम कुछ लोग मिलकर एक तिपाई में हाथ लगाए रहते और तिपाई घर-घर घर-घर करके पागल की तरह उछलकूद करती घूमने लगती। धीरे धीरे यहाँ तक हुआ कि हम लोग जिस चीज़ पर हाथ रखते वही डोलने लगती। मिसेज़ स्काट को यह बहुत पसंद हो, ऐसा नहीं ; वे गंभीर होकर सिर हिलाकर कहतीं, 'मेरी समझ में यह ठीक नहीं है।' किंतु फिर भी हम लोगों के इस लड़कपन के काण्ड को ज़बर्दस्ती नहीं रोकतीं, सह लिया करतीं। एक दिन मैं डाक्टर स्काट की लंबी टोपी लेकर उस पर हाथ रखकर ज्योंही चलाने लगा, वे दौड़ी आईं और कहने लगीं—'ना, ना, वह टोपी मत चलाना।' उनके पति की टोपी क्षण भर के लिये भी शैतान के संस्रव में आए, इसे वे सह नहीं सकीं।

इस सबके बीच एक बात समझ पाया—पति के प्रति उनकी भक्ति। उनके आत्म-विसर्जन की नम्रता की याद करके स्पष्ट समझ में आता है कि स्त्रियों के प्रेम की स्वाभाविक चरम परिणति भक्ति में है। जहाँ उनका प्रेम अपने विकास में कोई बाधा नहीं पाता, वहाँ स्वयं ही पूजा के स्तर तक आ पहुँचता है। जहाँ भोग-विलास का आयोजन प्रचुर होता है, जहाँ आमोद-प्रमोद ही दिन-रात को आविल कर रखते हैं, वहाँ यह प्रेम विकृत हो पड़ता है, वहाँ नारीप्रकृति अपना पूर्ण आनन्द नहीं पाती।

कुछ महीने यहीं कट गए। मँझले भैया के देश लौटने का समय आया। पिताजी ने लिख भेजा कि उनके साथ मुझे भी लौटना होगा। इस प्रस्ताव पर मैं बहुत खुश हुआ। देश का आलोक, देश का आकाश मुझे भीतर ही भीतर बुला रहा था। विदा के समय मिसेज़ स्काट मेरे दोनों हाथ अपने हाथों में लेकर रोती हुई कह उठीं, 'यदि इसी तरह चले जाना था, तब इतने थोड़े दिनों के लिये माया लगाने तुम आए ही क्यों भैया'। लन्दन में अब यह घर नहीं है। डाक्टर-परिवार का कोई परलोक में है कोई इहलोक में, कौन कहाँ है कुछ मालूम नहीं। किंतु मेरे मन के भीतर वह घर चिरप्रतिष्ठित है।

एक बार ठंड के दिनों में टनब्रिजवेल्स शहर के एक रास्ते से होकर जा रहा था; देखा एक आदमी रास्ते के किनारे खड़ा है। फटे जूते के भीतर से उसका पैर दिख रहा है, पावों में मोजे नहीं हैं और छाती भी कुछ खुली पड़ी है। भीख माँगना मना है इसलिये वह मुझसे बगैर कुछ कहे चुपचाप खड़ा रहा, केवल पल भर के लिये उसने मेरी ओर मुँह उठाकर नीरव ताक लिया। मैंने उसे जो मुद्रा दी वह उसके लिये आशा से परे थी। मेरे कुछ दूर चले जाने पर वह दौड़ा-दौड़ा आया और बोला, 'महाशय, अपने मुझे गलती से एक स्वर्णमुद्रा दे दी है'—यह कहते हुए वह सिक्का मुझे वापस करने लगा। यह घटना शायद मुझे याद न रहती, लेकिन ऐसी ही एक घटना और भी हुई थी। शायद टर्की स्टेशन पर जब पहले-पहल पहुँचा तब एक कुली ने मेरा सामान उठाकर किराए की गाड़ी पर चढ़ा दिया। पास में पेनीजातीय कोई मुद्रा न होने से एक आध-क्राउन ही उसे देकर मैं गाड़ी में चढ़ गया। ज़रा देर में देखता हूँ, वह कुली दौड़ा-दौड़ा आकर गाड़ीवान को रुकने के लिये कह रहा है। मैंने सोचा, वह मुझे सीधा-सादा परदेसी समझकर कुछ और वसूल करने आ रहा है। गाड़ी के रुकते ही वह मुझसे बोला, 'आपने शायद भूल से पेनी समझकर ही यह आध-क्राउन मुझे दे दिया है।'

जितने दिन इंग्लैण्ड में रहा, किसीने मुझे ठगा नहीं—ऐसा नहीं कह सकता, लेकिन वह तो याद रखने की बात नहीं है, और उसीको बड़ा करके देखने से अविचार होगा। मुझे यह बात खूब लगी है कि जिन्होंने स्वयं विश्वास नष्ट नहीं किया है वही दूसरों का विश्वास किया करते

हैं। हम लोग सब तरह से अपरिचित परदेसी ठहरे; मन होने पर मज़े में फाँकी देकर भाग सकते हैं; तब भी वहाँ हाट-बाज़ार में कभी किसीने ऐसा संदेह नहीं किया।

जितने दिन विलायत में रहा, मेरे प्रवास के साथ शुरू से लेकर आखिर तक एक प्रहसन जुड़ा रहा। भारतवर्ष के एक उच्च पदाधिकारी अँगरेज़ की विधवा स्त्री के साथ मेरी जान-पहचान हो गई थी। वे स्नेहवश मुझे 'रूबी' कहकर पुकारतीं। उनके पति की मृत्यु के उपलक्ष्य में उनके किसी भारतवासी बंधु ने अँगरेज़ी में एक विलाप-गान रचा था। उसके भाषा-नैपुण्य और कवित्वशक्ति के बारे में ज्यादा वाक्यव्यय नहीं करना चाहता। मेरी बदक़िस्मती से उसमें कहीं यह उल्लेख था कि कविता को विहाग राग में गाना होगा। मुझे उन्होंने एक दिन उसे विहाग में गाने के लिये पकड़ा। मैंने नितांत भलमन्सी की खातिर उनकी बात रख दी। उस अद्भुत कविता के साथ विहाग सुर का मेल किस क़दर विरूप हास्यकर हुआ था, इसे समझनेवाला वहाँ मुझे छोड़कर और कोई नहीं था। अपने स्वामी की शोकगाथा भारत-वर्षीय सुरों में सुनकर महिला खूब ही प्रसन्न हुईं। मैंने भी सोचा कि यह संवाद यहीं खत्म हुआ; किंतु असल में वैसा हुआ नहीं।

उन विधवा स्त्री के साथ निमंत्रण-सभाओं में प्रायः ही मेरी भेंट होती। भोजन के बाद जब सब स्त्री-पुरुष बैठकखाने में इकट्ठा होते, तब वे मुझसे वही विहाग गीत गाने के लिये अनुरोध करतीं। सभी सोचते, भारतवर्ष के संगीत का शायद एक आश्चर्यजनक नमूना सुन सकेंगे; सभी मिलकर सानुनय अनुरोध में साथ देते; महिला की जेब से वही छपा हुआ काग़ज़ निकल आता और मेरे कानों की जड़ें तक रक्ताभ हो उठतीं। नीचा सिर किए धीरे-धीरे लज्जित कंठ से गान शुरू करता। स्पष्ट समझ में आता कि इस शोकगाथा का फल मुझे छोड़कर और किसी के निकट यथेष्ट शोचनीय नहीं हो रहा है। गान खत्म होने पर दबी हुई हँसी के बीच से जब सुन पाता—"Thank you very much. How interesting !"—तब ठंड में भी मेरी देह पसीने से तर होने लगती। इस भले आदमी की मृत्यु मेरे लिये इतनी बड़ी दुर्घटना हो पड़ेगी—यह बात मेरे जन्मकाल या उनके मृत्युकाल में भला किसने सोची थी?

इसके बाद जब डाक्टर स्काट के घर रहकर मैंने लन्दन यूनिवर्सिटी में पढ़ना शुरू किया, तब कुछ दिन उन महिला के साथ भेंट-मुलाकात बंद रही। लन्दन से बाहर कुछ दूर उनका घर था; अपने यहाँ आने के लिये वे अक्सर ही अनुरोध-पूर्वक मुझे चिट्ठी लिखा करती थीं। मैं शोकगाथा के भय से किसी भी तरह राज़ी नहीं होता था। अंत में एक दिन उनका एक अनुनय से भरा टेलिग्राम पाया। तब कालेज जा रहा था। यहाँ कलकत्ता लौटने का वक्त भी निकट आ गया था। सोचा, यहाँ से चले जाने के पूर्व एक बार विधवा का अनुरोध पूरा कर आऊँ।

इसीलिये कालेज से घर न लौटकर सीधे स्टेशन चला गया। उस दिन योग अच्छा नहीं था। कड़ी सर्दी, बरफ़ पड़ती हुई, कुहरे से सब कुछ ढँका हुआ। जहाँ जाना था वही स्टेशन इस लाइन का आखिरी स्टेशन था, इससे मैं निश्चिंत था ; कब गाड़ी से उतरना होगा, यह जान रखने की ज़रूरत ही नहीं महसूस की। देखा, स्टेशन सभी दाईं ओर पड़ रहे हैं, इसीसे उसी तरफ़ की खिड़की बंद करके बैठ गया और गाड़ी की बत्ती के प्रकाश में एक किताब पढ़ने लगा। शीतकाल की साँझ जल्दी ही घनी हो आई, अंधकार उतरने लगा ; बाहर कुछ भी नहीं दिखाई देता। लन्दन से जो कई-एक यात्री आ रहे थे, वे लोग अपने-अपने गम्यस्थान पर एक-एक करके उतर गए।

जहाँ पहुँचना था उसके पूर्व-स्टेशन से गाड़ी चल दी। एक जगह गाड़ी एक बार रुकी। खिड़की से मुँह बढ़ाकर देखा, सब अंधकार है ; लोग नहीं, रोशनी नहीं, प्लैटफ़ार्म नहीं—कुछ भी नहीं। जो भीतर हैं वे असल बात नहीं जान पा रहे हैं। रेलगाड़ी क्यों अस्थान और असमय में रुककर खड़ी हो गई है—यह जानने-समझने का कोई ज़रिया न पाकर मैंने फिर किताब में मन लगा दिया। कुछ देर बाद वह पीछे लौटने लगी। जान गया कि रेलगाड़ी का चरित्र समझने की चेष्टा बेकार है। किंतु जब देखा कि जो स्टेशन छोड़ आया था वहीं फिर लौटकर गाड़ी आ खड़ी हुई है, तब और अधिक उदासीन रहना कठिन हो गया। स्टेशन के आदमी से पूछा, 'गाड़ी अमुक स्टेशन कब पहुँचेगी,' उत्तर मिला, 'वहीं से तो यह अभी चली आ रही है।' व्याकुल होकर पूछा—'जा कहाँ रही है अभी' ? जवाब मिला—'लन्दन'। मालूम हो गया कि यह गाड़ी खेवागाड़ी है, इस पार से उस पार पहुँचाया करती है। कुछ ठीक न कर पाकर हठात् वहीं उतर पड़ा। पूछने पर जाना कि उत्तर तरफ़ की गाड़ी आज रात तो नहीं मिल सकती। यह पूछने पर कि यहाँ नज़दीक में कोई सराय है, पता चला, पाँच मील के इर्द-गिर्द कोई नहीं।

सुबह दस बजे खाकर निकला था और इस बीच पानी भी नहीं नसीब हुआ। लेकिन वैराग्य के अतिरिक्त जब कोई और मार्ग न हो तब निवृत्ति ही सबसे सहज पथ होता है। मोटे ओवरकोट की सारी बटनें बन्द करके उसे गले तक खींचकर स्टेशन की बत्ती के नीचे एक बेंच पर बैठ गया और पढ़ने लगा। किताब थी स्पेन्सर की 'डेटा आफ़ एथिक्स' जो अभी हाल ही प्रकाशित हुई थी। जब और कोई गति नहीं है, तब इस तरह की किताब मन लगाकर पढ़ने का इतना भरपूर सुयोग और अवकाश फिर नहीं जुटेगा—यह कहकर मन को समझा लिया।

कुछ देर बाद पोर्टर ने आकर कहा—'आज एक स्पेशल आएगी, आध घंटे के भीतर ही आ पहुँचेगी।' खबर सुनकर मन में इतनी स्फूर्ति आगई कि ''डेटा आफ़ एथिक्स' में मन लगाना असाध्य हो उठा।

जहाँ सात बजे पहुँचने की बात थी वहाँ पहुँचते साढ़े नौ बज गए। घर-मालकिन ने कहा—'यह क्या, रूबी, बात क्या हुई ? अपने अद्भुत भ्रमण-वृत्तान्त को मैंने खूब गर्वपूर्वक सुनाया हो—सो नहीं। सहज भाव से कह गया।

तब आमंत्रित लोगों ने डिनर समाप्त कर दी थी। मेरा ख्याल था कि जब ग़लती जान-बूझकर नहीं हुई है, तब कोई कड़ी और बड़ी सज़ा नहीं भोगनी होगी, खासकर जब कि एक नारी ही इन्तज़ाम कर रही है। लेकिन भारतवर्ष के उच्चपदस्थ कर्मचारी की विधवा स्त्री बोल उठीं—'आओ रूबी, एक प्याला चाय पीनी ही होगी।'

मैं कभी चाय नहीं पीता किंतु जठराग्नि शांत करने में इससे थोड़ी-बहुत सहायता मिलेगी, इसलिये दो एक चक्राकार बिस्कुटों के संग वही कड़ी चाय निगल गया। बैठकखाने में आकर देखा, बहुत-सी प्राचीना स्त्रियों का समागम हुआ है। उन्हींमें एक सुंदरी युवती थीं जो अमेरिकन थीं और गृहस्वामी के तरुण भतीजे के साथ विवाह के पहले पूर्व-समुद्र-यात्रा का पर्याय समापन करने जा रही थीं। घर-मालकिन ने कहा—'तब नाच शुरू हो।' मुझे नाचने की कोई ज़रूरत नहीं थी और देह-मन की अवस्था भी ठीक नाच के अनुकूल नहीं थी, लेकिन इस दुनिया में जो अत्यंत भले हैं, वे असाध्य साधन कर दिखाते हैं। इसीलिये यद्यपि उन युवक-युवती के लिये ही यह नृत्य-सभा बुलाई गई थी, तथापि दस घण्टा उपवास करने के बाद दो टुकड़े बिस्कुट से उसे तोड़कर, तीनों पन बिता देनेवाली प्राचीना रमणियों के साथ नाच भी नाच गया।

तकलीफ़ की हद यहीं तक आकर नहीं खत्म हुई। निमंत्रण-कर्त्री पूछने लगीं, 'रूबी, आज तुम रात कहाँ बिताओगे ?' इस सवाल के लिये मैं एकबारगी तैयार नहीं था। हत-बुद्धि होकर जब मैंने उनकी ओर ताका तो वे कह उठीं—'दो पहर रात बीतते यहाँ की सराय बंद हो जाया करती है, इसलिये अभी ही तुम्हें वहाँ पहुँच जाना चाहिए।' सौजन्य का एकदम दिवाला नहीं निकल गया था ; सराय मुझे खुद नहीं खोजनी पड़ी, लालटेन लेकर एक नौकर मुझे वहाँ तक पहुँचा आया।

सोचा, शाप ही शायद वरदान हो उठा है, यहाँ संभवतः कुछ खाने को तो मिलेगा। पूछा, 'आमिष हो, निरामिष हो, ताज़ा हो बासी हो—कुछ खाने को मिलेगा तो ?' जवाब मिला—'मद्य जितनी चाहे मिल सकती है, खाद्य नहीं।' तब विचारा कि निद्रादेवी का हृदय कोमल होता है ; वे आहार न दें, विस्मृति तो देंगी ही। किंतु अपने विश्वव्यापी अंक में उस रात उन्होंने भी स्थान नहीं दिया। रेतीले पत्थर के फ़र्श वाला घर—काटता हुआ सर्द, और एक पुरानी खाट तथा मुँह धोने की एक जीर्ण टेबिल, यही कमरे का कुल सामान था।

प्रातःकाल आंग्ल-भारतीय विधवा ने नाश्ते के लिये बुलवा भेजा। अँगरेज़ी क़ायदे के अनुसार जिसे ठंडा खाना कहते हैं, उसीका आयोजन था। अर्थात् पिछली रात के भोज का बचाखुचा अन्न आज ठंडा होने पर खाया गया। इसमें से ज़रा-सा भी कुछ थोड़ी-बहुत गरम या कुनकुनी हालत में अगर कल मिल जाता, तो संसार में किसीका भी कोई खास नुक़सान नहीं होता, लेकिन फिर मेरा नृत्य पानी से बाहर ज़मीन पर फेंकी हुई 'कोई' नामक मछली के नृत्य की तरह ऐसा शोकावह भी तो नहीं हो पाता।

खा चुकने पर निमंत्रण-कर्त्री ने कहा—'जिन्हें गान सुनाने के लिये तुम्हें खासकर बुलाया है वे रोगशय्या पर पड़ी हैं। तुम्हें कमरे के बाहर से खड़े होकर गाना पड़ेगा।' ज़ीने की सीढ़ी पर मुझे खड़ा कर दिया गया। बंद दरवाजे की तरफ़ अँगुली दिखाकर गृहिणी ने बताया, वे उसी कमरे में हैं। मैंने उसी अदृश्य रहस्य की ओर अभिमुख होकर विहाग राग में शोक का गान गाया; इसके बाद रोगिणी की क्या हालत हुई, सो खबर न लोगों के मुँह से सुनने को मिली, न अखबार द्वारा ही जान पाया। लन्दन लौटने पर दो तीन दिन बिस्तर पर पड़े-पड़े बेरोक-भलमन्सी का प्रायश्चित्त किया। डाक्टर की लड़कियाँ कहने लगीं—'दोहाई तुम्हारी, इस निमंत्रण-कांड को हमारे देश के आतिथ्य का नमूना कहकर मत ग्रहण करना। यह तुम्हारे भारतवर्ष के ही नमक का असर है।'



अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और परवर्ती चित्रकला

विनोदविहारी मुखर्जी

अवनीन्द्रनाथ की प्राथमिक शिक्षा यूरोपीय चित्रकारों के निकट यूरोपीय क़ायदे से हुई थी। उनके पहले शिक्षक मि० गिलडी तत्कालीन कलकत्ता आर्ट स्कूल के सहकारी अध्यक्ष थे। केवल छः महीने तक ही अवनीन्द्रनाथ मि० गिलडी के निकट थे। उनके मतानुसार गिलडी साहब शबीह (पोर्ट्रेट) आँकने में उस्ताद थे और पेस्टेल-ड्राइङ्ग में आश्चर्यजनक रूप से दक्ष। अवनीन्द्रनाथ खास तौर से उनके पास पेस्टेल-पोर्ट्रेट का अंकन सीखने के लिये गए थे। अवनीन्द्रनाथ के द्वितीय शिक्षक थे मि० पामर जिनके पास वे दो बरस (१८४२-४४ ई०) रहे। ये उस समय कलकत्ते के विख्यात तैल-चित्रकार थे। अवनीन्द्रनाथ ने उनके निकट जड़-सृष्टि-चित्रण, माडेल ड्राइङ्ग, तैल और जल के रंगों की रचनाएँ आदि जो कुछ भी विलायती अंकन-प्रणाली की शिक्षा उस पद्धति के उस्ताद होने के लिये आवश्यक थी, सब पाई।

किंतु अवनीन्द्रनाथ ने विलायती चित्रांकन सीख तो लिया, तब भी उनकी रचना विलायती ढंग की हुई नहीं। एक अत्यंत साधारण छोटी-सी घटना ने उनके संपूर्ण जीवन का पथ निश्चित कर दिया। १८३४ ई० के निकट ठाकुर-परिवार की परिचित किसी एक अँगरेज़ महिला ने कुछ कविताएँ अपने ही हाथों विलायती ढंग से 'इल्यूमिनेट' करके अवनीन्द्रनाथ को उपहारस्वरूप भेंट कीं। इस श्रेणी की विलायती रचनाओं की एक विशेष धारा है जिसके अनुसार उज्ज्वल रंग और आलंकारिक रूप प्रस्तुत किए जाते हैं। ठीक इसी समय उन्होंने अपने एक संबंधी से लखनऊ की शैली में अंकित चित्रों का एक एल्बम भी पाया। देशी और विदेशी चित्रों के आलंकारिक रूप और प्रकाशन की सहज भंगी एक ही साथ तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर अवनीन्द्रनाथ के मन में नवीन शैली की रचना करने की प्रेरणा जाग उठी। रस-स्रष्टा के पथ पर कभी भाव भाषा खोजता है और कभी भाषा भाव को ढूँढ़ती-फिरती है। दोनों समस्याओं के भीतर से चित्रकार अवनीन्द्रनाथ ने चित्र की एक नवीन भाषा आविष्कार की। अब उनके लिये प्रश्न रह गया : इस भाषा का चित्र में किस तरह व्यवहार किया जाय?

उन्होंने वैष्णव-पदावली के विषय लेकर नये ढंग की रचनाएँ आँकनी शुरू कीं। अवनीन्द्रनाथ के खुदके जीवन में तथा आधुनिक भारतीय चित्रकला के इतिहास में सबसे पहले और सबसे अधिक उल्लेखनीय परिवर्त्तन इन्हीं चित्रों द्वारा हुआ है। उन्होंने आलंकारिक शैली

का अनुकरण किया था किंतु विलायती अंकन-विद्या के प्रभाव से उनके आदर्श में कुछ परिवर्तन भी हुआ। संपूर्ण रूप से देशी या विदेशी चित्र-पद्धति की हू-ब-हू नक़ल नहीं हुई; दोनोंका विचित्र संमिश्रण उनकी रचना में अभिव्यंजित हुआ जो एकबारगी नई चीज़ थी। अब तक विलायती और देशी दोनों अंकन-कौशलों के संस्कार जड़ हो गए थे; अवनीन्द्रनाथ दोनोंका मिश्रण करके गतिहीन संस्कार को सक्रिय कर सके। इस दृष्टि से उनके राधाकृष्ण की चित्रावली में आधुनिक भारतीय चित्र का रूप मिलता है।

समकालीन चित्र-संस्कृति की अवस्था के साथ तुलना करने से अवनीन्द्रनाथ की इन रचनाओं की क़ीमत समझ में आ जायगी। एक तरफ़ भारतीय चित्र-संस्कृति के अंतर्गत केवल संस्कारगत-चित्र का एक आलंकारिक ढाँचा मात्र रह गया था; चित्रकारों में शिल्पि-सुलभ उस्तादी ही मिलती थी, अपनी दृष्टि-भंगी नहीं; रस की दृष्टि से भारतीय चित्र नितान्त दरिद्र हो गया था। दूसरी तरफ़ विदेशी चित्र-संस्कृति और विलायती आदर्श के रूप में हमें अँगरेज़ी शिल्प के कुछ प्राणहीन, एकेडेमिक और गतानुगतिक संस्कार मिले थे। और साफ़ करके कहें तो कहना होगा—अनुकरण करने के कुछ कौशल-मात्र हमें प्राप्त हुए थे। इन संस्कारों के द्वारा हम यूरोपीय शिल्प-संस्कृति के अंतर में प्रवेश नहीं कर पाए।

सन् १८४५ से १८४६ ई० के बीच अवनीन्द्रनाथ ने कैसी परिपूर्ण सृष्टि हमें दी इसका उल्लेख उन्होंने खुद ही किया है। एक ओर सृष्टि करने का आनन्द और दूसरी ओर नवीन पथ पर चलने का कौतूहल—दोनोंने उनकी अग्रगति को पल भर के लिये भी श्लथ नहीं होने दिया। इसी तरह जब वे अपनी एकांत निर्जन रचना में एकदम डूबे हुए थे, तभी १८९७ ई० में ई० बी० हैवेल के साथ उनका प्रथम परिचय हुआ। हैवेल से परिचय के पूर्व अवनीन्द्रनाथ की इस नई चेष्टा को सबसे पहले उनके शिक्षक मि० पामर ने स्वीकार किया था। उन्होंने केवल उत्साहित ही किया हो सो नहीं, विलायती अंकन-विद्या की शिक्षा से निवृत्ति भी दी और चित्रकार के स्वतंत्र गौरव को सम्मानित करते हुए उन्हें अपनी शागिर्दी से मुक्त भी कर दिया।

हैवेल के साथ अवनीन्द्रनाथ के परिचय की घटना उनके जीवन तथा भारतीय शिल्प के इतिहास की स्मरणीय घटना है। शुरू से ही दोनों के नाम मिलकर कुछ इस तरह एक हो गए हैं कि उन्हें अलग अलग करके देखना हमने प्रायः भुला दिया है। और सचमुच ही इस युग के शिल्प-इतिहास में दोनोंको स्वतंत्र रूप में देख पाना संभव भी नहीं है। हैवेल की सहायता के बिना अवनीन्द्रनाथ का प्रभाव इतनी जल्दी जातीय शिल्पक्षेत्र में इतने व्यापक भाव से सहज ही फैल नहीं पाता। और अवनीन्द्रनाथ-जैसी इतनी बड़ी प्रतिभा को आकर्षित किए बिना हैवेल का आन्दोलन सार्थक हो पाता कि नहीं, इसमें संदेह है। वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से

अवनीन्द्रनाथ की प्रतिभा ने अपने विकास के लिये हैवेल अथवा किसी व्यक्ति-विशेष की अपेक्षा नहीं की। शिक्षक पामर को छोड़कर उनकी प्रतिभा के अभिनवत्व को समझ सके, ऐसा कोई समझदार आलोचक तब तक हुआ नहीं था। ख्याति का उग्र नशा और उपेक्षा का दुःख—दोनों ही उनके निकट अपरिचित थे। हैवेल ने उनकी प्रतिभा को पहचाना और परम आन्तरिकता के साथ उसके विकास के अनुकूल क्षेत्र तैयार करने की भरसक कोशिश की। हैवेल ने उन्हें दुनिया की नज़रों के सामने लाकर खड़ा किया। हैवेल के ही एकांत प्रयत्न और आग्रह से अवनीन्द्रनाथ ने कलकत्ता सरकारी आर्ट स्कूल के सहकारी अध्यक्ष का पद ग्रहण किया। हैवेल ने अवनीन्द्रनाथ को प्राचीन शिल्पादर्श के पुनरुद्धारक के नाम से विख्यात किया।

आर्टस्कूल में सम्मिलित होने के थोड़े ही समय बाद अवनीन्द्रनाथ की अंकन-भंगी में परिवर्तन दिखाई पड़ा। सब तरह से नवीन पारिपार्श्विक में अपने को उपलब्ध करने का सुयोग इसके पूर्व उन्हें कभी नहीं मिला था। उन्होंने देशी चित्र-संस्कृति को बुद्धि द्वारा, विचार-विश्लेषण द्वारा समझने का प्रयास किया। हैवेल खुद मुग़ल शैली के अनुवर्ती थे, उनकी सहायता से अवनीन्द्रनाथ ने मुग़ल शैली को पहचाना। इस शैली की विशेषताओं ने अवनीन्द्रनाथ की अंकन-भंगी में किस हद तक प्रधानता पाई है, इसे हम परवर्ती आलोचना में देख सकेंगे।

आर्टस्कूल में अवनीन्द्रनाथ के शामिल होने के कुछ ही दिनों बाद इस देश में जापानी चित्रकारों का आना-जाना शुरू हुआ। साधारणतया माना जाता है कि अवनीन्द्रनाथ की रचना—उनके परवर्ती चित्र—जापानी-प्रभावान्वित हैं। अँगरेज़ी आलोचकों ने उनकी शैली को 'इंडो-जापानी' स्टाइल नाम दिया था। उस मत में परिवर्तन करने की ज़रूरत है। इसके लिये इस देश में जापानी चित्रकारों के आगमन तथा उनके आदर्श आदि के संबंध में कुछ जान रखना ज़रूरी होगा। प्रायः हमारे देश के समान ही १९वीं सदी की जापानी शिल्प-संस्कृति भी यूरोपीय 'नैचरलिस्टिक आर्ट' के प्रभाव तथा पूर्व संस्कृति के ध्वंसावशेष में पड़ी हुई थी; उसकी हालत भी प्रायः हमारे-जैसी ही थी। इस अवस्था से जापानी चित्र को मुक्त करके पूर्वावस्था की ओर ले जाने की जिन्होंने उत्साहपूर्ण चेष्टा की थी, उनमें विख्यात पंडित फेनोलसा और शिल्प-रसिक ओकाकुरा सर्वप्रधान हैं। 'एशिया एक और अखण्ड' है—इस उक्ति के प्रवर्तक काकुज़ो ओकाकुरा के व्यक्तित्व ने समग्र भारतीय चित्र-क्षेत्र को चाहे न भी प्रभावित किया हो, किंतु अवनीन्द्र और उनके प्रथम अनुवर्तियों पर तथा और भी किसी-किसी क्षेत्र में गहरी छाप छोड़ी है, इसे कदाचित् बहुत लोग नहीं जानते। ओकाकुरा स्वामी विवेकानन्द के अतिथि होकर आए थे। बेलूर-मठ में रहते हुए ही उन्होंने अपनी 'आइडियल्स आफ़् दी ईस्ट' पुस्तक रची थी। ठाकुर-परिवार के साथ उनकी स्थायी मित्रता हो गई और इसी परिवार के माध्यम से बंगाल में सबसे पहले जापानी

रुचि की हवा बही। जापानी शिल्पियों के साथ साक्षात् परिचय का सुयोग भी पहले इसी परिवार ने पाया। ओकाकुरा का दोनों देशों के चित्रकारों के बीच संबंध स्थापित करने का उद्देश्य भी सार्थक हो सका। उन्हीं की चेष्टा से खाटसुता, हिसिडा और टाइकन आदि तरुण शिल्पियों का यहाँ आना हो सका। अवनीन्द्रनाथ के अतिथि होकर आनेवाले इन तीनों शिल्पियों में शायद टाइकन और हिसिडा ही सबसे पहले भारत आए। भारतीय शिल्प के साथ घनिष्ठ परिचय प्राप्त करना इन सब युवा चित्रकारों का उद्देश्य था। इन तरुण चित्रकारों के भीतर से पहले-पहल हमारे आधुनिक चित्र पर जापानी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्रत्यक्षतया यह प्रभाव अवनीन्द्रनाथ में प्रधान रूप से आया था। 'चित्र-संस्कृति' कहने से हम जो समझते हैं वैसा कोई आदर्श उन्होंने जापानी शिल्पियों के निकट नहीं पाया ; केवल जापानी चित्र के करण-कौशल की एक विशेष दिशा भर उन्होंने ग्रहण की। किस राह चलकर ग्रहण की, उसका वैशिष्ट्य क्या था, उसने अवनीन्द्र तथा उनके अनुवर्तियों को कितनी दूर तक प्रभावान्वित किया, इसपर थोड़ा विचार कर लिया जाय। इन सब जापानी-शिल्पियों के चित्रों में खास गुण कौन-से थे, यह जान लेने पर प्रभाव का ठीक स्वरूप सहज ही समझ में आ जायगा।

चित्र के अन्तर्गत रूप (फ़ार्म) को रंगों के आच्छादन द्वारा ढक देने का रिवाज़ जापानी शिल्पियों में खूब प्रचलित था। वातावरण के आभास (एट्मास्फ़िरिक इफेक्ट) को प्रकाश करने की यह चेष्टा जापान में विलायती असर के फलस्वरूप दिखाई दी थी। प्राच्य चित्र का एक प्रधान गुण (क्वालिटी) धरातल (सर्फेस) की जगह स्थान अथवा देश (स्पेस) को दिखाने की चेष्टा इनके चित्रों में खूब थी ; अर्थात् दो परिमाणवाले (टू डायमेंशनल) गुण के स्थान में तीन परिमाणवाला नैचरलिस्टिक गुण ही वहाँ अधिक स्पष्ट था। वर्ण के आच्छादन के लिये उपयोगी 'होतिहार' अर्थात् तूली जापानी चित्रकारों के पास थी। अवनीन्द्रनाथ जापानी चित्र के मुलायम रूप के प्रति सहज ही आकृष्ट हो गए और उन्होंने जापानी तूली ग्रहण की। यहाँ तक अवनीन्द्रनाथ के चित्र में वर्णों की उज्ज्वलता और रूप की आलङ्कारिकता उसके प्रधान गुण थे। जापानी कौशल के व्यवहार से यह आलङ्कारिक गुण किस तरह अदृश्य हुआ है, इसका परिचय हमें उनके विख्यात चित्र 'भारतमाता' और 'ऋतुसंहार-चित्रावली' की अनेक रचनाओं में मिलता है, विशेषतया 'अंतरिक्ष के यक्ष' नामक चित्र में। किंतु थोड़े ही दिनों बाद जापानी कौशल संपूर्ण भिन्न प्रकृति लेकर किस प्रकार प्रकाशित हुआ, इसे हम अनायास ही देख पाते हैं।

चित्र की आलोचना करते हुए करण-कौशल की बात को तनिक विस्तारपूर्वक कहना आवश्यक है। चित्र का रस करण-कौशल के साथ घनिष्ठ भाव से जुड़ा हुआ है। अवनीन्द्रनाथ के

संबंध में विस्तार की इसलिये और भी ज़रूरत है, कारण उनकी अंकन-भंगी ने परवर्ती युग को खूब ही प्रभावान्वित किया है, और उसका अनुकरण इतना अधिक हुआ है कि अवनीन्द्रनाथ के आदर्श के नाम से बहुत से क्षेत्रों में उनकी स्टाइल को ही ग्रहण करने की चेष्टा की गई है।

जिस समय अवनीन्द्रनाथ के निकट नन्दलाल वसु आदि उनके प्रथम दल के छात्र आए (१९०५ ई०), उस समय उनकी अँकन-भँगी में परिवर्तन शुरू हो गया था। जापानी प्रभाव इस समय की चित्र-रचना में खूब साफ़-साफ़ दिखाई पड़ता है। जिस समय विशिष्ट वर्णपद्धति को हमने "अवनीन्द्रनाथ की 'वाश' पद्धति" नाम दिया है, उसे तब उन्होंने शुरू ही किया था। १८९४ से १९००ई० तथा उसके कुछ बाद तक मुग़ल चित्र के संस्पर्श में उनकी रचना में आलङ्कारिक विन्यास, वर्णों की उज्ज्वलता और धरातल (सर्फ़ेस) की प्रधानता आदि जो विशेषताएँ दिखाई पड़ती थीं, वे कुछ हद तक शिथिल हुईं। जापानी वर्ण-व्यवहार-कौशल के परिणामस्वरूप जो नई चीज़ सामने आई वह आलंकारिक ढाँचे के विपरीत थी ; उसमें धरातल की जगह देश और औज्ज्वल्य के स्थान में वातावरण का आभास (atmospheric effect) प्रधान हो गया। अवनीन्द्रनाथ की इस शैली का यही अपरिणत रूप उनके छात्रों में प्रचलित हुआ। अधिकांशतया इसीने उनपर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ा और छात्र-परम्परा में यही अवनीन्द्रनाथ की 'स्टाइल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। लेकिन उनकी वास्तविक परिणत भंगी के साथ इसकी तुलना करने से दोनों में बहुत फ़र्क मिलेगा। 'भारतमाता' तथा 'मेघदूत' के कुछ चित्रों की शैली को हम 'इंडो-जापानी' स्टाइल कह सकते हैं लेकिन 'उमर खैयाम-चित्रावली' को इस नाम से नहीं पुकारा जा सकता। यह नई शैली सिर्फ जापानी प्रभाव की सहायता से ही संभव नहीं हुई, विलायती अंकन-कौशल की जानकारी तथा मुग़ल रीति की विशेषताओं ने भी आश्चर्यजनक रूप से उनकी इस अभिनव भंगी में प्रकाश पाया। अपने प्रथम जीवन में उन्होंने जिन तीन रीतियों से निकट की जान-पहचान की थी, वे तीनों नेचरलिस्टिक पद्धति की ओर रुजू थीं। जापानी रीति से भी उसके नैचरलिस्टिक गुण को ही उन्होंने लिया था और उसे प्रकाश करने का कौशल वे पहले से ही भली भाँति जानते थे। मुग़ल शैली के प्रधान नैचरलिस्टिक गुण की उनकी जानकारी की आलोचना हम कर ही आए हैं। अवनीन्द्रनाथ देशी चित्र के आलंकारिक गुण की तरफ़ आकृष्ट हुए थे, किंतु पीछे मुग़ल और जापानी रीति के संस्पर्श में वह आकर्षण क्यों शिथिल पड़ गया, इसे हम अब सहज ही समझ सकते हैं। आलंकारिक गुण ने उन्हें मुग्ध तो किया था किंतु उसकी दृष्टिभंगी से वे परिचित नहीं हुए थे। मुग़ल और जापानी चित्र के नैचरलिस्टिक वैशिष्ट्य को उन्होंने कहीं अधिक सरलता से समझ लिया था। यही नहीं, देश और वातावरण को प्रकाश करने की जापानी और परवर्ती मुग़ल रचना की विशेष दृष्टि-भंगी का मर्म भी उनके निकट अनायास ही सुपरिचित

था। विलायती टेकनीक की जानकारी के सहारे परवर्ती मुग़ल-चित्रकारों की उपर्युक्त विशेषता को और भी पूर्ण तथा निर्दोष रूप में उन्होंने पहचाना, पकड़ा तथा प्रकाश किया। वस्तुरूप को प्रस्तुत करने की भंगी उन्होंने मुग़ल अंकन-शैली से ही पाई थी किंतु वर्णों के सूक्ष्म शिल्प-विधान का ज्ञान उन्हें अधिकांश में अपनी विलायती एकेडेमिक विद्या के सहारे हुआ था।

जापानी संस्पर्श के प्रारंभिक काल में अवनीन्द्रनाथ की कृतियों में वर्ण-प्रयोग-कौशल प्रधान था, इसीसे उनके छात्रों के लिये अंकन रीति का अनुकरण करना संभव हुआ था। परवर्ती काल में—अर्थात् उमर खैयाम-चित्रावली के युग में—अंकन-भंगी के अंतराल में विलायती करण-कौशल की ऐसी आश्चर्यजनक जानकारी थी कि उसके अभाव में उनके छात्रों के लिये उनकी शैली को पकड़ पाना संभव ही नहीं हो सका। अतएव हम कह सकते हैं कि उनकी शैली के नाम पर छात्रों ने केवल काग़ज़ की धरातल (सर्फेस) को तोड़ सकने का विशेष कौशल-मात्र पाया। इसी कौशल के द्वारा प्राचीन उपाख्यान तथा काव्य के नाना विषयों का अवलंबन करके उनके प्रथम छात्रों ने चित्र-रचना शुरू की।

सन् १९०५ तक उनका कोई छात्र नहीं था। प्रारंभ में उनके प्रथम छात्र नन्दलाल वसु, परलोकगत सुरेन्द्रनाथ गंगोपाध्याय, और थोड़े ही दिनों बाद वेङ्कटप्पा, असितकुमार हालदार, हकीम मोहम्मद, शैलेन्द्रनाथ दे, क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार तथा समीउद्दीन ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया। इन प्रथम छात्रों ने अवनीन्द्रनाथ के निकट किस प्रकार शिक्षा पाई यह हमारे लिये जानने योग्य है, कारण उनकी शिक्षा-पद्धति समकालीन देशी-विदेशी सभी केन्द्रों से अलग थी।

ये सब छात्र जब अवनीन्द्रनाथ के निकट आए, उस समय नवीन देशी आदर्श के वैशिष्ट्य के विषय में एक गढ़ा-गढ़ाया मत प्रचलित हो चुका था, जिसका मूल सुर था 'भारतीयता'। अर्थात् विलायती नैचरलिज्म के विरुद्ध भारतीय भाव और चिन्ता को ही विषयवस्तु के रूप में ग्रहण करना हमारी चित्र-संस्कृति का सबसे बड़ा आदर्श माना जाता था। यहाँ विशेष रूप से एक बात याद कर लेनी होगी : अवनीन्द्रनाथ ने जब राधाकृष्ण-चित्रावली अंकित की थी, तब उनकी प्रकृत प्रेरणा सम्पूर्णतया स्रष्टा की प्रेरणा थी। यूरोपीय नैचरलिज्म अथवा अन्य किसी आदर्श का विरोध या प्रत्याख्यान करना उसका उद्देश्य नहीं था। आलंकारिक रूप और बंध की ओर वे आकृष्ट हुए थे किंतु उनके आकर्षण के पीछे कोई प्रतिक्रियामूलक मनोवृत्ति नहीं थी। परंतु बाद में कुछ काल के लिये हम उनमें यह भाव भी पाते हैं। यह भाव जो 'भारत-शिल्प-परिचय' नामक उनकी पुस्तक में खूब स्पष्ट हुआ था। इस मनोभाव के मूल में हैवेल का प्रभाव साफ़ पहचाना जा सकता है।

इसीके साथ-साथ उस युग के उग्र जातीयता-रोष का भी परिचय मिलता है। अवनीन्द्रनाथ

द्वारा प्रवर्तित और हैवेल द्वारा प्रचारित भारतीय शिल्प का यह आदर्श हमारे निकट जितना ही स्पष्ट होगा, उतना ही हम इस आन्दोलन के नीचे विद्यमान प्रतिक्रिया मूलक मनोभाव को समझ सकेंगे। प्रस्तुत प्रसंग में हम इतना ही जान रखें कि अवनीन्द्रनाथ के प्रथम छात्रगण एक प्रकार के प्रतिक्रियामूलक मनोभाव में आए। बाहर के रूप का अनुकरण करने की चेष्टा व्यर्थ है, नक़ल को शिल्प नहीं कह सकते—यही बलिष्ठ आदर्श छात्रों ने उनके निकट पाया। किस प्रकार किस रास्ते चलकर शिल्प साधना सार्थक होगी--इसके संबंध में अवनीन्द्रनाथ का मत जानने के लिये उनके उपदेशों को ही खोजना होगा। वे कहते थे : केवल झाड़-पेड़ और फल-पत्तों का अनुकरण करके तुम सौन्दर्य का पता नहीं लगा सकोगे ; सौन्दर्य भीतर की वस्तु है। कवि कालिदास के मेघदूत के वर्षा-रस से पहले मन को सिक्त करो, पीछे मेघ की ओर ताको ;—उनके उपदेश इसी तरह के थे। इससे उनके उद्देश्य को समझना कठिन नहीं है ; वे कल्पना को उद्बुद्ध करना चाहते थे। छात्रों की दृष्टि को वास्तवता से भाव की तरफ़ लौटा लाना चाहते थे। बिना भाषा का आश्रय लिये भाव प्रकाशित नहीं हो सकता। भाषा के सहित भाव का योग होने से ही हम उसे 'साहित्य' कहते हैं। इसी तरह भाव-रेखा-वर्ण का योग होने पर वह सृष्टि चित्र कहलाती है। भाव-लोक में प्रवेश करना जिस तरह कठिन है, भाव के साथ भाषा को युक्त करने का कौशल खोज सकना भी वैसा ही दुरूह है। रस-सृष्टि के क्षेत्र में यही एक तत्त्व शिक्षणीय है। टेकनीक की ज़रूरत भी यहीं है। अर्थात् 'किस तरह करना होगा' की समस्या ही टेकनीक की समस्या है। इस मामले में अवनीन्द्रनाथ ने छात्रों को पूरी आज़ादी दे रखी थी।

उस समय अवनीन्द्रनाथ की शैली को आदर्श रूप में ग्रहण करने के सिवाय छात्रों के निकट और कोई रास्ता नहीं था। कारण, नवीन आदर्श का रूप चाहे जो हो, उसका समुचित प्रकाश एकमात्र अवनीन्द्रनाथ में ही दिखाई दिया था। भारतीय चित्र का आदर्श और अवनीन्द्रनाथ का आदर्श अभिन्न भाव से एक थे। इसीसे उन्हें ही तत्कालीन आदर्श के प्रतीक के रूपमें देखना स्वाभाविक है। जिस पथ के अनुसंधानार्थ ये सब तरुण छात्र उस समय आए थे, उसे अवनीन्द्रनाथ ही आलोकित किए हुए थे। इसलिये उन्हींको संपूर्णतया अनुसरण करने के अतिरिक्त छात्रों के लिये और कोई राह न थी।

शिक्षार्थी का प्रधान उद्देश्य जो भी हो और उसका आवेग चाहे जितना भी तीव्र हो, पथ की सहज बाधाएँ अतिक्रम करने की शक्ति उसे पल्ले में रखनी ही पड़ती है। इसी शक्ति को रस-सृष्टि के क्षेत्र में हम 'टेकनीक' के नाम से पुकारते हैं। 'भाषा' अथवा 'टेकनीक' छात्र की इसी शक्ति को कहते हैं। इसीसे शिक्षार्थी मात्र को टेकनीक आयत्त करने की ज़रूरत होती

है। और यहाँ पर उस्ताद की आवश्यकता है। शिक्षार्थी पर शिक्षक का प्रभाव भी इसी दिशा से पड़ता है। अवनीन्द्रनाथ के शिष्य इसीलिये उनका कारण-कौशल सीखने के लिये बाध्य हुए थे। एक बात और भी हमें याद रखनी चाहिए। प्रत्येक शिक्षण-केन्द्र में कुछ विशेष नियमों का पालन और विशेष पद्धति का अनुसरण करना पड़ता है। आर्ट स्कूल के छात्रों को भी इसी जाति के एक निश्चित करीक्युलम का पालन करना पड़ता था। इन्हीं दोनों संयमों के बीच से छात्रों का यह प्रथम दल अपनी राह पर चल पड़ा।



पुस्तक-समीक्षा

दर्शन और जीवन—लेखक, श्री संपूर्णानन्द ; प्रकाशक, श्री परिपूर्णानंद वर्मा, कानपुर : पृष्ठ सं० १६० ।

प्रस्तुत पुस्तक में हिंदी जगत् के श्रेष्ठ विचारक श्रीसंपूर्णानंद जी ने जगत् और मानव-जीवन के संबंध में बहुत प्रकार की आलोचनाएँ की हैं। अपने विचार को उन्होंने किसी संकीर्ण ज्ञानक्षेत्र में आवद्ध नहीं रहने दिया। विज्ञानशास्त्र के आधुनिकतम आविष्कारों से लेकर प्राचीनकाल के विस्मृत आप्तानुभूतियों तक पर एकदम स्वतंत्र और निजी दृष्टि से विचार किया है। इन्द्रिय कहाँ तक ज्ञान-प्राप्ति के साधन हैं, उनके द्वारा उपलब्ध ज्ञानांश से जगत् और जीवन के विषय में किस किस प्रकार का आलोक मिलने की संभावनाएँ हैं ; मानसजगत् का स्वरूप क्या हो सकता है और क्या नहीं हो सकता, बाहर की वस्तु परमार्थतः सत्य है या नहीं, साक्षी के स्वरूप के विषय में निश्चय रूप से कुछ कहा जा सकता है या नहीं, ईश्वर की सिद्धि संभव है या नहीं आदि विविध प्रश्न उठाए हैं। पढ़ते पढ़ते पाठक विचित्र रहस्यलोक में प्रवेश करता है। लघुतम विद्युत्कणों से लेकर विशाल नीहारिका-गुच्छ के रहस्य को अनुभव करता हुआ वह अपने विषय में और अपने इर्द-गिर्द के विशाल आवरणात्मक जगत् के विषय में अधिकाधिक समुत्सुक होता है, शंकाएँ एक पर एक उसके सामने खड़ी होती जाती हैं, वह प्रत्येक में उलझता हुआ आगे बढ़ता है, और इस प्रकार वह पुस्तक के 'सत्यम्' नामक प्रथम खंड को समाप्त करता है। आरंभ में उसने प्रार्थना की थी कि 'ॐ असतो मा सद् गमय', असत् से मुझे सत् को ले चलो, पर समाप्त करते समय वह असत् और सत् के स्वरूप को ही ठीक ठीक नहीं पकड़ पाता। अबतक जाने हुए समस्त सत् के विषय में उसका मन संदेह-संकुल हो जाता है और वह कुछ उलझा हुआ-सा आगे बढ़ता है।

इसके बाद पुस्तक का 'शिवम्' नामक दूसरा खंड शुरू होता है। इसमें प्रार्थना की गई है कि मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले चलो—मृत्योर्मा अमृतं गमय। इस खंड में सदाचार और कर्तव्य-अकर्तव्य के विषय में शंकाएँ उठाई गई हैं। लेखक ने पुस्तक के आरंभ में ही प्रतिज्ञा की है कि वे केवल शंका ही शंका उठाएँगे, समाधान नहीं करेंगे और पुस्तक का दूसरा खंड समाप्त करते करते पाठक इस प्रतिज्ञा की कठोरता से बुरी तरह हैरान हो जाता है। पाठक को कहीं भी पैर रखने की जगह नहीं मिलती, जो कुछ भी उसे अच्छा बताया जाता है वह आगे चलकर कमज़ोर साबित होता है, उसके पैरों के नीचे से एक एक करके ईंटें खिसकती जाती हैं और वह मृत्यु से अमृत की ओर जाने का कोई रास्ता नहीं पाता। इसके बाद 'सुंदरम्' नामक तीसरा खंड आरंभ होता है। इस खंड में लेखक अपनी पुरानी प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं रह सके हैं। इसमें उनकी प्रवृत्ति कुछ समाधान की ओर भी है। यह बहुत अच्छा हुआ है क्योंकि यहाँ आकर पाठक कुछ आश्वस्त होता है। केवल शंकाओं को सुनते सुनते वह कुछ ऊबा हुआ है।

उपसंहार में लेखक ने कहा है कि "यद्यपि इस पुस्तक का उद्देश्य जिज्ञासा उत्पन्न करता था फिर भी मुझको स्वयं किस विचारधारा में स्वारस्य है उसकी ओर भी पुस्तक में संकेत हो ही गया है।" यह संकेत अद्वैततत्त्व की ओर है। जान पड़ता है इसी मत पर लेखक का पक्षपात है। अच्छा होता यदि पुस्तक के तीनों खंडों की उठाई हुई शंकाओं का कोई समाधान और सामंजस्य भी पुस्तक में कुछ अधिक विस्तार के साथ दिखा दिया गया होता।

जीवन और दर्शन वस्तुतः बुद्धिमूलक विवेचना का ग्रंथ है, अनुभूतिमूलक तत्त्वज्ञान का नहीं। पुस्तक पढ़ते पढ़ते बराबर यह लगता रहता है कि बौद्धिक विवेचन अपूर्ण है, तर्क अप्रतिष्ठ है और चरम और परम सत्य को बुद्धिबल से नहीं जाना जा सकता। स्वयं ग्रंथकार भी बुद्धिजन्य ज्ञान की अपेक्षा अनुभवप्राप्त सत्य को ही बहुमान देते मालूम होते हैं। इतनी साफ़ और सरल भाषा में ऐसे गहन विषय को समझाने में उन्हें खूब सफलता मिली है। यद्यपि वे शंकाओं को ही उत्तेजना देने का संकल्प करके क़लम उठाते हैं फिर भी अन्ततक वे समाधान की ओर झुके बिना नहीं रहते। सब मिलाकर यह ग्रंथ हिंदी पाठकों के लिये नवीन ज्ञान और प्रेरणा देनेवाला है। इस विचित्र युग में जब कि कर्तव्याकर्तव्य का द्वंद्व पद पद पर मानव मात्र को विचलित कर रहा है इस प्रकार की विचारोत्तेजक पुस्तकों का प्रकाशित होना बहुत आवश्यक है। हम लेखक को इसके लिये बधाई देते हैं।

—व्योमकेश शास्त्री

विचारधारा—ले० डा० धीरेन्द्र वर्मा ; प्रकाशक साहित्यभवन लिमिटेड, इलाहाबाद, मूल्य ३) ।

यह महत्त्वपूर्ण पुस्तक डा० धीरेन्द्र वर्मा के विचारपूर्ण लेखों का संग्रह है। इसमें पाँच खंड हैं : (१) खोज, (२) हिंदी प्रचार, (३) हिंदी साहित्य, (४) समाज तथा राजनीति और (५) आलोचना तथा मिश्रित। डा० वर्मा के सुलझे हुए विचारों का इस पुस्तक में एकत्र समावेश हुआ है। सभी लेख विचारोत्तेजक और तथ्यपूर्ण हैं। लेखक के विचारों में उन सिद्धान्तों का स्पष्ट भाषा में प्रतिपादन है जिन्हें वे सत्य समझते हैं। अपने सिद्धान्तों को स्थिर करते समय लेखक ने किसी दल-विशेष या वाद-विशेष को सन्तुष्ट या असन्तुष्ट करने की ओर ध्यान नहीं दिया है, बल्कि अपने अध्ययन और विचारों के बाद जिस नतीजे पर पहुँचे हैं उसे निस्संकोच प्रकट कर दिया है। संयुक्तप्रान्त और हिंदी-भाषी प्रदेशों की आन्तरिक समस्याओं पर लेखक के विचार ध्यान देने योग्य हैं। उन्होंने उन समस्त हेतुओं की गहराई में जाने का प्रयत्न किया है जिनके कारण हिंदी-भाषी उपेक्षित हैं, हिंदी प्रान्तों की जनता के सुख दुख भुला दिए गए हैं, और हिंदी बोलनेवाली जनता की प्रवृत्ति आत्माभिमुखी होने में बाधा पा रही है। साधारणतः डाक्टर साहब के अधिकांश लेखों का वक्तव्य विषय इन चार प्रश्नों में से किसी एक या अधिक पर केंद्रित है (१) हिंदी-भाषी प्रदेशों का नाम, (२) हिंदी-भाषी प्रदेशों

की सीमा (३) हिंदी-उर्दू समस्या और (४) हिंदी संस्कृति। प्रथम प्रश्न को प्राचीन और अर्वाचीन सभी दृष्टियों से बिचारने के बाद वे 'हिंद' नाम को अधिक पसंद करते हैं। द्वितीय प्रश्न पर डाक्टर साहब ने नाना दृष्टियों से विचार किया है। प्राचीनकाल के जनपदों के साथ आधुनिक बोलियोंवाले प्रदेशों की तुलनावाला लेख बहुत मनोरंजक है। इस प्रश्न पर विचार करने के बाद साधारण रूप से उनको इस नतीजे पर पहुँचना पड़ा है कि समूचा हिंदी-भाषी भारतवर्ष हिंद प्रान्त माना-जाना चाहिए और दिल्ली अजमेर, युक्तप्रान्त, हिंदी मध्यप्रान्त आदि कृत्रिम विभागों को हटा देना चाहिए। अधिक से अधिक बिहार और राजपूताने को वे इस प्रान्त के बाहर रहने देने की बात सोच सकते हैं। तीसरे प्रश्न पर भी डाक्टर साहब ने पर्याप्त विचार किया है। वे संस्कृत से चिढ़ते नहीं हैं और हिंदी को अपने शुद्धरूप में पनपने देने के पक्षपाती हैं। इस स्वाभाविक विकास के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा को डाक्टर वर्मा सहन नहीं कर सकते। वह राष्ट्रभाषा के बनाने के मूल्य पर हिंदी की विशेषताओं को नष्ट होने देना पसंद नहीं करते। उनके हृदय में हिंदी-संस्कृति का अभिमान है। हिंदी के प्रति उनके हृदय में किस श्रेणी का दर्द है वह निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट होता है--"हिंदी राष्ट्रभाषा हो या न हो—उर्दू के मुक़ाबिले में इसके राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो सकने की बहुत कम सम्भावना है—किन्तु वह १०-१२ करोड़ हिंदी-भाषियों की अपनी एक मात्र साहित्यिक भाषा तो है ही, और सदा रहेगी। इस ध्रुव-सत्यकी ओर से आँख मीचकर मृगतृष्णा के पीछे भटकना कहाँ तक उचित है? १०-१२ करोड़ प्राणियों की साहित्यिक भाषा को नष्ट-भ्रष्ट किये विना राष्ट्रभाषा समस्या को सुलझाने में अन्य प्रान्तों का हाथ बँटाने के लिये हम हिंदी भाषियों को सदा उद्यत रहना चाहिए। सब कुछ होने पर भी राष्ट्रभाषा समस्या अधिक से अधिक चंद लाख लोगों के बाह्य व्यवहार की समस्या है, किन्तु मातृभाषा हिंदी की समस्या करोड़ों के हृदय और मस्तिष्क से संबंध रखनेवाली समस्या है। हमें राष्ट्रभाषा का कोई भी रूप और कोई भी लिपि स्वीकृत कर लेनी चाहिये, केवल एक शर्त पर कि हिंदी हिंदियों के लिये छोड़ दी जाय। कोई पागल आत्मघात करले, इसका तो कोई इलाज नहीं और न इसकी कोई शिकायत ही हो सकती है।"

पुस्तक की भाषा साफ़, विचार सुलझे हुए और प्रतिपादन शैली युक्तिपूर्ण है। डा० वर्मा के वक्तव्य विषय से सर्वत्र सहमत चाहे न हुआ जाय पर उनकी युक्ति की गंभीरता निश्चय ही अनुभूत होती है। प्रत्येक हिंदी साहित्यिक को इस पुस्तक का पाठ करना चाहिए। इन लेखों का प्रकाशन राष्ट्र-हित का कार्य है क्योंकि इनमें जिन समस्याओं पर विचार किया गया है वे राष्ट्रीय निर्माण को बहुत दूर तक प्रभावित करती हैं। इन पर विचार करते समय जिस गंभीरता और अध्यवसाय की ज़रूरत है, साधारणतः उसकी उपेक्षा की जाती है। डा० वर्मा ने उचित दिशा बताई है। और इस प्रश्न पर विचार करने वालों को इस दिशा में अवश्य सोचना चाहिएं।

—ह० द्वि०

जैन साहित्य और इतिहास—लेखक, पं० नाथूराम प्रेमी ; प्रकाशक, हिंदी-ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय, बंबई ; पृ० संख्या ६१५ ; मूल्य तीन रुपये ।

जैन साहित्य बहुत विशाल और गंभीर है। अब तक इस साहित्य की बहुत कम पुस्तकें सुसंपादित होकर प्रकाशित हुई हैं। जो लोग इस साहित्य की गहराई में जाना चाहते हैं उनके लिये पुरानी हस्तलिखित प्रतियों का सहारा लेना बहुत आवश्यक है। व्याकरण, काव्य, न्याय, पुराण, इतिहास ज्योतिष, आयुर्वेद आदि कोई भी ऐसा साहित्यांग नहीं है जिस पर जैन पंडितों ने प्रामाणिक ग्रन्थ न लिखे हों। बौद्ध लोगों की अपेक्षा वे इन शास्त्रों में अधिक असाम्प्रदायिक रहे हैं। यह दुर्भाग्य ही कहा जाना चाहिए कि इस विशाल साहित्य के इतिहास की छानबीन अभी तक अच्छी तरह से नहीं हुई है। आजकल जैन पंडितों में से कुछ ने इस दिशा में कुछ कार्य किया है पर उसमें अन्ततक साम्प्रदायिक दृष्टि ही प्रबल हो उठती है। साधारणतः ऐसे विद्वानों के ग्रन्थ जैन पाठकों को संबोधन करके ही लिखे जाते हैं। ऐसी स्थिति में पं० नाथूरामजी प्रेमी का यह ग्रन्थ बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। प्रेमी जी ने साम्प्रदायिक दृष्टि से ग्रन्थों और ग्रन्थकारों पर विचार नहीं किया। उन्होंने किसी ग्रन्थ या ग्रन्थकार का महत्त्व उसकी अपनी कृति पर से आंकने का प्रयत्न किया है। इसके लिये उन्हें बहुत-सी अप्रकाशित हस्तलिखित प्रतियों की जांच करनी पड़ी है। यद्यपि पुस्तक के लेख संग्रहमात्र होने के कारण परस्पर असंबद्ध हैं और इतिहास होने की अपेक्षा इतिहास की सामग्री ही अधिक हैं पर उनमें इतने अधिक ज्ञातव्य तथ्य भरे हैं कि जैन साहित्य का विद्यार्थी इनकी उपेक्षा नहीं कर सकता। उनके यापनीय साहित्य वाले लेख बहुत खोजपूर्ण और नवीन हैं। जैन वैयाकरण देवनंदि और शाकटायन विषयक लेख बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण रखने वालों की भाँति प्रेमी जी ने शाकटायन को पाणिनि-पूर्व शाकटायन के साथ घुला नहीं दिया है। अपभ्रंश साहित्य के अनेक ग्रन्थकारों के विषय में प्रेमी जी ने नया आलोकपात किया है। पुष्पदन्त, स्वयंभू और त्रिभुवन स्वयंभू आदि ग्रन्थकारों के विषय में प्रेमी जी ने अनेक ज्ञातव्य तथ्य संग्रह किए हैं। तीन धनपालों और चार वाग्भटों का पृथक्करण काफ़ी मनोरंजक और महत्त्वपूर्ण है। हिंदी-ग्रन्थ-रत्नाकर और माणिक्यचंद्र ग्रन्थमाला जैसी महत्त्वपूर्ण मालाओं का संपादन और प्रकाशन करने के बाद भी इतने गंभीर अध्ययन के लिये प्रेमी जी ने कैसे समय निकाल लिया है, यह सोचकर आश्चर्य होता है। जैन रामायण पद्मपुराण के संबंध में प्रेमी जी की आलोचना कुछ और विस्तृत होती तो उन अजैन विद्यार्थियों का उपकार होता जिन्हें पद्मपुराण का परिचय नहीं है। यह विशाल ग्रन्थ प्रेमी जी के अध्ययन का एक ही हिस्सा है, दूसरा अभी प्रकाशित होने को है। हम उत्सुकता पूर्वक उस दूसरे हिस्से की भी प्रतीक्षा करते हैं।

—व्यो० शा०

शेखर : एक जीवनी—ले० श्री 'अज्ञेय' ; प्रकाशक, सरस्वती प्रेस, बनारस, पृ० सं० ३५६ ; मूल्य ३)

हिंदी के उपन्यास-साहित्य में ऐसे चरित्र वाले व्यक्तियों की बड़ी कमी थी जो इस जटिल युग के अनेक प्रश्नों का तात्पर्य ठीक प्रत्यक्ष कर चुके हों और इस प्रत्यक्षीकरण से जिनका मस्तिष्क शतशः संक्षुब्ध हो चुका हो। 'अज्ञेय' के इस उपन्यास ने इस कमी की निश्चय ही पूर्ति की है। यह और भी शुभ लक्षण है कि इस क्षेत्र में 'अज्ञेय' के साथी तेज़ी से बढ़ रहे हैं। इस युग का प्रतिनिधि लेखक वही हो सकता है जिसमें तीव्र संवेदना के साथ ही प्रखर बुद्धि भी हो। ज़रूरी है कि बुद्धि के आलोक में संवेदनाओं की सही जाँच की जा सके, और उसके बाद यदि संभव हो तो परिणामों पर पहुँचा जा सके। विविध कारणों से आज मनुष्य का मानसिक विघटन हो गया है। इस युग में, जो इस विघटन के आवर्तों में छिन्न-भिन्न होकर गतिहीन हो रहा है, उसे सुपथ पर बढ़ाने के लिये एकदम नवीन नीति और नवीन धर्म का निर्माण होना ज़रूरी है। निश्चित है कि इस महान् कार्य का बोझ कोरी भावुकता नहीं उठा सकती, यह प्रचण्ड बुद्धि का ही काम होगा जो एक ही साथ भावापन्न भी हो और आलोचना के लिये अनासक्त भी। श्री अज्ञेय में यह गुण अपनी उत्कृष्ट अवस्था में दिखता है। 'शेखर' वास्तव में विद्रोही व्यक्तित्व के विकास का अंकन है। विद्रोही हमारे युग की अन्यतम श्रेष्ठ आवश्यकता है। वह व्यक्तित्व का सहज विकास और इस अभीप्सित की प्राप्ति के लिये बाधा-हीन स्वतंत्रता चाहता है। जहाँ भी स्वतंत्रता आहत हुई, वहीं उसका उत्कट युद्ध-प्रेम जाग्रत् हुआ। साथी की उसे परवाह नहीं रहती। आज के इस बाधाव्यस्त युग में विद्रोही का यह निस्संग भाव बड़ा विस्मयकर और साथ ही अत्यन्त प्राणप्रद दृश्य है। निस्संगता साधना की कठिनता का माप है। विद्रोही एक अत्यन्त सप्राण चरित्र है, बाहरी आधारों का उसके कोमल चित्त पर बड़ा गहरा असर पड़ता है उसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी उग्र होती है। सत्य और न्याय को हर बार ठीक समझ लेने की उसकी शक्ति उसे केवल ध्वंस का ही नहीं, नवजन्म का भी कर्ता बना देती है।

शेखरमें व्यक्तित्व की निर्मायक सभी वृत्तियों का अलग अलग विकास स्पष्ट किया गया है। विविध प्रकरणों में सम्बद्ध घटनाओं का संकलन किया है।—ये घटनायें कम हैं, फिरभी मानस को ताड़ित करने की एकत्र शक्ति से संपन्न इन्हीं सार्थक घटनाओं में प्रत्येक प्रवृत्ति के जन्म से परिणति तक का इतिहास प्रस्तुत हुआ है। प्रयोजनवश इन घटनाओं के निरूपण में लेखक ने नायक के मानसिक क्षोभ का बड़ा ही सूक्ष्म वर्णन किया है। आत्म-विश्लेषण और आत्मपरीक्षण में लेखक की इस गहराई को देखकर बार बार स्तम्भित होना पड़ता है। घटनाओं के चित्रण की यही विशेषता वर्णना की प्रधान भित्ति है, इसीकी ओर लेखक की अभिरुचि है। इन विक्षुब्ध मानसिक आन्दोलनों में नाटक का आनन्द आता है। शैली और भाषा लेखक की बिलकुल अपनी है। अनुभूतियाँ सूक्ष्म हैं, और उन्हें गोचर कराने में लेखक शब्दों के प्रयोग में बड़ा सचेष्ट रहा है। असाधारण अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिये लेखक ने साहस-पूर्वक, पर निश्चय के साथ, प्राकृतिक प्रतीकों का अवलम्बन किया है, एक उदाहरण : तुम हँसी ! और

उस हँसी की ध्वनि के आसरे ही मुझे एकदम वह क्षण प्राप्त हुआ जो जीवन में कभी कभी ही आता है। बहुत ही स्पष्ट, अचूक दृष्टि से मैंने देखा, मेघाच्छन्न आकाश, प्रकाशहीन सायंकाल, पवन अंचल, चंचला भी अदृश्य, और उड़ते उड़ते सहसा पंख टूट जाने से विवश गिरता हुआ अकेला ही अकेला एक पक्षी जो गिरता है और फिर अपनी उड़ान पा लेने के लिये छटपटा रहा है, छटपटा रहा है।

किन्तु फिर भी भाषा की उर्वरता अज्ञेय जी के वश की नहीं है। उनके मस्तिष्क की गठन वैज्ञानिक है। उनकी प्रतीतियाँ असंदिग्ध हैं, पर भेदोपभेदों की रुचि के कारण व्यंजना अवरुद्ध हुई है। घटनाओं के विवरण में नाटकीय भंगी का प्रयोग बड़ी सफलता के साथ किया गया है। सर्वत्र रचना एक दुर्वार आवेग से आक्रान्त है। इसका प्रमाण सर्वत्र मिलता रहता है। वे बराबर कही हुई बात की जाँच करते हुए चलते हैं। हमारी चिन्तना जब विचारों में समाप्त होने लगती है, तब तरल सत्य का एक अंश छिपने भी लगता है—क्योंकि सत्य केवल देखा जा सकता है, शब्दों में वह संकुचित होता है—इसलिये अज्ञेय ऐसे अवसरों पर विचारों को प्रगट करते हुए, सत्य की समग्रता की रक्षा के लिये इन विचारों में अनुस्यूत द्वंद्व का उल्लेख करते हैं। वर्णना का एक और अंश उल्लिखित घटनाओं की पारिपार्श्विक प्रकृति को लेकर निर्मित हुआ है। इसमें अज्ञेय जी असाधारणता की ओर झुकते हैं। प्रकृति के उन्हीं रूपों का उल्लेख उन्होंने किया हैं जिसके प्रभाव में मनुष्य अपने भीतर गहरा उतरकर चिन्तक बनता है, केवल भोग्य या साधारण दृश्यों के वर्णन में उनका मन नहीं लगता। ये वर्णन घटना के अभिन्न अंग हैं। सम्बन्ध इतना घनिष्ठ है कि इन्हें उनका उत्पादक भी कहा जा सकता है।

भावों के आकलन में लेखक ने वादवाही लेखकों की भाँति जीवन के प्रस्तार को कहीं भी संकीर्ण नहीं बनाया। जहाँ लेखक ने कठोर यथार्थ को अपनाया है, वहाँ उसने रोमान्स और रहस्य का वर्जन भी नहीं किया है। भावों की केवल व्यंजना ही नहीं हुई है, जहाँ तक हो सकता है उनका वैज्ञानिक विवेचन भी हुआ है; जहाँ नहीं हो सकता वहाँ उनकी अज्ञेयता को अक्षत रहने दिया गया है।

मूल मानसिक वृत्तियों के प्रकाश की कथा मनोविज्ञान के पूर्ण अधिकार के साथ कही गई है। प्रेम और सेक्स का विवेचन उनके सुतीक्ष्ण अवलोकन का प्रमाण है। सब पाठक सब जगह शेखर के साथ सहमत होंगे इसमें सन्देह है। लेखक के अनुसार यह रचना एक व्यक्तित्व का अध्ययन है, उसमें लेखक को देखना उचित नहीं है, क्योंकि शेखर के मत लेखक के मत नहीं भी हैं। केवल इतना ही देखना होगा कि उसके चारित्रिक प्रस्फुटन में मनोवैज्ञानिक संगति है या नहीं। फिर भी शेखर लेखक का मनोनीत सुपात्र तो है ही। यह भी नहीं तो किसी उपाय द्वारा शेखर की आलोचना भी तो रचना में कहीं होनी ही चाहिये, अन्यथा उसके साथ अपनी गहरी सहानुभूति के कारण पाठक भ्रान्ति की ओर भी जा सकता है। यदि यह ठीक है तो कहना है कि ईश्वर—परवर्ती शक्ति—में विश्वास की प्रवृत्ति के साथ न्याय नहीं हुआ। कहा गया है कि ईश्वर की कल्पना से जिज्ञासा कुण्ठित होती है। एक तो ईश्वर कल्पना नहीं है, दूसरे ईश्वर अन्वेषण का अन्तिम लक्ष्य है, हमारी जिज्ञासा की पराकाष्ठा तो उसीको लेकर है। यों पुस्तक में

दो एक और प्रसंग भी हैं जहाँ ईश्वर को कल्पना ही नहीं माना गया है, जहाँ उन भावों की चर्चा है जिनसे ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास का प्रारम्भ होता है। विद्रोह के प्रेरक कारणों में माँ की चर्चा भी किसी मनोविज्ञान की किताब में लिखे हुए वचन की विजय है। न हो, तो कम से कम लेखक ने तूल दिया है—इतना निश्चय है।

भाषा साहित्यिक अतिरंजना के कुप्रभाव से मुक्त है। साहित्यिकता भाषा और शैली को निस्सार कर देती है। वर्णना का क्रम खूब प्रकृत और वास्तव के समीप है, औपन्यासिकत्व उसमें नहीं है। इसीलिये लेखन अत्यन्त मार्मिक हुआ है। वक्तव्य की प्रधानता इसका एक और कारण है।

शेखर के परवर्ती भाग पढ़ने की आवश्यकता बनी हुई है। देखना है कि वह अपनी सभी संभावनाओं को पनपने का ठीक अवसर देता है या नहीं। आगे चलकर उसके जीवन-दर्शन को देखने का उचित समय आवेगा। पुस्तक की श्रेष्ठता निर्विवाद है। आशा है कि हिन्दीभाषी उसका यथोचित सम्मान करेंगे।

—अनन्दीलाल तिवारी

त्रिभक्ति-संवाद—जैनमुनि उपाध्याय श्री आत्माराम जी कृत और श्री लाला सीताराम जैन द्वारा लुधियाना से प्रकाशित ; पृष्ठ संख्या ५५+२८

यह पुस्तक चार भागों में विभक्त है ; पूर्वरङ्ग, मुख्य विषय, उपसंहार और परिशिष्ट। चम्पा के पूर्णभद्र उद्यान के मनोहर वर्णन के साथ पूर्वरङ्ग से पुस्तक शुरू होती है। इसमें भगवान् महावीर विभक्तियों के संबंध में कुछ उपदेश देना चाहते हैं तो सातो विभक्तियाँ एक एक करके मुनि के रूपमें आकर अपना अपना गुणगान करना चाहती हैं। इस के बाद मुख्य पुस्तक में सब विभक्तियाँ अपने अपने गुणगान के बहाने अपना अपना अर्थ, उनके उपयोग का विषय, कारक विभक्ति, उपपद विभक्ति, विभक्ति का चिह्न, विभक्ति के योग में धर्म शब्द का रूप इत्यादि प्रसङ्गों का उल्लेख करती हैं। उपसंहार में भगवान् महावीर विभक्तियों के झगड़े को मिटाने की कोशिश करते हैं। इसमें मुनिजी ने विभक्तियों के क्रम को भी सकारण समझाने की कोशिश की है। यहाँ विभक्ति-विपर्यय (द्वितीया के स्थल में तृतीया होना इत्यादि) के कुछ स्थलों का भी उल्लेख है। अन्त में 'निद्देसे पढमा होइ वित्तिया उवएसणे' इत्यादि विभक्तियों का साधारण अर्थ भी प्रदत्त है। इसमें जितने सूत्रों का प्रसङ्ग आया है, परिशिष्ट में सब का संग्रह है। ये सब सूत्र शाकटायन व्याकरण के हैं ; इसलिए परिशिष्ट में हैम और पाणिनीय व्याकरण के सूत्रों से तुलना की गई है।

लेकिन इसमें एक दो बातें जो मनमें खटकीं, उसको प्रकाश कर देना ही मैं अच्छा समझता हूँ। भूमिका में कहा गया है कि शाकटायन व्याकरण के नाम से प्रसिद्ध 'शब्दानुशासन' व्याकरण के रचयिता जैन शाकटायन और पाणिनि के शाकटायन एक हैं और इसलिए पाणिनि के पहिले के हैं। गुस्तव अपर्ट का भी यही मत है। लेकिन यह ठीक नहीं मालूम होता।

जैन शाकटायन पाणिनि से बहुत अर्वाचीन हैं। इसका उपपादन "जैन साहित्य और इतिहास" में श्रीयुक्त नाथूराम प्रेमी जी ने किया है। फिर किसीके प्राचीन या अर्वाचीन हो जाने से महत्ता बढ़ या घट नहीं जाती।

दूसरी बात यह है कि—कारक और विभक्ति का साफ़ साफ़ प्रभेद नहीं दिखाया गया है ; दोनों घुल मिल गई हैं। किन्तु दोनों एक चीज़ नहीं हैं। एक कारक में अनेक विभक्तियाँ हो सकती हैं और अनेक कारक में एक विभक्ति भी। कर्त्ता जब उक्त या गौण होता है तो प्रथमा विभक्ति आती है, और जब अनुक्त या मुख्य होता है तो तृतीया। इसलिये कर्त्ता में प्रथमा कहना ठीक नहीं है। कर्म के सम्बन्ध में भी यही बात है। उक्त कर्म में भी प्रथमा होती है। और भी 'संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि', 'परिक्रयणे संप्रदानमन्यतरस्याम्' इत्यादि सूत्रों से स्पष्ट है कि कर्म में भी करण संज्ञा होकर तृतीया और करण में संप्रदान होकर चतुर्थी विभक्ति लगती है। इसलिये कारक और विभक्ति की प्रभेद-प्रदर्शक व्याख्या आवश्यक थी।

और एक बात,—कर्त्ता कर्म इत्यादि शब्दों का अर्थ लौकिक अर्थ से व्याख्या करने की कोशिश की गई है। लेकिन व्याकरण में इन शब्दों का अर्थ पारिभाषिक और भिन्न है। कर्म का अर्थ क्रिया नहीं है। फिर कर्म के प्रसङ्ग में कहा गया है कि कर्त्ता मेरे ही अधीन रहता है। "· · · · वह किसी भी क्रिया में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता।" लेकिन अकर्मक धातुओं में बिना कर्म के भी क्रिया के साथ कर्त्ता का प्रयोग होता है। चतुर्थी विभक्ति के प्रसङ्ग में कहा गया है कि—"प्रत्येक क्रिया में मैं सहायक होती हूँ तभी कार्यसिद्धि होती है।" लेकिन ऐसे स्थल में करण होता है। इससे विद्यार्थियों को भ्रान्ति हो सकती है। संप्रदान के प्रसंङ्ग में सबसे मुख्य बात यह है कि सिर्फ कर्म से नहीं, कर्म और क्रिया दोनों से जो अभिप्रेत होता है, वही संप्रदान होता है ; किन्तु इसका कोई उल्लेख नहीं। मेरा खयाल है— व्याख्या को पुष्पित पल्लवित करने जाते जाते इस प्रकार हो गया है। बालकों के उपयोगी बनाने के लिये स्मरण रखना चाहिए—संक्षिप्तवाग् भवति शिष्यजनावधाने। अस्तु।

तो भी मुनि जी का प्रयत्न प्रशंसनीय है। आलापात्मक शैली बालकों के लिये बहुत रोचक होती है। इस पुस्तक से विभक्ति के सम्बन्ध में ज्ञान होता ही है, साथ साथ उन्हें बालोपयोगी कुछ उपदेश भी मिल जाते हैं और जैन आगम के कुछ सिद्धान्तों का कुछ परिचय भी। आशा है यह प्रयत्न आगे चलकर बहुत सफल होगा।

—प्रह्लाद प्रधान

विश्ववाणी (बौद्ध-संस्कृति अंक) : मई, १९४२। सा० संपादक श्री विश्वंभरनाथ ; इस अंक की संपादिका श्रीमती महादेवी वर्मा ; प्रकाशक, विश्ववाणी कार्यालय, इलाहाबाद।

यह संख्या बौद्ध-संस्कृति-अंक के रूप में निकली है। सब मिलाकर नाना प्रकार की इकतीस रचनाएँ इसमें संगृहीत हैं। जो लोग बौद्ध धर्म के संबंध में कुछ उत्सुक होंगे, वे इस विशेषांश को पढ़कर विशेष उपकृत होंगे। 'हिन्दू धर्म' कहने से जैसे किसी एक विशेष लक्षणयुक्त

धर्म की ओर संकेत नहीं होता, परस्पर-विरुद्ध नाना मत-मतान्तर जिस तरह एक ही 'हिन्दू' नाम का आश्रय लिए हुए हैं, उसी तरह बौद्ध धर्म कहने से नाना-मत-सम्पन्न एक विशाल ऐक्य का बोध होता है। हिन्दू और जैन दार्शनिकों ने अपनी ज़रूरत के अनुसार बौद्धमत के जिस खण्डनोपयोगी अंश को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है, अधिकांश विद्वान् केवल उतने ही बौद्धमत से परिचित हैं। फलतः पंडित-समाज में बौद्धमत के संबंध में एक भ्रान्त और असम्पूर्ण धारणा चली आई है। आज वह मोह सौभाग्यवश कटता जा रहा है।

उत्तर भारत और दक्षिण भारत में बौद्ध-मत दो भिन्न स्वरूपों में विकसित हुआ। उत्तर बौद्धमत को महायान और दक्षिण बौद्धमत को हीनयान कहते हैं। दोनों मतो में काफ़ी प्रभेद है। एक के ग्रन्थ संस्कृत में हैं, दूसरे के पालि में। इस विशेषांक में साधारण रूप से दोनों मतों की आलोचना है। लेखों में आचार्य धर्मानन्द कोसम्बी, राहुल सांकृत्यायन, आनन्द कौसल्यायन, अध्यापक तान युन-शन, विमलानन्द और मौ० ज़ियाउद्दीन के प्रबन्ध खास तौर से उल्लेखयोग्य हैं। चित्र, तत्त्वज्ञान, इतिवृत्त, शिल्प, कविता और तथागत की वाणी द्वारा यह संख्या अलंकृत है।

हमारी समझ में महायान के संबंध में और भी दो एक रचनाएँ होने से अच्छा होता। संस्कृत भाषा को नाना दिशाओं से महायानियों ने विपुल दान दिया है। यथासंभव हीनयान और महायान की एक ग्रंथ तालिका और नेपाल, तिब्बत, भूटान तथा जापान की बौद्ध संस्कृति, आचार-विचार आदि के सम्बन्ध में कुछ चर्चा रहने से पाठकों का कौतूहल प्रायः संपूर्ण समाधान हो जाता। तब भी यह अंक उनके लिये सब तरह से मनोरञ्जक बन पड़ा है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

—नित्यानन्द विनोद गोस्वामी

'विक्रम' (हिन्दी मासिक) : संपादक—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' ; वार्षिक मूल्य—४) ; पता—व्यवस्थापक, 'विक्रम', उज्जैन, मालवा।

पिछले वैशाख महीने से "युगप्रवर्तक महाराज विक्रमादित्य और उनके ऐतिहासिक संवत् की स्मृति में" उज्जयिनी से हिंदी का यह नवीन मासिक-पत्र प्रकाशित होने लगा है। "पहले मालवा और फिर अखिल भारत की सांस्कृतिक और बौद्धिक सेवा" करना इस पत्र का उद्देश्य है। हमने 'विक्रम' के दो अंक देखे हैं और उसकी सजीवता तथा लेखों की विविधता ने हमें आकृष्ट किया है। नाना विषयों पर संपादकीय टिप्पणियाँ, पुराने और नये भारतीय साहित्य का परिचय, विस्तृत समीक्षाएँ—इस पत्र की कुछ विशेषताएँ हैं। हमारी समझ में मासिक भविष्य-फल और सिनेमा फ़िल्मों की आलोचनाओं के बगैर भी 'विक्रम' भरा-पूरा ही दिखेगा। उसके सुरुचि-संपन्न परिचालकों की दृष्टि से सजावट में हम कुछ और हेर-फेर की आशा करते हैं। 'विक्रम' में हमें शुरू से आखिर तक एक उष्ण आवेग मिला जो जीवन का सुनिश्चित लक्षण है। प्रामाणिक तथा गंभीर चिंता की खातिर हम उसे कुछ और संयत कुछ और 'सोबर' देखना चाहेंगे, यह अलग बात है। उसके सुदीर्घ जीवन की कामना करते हुए हम अपने इस तरुण सहयोगी की स्वागत करते हैं।

—मो०

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का नया शिल्प-ग्रन्थ*

विनोदविहारी मुखर्जी

प्रस्तुत पुस्तक सन् १९२१ से १९२९ के बीच कलकत्ता यूनिवर्सिटी में दी हुई अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की शिल्प-संबंधी वक्तृताओं का संग्रह है। पुस्तक के उनतीस अध्याओं में शिल्प के नाना अंगों और पहलुओं पर विचार किए गए हैं। शुरू के दो अध्यायों में शिल्पक्षेत्र के अधिकारी और अनधिकारी की विवेचना की गई है। अवनीन्द्रनाथ के मत से शिल्पी के मन में सबसे पहले रसबोध का जागरण आवश्यक है। शास्त्रज्ञान का प्रयोजन इस जागरण के बाद आता है। "मधुचक्र की गोपनता में फूल का गोपन परिमल किस उपाय से जा पहुँचता है, इसे देखा जा सकता है। किन्तु मधु की सृष्टि तो किसी बहुत ही गहरे रहस्य की ओट में हुआ करती है" (पृ० ४)। शिल्प के ज्ञान और विद्या की ओर उन्होंने बार-बार कटाक्ष किया है। यहाँ हम उनकी पुरानी पुस्तक 'भारत-शिल्प' की भी याद कर सकते हैं जिसमें पग-पग पर परंपरागत शिल्पज्ञान और शिल्पशास्त्रीय सिद्धान्तों को लेकर मधुर व्यंग्य अथवा तीव्र उपहास की चेष्टा की गई थी। प्रस्तुत पुस्तक के प्रारंभिक अध्याय में कहा गया है: "शिल्पी के यात्रा-पथ पर शुरू में ही थोड़ी-सी, किन्तु अति भयानक, अति पुरातन, धसक पड़नेवाली बालू का व्यवधान होता है। इसमें एक प्रकार की चमचमाहट होती है, एक विशेष प्रकार का चमत्कार; उज्ज्वल साधुभाषा में जिसे कहते हैं 'लोष्ट्र पड़ा हुआ है'; जिसका नाम है ट्रैडीशन अथवा प्रथा। अनंत काल के संचित धन के समान ही इसका मोह होता है। इस मोह को पार कर जाने का कौशल ज्ञान रहने पर शिल्पलोक की दूरागत हवा आकर मन के पाल को भर देती है, डूबने का भय फिर नहीं रह जाता" (पृ० ६)।

शिल्पी अवनीन्द्रनाथ को जानने के लिये ऊपर के उद्धृत अंश ही काफ़ी हैं। उन्होंने जहाँ संपूर्णतया रस की चर्चा की है, जैसे लावण्य, भाव, सौन्दर्य की खोज में—आदि अध्यायों में, उन्हें छोड़कर और सब जगह उन्होंने जो कुछ कहना चाहा है, वह ट्रैडीशन के साथ शिल्पी के मन के योग का रहस्य है। शास्त्र का प्रयोजन यही है कि वह 'यजमान शिल्पी' की आत्मा को 'छन्दोमय' कर देता है।

'शिल्प और भाषा' नामक अध्याय में हम चित्र के उद्देश्य और रूप के संबंध में अवनीन्द्रनाथ का एक विशिष्ट मत पाते हैं। "वाणी के व्याकरण में जिसे 'धातु' कहा जाता है, चित्र के व्याकरण में उसीका नाम फ़ार्म अथवा 'ढाँचा' है। धारण करने के कारण ही हम उसे धातु कहते हैं। धातु के साथ प्रत्यय का मेल हुए बिना हमें अपनी भाषा के पद-रूप नहीं मिलते। चित्र की भाषा में भी वही नियम चलता है। हाथ-पैर-सिर आदि के द्वारा एक ढाँचा अथवा

***वागेश्वरी शिल्प-प्रबन्धावली (बँगला)—ले०—डा० अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ; प्रकाशक—कलकत्ता विश्वविद्यालय ; १९४१।**

फ़र्मा बाँध दिया गया। किंतु वह वानर है या नर, यह प्रत्यय अथवा विश्वास भला क्यों कर होगा जब तक कि चित्र में नर-वानर के विशेष-विशेष प्रत्यय न दिए जाएँगे। सिर्फ यही नहीं, विभक्ति के, जो टुकड़े करते हैं, भंगी देते हैं, उनके नाना चिह्न इत्यादि को नाना भङ्गियों सहित उसी ढाँचे के साथ जोड़ देना होता है। वर्ण-वर्ण में, रूप-रूप में, नाना वस्तुओं के साथ नाना वस्तुओं की संधि अथवा समास करने के सूत्र हैं ; चित्र के व्याकरण में वचन-क्रिया, विशेष्य-विशेषण, सर्वनाम-अव्यय—यहाँ तक कि मुग्धबोध के समूचे अलंकारशास्त्र के सम्पूर्ण प्रतिपाद्य—के साथ चित्र के व्याकरण और अलंकारों की धारा का सर्वत्र सामञ्जस्य किया जा सकता है" (पृष्ठ ५८)। साथ ही यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रत्येक चित्र अथवा साहित्य की भाषा बिना जाने उसके रस में प्रवेश नहीं किया जा सकता।

इसके बाद का अध्याय है—'शिल्प की सचलता-अचलता', जिसका मूल वक्तव्य यही है कि "शब्द सुर छंद वाक्य रूप इङ्गित-भंगी आदि भाषा के परिचालक मन को बेधन के महास्त्र अवश्य हैं, तब भी इन्हें मन के ही हाथों सौंपना होगा" (पृ० ७४) ; अर्थात् भाषा के साथ भाव का योग होना नितांत आवश्यक है। साहित्य के नाना दृष्टान्त देकर उन्होंने बताया है कि किस तरह इस संयोग के कारण वह गतिशीलता पा सका है, और कहाँ इसके अभाव में वह अचल हो पड़ने के लिये लाचार हुआ है।

छठा अध्याय है—'सौंदर्य की खोज में'। शुरू में ही कहा गया है : "सुन्दर के साथ सभी जीवों का भले लगने का संपर्क होता है और असुन्दर के साथ भले न लग पाने का झगड़ा" (पृ० ८२)। अपनी अद्भुत सुन्दर भाषा के द्वारा उन्होंने सुन्दर और असुन्दर के सापेक्ष-संबंध को समझाने का प्रयत्न किया है। वही मानों दोनों के निर्णय का एकमात्र मापदंड है। "आज जहाँ भान होता है, शिल्प के द्वारा संपूर्ण-संभव सुन्दरता प्रकाशित हो गई, वहीं कल एक और भी शिल्पी आ खड़ा होता है ; कहता है 'ना, कहाँ हुई ? और भी आगे बढ़ना होगा, या पीछे लौटकर अन्य पथ पकड़ना होगा।' परम सुन्दर की ही दिशा में मनुष्य का मन और उसका शिल्प ठीक इसी तरह सदा बढ़ते जाते हैं, एक गति से दूसरी गति की ओर, एक गति सृष्टि करती है एक और गति की। एक लहर उमड़ती है तो हम सोचने लगते हैं—चरम उन्नति को प्राप्त हुए ; किंतु उसी समय आकर ज़बर्दस्त धक्का देती है एक दूसरी लहर ; कहती है—'चले चलो, अभी और भी बाक़ी है।' इसी प्रकार आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ सभी दिशाओं से सुन्दर का खिंचाव मनुष्य को प्रबल भाव से आकर्षित कर रहा है—विचित्र छंदों में, विचित्रता के भीतर से।" किंतु सुन्दर किसे कहते हैं, यह कोई नहीं जानता। "शिल्पी ड्यूरर की तूली की नोक पर सुन्दर ने अपना नीड़ बाँधा था, किंतु उक्त प्रश्न को सुनकर वे कोई निर्दिष्ट उत्तर नहीं दे पाए। लियोनार्डो द विंची की तीक्ष्ण दृष्टि आर्ट से शुरू करके विचित्र वस्तुओं के साथ मानों झकझोर देने का खेल कर गई थी, किंतु वे भी केवल इतना ही कह सके कि 'परम सुन्दर और परम असुन्दर दोनों ही दुर्लभ हैं, दुनिया में केवल साधारण की ही अजस्रता है' (पृ० ८५-८७)।.... जिसका मन उत्कृष्ट और सुन्दर होता है वही निकृष्ट से उत्कृष्ट की ओर, असुन्दर से सुन्दर की ओर जा सकता है। शिल्पी, कवि, भक्त—इन सबका मन ऐसा ही शक्तिमान् होता है ; ये सब एक ही ढंग के व्यक्ति हैं। शिल्पी के निकट केवल रस का भेद होता है। मन के अवस्थाभेद

से सु का कु और कु का सु हो जाता है, रूपभेद भी होता है ; किंतु सु-कु की जो निर्दिष्ट सीमा-रेखा पंडित-अपंडित सभी खींच दिया करते हैं, वैसी पक्की प्राचीर आर्टिस्ट के मन में होती ही नहीं। नीरस का स्वाद पाकर भी उसका मन रसायित हो जाता है, यही उसके और औसत आदमी के मन का प्रधान अंतर है (पृ० ८९-९०)। सुन्दर-असुन्दर का अविचलित आदर्श चलायमान जीवन में कहीं नहीं है, इसलिये चाहे जिस राह चलो, सुन्दर-असुन्दर के संबंध में वितर्क भी मिटनेवाला नहीं है। इसी कारण इस अतृप्ति को—इस सुख-दुःख, अँधियारे-उजियाले के सुन्दर को, असुन्दर-मिश्रित खण्ड-विखण्ड सत्य, सुन्दर और मंगल को—जो संपूर्णरूप से स्वीकार कर चलता है, वही सुन्दर को एक और विविध भाव से अनुभव करने की सुविधा पाता है" (पृ० ९६)।

इसके बाद 'शिल्प और देहतत्त्व'-वाले अध्याय में भी प्रायः यही बात कही गई है। सुन्दर के समान ही देहतत्त्व (एनाटमी) का भी कोई बँधा-सधा क़ानून नहीं है। "बीज की हड्डी-पसली तोड़कर—उसकी सारी एनाटमी को चूर-चूर करके—वृक्ष की शोभा बाहर निकल आती है। तब भी वृक्ष की रचना में कोई गठन अथवा एनाटमी को लेकर दोष लगाने की हिम्मत नहीं कर पाता। एनाटमी की एक अचल दिशा भी होती है जिसमें रूप-रूप में सुनिर्दिष्ट भेद होता है, किंतु उसीकी चल दिशा भी है जहाँ मनुष्य-मनुष्य में और एक-जातीय झाड़-पेड़ जीव-जंतु में बँधा हुआ पार्थक्य कुछ टूट-फूट जाता है—कोई आदमी ताड़ के वृक्ष-जैसा हो जाता है, कोई गेंद जैसा ; कोई पेड़ मयूर के समान अपने पंख विस्तार करता है, कोई भूत की तरह हाथ हिलाता-डुलाता है। प्रकृति-विज्ञान के ग्रन्थों में बादलों की कुछ सुनिर्दिष्ट गढ़न के चित्र दिए रहते हैं—बरसाती बादल, तूफ़ानी बादल—जिनकी गठन सुनिश्चित है। किंतु बादलों ने जैसे ही हवा का स्पर्श पाया—रस जैसे ही भर उठा—कि फिर शास्त्र के बाहर, दृष्टि के बाहर के सारे रूप परिस्फुट होने लगे। हर बादल में रंग आ गला, सब अजब, सब विचित्र। सफ़ेद धुवाँ धूमधाम से सज आया लाल-नीले-पीले-हरे विचित्र वेश में। इन्हींके समान सचल-सजल एनाटमी को शिल्पी की एनाटमी कहते हैं जिसके द्वारा रचयिता रस के आधार को रसोपयुक्त मान-परिमाण देता रहता है" (पृ० १०२-१०३)।

इसके बाद है 'अन्तर-बाहर', जिसमें उन्होंने 'शिल्प नक़ल (इमीटेशन) नहीं है', यही अति पुरानी बात अपनी अपूर्व शैली द्वारा समझाने की चेष्टा की है। किंतु जहाँ भाव की बात कही है वहाँ हम उनका अत्यंत व्यक्ति-स्वतंत्र मत पाते हैं। अगला अध्याय है—'मत और मंत्र'। हमारे शिल्पशास्त्र के नाना आदेशों-उपदेशों में से कौन कहाँ तक ग्रहणीय हैं कहाँ तक नहीं, इसीकी व्यक्तिगत आलोचना है। मूल वक्तव्य इतना ही है कि "रचना जहाँ रचयिता की स्मृति और कल्पना के निकट ऋणी होती है वहीं वह आर्ट है ; जहाँ वह दूसरे की रचना और कल्पना के निकट ऋणी होती है वहाँ वह आर्ट नहीं हो पाती ; वह केवल असल की नक़ल मात्र है" (पृ० १३१)।

इसके बाद 'संध्या का उत्सव'-वाला अध्याय पार करके हम शिल्पशास्त्र के क्रियाकांड तक पहुँचते हैं। यहाँ उन्होंने शिल्पियों के प्रति दिए गए शास्त्रकारों के आदेशों-उपदेशों के विरुद्ध अपना मत देने का प्रयत्न किया है। जहाँ शास्त्रकारों ने कोई विशिष्ट मत दिया है वहीं उन्होंने

आपत्ति उठाई है।* इसके बाद के अध्याय में शिल्पी के क्रियाकाण्ड की चर्चा है। शिल्प-शास्त्र, छन्दः-शास्त्र आदि नाना शास्त्र पढ़ जाने पर भी कोई कारीगरी में पक्का नहीं हो जाता। शिल्पी का काम संपूर्णतया व्यक्तिगत होता है, नियम-क़ानून मात्र से ही परिचालित नहीं,—यही इस अध्याय का मूल वक्तव्य है। "शास्त्र का आदेश मानकर देवमूर्ति गढ़ने से उसमें देवचक्षु भले ही हो, अमरत्व नहीं हो सकता।" (पृ० १६७)

फिर रूप और अरूप विषयक मनोरंजक अध्यायों के बाद शिल्प की क्रिया-प्रतिक्रिया के भले-बुरे की विवेचना है। इसमें भी पिछले अध्याय का ही सुर बज रहा है। "आर्टिष्ट का चलना सहज आनंद-पथ का चलना है, हथौड़ी पीटकर, क़लम घसीटकर, सोना गलाकर, हीरा काटकर, सुर भाँजकर, ताल ठोंककर चलना नहीं है; शास्त्र का अंकुश खा-खाकर इन्द्र के ऐरावत के समान चलना नहीं है। आर्ट का प्रकरण निरंकुश पथ है। इसीसे कहा गया है 'कवयो निरंकुशाः'" (पृ० १८६)।

बीच के 'शिल्पवृत्ति' के अध्याय को छोड़कर हम 'सुन्दर'-'असुन्दर' की दो आलोचनाओं तक पहुँचते हैं। जो विवेचना पहले हो गई है उसे ही यहाँ विस्तार से समझाया गया है। "जो भारी पंडित हैं, वे सुन्दर को दीपक के सहारे देखने जाते हैं, और जो कवि तथा रूपदक्ष (शिल्पी) हैं, वे सुन्दर की अपनी ही प्रभा में उसे देख लेते हैं।...वे सुन्दर के पास से निमंत्रण पाते हैं, उसकी खोज में नहीं भटकते फिरते" (पृ० २०८)।

इसके बाद अंत की तीन आलोचनाएँ—'भाव', 'लावण्य' और 'सादृश्य'—षडङ्ग की व्याख्या की दृष्टि से समझी जा सकती हैं। भाव अभ्यास और परिचय का ही विधान नहीं है, वह हृदय से सम्पर्क रखनेवाला सहज व्यापार है। 'लावण्य' की व्याख्या करना अत्यंत कठिन है। प्रत्येक वस्तु का अपना अलग और विशिष्ट लावण्य होता है। "आलोक-रंजित फूल और छाया में फूटे हुए फूल का लावण्य अलग अलग होता है। ओस-धोए फूल का लावण्य एक होता है, वृष्टिजर्जर फूल का और।" कवि की नाना उपमाएँ विशेषणों की भरमार करने के लिये नहीं होतीं, विशेष लावण्य को हृदयंगम कराने के लिये होती हैं। "जिसके द्वारा वस्तु का स्वाद बदल जाता है और जिससे वस्तु स्वादु हो उठती है, वही लावण्य है। लावण्य-योजन का कौशल सीखना विद्या के बाहर की वस्तु है। शिल्प-विद्यापीठ को पाँच रुपया महीना देकर डिग्री दखल कर लेने से ही वह नहीं आ जाता" (पृ० ३७३,३८१)। 'सादृश्य' के संबंध में उनका मत प्रायः अलंकार-शास्त्र का ही अनुयायी है। सादृश्य कहाँ ठीक हुआ और कहाँ नहीं, इसके दृष्टांत उन्होंने दिए हैं, किंतु सादृश्य की परिभाषा नहीं दी। यही अध्याय ग्रन्थ का आखिरी अध्याय है।

ऊपर पुस्तक का एक साधारण परिचय और प्रतिपाद्य का संक्षिप्त आभास देने की चेष्टा की गई है। उद्धरण भी काफ़ी दिए गए हैं, कारण, इस पुस्तक में वक्तव्य की अपेक्षा कहने की भंगी ही प्रधान है और उद्धरणों की सहायता से पाठक को इसका कुछ आभास तो मिल ही सकेगा। मत-मतांतर को भुलाकर भी यदि हम पुस्तक पढ़ें तो साहित्य-सृष्टि का ठीक मर्म हमें उपलब्ध हो जायगा। समूची पुस्तक अपने आप में शैली का एक उत्कृष्ट और समुज्ज्वल दृष्टांत है। तब भी हमें इसमें केवल उनके निजी मतामत का प्राधान्य नहीं मिलेगा। आलोचना के

पीछे आलोचक अपने को बड़े कौशल से छुपाए हुए है, यह अलग बात है कि नैर्व्यक्तिक बातचीत भी उसकी सर्वथा व्यक्तिगत शैली के प्रभाव से 'निजू और घरेलू' जान पड़ती है।

अवनीन्द्रनाथ सदा प्रथा (ट्रैडीशन)-सम्मत अंकन के विरोधी रहे हैं। 'भारत-शिल्प' के ज़माने से लेकर आज तक उन्होंने अपना यह विरोध क़ायम रखा है। उनकी प्रतिभा का स्वरूप भारतवर्ष की स्वाभाविक 'स्थापत्य' प्रतिभा की तरफ़ रुजू नहीं है, 'अरूप' भी नहीं है; शायद ग्रीक नाटकीयता का गुण ही उसमें प्रधान है। उसी ओर उनका स्वाभाविक झुकाव है और वह उनकी सहज प्रकृति के अनुकूल भी पड़ता है। इन प्रबंधों के पाठक को भ्रम हो सकता है कि भारतवर्ष का शिल्प शायद सब-का-सब केवल गतानुगतिक है, केवल रूढ़िप्रिय है। भारतवर्ष की परंपरागत रूढ़ियों के खिलाफ़ लेखक का रोष ही इसका कारण है। यह कहना अनावश्यक है कि भारतवर्ष के शिल्प में रूढ़िगत दोष ही दोष नहीं हैं, अनवद्य और अतुलनीय गुण भी हैं।

पुस्तक की आश्चर्यजनक सुंदर भाषा विषय की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म विवेचना के लिये अपूर्व भाव से उपयुक्त है। यह भाषा साहित्य की भाषा है; प्लास्टिक आर्ट की परिभाषाओं की अचूक सारगर्भिता इसमें नहीं है। किंतु वह आर्टिस्ट के मन को उद्‌बुद्ध करने की अद्‌भुत सामर्थ्य रखती है और रसबोध जगाने की उसकी क्षमता अतुलनीय है। आर्टिस्ट की शिल्प-शिक्षा के व्यावहारिक उपयोग की वह उतनी नहीं है, किंतु उसकी अलौकिक सौंदर्य-दृष्टि खोल देने की शक्ति से कोई इन्कार नहीं कर सकता। वर्तमान युग में शिल्प के संबंध में हमारे देश में बहुत कम चर्चा हुई है और तत्संबंधी आधुनिक साहित्य बहुत थोड़ा है। अपनी इन आलोचनाओं के द्वारा अवनीन्द्रनाथ ने शिल्पतत्त्व-निरूपण के इतिहास को आगे बढ़ाया है। केवल यही नहीं, भाषा की इस क्षमता को उन्होंने बहुत अग्रसर कर दिया है। पाठक प्रायः सोचने लगता है कि जब इन प्रबंधों की भाषा और शैली इस तरह अपरूप है तब उनके सामने नितांत फीके और निस्तेज जँचनेवाले अंगरेज़ी उद्धरण आखिर क्यों दिए गए। ऐसे ढीले 'प्रमाणों' की सचमुच ज़रूरत नहीं जान पड़ती।

शिल्पी अवनीन्द्रनाथ की प्रतिभा को समझने के लिये भी यह पुस्तक नितांत प्रयोजनीय होगी। हम उनकी कृतियों के पीछे उनके मन की झाँकी इसीके सहारे पा सकेंगे। और इन प्रबंधों की सहायता से ही उनकी प्रतिभा का ठीक-ठीक स्वरूप भी हमारे आगे परिस्फुट हो सकेगा, मूल्य भी सही-सही आँका जा सकेगा।

अवनीन्द्रनाथ सदा एकांतसेवी शिल्प-साधक रहे हैं। उन्हें जानने-पहचानने अथवा निकट आकर उनकी बातचीत सुनने का सुयोग बहुत कम लोगों को मिला है। जिन्होंने उन्हें बोलते-बताते सुना है वे ही कह सकेंगे कि उनकी यह बोलने-बताने की क्षमता कैसी अनन्य-साधारण और आश्चर्यजनक है। इन प्रबंधों की भाषा और शैली के सहारे साधारण जिज्ञासु भी उनकी जीवन्त वाणी सुन सकेगा। इसमें उनका केवल स्वर ही नहीं, उनका विशेष अंगुलि-संचालन और इंगित-संकेत भी हमें मिलता है। इस दृष्टि से भी यह पुस्तक अत्यंत महत्त्वपूर्ण और अपूर्व हुई है।

अपनी बात

विक्रम-द्विसहस्राब्दि-महोत्सव

आज जब कि सारा संसार युद्ध की प्रचण्डता का शिकार हो रहा है, उत्सव की बात सोचते समय मन दुबिधा में पड़ जाता है। जिस प्रकार की उन्मत्त क्रूरता आज संसार को ग्रास करती जा रही है उसे देखते हुए यह संशय बराबर चित्त को दोलायित किए रहता है कि क्या सचमुच ही साहित्य और इतिहास का अध्ययन, दर्शन और धर्मशास्त्र की आलोचनाएँ और महात्माओं और राष्ट्रनिर्माताओं के पुण्यचरित्रों का स्मरण मनुष्य को कुछ ऊँचा उठा सके हैं या उठा सकेंगे। आज के इस क्रूर पागलपन के ज़माने में यह उत्सव, यह साहित्य-चर्चा यह इतिहास का शोधकार्य—क्या ये सभी व्यर्थ का परिहास नहीं हैं? उन्मत्त पागलों की जमात में शान्तिचर्चा का क्या मूल्य है? परन्तु हमारा विश्वास है कि मनुष्य वस्तुतः मनुष्य ही है, पागल कुत्ता नहीं। यह पागलपन एक आगन्तुक और क्षणस्थायी अवस्था है, यह कट जायगी। उस समय यही मनुष्य और भी आग्रह के साथ शान्ति की ललित वाणी के लिये लालायित होगा। हमें अविचलित चित्त से मनुष्य की उच्चतर वृत्तियों पर विश्वास रखना चाहिए। विकट काल में जो दिमाग़ ठंडा रख सकते हैं वे ही सेवा के उपयुक्त अधिकारी हैं। हमें यह जानकर प्रसन्नता हुई कि काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा और उज्जैन की इतिहास-संशोधन सभा ने विक्रम-द्विसहस्राब्दि-महोत्सव मनाने का संकल्प किया है।

शोध कार्य पर ज़ोर

यह अत्यन्त सन्तोष की बात है कि विक्रमादित्य का महोत्सव मनाने का संकल्प रखनेवाली सभाओं ने किसी अस्थायी धूमधाम को उतना महत्त्व नहीं दिया है जितने सांस्कृतिक पुनरुद्धार और पुनरुत्थान के कार्य को। काशी की प्रसिद्ध नागरी-प्रचारिणी सभा ने उक्त अवसर पर विक्रम-संवत् के इतिहास के अनुसंधान और भारतीय पंचांग-शोधन के लिये सम्मेलन बुलाने का आयोजन किया है और उज्जैन की इतिहास-संशोधन सभा ने भी शोधकार्य को ही महत्त्वपूर्ण समझा है। इस देश में विद्वत्परिषदें और भी हैं और वे सभी अपने अपने ढंग पर प्राचीन जीवन और प्राचीन विद्याओं के अध्ययन की व्यवस्था कर रही हैं। साधारणतः उनका ध्यान अतीत की ओर ही केन्द्रित रहता है। अतीत के जीवन और विचारों के अध्ययन करनेवाले का ध्यान अतीत की ओर ही केन्द्रित हो यह न तो अस्वाभाविक है और न अवाञ्छनीय परन्तु लक्ष्य ज़रूर भविष्य होना चाहिए। यदि हम भावी मानव-समाज का अपने अध्ययन और शोधकार्य से कोई कल्याण न कर सकें तो वह अध्ययन एक शास्त्र-विलासिता मात्र सिद्ध होगा। इसीलिये शोधकार्य की योजना इस प्रकार बननी चाहिए कि उससे भावी मानव-समाज का कल्याण हो। इतिहास मृत घटनाओं और मृत चिन्ताओं का पुंजीभूत स्तूप नहीं है बल्कि वह एक जीवन्त जीवनधारा का निदर्शक है। उससे हम केवल शिक्षा और ज्ञान ही नहीं पाते, प्रेरणा

और अनुभूति भी पाते हैं। शोधप्रिय सभाओं को शुरू में ही इस बात की स्मरण रखना चाहिए।

विक्रमाब्द का इतिहास

अगले साल विक्रम-संवत् के दो हजार वर्ष पूरे हो जायँगे। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने इस अवसर पर विक्रमाब्द के इतिहास का निर्णय करने के लिये एक समिति बनाई है। समिति ने अपना कार्य शुरू भी कर दिया है। हम नागरी-प्रचारिणी सभा के निश्चय को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। विक्रम-संवत् भारतवर्ष का एक प्रमुख संवत् है। समूचे उत्तर भारत में वह लौकिक और धार्मिक व्यवहार में लाया जाता है। परन्तु इस संवत् के विषय में इतिहास के विशेषज्ञ पंडितों में काफ़ी मतभेद है। इस संवत् का जो सबसे पुराना प्रयोग अब तक उपलब्ध हुआ है वह आज से लगभग ग्यारह सौ वर्ष पहले का है। उसके पहले कोई विक्रम-संवत्सर नाम देकर संवत् का प्रयोग नहीं मिलता। दो एक बार इसके पूर्ववर्ती प्रयोग उपस्थित किए गए हैं, पर शीघ्र ही वे प्रत्याख्यात हुए हैं। फिर भी विद्वन्मण्डली को सन्तोष नहीं हुआ है। नये नये मत बराबर उपस्थित किए जाते रहे हैं। अब एक प्रकार से यह मान लिया गया है कि विक्रमादित्य के नाम के साथ इस संवत् को बाद में जोड़ दिया गया है। संवत् सचमुच ही पुराना है और सन् ईसवी से शायद २६ वर्ष ही पहले शुरू हुआ था। परन्तु शुरू में इसे विक्रम-संवत् नहीं बल्कि मालवगण का संवत् कहा जाता था। बाद में किसी गुप्त वंशीय सम्राट् ने अपने नाम के साथ इसे चला दिया था। परन्तु यह सब अटकल और अनुमान ही हैं। अधिक से अधिक जो बात दावे के साथ कही जा सकी है वह यही है कि (१) ग्यारह सौ वर्ष पहले का कोई ऐसा दानपत्र या शिलालेख आदि नहीं मिला है जिसपर विक्रम-संवत् का उल्लेख हो और (२) इसके पहले संभवतः इसे मालव संवत् कहा जाता था।

बहुत पहले फ़र्ग्युसन ने अत्यन्त दृढ़ता के साथ कहा था कि सम्राट् हर्ष ने म्लेच्छों पर विजय पाने के उपलक्ष्य में सन् ५४४ ई० में यह संवत् चलाया था। न जाने क्यों सम्राट् हर्ष (विक्रमादित्य) ने संवत् का आरंभ १०×६० वर्ष पहले आरंभ किया था अर्थात् सन् ५६ ई० पू० से संवत् का आरंभ होना मान लिया था। इतिहास की दुनिया में ऐसी साहसपूर्ण कल्पनाएँ कम ही देखने को मिलती हैं। मैक्समूलर ने इस साहसिकता की शतमुख प्रशंसा करके एक महत्त्वपूर्ण बात कही थी जो मज़ाक से खाली नहीं कही जा सकती। उन्होंने घोषणा की कि इस कल्पना में सब से बड़ा गुण यह है कि यह अस्पष्ट नहीं है और जिस दिन एक भी विक्रमाब्द-युक्त दानपत्र या शिलालेख सन् ५४३ ई० का मिल जाएगा उसी दिन यह सारा दावा चुपचाप विलुप्त हो जायगा। मैक्समूलर का कथन आज भी सच है। 'मालवगणाम्नात' संवत् तो ज़रूर ५४३ ई० के बहुत पहले का प्राप्त हुआ है पर 'विक्रम-संवत्' का पुराना उल्लेख अभी तक नहीं मिला है। और अभी भी विक्रमादित्य के चलाए हुए इस संवत्सर के विषय में अनुमान और अटकल की काफ़ी गुंजायश है।

कठघरे में विक्रम-संवत् अकेला नहीं है

ऐतिहासिक अदालत के कठघरे में विक्रम-संवत् अकेला नहीं है। अनेक पुराने संवत् इस प्रकार की ऐतिहासिक गवेषणाओं के शिकार हुए हैं। शालिवाहन शक का संवत् भी बहुत अधिक साफ़ नहीं है। कहा गया है कि तेरहवीं शताब्दी तक शक संवत् के साथ शालिवाहन का नाम नहीं जुड़ा था। यही नहीं प्रसिद्ध सातवाहन या शालिवाहन के साथ इस संवत् का दूर का भी संबंध नहीं खोजा जा सका है। स्वयं शालिवाहन नृपति ने अपने दानपत्रों में और शिलालेखों में इसका उल्लेख नहीं किया है। पंडितों ने इसके प्रवर्तक के बारे में कई अटकलें लगाई हैं। किसीके मत से कनिष्क ने इसे चलाया था तो किसीके मत से क्षत्रप नहपान ने। सुप्रसिद्ध ईसाई संवत् (ईस्वी सन्) भी ऐतिहासिक विवाद के आवर्त से नहीं बचा है। वस्तुतः ५२७ ई० तक तो इस सन् संवत् का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ था। जिस पंडित ने ५२७ ई० में बैठकर ईसा मसीह के जन्म-वर्ष की गणना करके इस संवत् का प्रवर्तन किया था उसके हिसाब में अब ग़लती पाई गई है। शायद हज़रत ईसा उक्त पंडित की गणनालब्ध तिथि से ५-७ वर्ष पहले ही अवतरित हो चुके थे। महात्मा बुद्ध का संवत् भी बाद का प्रवर्तित और संदेहग्रस्त है। इसलिये विक्रम-संवत् को ऐतिहासिक अदालत के कठघरे में जो खड़ा होना पड़ा है उससे न तो हमें क्षोभ होना चाहिए और न आश्चर्य। हमें धैर्यपूर्वक उन समस्त ऐतिहासिक सामग्रियों का संकलन और समीक्षण करना चाहिए जो इस कार्य में हमारी थोड़ी भी सहायता पहुँचा सकें। इस कार्य में हमारे मनोभाव, संस्कार या विश्वास बाधक नहीं होने चाहिए। यदि निश्चित रूप से यह सिद्ध हो जाय कि इस संवत् के साथ विक्रमादित्य का नाम बाद में जुड़ा है और यह भी सिद्ध हो जाय की ६ठीं शताब्दी के पहले इस नाम का कोई संवत् नहीं था तब भी कोई हर्ज नहीं है। क्योंकि ऐसा होने से अधिक से अधिक इतना ही साबित होगा कि विक्रमादित्य २००० वर्ष पुराने न हो कर डेढ़ हजार वर्ष पुराने हैं। परन्तु हमारे विक्रमादित्य को हम से कोई छीन नहीं सकता। हम तब भी उनका यश गाने में नहीं हिचकेंगे। क्योंकि विक्रमादित्य हमारे रक्तमांस में वर्तमान हैं। वे उस विजयगौरव के प्रतीक हैं जिसने बर्बर जातियों के आक्रमण से भारतवर्ष को बचाया था, वे उस सांस्कृतिक पुनर्निर्माण के मूर्त विग्रह हैं जिसने भारतवर्ष में स्वर्णयुग स्थापन किया था। हमारी संस्कृति, कला, धर्म और समाज आदि में गुप्त सम्राटों ने नवीन जीवन संचार किया था। विक्रम का उत्सव हमारी उसी कृतज्ञता का प्रमाण होगा।

कालिदास ग्रंथावली

विक्रमादित्य के नाम के साथ ही कालिदास का स्मरण हो आता है। विक्रमादित्य और कालिदास का संबंध कुछ अविच्छेद्य है। हिंदी में कालिदास के ग्रन्थों के अनुवाद हुए हैं। परन्तु अभी तक कोई ऐसा शुद्ध संस्करण नहीं छपा जिस में कालिदास के समस्त ग्रन्थ प्रामाणिक हिंदी अनुवाद के साथ छपे हों। विक्रम-उत्सव मनाने का यह एक उत्तम कार्यक्रम हो सकता है। इस देश में निश्चय ही ऐसे धनी मानी सज्जन होंगे जो महाकवि कालिदास के ग्रन्थों का

प्रामाणिक संस्करण और प्रामाणिक अनुवाद कराने के कार्य में दिल खोलकर सहायता करेंगे। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह हमारा राष्ट्रीय ऋण है और इसे चुकाने में हम सिर्फ अपने कर्तव्य का ही पालन करते हैं। अच्छा हो यदि यह कार्य भी काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा ही उठावे। वही इसकी उपयुक्त अधिकारिणी है।

ज्यौतिषिक संस्कार की समस्या

विक्रमादित्य के उत्सव मनाने का संकल्प रखनेवाली दोनों ही सभाओं ने इस अवसर पर ज्यौतिषिक अनुसंधान और पंचांग-शोधन के कार्य को अपनी योजनाओं में स्थान दिया है। यह भी एक शुभ चिह्न है। इस देश में पंचांग-शोधन की एक दीर्घ परंपरा है। भारतवर्ष के विभिन्न भागों में पंचांग-शोधन के कई प्रयत्न हुए हैं। नये नये करण-ग्रन्थों और सारणियों का निर्माण हुआ है और नये नये पत्रे भी बनते रहे हैं। दुर्भाग्य वश सभी प्रदेशों में पुराने ढँग के पत्रे ही अधिक लोकप्रिय साबित हुए हैं और नवीन सूक्ष्म गणना सर्वत्र समझौता करने को बाध्य हुई है। निस्सन्देह पुराने पत्रों में भी बहुत संशोधन हुए हैं पर नये प्रयत्नों को ही झुकना पड़ा है। जो नहीं झुके हैं वे मर गए हैं या मरने की तैयारी में हैं। इसका प्रधान कारण यह जान पड़ता है कि शिक्षित जनता इस तरफ़ बहुत कम ध्यान देती है। किसी प्रकार के ज्यौतिषिक अनुसंधान और पंचांग-शोधन के कार्य को आरंभ करने के पहले पुराने प्रयत्नों की असफलता और अर्ध सफलता का कारण अवश्य विचार लेना चाहिए। साथ ही इस विषय की अधिकाधिक चर्चा करके उसे शिक्षित जनता का प्रिय विषय बना देना चाहिए। सामयिक पत्र पत्रिकाओं को इस कार्य में शोध सभाओं की सहायता करनी चाहिए।

वर्तमान हिंदी लेखक और उनकी कृतियाँ

कलकत्ते के सेठ श्री बाबूलाल जी राजगढ़िया के अनुरोध और साहाय्य से नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) एक लेखक-कोष ("वर्तमान हिंदी लेखक और उनकी कृतियाँ" नामका) तैयार कर रही है। इस में लेखक या कविका नाम, स्थान, जन्म संवत और कृतियों का नाम रहेगा। कृतियों के ब्यौरे में (१) प्रकाशित, अप्रकाशित, (२) प्राप्य, अप्राप्य, (३) गद्य, पद्य और (४) मौलिक, अनुवाद रहेगा। कहना न होगा कि यह प्रयत्न अपने ढंगका बिलकुल नया है। इसको देखने से एक तो यह मालूम हो जायगा कि आजकल कितने कवि और लेखक हैं तथा किसने किन किन पुस्तकों की रचना की है। दूसरे जो पुस्तकें पहले से तैयार हो चुकी हैं उन्हींको प्रस्तुत करने के परिश्रम से लेखक बचेंगे और ग्राहकों को पुस्तकों की सूची एक ही स्थान में सुलभ हो जायगी।

एक इसी आशय की लगभग इसीसे मिलते-जुलते कार्य की योजना हिंदी के प्रसिद्ध लेखक श्री कालिदास कपूर और श्री प्रेम नारायण टंडन जी से प्राप्त हुई है। आप लोगों की योजना में सिर्फ लेखक ही नहीं, साहित्यिक संस्थाओं, पत्रिकाओं और पुरस्कारदाताओं को भी शामिल किया गया है। हिंदी के प्रेमियों से हमारा अनुरोध है कि इन प्रयत्नों को सफल बनाने में भरपूर सहायता करें।

—ह० द्वि०



[शिल्पी—अवनीन्द्रनाथ ठाकुर

विश्वभारतीपत्रिका

आश्विन, १९९९ | खण्ड १, अंक ४ | अक्टोबर, १९४२

हे मेरे हतभाग्य देश

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

हे मेरे हतभाग्य देश ! तुम करते हो जिनका अपमान
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं समान !
मानवीय अधिकार छीनकर
दिया जिन्हें है दीन-हीन कर
खड़ा उन्हें सम्मुख रखकर भी देते नहीं गोद में स्थान।
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं-समान।

तुमने मानवस्पर्श नित्य जो दूर किया कर-कर अभिमान,
किया घृणा से अपमानित है मानव प्राणों का भगवान,
पर विधना के रुद्र रोष पर
रे, अकाल के द्वार बैठकर
सबके साथ बाँटकर करना तुम्हें पड़ेगा भोजन-पान,
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं-समान।

तुमने निज आसन से जिनको गिरा दिया है जहाँ धकेल
वहाँ शक्ति अपनी ही तुमने निर्वासित कर दी है ठेल।
है चरणों से आज दलित वह,
रहा धूल में हो लुण्ठित वह,
आओ नीचे उतर नहीं तो तुमको मिल न सकेगा त्राण ;
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं-समान।

नीचे बाँध रखेगा जिसको गिरा दिया नीचे कह 'नीच',
जिसको पीछे फेंक दिया वह तुम्हें रखेगा पीछे खींच।
तुमने अज्ञानान्धकार कर
दिया आवरण है धर जिसपर
वही तुम्हारे मंगल को ढक गढ़ता आज घोर व्यवधान ;
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं-समान।

युग-युग से तुम लिए थार-सा सिर पर असम्मान अविराम,
तो भी उस नर-नारायण को करते हो तुम नहीं प्रणाम,
पल भर अपने झुका विलोचन
क्या तुम पाते अब भी देख न—
नीचे उतर धूल में आया है वह पतितों का भगवान ?
अपमानित होकर तुमको भी होना होगा उन्हीं-समान।

नहीं सूझता है क्या तुमको मृत्युदूत आया है द्वार
आँक तुम्हारे अहंकार पर उसने दिया शाप दुर्वार
सबको यदि न बुलाओ अब भी
डटे रहो यदि दूर दूर ही
निजको बाँध रखो यदि अब भी चारों ओर बिछा अभिमान
तो मरकर तुम चिता-भस्म में होगे सबके क्या न समान ?

अनु०—सुधीन्द्र

लाल कनेर

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(शेषांश)

विशू। उसकी छाती में जो बूढ़ा मेढक सब तरह के सुरों की छूत बचा कर बैठा हुआ है, वह जब गान सुनता है तो मर जाना चाहता है। इसीलिये उसे डर लगता है। पगली, आज तेरे मुख पर एक दीप्ति देख रहा हूँ, तेरे मन में किस भावना का अरुणोदय हुआ है—मुझे नहीं बताएगी ?

नंदिनी। मन में यह खबर आ पहुँची है कि आज रंजन निश्चय ही आएगा।

विशू। निश्चित खबर किस तरफ़ से आई है ?

नंदिनी। सुनो बताती हूँ। मेरी खिड़की के सामने अनार की डाल पर रोज़ नीलकंठ पक्षी आकर बैठता है। मैं संध्या समय रोज़ ध्रुवतारे को प्रणाम कर के कहती हूँ कि उसके पंख से यदि एक पर उड़कर मेरे घर में आए तो समझूँगी कि मेरा रंजन आएगा। आज सबेरे उठते ही देखा कि उत्तरी हवा में उड़ता हुआ एक पर मेरे बिछौने पर आ गिरा है। यह देखो उस पर को अपने आँचल में बाँध रखा है।

विशू। यही तो देख रहा हूँ, और देखता हूँ आज तुमने माथे में बेंदी भी दी है।

नंदिनी। भेंट होने पर इस पर को मैं उसकी शिखा में पहना दूंगी।

विशू। लोग कहते हैं, नीलकंठ की पाँख में विजय-यात्रा का शुभ चिह्न होता है।

नंदिनी। रंजन की विजय-यात्रा मेरे हृदय के भीतर से होकर चलेगी।

विशू। पगली, अब मैं अपने काम पर जाऊँ।

नंदिनी। नहीं, आज तुमको काम नहीं करने दूंगी।

विशू। तो बता क्या करूं ?

नंदिनी। गान गाओ।

विशू। कौन-सा गान ?

नंदिनी। राह देखने का गान।

विशू। (गाता है)

युगे युगे बुझि आमाय चेयेछिल से।
सेइ बुझि मोर पथेर धारे रयेछे बसे'
आज येन मोर पड़े मने, कखन तारे चोखेर कोणे
देखेछिलेम अस्फुट प्रदोषे
सेइ येन मोर पथेर धारे रयेछे ब'से
आज ओइ चाँदेर वरण हबे आलोर सङ्गीते,
रातेर मुखेर आँधार-खानि खुलबे इङ्गिते।
शुक्ल राते, सेइ आलोके देखा हबे एक पलके
सब आवरण यावे से ख'से।
सेइ येन मोर पथेर धारे रयेछे ब'से।*

नंदिनी। पागल, जब तुम गाते हो तो मुझे ऐसा मालूम होता रहता है, तुम्हें मुझसे बहुत-कुछ पाना था, पर मैं कुछ भी नहीं दे सकी।

विशू। तेरा यही कुछ-भी-नहीं देना मैं अपने सिरमाथे चढ़ा चला जाऊंगा। थोड़ा-कुछ-देने की क़ीमत पर गान नहीं बेचूंगा।—इस समय तू कहाँ जायगी?

नंदिनी। रास्ते के किनारे, जहाँ से रंजन आएगा। वहीं बैठी रहकर फिर तुम्हारा गान सुनूंगी।

[दोनों का प्रस्थान

(सर्दार और मुखिया का प्रवेश)

सर्दार। नहीं, इस मुहल्ले में रंजन को किसी तरह आने नहीं दिया जा सकता।

मुखिया। उसे दूर रखने के लिये ही तो वज्रगढ़ के सुरंग में काम करने को ले गया था।

सर्दार। फिर क्या हुआ?

* उसने शायद युग युग से मुझे चाहा था, वही शायद मेरे रास्ते के किनारे बैठा हुआ है। आज मानों मुझे याद आ रहा है कि न जाने कब, किस अस्फुट प्रदोष-वेला में उसे आखों देखा था, वही मानों मेरे रास्ते के किनारे आ बैठा है। आज आलोक-संगीत के साथ उस चाँद का वरण होगा, और रात के मुख का अंधकार इशारे से खुल जायगा। शुक्ल रात्रि में उसी आलोक में, एक पलक में भेंट होगी और सभी आवरण खिसक जाएँगे। वही मानों मेरे रास्ते के किनारे बैठा हुआ है।

मुखिया। किसी प्रकार उससे पार नहीं पाया गया। वह कहता, हुकुम मानकर काम करने का अभ्यास मुझे नहीं है।

सर्दार। अभ्यास अभी शुरू कराने में क्या दोष है?

मुखिया। यह कोशिश भी की गई। बड़ा सर्दार कोतवाल को लेकर आया। लेकिन इस आदमी को डर-भय तो कहीं है ही नहीं, गले में ज़रा-सा शासन करने का स्वर आया नहीं कि ठठाकर हँस दिया। पूछने पर कहता है कि गंभीरता मूर्ख का स्वांग है, मैं उसीको हटाने आया हूँ।

सर्दार। उसे सुरंग के भीतर दल में क्यों नहीं भिड़ा दिया?

मुखिया। दिया था, सोचा था कि दबाव में पड़कर वश मान जायगा। लेकिन हुआ उलटा। ऐसा मालूम होने लगा कि खुदाई के मजूरों पर से भी दबाव कम हो गया। उनको भी मतवाला बना दिया, बोला—आज हम लोगों का खुदाई-नाच होगा।

सर्दार। खुदाई-नाच? इसका क्या मतलब!

मुखिया। रंजन ने तान छेड़ दी, मजूरों ने कहा ढोल कहाँ मिलेगा, उसके कहा—ढोल नहीं तो कुदाल तो है। फिर तो कुदाल पर ताल पड़ते लगे; सोने के पिंड लेकर कैसी विचित्र लोकौवल चलने लगी! बड़े मुखिया खुद आए, बोले,—"यह कैसी तुम्हारे काम की धारा है?" रंजन बोला—"काम की रस्सी मैंने खोल दी है, उसे खींचकर नहीं चलाना होगा, वह नाचता हुआ चलेगा।"

सर्दार। देखता हूँ, यह आदमी पागल है।

मुखिया। वज्र पागल। कहता हूँ, कुदाल पकड़ो। जवाब देता है, उससे अधिक काम होता यदि तुम एक सारंगी ले आ देते।

सर्दार। तुम लोग उसे वज्रगढ़ ले गए थे; वहाँ से वह कुबेरगढ़ में कैसे आया?

मुखिया। क्या जाने, मालिक। उसे जंजीरों से तो कसके बाँधा गया था। थोड़ी देर बाद देखता हूँ, न जाने कैसे बिछलाकर निकल आया है—उसके शरीर को कुछ भी दबा के नहीं रख सकता। और वह बात-बात में साज बदल लेता है, चेहरा बदल लेता है। उसकी ताक़त अचरज-भरी है। यदि वह कुछ दिन और रहा तो खुदाई के मजूर भी बंधन नहीं मानेंगे।

सर्दार। वह क्या? वह रंजन ही है न? रास्तेसे गाना गाता हुआ चला है। कहीं से एक टूटी सारंगी जुगा ली है। हिमाक़त तो देखो, ज़रा छिपाने की भी चेष्टा नहीं है!

मुखिया। वही तो। न जाने कब गारद की भीत काटकर निकल आया है। जादू जानता है।

सर्दार। जाओ, इस बार पकड़ो उसे। ख्याल रखो, इस मुहल्ले में नंदिनी के साथ उसकी मुलाक़ात किसी प्रकार न होने पावे।

मुखिया। देखते-देखते उसका दल भारी होता जा रहा है। कभी हमलोगों समेत सबको नचा देगा।

(छोटे सर्दार का प्रवेश)

सर्दार। कहाँ चले हो?

छो० सर्दार। रंजन को बाँधने चला हूँ।

सर्दार। तुम क्यों? मझले सर्दार कहाँ हैं?

छो० सर्दार। उसे देखकर उन्हें ऐसा मज़ा आया है कि उसके बदन पर हाथ देना ही नहीं चाहते। कहते हैं—उसकी हँसी देखकर समझ पाता हूँ कि हम सर्दार लोग कितने अद्भुत हो गए हैं।

सर्दार। सुनो, उसे बाँधना नहीं होगा। राजा के घर में भेज दो।

छो० सर्दार। वह तो राजा के बुलावे को मानना ही नहीं चाहता।

सर्दार। उसे कह दो, कि राजा उसकी नंदिनी को सेवादासी बना के रखे हुए है।

छो० सर्दार। लेकिन राजा यदि—

सर्दार। सोच विचार की कोई ज़रूरत नहीं, चलो मैं स्वयं जाता हूँ।

[सबका प्रस्थान

(अध्यापक और पुराणवागीश का प्रवेश)

पुराणवागीश। भीतर यह कैसा प्रलयकाण्ड हो रहा है, बताओ तो? बड़ा भयंकर शब्द हो रहा है जो।

अध्यापक। जान पड़ता है राजा अपने ऊपर खुद ही बिगड़ पड़ा है, इसीलिये, अपनी ही तैयार की हुई किसी चीज़ को तोड़-फोड़ रहा है।

पुराणवागीश। जान पड़ता है, बड़े बड़े खंभे भड़भड़ाकर गिरे जा रहे हैं।

अध्यापक। हमारे उस पहाड़तले से लगा हुआ उसीके बरोबर एक तालाब था, उसीमें शंखिनी नदी का पानी इकट्ठा हुआ करता था। एक दिन उसकी बाईं ओर का ऊँचा टीला झुक गया और जमा हुआ पानी पागल के अट्टहास की तरह खिलखिलाता हुआ बाहर

निकल गया। कुछ दिन से राजा को देखकर जान पड़ता है कि उसके संचय-सरोवर के पत्थर में भी चाड़ लगा है। उसका तला भीतर ही भीतर खधर गया है।

पुराणवागीश। वस्तुवागीश, यह किस स्थान में मुझे ले आए हैं और यहाँ करना क्या है?

अध्यापक। जगत् में जो कुछ जानने को है, उस सब कुछ को वह जानने के द्वारा ही आत्मसात् करना चाहता है। मेरी वस्तु-तत्त्व-विद्या को तो उसने प्रायः सबका सब ढलवा लिया है, अब रह-रहकर बिगड़ उठता है और कहता है "तुम्हारी विद्या तो सेंध मारने की साबर से एक दीवाल तोड़कर उसके पीछे एक और दीवाल निकालती रही है। किन्तु प्राण-पुरुष का भीतरी महल कहाँ है?" मैंने सोचा उसे कुछ दिन के लिये पुराण-चर्चा में भुलवा रखा जाय—मेरी थैली तो झाड़ ली जा चुकी है, अब पुरावृत्त की पाकेटमारी चले। वह देख रहे हो कौन जा रही है?

पुराणवागीश। एक लड़की, धानी रंग की साड़ी पहने हुई।

अध्यापक। पृथ्वी की प्राणों-भरी खुशी को अपने सारे शरीर में खींच लिया है, इस हमारी नन्दिनी ने। इस यक्षपुर में सर्दार हैं, मुखिया हैं, खुदाई करने वाले मज़दूर हैं, मेरे जैसा पंडित है, कोतवाल है, जल्लाद है, मुर्दफ़राश है, सभी मजे में मिल गए हैं, किन्तु वह एकदम बेमेल है। चारों ओर है हाट का हो हल्ला, वह है सुर-बंधा तम्बूरा।

अध्यापक। एक-एक दिन उसके चले जाने की हवा से ही मेरी वस्तुचर्चा का जाल फट जाता है। उसी के फाँक में से मेरा ध्यान जंगली चिड़िये की तरह हुश करके निकल भागता है।

पुराणवागीश। कहते क्या हो! तुम्हारी पक्की हड्डी भी ठकठका उठती है क्या?

अध्यापक। जानने के आकर्षण की अपेक्षा जब प्राण का आकर्षण ज्यादा हो जाता है तभी पाठशाला से भागने की प्रवृत्ति संभाल के बाहर हो जाती है।

पुराणवागीश। अच्छा अब बताओ तुम्हारे राजा से कहाँ भेंट होगी?

अध्यापक। भेंट होने का उपाय नहीं है। उस जाल की ओट से बातचीत होगी।

पुराणवागीश। क्या कहा, इस जाल की ओट से?

अध्यापक। और नहीं तो क्या। घूंघट की ओट से जिस तरह रसालाप होता है उस ढंग का नहीं, एक छनी हुई बात,—बीन-बराकर शुद्ध की हुई। उसके घर की गाय शायद दूध देना नहीं जानती, एकदम मक्खन देती है।

पुराणवागीश। बेकार बातें छोड़कर असली बात वसूल कर लेना ही तो पंडित का अभिप्राय होता है।

अध्यापक। किन्तु विधाता का नहीं। उन्होंने असली चीज़ की सृष्टि ही की है बेकार चीजों का लालन करने के लिये। वे सम्मान देते हैं फल की गुठली को और प्रेम देते हैं उसके गूदे को।

पुराणवागीश। आज-कल देखता हूँ तुम्हारा वस्तु-तत्व धानी रंग की ओर ही सरपट दौड़ पड़ा है। किन्तु अध्यापक, तुम अपने इस राजा को बरदाश्त कैसे कर पाते हो।

अध्यापक। सच बताऊँ ? मैं उसे प्यार करता हूँ।

पुराणवागीश। कहते क्या हो तुम !

अध्यापक। तुम नहीं जानते, वह इतना बड़ा है कि उसके दोष भी उसे नष्ट नहीं कर सकते।

(सर्दार का प्रवेश)

सर्दार। अजी वस्तु-वागीश, चुन-चुनके इसी आदमी को ले आए हो। इनकी विद्या का ब्यौरा सुनकर ही हमारा राजा बिगड़ उठा है।

अध्यापक। सो क्यों ?

सर्दार। राजा कहता है कि पुराण नाम की कोई चीज़ है ही नहीं, वर्तमान काल ही सिर्फ बढ़ता चल रहा है।

पुराणवागीश। पुराण यदि नहीं है तो फिर कुछ भी कैसे है ? पीछे यदि न हो तो सामने रह ही क्या सकता है ?

सर्दार। राजा कहते हैं, महाकाल नवीन को सामने प्रकाशित करता हुआ चल रहा है। इस बात को पंडित दबा देता है और कहता है, महाकाल पुरातन को अपने पीछे ढोए लिए जा रहा है।

अध्यापक। नन्दिनी के निविड़ यौवन की छाया-वीथिका में नवीन की मायामृगी को राजा चकित भाव से देख सके हैं, किन्तु पकड़ नहीं सके हैं, और बिगड़ उठे हैं मेरे वस्तु-तत्त्व के ऊपर।

(नन्दिनी का तेज़ी से प्रवेश)

नंदिनी। सर्दार, सर्दार यह क्या ! वे कौन हैं !

सर्दार। सुनो नन्दिनी, जब घोर रात होगी तब तुम्हारे कुन्द फूल की माला पहनूँगा। जब अंधेरे में मेरा रुपये में बारह आना ही अस्पष्ट हो चलेगा उस समय शायद फूल की माला मुझे फबेगी।

नंदिनी। उधर देखो, कैसा भयानक दृश्य है ! प्रेतपुरी का दरवाज़ा खुल गया है

क्या ? पहरेदारों के साथ वे कौन चले हैं वे जो राजा के महल के खिड़की दरवाज़ों से निकले आ रहे हैं ?

सर्दार। उनको हम राजा का जूठन कहते हैं।

नंदिनी। क्या मतलब ?

सर्दार। मतलब एक दिन तुम भी समझोगी, आज रहने दो।

नंदिनी। किन्तु कैसे चेहरे हैं ये ? ये क्या मनुष्य हैं ? उनमें मांस-मज्जा, मन-प्राण क्या कुछ है ?

सर्दार। शायद नहीं।

नंदिनी। किसी दिन था ?

सर्दार। शायद था।

नंदिनी। अब कहाँ चला गया ?

सर्दार। वस्तुवागीश, समझा सको तो समझा दो, मैं चला।

[प्रस्थान

नंदिनी। वह क्या है ! उन छाया-मूर्तियों में पहचाने मुखड़े देख रही हूँ। वे दोनों तो जरूर ही हमारे अनूप और उपमन्यु हैं। अध्यापक, वे लोग हमारे पड़ोसी गाँव के बाशिंदे हैं। दोनों भाई सिर के जितने लंबे हैं शरीर के उतने ही पुख्ता भी, लोग इन्हें ताल-तमाल कहा करते हैं। आषाढ़ चतुर्दशी को हमारी नदी में नाव-दौड़ खेलने आए थे। हाय, हाय, छाती फटती है, किसने इनकी यह दशा कर रखी है ? वह तो शकलु दिख रहा है, तलवार के खेल में सबके आगे माला पाता था। अनू—प शकलू—इधर देखो इधर मैं हूँ नंदिन ईशानी पाड़ा की तुम्हारी नंदिन। सिर उठा कर देखा भी नहीं। हमेशा के लिये सिर नीचा हो गया है। अरे वह कौन है ? कंकु ? हायरे, उसके जैसे लड़के को भी ईख की तरह चूस लिया है। बड़ा लजीला था ; जिस घाट में पानी ले आने जाती उसीके पास ढालू किनारे पर बैठा रहता, ऐसा भान करता मानों तीर चलाने के लिये सरकंडे लेने आ गया है। शैतानी करके मैंने उसे कितना दुःख दिया है। अरे ओ कंकू, ज़रा मेरी ओर घूम कर ताक। हाय हाय मेरे इशारे पर जिसका रक्त नाच उठता था उसने मेरी पुकार पर जवाब तक नहीं दिया ? बुझ गई है मेरे गाँव की सब रोशनी बुझ गई ! अध्यापक, लोहा घिस गया है, सिर्फ काला मोरचा ही बाक़ी है ? ऐसा क्यों हुआ ?

अध्यापक। नंदिनी, जिधर रास्ता है उसी तरफ़ तुम्हारी नज़र जाती है। इस बार लौ की ओर भी देखो, देखोगी कि उसकी जीभ लपलपा रही है।

नंदिनी। तुम्हारी बात मैं नहीं समझ सकती।

अध्यापक। राजा को तो देखा है? उसकी मूर्ति देखकर, सुना है कि तुम्हारा मन मुग्ध हो गया है।

नंदिनी। ज़रूर हुआ है। वह जो अद्भुत शक्तिका चेहरा है।

अध्यापक। वह अद्भुत जिसका जमा है, यह किम्भूत उसीका खर्च है। ये छोटे छोटे सब जलकर होते रहते हैं राख और वह बड़ा जलता रहता है लौ के रूप में। यही है बड़ा होने का तत्त्व।

नंदिनी। वह तो राक्षस का तत्त्व है।

अध्यापक। तत्त्व पर बिगड़ना फ़िज़ूल है। वह अच्छा भी नहीं होता, बुरा भी नहीं होता। जो होता है सो होता है, उसके विरुद्ध जाओ तो होने के ही विरुद्ध जाओगी।

नंदिनी। यही यदि मनुष्य का होने का रास्ता है, तो नहीं चाहती मैं होना—मैं उन छाया-मूर्तियों के साथ चली जाऊँगी—मुझे रास्ता दिखा दो।

अध्यापक। रास्ता दिखाने का जब दिन आयगा तो ये लोग ही दिखा देंगे, उसके पहले रास्ता नामक कोई बला नहीं है। देखो न, पुराणवागीश न जाने कब धीरे से खिसक पड़े हैं; सोचते हैं, भागकर बच जायेंगे। ज़रा आगे जाकर ही समझ सकेंगे कि घेरे का जाल यहां से लेकर बहुत योजन दूर तक खूंटियों में बंधा है। नंदिनी नाराज़ हो रही हो तुम? तुम्हारे कपोल पर लाल कनेर का गुच्छ आज प्रलय-संध्या के मेघ के समान दीख रहा है।

नंदिनी। (खिड़की को धक्का मारकर) सुनो, सुनो!

अध्यापक। किसे बुला रही हो तुम?

नंदिनी। जाल के कुहासे से ढके हुए तुम्हारे राजा को।

अध्यापक। भीतर के किंवाड़ बंद हो गए हैं, आवाज़ नहीं सुन सकेगा।

नंदिनी। विशू पागल, पागल भाई!

अध्यापक। उसे क्यों बुला रही हो?

नंदिनी। वह अब तक लौटा नहीं, मुझे बड़ा डर लग रहा है।

अध्यापक। ज़रा पहले तुम्हारे ही साथ तो देखा था उसे।

नंदिनी। सर्दार ने कहा है कि रंजन को पहचनवाने के लिये उसकी बुलाहट हुई है। मैं साथ जाना चाहती थी, जाने नहीं दिया। वह किसकी चीख सुनाई दे रही है।

अध्यापक। जान पड़ता है उस पहलवान की है।

नंदिनी। वह कौन है?

अध्यापक। वही, वह जगद्विख्यात गज्जू पहलवान जिसका भाई भजन हिमाकत करके राजा से कुश्ती लड़ने आया था ; फिर तो उसकी लंगोटी का एक धागा भी कहीं दिखाई नहीं दिया। उसी गुस्से से गज्जू भी ताल ठोंकता आया। मैंने शुरू में ही उससे कह दिया था कि इस राज्य में सुरंग खोदने आना चाहते हो तो आओ, मरते मरते भी कुछ दिन जीते रहोगे। और अगर मर्दानगी दिखानी हो तो एक क्षण भी नहीं बर्दाश्त की जायगी। यह स्थान बहुत कठिन है।

नंदिनी। दिनरात इस आदमी बझानेवाले जाल की खबरदारी करके ये लोग क्या कुछ भी अच्छे रह पाते हैं ?

अध्यापक। अच्छे का सवाल इसमें नहीं है, रहने का सवाल है। इनका यह रहना इतने भयंकर रूप से बढ़ गया है कि लाख-लाख आदमियों पर यदि दबाव न पड़े तो इनके इस भार को सम्हालेगा कौन ?

नंदिनी। रहना ही होगा ? मनुष्य होकर रहने के लिये यदि मरना ही हो तो उसमें दोष क्या है ?

अध्यापक। फिर वही गुस्सा ? उसी लाल कनेर की झंकार ! खूब मधुर है, फिर भी जो सत्य है वह सत्य है। रहने के लिये मरना है, ऐसा कहने में तुम्हें सुख मिलता हो तो कह लो। किन्तु रहते वही लोग हैं जो कहते हैं कि रहने के लिये मारना होगा। तुम लोग कहती हो इससे मनुष्यत्व में त्रुटि आती है पर गुस्से के कारण भूल जाती हो कि यही मनुष्यत्व है। बाघ को खाकर बाघ नहीं बड़ा होता। सिर्फ मनुष्य ही मनुष्य को खाकर फूल उठता है।

(पहलवान का प्रवेश)

नंदिनी। आहा, किस तरह ढुलकता-ढिमलाता आ रहा है। पहलवान, यहीं सो रहो। अध्यापक, देखो ना, कहाँ इसे चोट लगी है ?

अध्यापक। बाहर से चोट का निशान देख ही नहीं सकोगी।

पहलवान। दयामय प्रभो, ऐसा हो कि मैं जीवन में एक दिन शक्ति पाऊँ, सिर्फ एक दिन के लिये भी !

अध्यापक। काहे वास्ते भाई !

पहलवान। सिर्फ उस सर्दार की गर्दन मरोड़ देने के लिये।

अध्यापक। सर्दार ने तुम्हारा क्या किया है ?

पहलवान। सब कुछ उसीने तो किया है। मैं तो लड़ना ही नहीं चाहता था। आज कहता फिरता है कि मेरा ही दोष था।

अध्यापक। क्यों भई, इसमें उनका क्या स्वार्थ है ?

पहलवान। यदि समस्त पृथ्वी को शक्तिहीन कर दें तभी वे निश्चिन्त होंगे। दयानिधान भगवान् ऐसा करो कि एक दिन उसकी दोनों आँखें उखाड़ कर फेंक सकूं, उसकी जीभ खींचकर निकाल बाहर करूं।

नंदिनी। तुम्हें कैसा लग रहा है पहलवान।

पहलवान। ऐसा जान पड़ता है कि शरीर भीतर से पोला हो गया है। ये लोग न जाने कहाँ के दानव हैं, जादू जानते हैं, सिर्फ जोर ही नहीं, साहस तक सोख लेते हैं।—यदि किसी उपाय से एक बार—हे कल्याणमय हरि, आः यदि एक बार—तुम्हारी दया होने से क्या नहीं हो सकता ! सर्दार की छाती में यदि एक बार दाँत गड़ा सकूं !

नंदिनी। अध्यापक, इसे तुम पकड़ो, हम दोनों मिलकर इसे घर पर ले चलें।

अध्यापक। मुझमें साहस नहीं है नंदिनी। यहाँ के नियमानुसार इसमें अपराध होगा।

नंदिनी। मनुष्य को मरने देने में अपराध नहीं होगा।

अध्यापक। जिस अपराध का दण्ड देनेवाला कोई नहीं है वह पाप हो सकता है किन्तु अपराध नहीं। नन्दिनी, इन सब में से तुम एकबारगी निकल आओ। जड़ की मुट्ठी बाँधकर पेड़ मिट्टी के नीचे हरण शोषण का कार्य करता है किन्तु वहाँ फूल तो नहीं खिला सकता। फूल खिलता है ऊपर की डाल में, आकाश की ओर। ओ लाल कनेर, हमारी मिट्टी के नीचे की खबर लेने मत आओ। हम टक लगाये बैठे हैं कि ऊपर की हवा में तुम्हारा झूला झूलना देखेंगे। वह सर्दार आ रहा है। तो फिर मैं हटूँ। तुम्हारे साथ बात करता हूँ, यह वह नहीं सह सकता।

नंदिनी। मेरे ऊपर इतना गुस्सा क्यों ?

अध्यापक। अन्दाज़ से कह सकता हूँ। तुमने भीतर ही भीतर उसके मन के तार को खींचा है ; जितना ही सुर नहीं मिल रहा है, बेसुर उतना ही कड़ा होकर चिल्ला उठता है।

[प्रस्थान

(सर्दार का प्रवेश)

नंदिनी। सर्दार !

सर्दार। नन्दिनी, तुम्हारे उस कुन्द फूल की माला को देखकर गोसाईंजी की दोनों आँखें—यह लो वे खुद आ रहे हैं। प्रणाम! प्रभु, वह माला नन्दिनी ने मुझे दी थी।

(गोसाईंजी का प्रवेश)

गोसाईं। अहा, शुभ्र प्राणों का दान! भगवान् के शुभ्र कुन्द पुष्प! विषयी जन के हाथ में पड़कर भी उसकी शुभ्रता म्लान नहीं हुई, इसीसे तो पुण्य का शक्ति और पापी के परित्राण की आशा देख पाता हूँ।

नंदिनी। गोसाईंजी इस आदमी की कोई व्यवस्था कीजिए। इसके जीवन का बाकी ही कितना-सा रह गया है।

गोसाईं। सब ओर से विचारकर जिस मात्रा में इसका जीना ज़रूरी है हमारे सर्दार निश्चय ही उतना जीवित रक्खेंगे। किन्तु वत्से, यह सब आलोचना तुम्हारे मुँह से श्रुतिकटु लगती है। हम पसन्द नहीं करते।

नंदिनी। इस राज्य में जीवित रखने का भी मात्रा-विचार है क्या?

गोसाईं। क्यों नहीं है? पार्थिव जीवन सीमाबद्ध है न? इसीलिये हिसाब समझकर उसका बँटवारा करना होता है। हमारी श्रेणी के लोगों पर भगवान् ने दुस्सह उत्तरदायित्व का बोझा लाद दिया है, उसको ढोने के लिये हमारे हिस्से में प्राण का सारांश कुछ अधिक मिलना चाहिए। ये लोग खूब कम जिएं तो भी काम चल जायगा, क्योंकि उनका भार कम करने के लिये हम लोग जीते हैं। यह क्या उनके लिये कम बचाव है?

नंदिनी। गोसाईं जी, भगवान् ने तुम्हारे ऊपर इनका कौन-सा उपकार करने का विषम बोझ लाद दिया है?

गोसाईं। जो प्राण सीमाबद्ध नहीं है उसमें हिस्सा बँटाने के लिये किसीके साथ किसीके झगड़े की कोई ज़रूरत ही नहीं है, हम गोसाईं लोग उसी प्राण का रास्ता दिखाने आए हैं। इसीसे यदि वे सन्तुष्ट रहें तभी हम उनके हितू हैं।

नंदिनी। तब क्या यह आदमी अपने सीमाबद्ध प्राण को लेकर इसी तरह अधमरा होकर पड़ा रहेगा?

गोसाईं। पड़ा क्यों रहेगा भला? क्यों सर्दार, क्या कहते हो?

सर्दार। ठीक कहते हैं आप, पड़ा क्यों रहने दूँगा! आज से अपने ज़ोर से चलने की उसे ज़रूरत ही नहीं होगी। हम अपने ही ज़ोर से उसे चलाते फिरेंगे। अरे गज्जू!

पहलवान। क्या प्रभु!

गोसाईं। हरि हरि, इसी बीच उसका गला खासा महीन हो उठा है, अपने नाम-कीर्तन के दल में उसे खींच सकूँगा, ऐसा लगता है।

सर्दार। ह-क्ष मुहल्ले के मुखिये के घर में तेरा डेरा हुआ है, चला जा वहीं।

नंदिनी। यह कैसी बात! वह चलेगा कैसे!

सर्दार। देखो नन्दिनी, आदमी चलाना ही हम लोगों का व्यवसाय है। हम जानते हैं कि आदमी जहाँ आकर थोबर लटकाकर पड़ रहता है वहाँ थोड़ा ज़ोर मारने से और भी थोड़ी दूर जा सकता है। जाओ गज्जू!

गज्जू। जो हुकुम।

नंदिनी। पहलवान मैं भी जाती हूँ मुखिया के घर, वहाँ तुम्हें देखनेवाला कोई नहीं है।

गज्जू। नहीं नहीं, रहने दो, सर्दार गुस्सा करेगा।

नंदिनी। मैं सर्दार के गुस्से से नहीं डरती।

गज्जू। मैं डरता हूँ, दुहाई है मेरी बिपदा मत बढ़ाओ।

नंदिनी। सर्दार जाओ मत, कहते जाओ मेरे विशू पागल को कहाँ ले गए हो?

सर्दार। मैं ले जानेवाला कौन होता हूँ। मेघ को हवा उड़ा ले जाती है, इसे यदि दोष समझो तो हवा से पूछो कि उसे ठेलता कौन है?

नंदिनी। यह कैसा सत्यानाशी देश है जी! तुम भी आदमी नहीं हो और जिन्हें चलाते हो वे भी आदमी नहीं हैं? तुम लोग हवा हो, वे मेघ हैं? गोसाईं, तुम ज़रूर जानते हो; बताओ मेरा विशू पागल कहाँ है?

गोसाईं। मैं ज़रूर जानता हूँ, जो जहाँ रहते हैं सब भले के लिये ही।

नंदिनी। किसके भले के लिये?

गोसाईं। सो तुम नहीं समझोगी। आः छोड़ो, छोड़ो, वह मेरी जपमाला है। लो यह टूट गई! ऐ सर्दार, तुम लोगों ने जो इस लड़की को—

सर्दार। न मालूम कैसे वह यहाँ के नियमों के फाँक में जगह पा गई है। खुद हमारे राजा—

गोसाईं। अजी देखो, इस बार मेरा राम-नामा तक फाड़ डालेगी, आफ़त है! मैं चला!

[प्रस्थान

नंदिनी। सर्दार तुम्हें बताना ही पड़ेगा; बताओ मेरे विशू पगले को कहाँ ले गए हो?

सर्दार। विचारशाला में उसकी बुलाहट हुई है—इससे अधिक कुछ कहने को नहीं है। मुझे छोड़ो, बहुत-से काम पड़े हुए हैं।

नंदिनी। मैं स्त्री हूँ, इसीलिये तुम मुझसे नहीं डरते? विद्युत् शिखा के हाथों इन्द्र अपना वज़् भेज देते हैं। मैं वही वज़् लेकर आई हूँ, तुम्हारी सर्दारी का स्वर्णशिखर टूटेगा।

सर्दार। तो सच्ची बात तुमको बता जाऊँ। विशू की आफ़त तुम्हींने बुलाई है।

नंदिनी। मैंने?

सर्दार। हाँ, तुमने ही। इतने दिन तक कीड़े की तरह निःशब्द मिट्टी के नीचे गड्ढा खोदकर वह चला था, उसे मरने के लिये पंख फड़फड़ाना तुम्हींने सिखाया है, तुम्हींने ओ इन्द्रदेव की आग। बहुतों को इसमें ढकेलोगी तब अन्त में तुममें हममें समझौता होगा। ज्यादा देर नहीं है।

नंदिनी। वही हो, किन्तु एक बात बताते जाओ, मेरे साथ रंजन की भेंट होने दोगे या नहीं?

सर्दार। हर्गिज़ नहीं।

नंदिनी। हर्गिज़ नहीं! देखूंगी कितनी ताक़त है तुममें! उसके साथ मेरा मिलना होकर ही रहेगा। ज़रूर होगा, और आज ही। तुम्हें बताए देती हूँ।

[सर्दार का प्रस्थान

नंदिनी। (खिड़की को धक्का मारकर) राजा, ओ राजा, सुनो! तुम्हारी विचार-शाला कहाँ है? मैं तुम्हारे इस जाल के पर्दे को तोड़ दूंगी। वह कौन-वह कौन है! यह किशोर दिखता है। बोल तो किशोर, तुझे मालूम है हमारा विशू कहाँ है?

किशोर। हाँ नंदिनी, अभी उसके साथ तुम्हारी भेंट होगी; दिल मज़बूत कर रखो। पता नहीं पहरेदारों के मालिक ने मेरा मुँह देखकर दया क्यों दिखाई? मेरे अनुरोध पर इसी रास्ते विशू को ले जाने को राज़ी हुआ है।

नंदिनी। पहरेदारों का मालिक! तो क्या—

किशोर। हाँ, वह देखो, आ रहा है।

नंदिनी। यह क्या, तुम्हारे हाथ में हथकड़ी! पागल भाई, तुम्हें ये लोग इस तरह कहाँ ले चले हैं?

(विशू को लिये हुए पहरेदारों का प्रवेश)

विशू। डर नहीं है, कुछ डर की बात नहीं है। पगली, इतने दिन बाद मेरी मुक्ति हुई है।

नंदिनी। क्या कहते हो कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

विशू। जब डर के मारे पद-पद पर विपत्तियों को सम्हालता हुआ चलता था तब मैं छूटा हुआ था। उस छूट के समान बंधन और कुछ नहीं है।

नंदिनी। तुमने क्या दोष किया है कि ये तुम्हें बांधे लिए जा रहे हैं?

विशू। इतने दिनों बाद आज सच्ची बात कह दी थी।

नंदिनी। इसमें दोष क्या हुआ?

विशू। कुछ नहीं।

नंदिनी। तो फिर इस प्रकार बांधा क्यों?

विशू। इसमें नुक़सान क्या हुआ। सत्य में मैंने मुक्ति पाई है—यह बंधन इसी बात का सत्य-साक्षी हो रहा है।

नंदिनी। वे तुम्हें पशु की तरह बांधकर लिए जा रहे हैं, उन्हें खुद लज्जा नहीं लग रही? छी छी, वे भी तो आदमी ही हैं।

विशू। उनके भीतर जो एक प्रकाण्ड पशु बैठा हुआ है—मनुष्य के अपमान से उनका सिर नीचा नहीं होता, सिर्फ भीतर के पशु की पूँछ फूलती रहती है, हिलती रहती है।

नंदिनी। आहा, पागल भाई, तुम्हें इन्होंने मारा भी है क्या? तुम्हारे शरीर पर ये गोहिए कैसे हैं।

विशू। चाबुक मारा है, जिस चाबुक से कुत्तों को पीटते हैं, उसीसे। जिस रस्सी से यह चाबुक तैयार हुआ है उसी रस्सी के सूत से इनके गोसाईं की जपमाला भी तैयार हुई है। जब ये लोग ठाकुर का नाम जपते हैं तो इस बात को भूल जाते हैं, पर ठाकुर याद रखते हैं।

नंदिनी। मुझे भी तुम्हारे साथ ऐसे ही बांध ले जायँ भाई मेरे। तुम्हारी इस मार में से मैं भी कुछ हिस्सा यदि न पाऊँ तो आज से मुँह में अन्न नहीं रुचेगा।

किशोर। विशू, यदि मैं कोशिश करूं तो वे ज़रूर तुम्हारे बदले मुझे ले जा सकते हैं। तुम ऐसी ही अनुमति करो।

विशू। यह तू पागल सरीखी बात कर रहा है।

किशोर। सज़ा तो मुझे तकलीफ़ देने से रही। मेरी उमर कम है, मैं खुशी खुशी सह लूंगा।

नंदिनी। नहीं नहीं किशोर, तू ऐसी बात मत कह!

किशोर। नंदिनी, आज मैंने काम में कोताही की है, उनको इसकी खबर लग गई है। मेरे पीछे उन्होंने कुत्ता लगा रखा है। वे मेरा जो अपमान करेंगे उससे यह सज़ा मुझे बचा लेगी।

विशू। नहीं किशोर, अब पकड़े जाने से काम नहीं चलेगा, एक खतरा-भरा काम करना है। रंजन यहाँ आ गया है, जैसे हो उसे बाहर निकालना होगा। सीधा काम नहीं है।

किशोर। नंदिनी, तो फिर मैं बिदा हुआ। रंजन के साथ भेट होने पर तुम्हारी कौन-सी बात उसे बताऊँगा!

नंदिनी। कुछ नहीं। उसे वह लाल कनेर का गुच्छा दे देना, इसीसे मुझे जो-कुछ कहना है, सब कहा जायगा।

[**किशोर का प्रस्थान**

विशू। इस बार रंजन से तुम्हारा मिलन हो!

नंदिनी। अब मुझे मिलन में सुख नहीं मिलेगा। यह बात मैं कभी भूल न सकूंगी कि तुम्हें खाली हाथों बिदा किया था। और वह बिचारा बालक किशोर है उसने ही मुझसे क्या पाया भला!

विशू। मन में तुमने जो आग जला दी है उसके प्रकाश में उसके अन्तर का सब धन प्रकट हो गया है। और चाहिए ही क्या? याद है न, वह नीलकंठ की पाँख रंजन के चूड़े में पहना देनी होगी?

नंदिनी। यह क्या है मेरी छाती के आँचल में?

विशू। पगली, फ़सल कटने की वह गान सुन रही है?

नंदिनी। सुन रही हूँ, प्राण रो उठते हैं।

विशू। मैदान की लीला समाप्त हुई, खेत का मालिक पकी फ़सल लेकर घर चला। चलो प्रहरी, अब अधिक देर करना ठीक नहीं—

(गान)

शेष फसलेर फसल एबार, केटे लओ बांधो आँटि
बाकि या नय गो नेबार माटि ते होक ता माटि।

[**सब का प्रस्थान**

[चिकित्सक और सर्दार का प्रवेश]

चिकित्सक। राजा अपने ऊपर आप ही बिगड़ पड़ते हैं, यह रोग बाहर का नहीं है, मन का है।

सर्दार। इसका प्रतीकार क्या है ?

चिकित्सक। कोई ज़बर्दस्त-सा धक्का। या तो वह दूसरे राज्य के साथ हो या नहीं तो फिर अपनी ही प्रजाओं में उत्पात लगा देना।

सर्दार। अर्थात् यदि वे और किसीका नुकसान नहीं कर सकेंगे तो अपना ही कर बैठेंगे।

चिकित्सक। ये बड़े आदमी हैं बड़े बच्चे-सरीखे। खेला करते हैं। एक खेल से जब नाराज़ होते तब अगर और एक खेल न जुगा दिया जाय तो अपना ही खिलौना तोड़ देते हैं। किन्तु तैयार रहो सर्दार अब ज्यादा देर नहीं है।

सर्दार। लक्षण देखकर मैंने आगे से ही सब तैयारी कर रखी है। किन्तु हाय हाय, दुःख की क्या बताऊँ ! हमारी स्वर्णपुरी उस समय जैसे ऐश्वर्य से भर उठी थी, वैसा और कभी नहीं हुआ था, ठीक उसी समय—अच्छा जाओ, सोच देखता हूँ !

[चिकित्सक का प्रस्थान

[मुखिया का प्रवेश]

मुखिया। सर्दार-महाराज, आपने बुलाया है ? मैं महाल का मुखिया हूँ।

सर्दार। तीन सौ इक्कीस तुम्हीं हो न ?

मुखिया। क्या ग़ज़ब की याददाश्त है मालिक की ! मेरे जैसे अपात्र को भी नहीं भूलते।

सर्दार। देश से मेरी स्त्री आ रही है। तुम्हारे महाल के पास डाक बदलेगी। शीघ्र ही यहाँ पहुँचा देना होगा।

मुखिया। मुहल्ले में बैलों की मरकी पड़ी है, गाड़ी खींचने के लिये बैलों का अभाव है। खैर देखा जायगा, खुदाई करनेवाले मज़दूरों को जोत दिया जायगा।

सर्दार। जानते हो न कहाँ जाना होगा ? बागान-बाड़ी में जहाँ सर्दारों का भोज है।

मुखिया। जाता हूँ, लेकिन एक बात बताता जाऊँ। ज़रा कान दें। वह जो ६९ ङ० है, जिसे लोग-बाग बिशू पगला कहते हैं, उसका पागलपन सुधारने का वक्त आ गया है।

सर्दार। क्यों ? तुम्हारे यहाँ उत्पात करता है क्या ?

मुखिया। मुँह से नहीं, भाव-भंगी से।

सर्दार। अब कोई चिन्ता नहीं। समझे?

मुखिया। ऐसा? तो फिर ठीक है। और एक बात ; वह जो ४७ फ है, वह ६९ छ से कुछ ज्यादा मिलता-जुलता है।

सर्दार। मैंने यह भी लक्ष्य किया है।

मुखिया। मालिक का लक्ष्य तो ठीक ही है, फिर भी चारों ओर नज़र रखनी पड़ती है कि नहीं, इसीलिये दो-एक छूट भी जा सकते हैं। यही देखिए ना, हमारा ९५, गाँव के नाते मेरा फुफुआ-ससुर होता है—अपनी पसली की हड्डियों से सर्दार महाराज के झाड़ूबर्दार का खडाऊँ बना देने को तैयार है, स्वामि-भक्ति देखकर स्वयं उसकी सहधर्मिणी भी लज्जा से सिर नीचा कर लेती है, और फिर भी आज तक—

सर्दार। उसका नाम बड़ी बही में चढ़ गया है।

मुखिया। चलो, इतने दिनों की सेवा सार्थक हुई। उसे सावधानी के साथ खबर सुनानी होगी, उसे मृगी रोग भी है, अचानक—

सर्दार। अच्छा, सो होता रहेगा, तुम जल्दी करो।

मुखिया। और एक आदमी की बात कहनी है—होता तो वह मेरा अपना सगा साला ही है लेकिन उसकी माँ जब मर गई तो मेरी घरवाली ने उसे अपने हाथों पाल-पोसकर बड़ा किया है, तो भी जब मालिक का नमक—

सर्दार। उसकी बात कल होगी, तुम दौड़कर चले जाओ।

मुखिया। मझले सर्दार बहादुर वह आ रहे हैं। उन्हें मेरी ओर से ज़रा समझा दें हुज़ूर। मेरे ऊपर उनकी नेक नज़र नहीं है। मुझे ऐसा लगता है कि जब मालिक लोगों के इलाके में ६९ छ आया जाया करता था, तभी उसने मेरे नाम—

सर्दार। नहीं नहीं, किसी दिन उसे तुम्हारा नाम लेते नहीं सुना।

मुखिया। वही तो उसकी चालाकी है। जो नामी आदमी है उसका नाम दबाकर ही तो उसे मारा जाता है। छल-बल से, इशारे से, लगालगी करना तो अच्छा नहीं है। हमारे तैंतीस को यही रोग है, उसको और कोई काम तो है नहीं, समय-बेसमय मालिकों की मंडली में उसका जाना आना लगा ही हुआ है। डर लगता है, न जाने कब किसके नाम क्या लगा बैठे। और फिर उन हज़रत के घर की खबर अगर—

सर्दार। आज अब समय नहीं है, जल्दी जाओ।

मुखिया। तो राम राम सर्दार। (लौटकर) एक बात है! उस टोले का अठासी

उस दिन महज़ तीस रुपये पर घुसा लेकिन दो साल जाते-न-जाते आज उसकी आमदनी ऊपरी पावना समेत अधिक नहीं तो डेढ़ दो हज़ार माहवार तो होगी ही। हुज़ूर लोगों का मन सीधा है, देवतों का सा भोला दिल है, स्तुति सुनकर ही भूल जाते हैं। साष्टांग प्रणाम की घटा देखकर ही—

सर्दार। अच्छा अच्छा, ये बातें कल होंगी।

मुखिया। मेरे तो हुज़ूर, दया-धरम है, मैं उसकी रोटी मारने को नहीं कहता, किन्तु उसे खज़ाने के काम में रखना ठीक हो रहा है कि नहीं, सो एक बार सोच देखें। हमारा विष्णुदत्त उसकी रग-रग का हाल जानता है, उसे बुलाकर—

सर्दार। आज ही बुलाऊँगा, तुम जाओ।

मुखिया। हुज़ूर, मेरा सँझला लड़का अब लायक़ हो गया है। प्रणाम करने आया था, तीन दिन तक चक्कर काटकर दर्शन न पाकर लौट गया है। बड़े मन के दुख में है सर्कार। हुज़ूर के भोग के लिये मेरी पतोहू ने हाथ की तैयार की हुई साँची कुम्हड़े की—

सर्दार। अच्छा, परसों आने को कहो। भेंट होगी।

[मुखिया का प्रस्थान

[मझले सर्दार का प्रवेश]

मझला सर्दार। नाचवाली और बजनियों को बगीचे में भेजकर आ रहा हूँ।

सर्दार। और रंजन का वह कितनी दूर तक—

म० सर्दार। यह सब काम मुझसे नहीं होते। छोटे सर्दार ने स्वयं पसंद करके अपने ऊपर उसका भार लिया है। अब तक उसका—

सर्दार। राजा क्या—

म० सर्दार। राजा निश्चय ही नहीं समझ सके। दस जनों में मिलाकर उसे—किन्तु इस तरह राजा को धोखा देना मैं तो उचित नहीं समझता।

सर्दार। राजा के प्रति हमारा जो कर्तव्य है उसीके लिये राजा को धोखा देना ज़रूरी होता है। उसकी जवाबदेही मेरी है। लेकिन अब उस लड़की को बिना विलंब—

म० सर्दार। नहीं नहीं, ये बातें मेरे साथ नहीं। जिस मुखिया पर वह भार दिया गया है वह उपयुक्त आदमी है, कैसा भी गंदगी-भरा काम क्यों न हो, वह एकदम नहीं हिचकता।

सर्दार। केनाराम गोसाईं क्या रंजन की बात जानता है?

म० सर्दार। अंदाज़ पर सभी जानता है, साफ़ जानना नहीं चाहता।

सर्दार। सो क्यों?

म० सर्दार। कहीं 'नहीं जानता' कहने का रास्ता बंद न हो जाय, इसीलिये।

सर्दार। बंद अगर हो ही गया तो क्या?

म० सर्दार। नहीं समझे? हम लोगों का तो सिर्फ एक ही चेहरा है—सर्दार का चेहरा। किन्तु उसकी एक पीठ की ओर गुसाईं का चेहरा है, दूसरी ओर सर्दार का। रामनामा ज़रा सा उलझा नहीं कि वह फाँस बन जाता है। इसीलिये सर्दारी धर्म का पालन अपनेसे ही छिपाकर करना होता है, ऐसा करने से नाम-जप के समय ज्यादा दिक़्क़त नहीं होती।

सर्दार। नाम-जप छोड़ ही देता तो क्या होता।

म० सर्दार। लेकिन इधर उसका मन तो धर्मभीरु है, रक्त चाहे जैसा हो। इसीलिये, स्पष्ट भाव से नाम-जप और अस्पष्ट भाव से सर्दारी करने से वह स्वस्थ रहता है। वह है इसीलिये हमारा देवता आराम में है, उसका कलंक ढका हुआ है, नहीं तो उसका चेहरा अच्छा नहीं दिखता।

सर्दार। मझले सर्दार, मैं देख रहा हूँ कि तुम्हारे रक्त के साथ भी सर्दारी के रक्त का मेल अभी तक नहीं बैठा।

म० सर्दार। रक्त सूखते ही यह बला जाती रहेगी, अब भी यह आशा है। लेकिन आज भी मैं तुम्हारे उस तीनसौ-इक्कीस को बर्दाश्त नहीं कर सकता। जिसे दूर से चिमटे से पकड़ने पर भी घृणा मालूम होती है उसीको जब सभा में सुहृद् कहकर छाती से लगाना पड़ता है तब किसी भी तीर्थ के जल से हज़ार स्नान करने पर भी अपने को पवित्र समझना कठिन हो जाता है।—वह देखो, नंदिनी आ रही है।

सर्दार। चले आओ मझले सर्दार।

म० सर्दार। क्यों डर काहे का है?

सर्दार। तुम्हारा विश्वास नहीं; मुझे मालूम है तुम्हारी आँखों में नंदिनी का नशा छाया हुआ है।

म० सर्दार। लेकिन तुम्हें नहीं मालूम कि तुम्हारी आँखों में भी कर्तव्य के रंग के साथ कुछ थोड़ा-सा लाल कनेर का रंग भी मिला हुआ है, इसीलिये उसकी लालिमा इतनी भयंकर हो उठी है।

सर्दार। होगा; मन की बात मन खुद भी नहीं जानता। तुम चले आओ मेरे साथ।

[**दोनों का प्रस्थान**

[**नन्दिनी का प्रवेश**]

नंदिनी। देखते देखते सिंदूरिया बादलों से आज की गोधूलि लाल हो उठी। यही

क्या हम दोनों के मिलन का रंग है ? मेरा सिंदूर ही मानों सारे आसमान में फैल गया है ! [खिड़की को धक्का मारके] जब तक नहीं सुनोगे तब तक दिन रात यहां पड़ी रहूँगी ।

[गोसाईं का प्रवेश]

गोसाईं । किसे ठेल रही हो ?

नंदिनी । तुम्हारे उस अजगर को जो ओट में छिपा हुआ आदमी निगला करता है ।

गोसाईं । हरि ! हरि !! भगवान् जब छोटे को मारना चाहते हैं तो उसके छोटे मुँह में बड़ी बात बैठा देते हैं । देखो नंदिनी, तुम विश्वास करो मैं, तुम्हारी मंगल-कामना करता हूँ ।

नंदिनी । इससे मेरा मंगल नहीं होगा ।

गोसाईं । आओ मेरे ठाकुर-घर में तुम्हें हरिनाम सुनाऊँ ।

नंदिनी । सिर्फ नाम लेकर मैं क्या करूँगी ?

गोसाईं । मन में शान्ति पाओगी ।

नंदिनी । यदि मैं शान्ति पाऊँ तो मुझे धिक्कार है । मैं इस दरवाजे पर इन्तज़ार करती बैठी रहूँगी ।

गोसाईं । देवता की अपेक्षा मनुष्य पर तुम्हारा विश्वास अधिक है ?

नंदिनी । तुम्हारा वह ध्वज-दण्ड का देवता कभी नर्म नहीं होगा । लेकिन जाल की ओट में बैठा हुआ आदमी क्या सदा सर्वदा जाल में ही बँधा रहेगा ? जाओ, जाओ, जाओ ! मनुष्य का प्राण नोचकर उसे नाम-जप से भुलवाना ही तुम्हारा रोज़गार है ।

[गोसाईं का प्रस्थान]

[फागूलाल और चंद्रा का प्रवेश]

फागूलाल । विशू तुम्हारे साथ आया था, वह इस समय कहाँ है ? सच बताओ ।

नंदिनी । उसे गिरफ्तार करके ले गए हैं ।

चंद्रा । राक्षसी, तूने ही उसे पकड़वा दिया है, तू उनकी चर है ।

नंदिनी । कौन-सा मुँह लेकर तुम ऐसी बात कह सकीं ?

चंद्रा । नहीं तो यहाँ तेरा क्या काम है ? खाली सबका मन भुलाती घूमती फिरती है !

फागूलाल । यहाँ सभी सबको संदेह की नज़रों से देखते हैं लेकिन फिर भी मैं तुम्हारे ऊपर विश्वास करके आया हूँ । मन ही मन तुम्हें—अच्छा, जाने भी दो इस बात को । लेकिन आज जाने कैसा लग रहा है ।

नंदिनी। लगता होगा। मेरे साथ आकर ही वह आफ़त में फँस गया। तुम लोगों के साथ रहते वह निरापद् था, यह बात उसने खुद कही।

चंद्रा। तब क्यों उसे फुसला लाई, सत्यानाशी।

नंदिनी। क्या करूँ, उसने कहा था कि मुझे मुक्ति चाहिए।

चंद्रा। अच्छी मुक्ति दी है उसे।

नंदिनी। मैं तो उसकी सारी बात समझ नहीं पाती चंद्रा। उसने मुझसे क्यों कहा कि विपत्ति के बीच डूब जाने पर मुक्ति मिलती है? फागूलाल, जो आदमी निरापद् होने की मार से मुक्ति चाहता है उसे मैं बचाऊँ कैसे?

चंद्रा। मैं यह सब नहीं समझती। उसे यदि लौटा नहीं ला सकी तो तू मरेगी, मरेगी। तेरे इस सुंदर मुखड़े को देखकर मैं नहीं भूलती।

नंदिनी। मैं तुमलोगों के साथ जाऊँगी।

फागूलाल। क्या करने?

नंदिनी। तोड़ने के लिये।

चंद्रा। बहुत तोड़ चुकी मायाविनी। अब और की ज़रूरत नहीं।

(गोकुल का प्रवेश)

गोकुल। सब से पहले इस डाइन को जलाके मारना होगा।

चंद्रा। मारोगे? उससे इसकी सज़ा पूरी न होगी। जिस रूप के बल पर वह सत्यानाश किया करती है उस रूप को बिगाड़ दो। खुरपे से जैसे घास छील देते हैं उसी तरह उसका रूप छीलकर फेंक दो।

गोकुल। सो कर सकता हूँ। एक बार इस हथौड़ी के घुमाव—

फागूलाल। खबरदार। उसके बदन पर जो हाथ लगाया तो—

नंदिनी। फागूलाल, तुम रुको। यह डरपोक है। मुझसे डरता है, इसीलिये मुझे मारना चाहता है। मैं उसकी मार से नहीं डरती। क्या कर सकता है, कर ले कापुरुष।

गोकुल। फागूलाल, अब भी तुम नहीं चेते। सर्दार को तुम दुश्मन समझते हो। जो हो, जो दुश्मन सहज दुश्मन है उसे मैं श्रद्धा करता हूँ, परन्तु तुम्हारी इस मिष्टमुँहिया सुंदरी—

नंदिनी। सर्दार को श्रद्धा करते हो। तलवे को तलवे का कीचड़ जैसे श्रद्धा करता है। जो गुलाम है वह कभी श्रद्धा नहीं कर सकता।

फागूलाल। गोकुल, तुम्हें अपना पौरुष दिखाने का समय आ गया है। लेकिन लड़की पर नहीं, चलो मेरे साथ।

[फागूलाल, चंद्रा और गोकुल का प्रस्थान

(एक दल आदमियों का प्रवेश)

नंदिनी। क्यों जी, तुम लोग कहाँ जा रहे हो ?

१। ध्वजा-पूजा का नैवेद्य ले जा रहे हैं।

नंदिनी। रंजन को देखा है ?

२। उसे पाँच दिन आगे एक बार देखा था, फिर नहीं देखा। उनसे पूछो, शायद वे बता सकें।

नंदिनी। वे कौन हैं ?

३। वे सर्दार के भोज में शराब ले जा रहे हैं। **[इस दल का प्रस्थान**

(दूसरे दल का प्रवेश)

नंदिनी। ओ लाल टोपीवाले, तुमने रंजन को देखा है ?

१। उस दिन रात को शंभू मुखिया के घर देखा था।

नंदिनी। इस समय वह कहाँ है ?

२। वह जो सर्दारिनों के भोज में साज लेकर जा रहे हैं, उनसे पूछो। वे ऐसी बहुतेरी बातें सुन सकते हैं जो हमारे कानों तक नहीं पहुंचतीं।

[इस दल का प्रस्थान

(तीसरे दल का प्रवेश)

नंदिनी। क्यों जी, रंजन को इन्होंने कहाँ रखा है, तुम्हें मालूम है ?

१। चुप, चुप!

नंदिनी। तुम ज़रूर जानते हो, मुझे बताना ही पड़ेगा।

२। हमारे कान में जो कुछ घुसता है वह मुँह से नहीं निकलता, और इसीलिये हम टिके हुए हैं। वे जो हथियारों का बोझ लेकर आ रहे हैं, उनसे पूछो।

[इस दल का प्रस्थान

(चौथे दल का प्रवेश)

नंदिनी। अजी, ज़रा रुको। बताते जाओ रंजन कहाँ है ?

१। सुनो बताता हूँ। लग्न हो आया है। ध्वजा-पूजा के लिये राजा को निकलना ही पड़ेगा। उन्हींसे पूछो। हमलोग शुरू का जानते हैं, आखिर का नहीं। **[प्रस्थान**

नंदिनी। (खिड़की पर धक्का मारकर) समय हो गया है, द्वार खोलो।

नेपथ्य से। फिर तुम असमय में आई हो। अभी चली जाओ, जाओ।

नंदिनी। इन्तज़ार करने का समय नहीं है, मेरी बात सुननी ही पड़ेगी।

नेपथ्य से। क्या कहना है, बाहर से ही कहकर चली जाओ।

नंदिनी। बाहर से मेरी बात का सुर तुम्हारे कानों तक नहीं पहुंच पाता।

नेपथ्य से। आज ध्वजापूजा का दिन है, मेरा मन विक्षिप्त मत करो। पूजा में व्याघात होगा। जाओ, जाओ, अभी जाओ!

नंदिनी। मेरा डर जाता रहा है, इस तरह तुम खदेड़ नहीं सकते। मरूं वह भी अच्छा है लेकिन दरवाज़ा खुलवाए बिना यहाँ से मैं हिलती नहीं।

नेपथ्य से। शायद रंजन को चाहती हो? सर्दार से कह दिया है, वह अभी उसे ला देगा। पूजा के लिये जाने लगूं तो दरवाजे पर खड़ी न रहना। नहीं तो विपद् आएगी।

नंदिनी। देवता को समय का अभाव नहीं है, वे पूजा के लिये युग-युगान्तर तक इन्तज़ार कर सकते हैं। मनुष्य का दुःख तो मनुष्य का सहारा चाहता है। उसका समय थोड़ा होता है।

नेपथ्य से। मैं थका हूँ, बुरी तरह थका हूँ। ध्वजा-पूजा में जाकर थकान मिटा आऊंगा। मुझे कमज़ोर मत बनाओ। इस समय तुमने बाधा दी तो रथ के पहिये के नीचे धुर्रा उड़ जायगा तुम्हारा।

नंदिनी। छाती पर से पहिया निकल जाय, मैं नहीं हिलती।

नेपथ्य से। नंदिनी, तुमने मेरे यहाँ प्रश्रय पाया है, इसीलिये नहीं डरतीं। लेकिन आज डरना ही होगा।

नन्दिनी। मैं चाहती हूँ कि जैसे सबको डर दिखाते फिरते हो वैसे ही मुझे भी डराओ। तुम्हारे प्रश्रय को मैं घृणा करती हूँ।

नेपथ्य से। घृणा करती हो? स्पर्धा चूर्ण-विचूर्ण हो जायगी। तुम्हें अपना परिचय दे दूँ, ऐसा समय आ गया है।

नंदिनी। परिचय की ही इन्तज़ारी में हूँ, खोलो द्वार। [द्वार का खुलना] यह क्या! वह कौन पड़ा हुआ है, रंजन-जैसा देख रही हूँ जैसे।

राजा। क्या कहा, रंजन? रंजन? यह रंजन कभी नहीं हो सकता।

नंदिनी। हाँ राजा, यही तो मेरा रंजन है।

राजा । उसने अपना नाम क्यों नहीं बताया ? इतनी हिमाक़त के साथ क्यों आया ?

नंदिनी । जागो रंजन, मैं आई हूँ तुम्हारी सखी । राजा, वह जग क्यों नहीं रहा ?

राजा । धोखा दिया है । मुझे इन सबोंने धोखा दिया है । अनर्थ हो गया ! मेरा अपना ही यंत्र मुझे नहीं मानता । कौन है रे, बुला सर्दार को, बाँधकर ले आ उसे ।

नंदिनी । राजा, रंजन को जगा दो । सब कहते हैं तुम जादू जानते हो, उसे जगा दो !

राजा । मैंने यमराज से जादू सीखा है, जगा नहीं सकता । जागरण मिटा दे सकता हूँ !

नंदिनी । तो मुझे भी उसी नींद में सुला दो ! मैं नहीं सह सकती । यह कैसा सत्यानश कर दिया तुमने ?

राजा । मैंने यौवन को मारा है—इतने दिनों से अपनी सारी ताक़त लगाकर केवल यौवन को मारता आया हूँ । मुझे मरे यौवन का अभिशाप लगा है ।

नंदिनी । उसने क्या मेरा नाम नहीं बताया ?

राजा । इस तरह बताया था कि मैं सह नहीं सका । अचानक मेरे रग-रग में जैसे आग सुलग गई हो ।

नंदिनी । [रंजन के प्रति] वीर मेरे, यह नीलकंठ का पर तुम्हारी चूड़ा पर मैंने पहना दिया । आज से तुम्हारी विजय-यात्रा शुरू हुई है । उस यात्रा का वाहन मैं हूँ । आहा, यह उस लाल कनेर की मंजरी इसके हाथों में है । तब तो किशोर ने उसे देखा था । वह कहाँ गया ? राजा, कहाँ गया वह बालक ?

राजा । कौन बालक ?

नंदिनी । जिसने रंजन को यह मंजरी दी थी ?

राजा । अजीब लड़का था वह । लड़की की तरह तो उसका अदनार मुख था, किंतु बातें बड़ी उद्धत थीं । हिमाक़त तो देखो, वह मेरे ऊपर टूट पड़ने आया था ।

नंदिनी । फिर क्या हुआ ? क्या हुआ उसका ? बोलो, क्या हुआ ? तुन्हें बताना ही पड़ेगा, चुप क्यों हो ?

राजा । वह बुद्बुद् की तरह लुप्त हो गया ।

नंदिनी । राजा, अब समय हो गया ।

राजा । काहे का समय ?

नंदिनी । मेरी सारी शक्ति के साथ तुम्हारी लड़ाई होगी ।

राजा। मेरे साथ लड़ोगी तुम ? तुमको तो मैं इसी क्षण मार सकता हूँ।

नंदिनी। उसके बाद प्रत्येक क्षण मेरा वह मरना तुम्हें मारता रहेगा। मेरे कोई अस्त्र नहीं है, मेरा अस्त्र मृत्यु है।

राजा। तो फिर पास आओ। मेरे ऊपर विश्वास करने की हिम्मत है ! चलो मेरे साथ। आज मुझे अपना साथी बनालो, नन्दिन।

नंदिनी। कहाँ जाना होगा ?

राजा। मेरे विरुद्ध लड़ाई करने, किन्तु मेरे ही हाथों में हाथ रखकर। समझीं नहीं तुम। वह लड़ाई शुरू हो गई है। यह है मेरी ध्वजा, मैं तोड़ देता हूँ इसका दण्ड और तुम फाड़ डालो इसका केतन। मेरे ही हाथों में तुम्हारा हाथ आकर मुझे मारे। मार डाले, अच्छी तरह रगड़ डाले। इसीमें मुक्ति है !

दल के आदमी। महाराज यह क्या अनर्थ है, कैसी उन्मत्तता है यह ! ध्वजा तोड़ दी आपने। यह हमारे देवता की ध्वजा, जिसके अजेय शाल ने एक ओर पृथ्वी को और दूसरी ओर स्वर्ग को बेध डाला है वही हमारा परम पवित्र ध्वजदण्ड ! पूजा के दिन यह कैसा घोर पाप है ! चल रे चल, सर्दारों को खबर दें। [प्रस्थान

राजा। अब भी बहुत-कुछ तोड़ना बाक़ी है, तुम भी चलोगी मेरे साथ ; नंदिनी, प्रलय-पथ में मेरी दीप शिखा !

नंदिनी। मैं चलूँगी।

(फागूलाल का प्रवेश)

फागूलाल। विशु को वे किसी तरह नहीं छोड़ेंगे। यह कौन है ? यही राजा है क्या ! डाकिनी, अब इसके साथ परामर्श चल रहा है ! विश्वासघातिनी !

राजा। तुम्हें क्या हो गया है ? क्या करने निकले हो ?

फागूलाल। वंदीशाला का दरवाज़ा तोड़ने। मरेंगे, लेकिन लौटेंगे नहीं।

राजा। लौटोगे क्यों ? तोड़ने के रास्ते में भी चला हूँ। वह देखो उसका पहला चिह्न। मेरी तोड़ी हुई ध्वजा, मेरी अन्तिम कीर्ति।

फागूलाल। नंदिन, ठीक ठीक नहीं समझ सका। हम सीधे आदमी हैं, दया करो, हमें धोखा मत दो। तुम तो हमारे ही घर की लड़की हो।

नंदिनी। फागूभाई, तुमने तो मृत्यु का ही प्रण किया है। धोखा खाने में तो कुछ भी बाक़ी नहीं रखा है !

फागूलाल। नंदिन, तब तुम भी हमारे साथ चलो !

नंदिनी। मैं तो इसीलिये बची हूँ। फागूलाल, मैंने रंजन को तुम सबके बीच ले आना चाहा था। वह देखो, आ गया है मेरा वीर।—मृत्यु को तुच्छ करके।

फागूलाल। सर्वनाश! वही क्या रंजन है? निःशब्द पड़ा हुआ है!

नंदिनी। निःशब्द नहीं है। मृत्यु में उसका अपराजित कंठ मैं सुन रही हूँ। रंजन जी उठेगा, वह कभी मर नहीं सकता!

फागूलाल। हाय रे नंदिनी, मेरी सुंदरी! इसीलिये क्या तू इतने दिनों से बाट जोह रही थी, हमारे इस अंध नरक में?

नंदिनी। उसके आने की राह देख रही थी, वह तो आ गया, वह फिर आने की तैयारी करेगा, वह फिर आएगा। चंद्रा कहाँ है फागूलाल!

फागूलाल। वह गोकुल को लेकर सर्दार के वहाँ रोने धोने गई है। सर्दार पर उनका अगाध विश्वास है। लेकिन महाराज, तुमने ग़लत तो नहीं समझा? हमलोग तुम्हारी ही वंदीशाला तोड़ने निकले हैं।

राजा। हाँ, मेरी ही वंदीशाला। तुम-हम दोनों मिलकर काम करेंगे। यह काम अकेला तुम्हारे वश का नहीं है।

फागूलाल। सर्दारों ने खबर पाई नहीं कि रोकने पहुँचेंगे।

राजा। उनके साथ मेरी लड़ाई है।

फागूलाल। सेनावाले तुम्हें मानेंगे नहीं।

राजा। अकेला लड़ूंगा। साथ में तुम लोग तो हो।

फागूलाल। जीत सकोगे?

राजा। मर तो सकूंगा न! इतने दिन बाद मरने का मतलब समझ सका हूं।—मैं बच गया हूं!

फागूलाल। राजा, गर्जन सुन रहे हो?

राजा। वह देख रहा हूं, सर्दार सेना लेकर आ रहा है। इतनी जल्दी कैसे यह संभव हुआ? आगे से ही तैयार था, सिर्फ मैं ही नहीं जानता था। मुझे धोखा दिया है! मेरी ही शक्ति से बाँधा है मुझे।

फागूलाल। मेरा दल-बल तो अभी आया नहीं।

राजा। सर्दार ने ज़रूर उन्हें रोक रखा है। वे अब नहीं आ सकेंगे।

नंदिनी। मन में था कि वे विशु पगले को मेरे पास ले आ देंगे। सो क्या अब संभव नहीं है?

राजा। उपाय नहीं है। राह घाट रोकने में सर्दार जैसा उस्ताद मैंने किसीको नहीं देखा।

फागूलाल। तो फिर चलो नंदिनी, तुम्हें सुरक्षित जगह में रख आऊँ, फिर जो होना होगा सो होगा। सर्दार ने तुम्हें देखा तो रक्षा नहीं है।

नंदिनी। अकेली मुझको ही सुरक्षितता के निर्वासन में भेजोगे? फागूलाल, तुमसे तो सर्दार अच्छा, उसीने मेरी जययात्रा का पथ खोल दिया है। सर्दार, सर्दार! देखो, उसने बर्छे की नोक पर मेरी कुंद फूल की माला झुला रखी है। उस माला को मैं अपनी छाती के रक्त से लाल कनेर के रंग का बना जाऊँगी। सर्दार ने मुझे देख लिया है। जय, रंजन की जय!

[द्रुत प्रस्थान

राजा। नंदिनी!

[प्रस्थान

(अध्यापक का प्रवेश)

फागूलाल। कहाँ दौड़े जा रहे हो अध्यापक?

अध्यापक। किसीने बताया—राजा इतने दिन बाद चरम प्राण का संधान पाकर निकल पड़ा है। मैं भी पोथी पत्रा फेंककर साथ हो लेने चला आया।

फागूलाल। राजा तो वह मरने गया, उसने नंदिनी की आवाज़ सुनी है।

अध्यापक। उसका जाल फट गया है। नंदिनी कहाँ है?

फागूलाल। वह सब के आगे गई है। अब तो उस तक पहुँचना मुश्किल है।

अध्यापक। अभी तो पहुँचा जा सकता है। अब वह तरह नहीं दे सकती। उसे पकड़ूंगा।

[प्रस्थान

(विशू का प्रवेश)

विशू। फागूलाल, नंदिनी कहाँ है?

फागूलाल। तुम कैसे आए?

विशू। हमारे कारीगरों ने बंदीशाला तोड़ दी है। वे उधर लड़ने जा रहे हैं। मैं नंदिनी को खोजने आया। वह कहाँ है?

फागूलाल। वह सब के आगे चली गई है।

विशू। कहाँ?

फागूलाल। अन्तिम मुक्ति में।

विशू। वह तो रंजन है।

फागूलाल। धूल में देख रहे हो उसके रक्त की रेखा?

विशू। समझ गया। वही इन दोनोंके परम मिलन की रक्त-राखी है। इसके बाद अकेले महायात्रा का मेरा समय आ गया। खूब संभव, मेरी पगली गान सुनना चाहेगी। आ रे भाई, अब लड़ाई पर चल।

फागूलाल। नंदिनी की जय।

विशू। नंदिनी की जय।

फागूलाल। और वह देखो, धूल में लोट रहा है उसके लाल कनेर का कंकण। दाहिने हाथ से न जाने कब खिसक पड़ा है। आज अपना हाथ खाली करके वह चली गई।

विशू। मैंने उससे कहा था कि उसके हाथ से कुछ लूंगा नहीं, किन्तु लेना पड़ा यह उसका आखिरी दान।

[प्रस्थान

(दूर गान सुनाई देता है)

पौष तोदेर डाक दियेछे आय रे च'ले,
आय, आय, आय।
धुलाय आँचल भरेछे आज पाका फसले,
मरि, हाय, हाय, हाय।

(समाप्त)

रवीन्द्रनाथ की मृत्युंजयी वाणी

क्षितिमोहन सेन

गत वर्ष श्रावण की पूर्णिमा को रवीन्द्रनाथ ने महाप्रस्थान किया। आज की श्रावणी पूर्णिमा को इस घटना के बीते एक वर्ष हो गया। हम रवीन्द्रनाथ को अब तक बहुत नज़दीक से देखने के अभ्यस्त रहे हैं, अब हमारे दुर्भाग्य ने हमें उनसे दूर कर दिया है। विराट् वस्तु की ठीक ठीक उपलब्धि बहुत नज़दीक से नहीं हो सकती। पृथ्वी को हम नज़दीक से देखते हैं, पर उसका वास्तविक स्वरूप नहीं उपलब्ध करते। रवीन्द्रनाथ को भी बहुत नज़दीक से हम देखते रहे, शायद उनका ठीक ठीक स्वरूप भी हमारी उपलब्धि के परे था। अथर्व वेद में कहा है—'अन्ति सन्तं न जहाति, अन्ति सन्तं न पश्यति' (१०,८,३२) इसीलिये मृत्यु के कारण जो दूरत्व हमें मिला है उसने हमारी दृष्टि में एक प्रकार की समग्रता लाई है। महापुरुषों की मृत्यु कभी नहीं होती, वे लोक-गुरु हैं, लोक में जो आलोक है वह उन्हींके कारण, इसलिये किसी महापुरुष की मृण्मयी काया के तिरोधान से शोक करने की विशेष ज़रूरत नहीं है। वे लोग चिन्मय रूप में सदा हमारे साथ रहते हैं। रवीन्द्रनाथ की वाणी उनका चिन्मय रूप है, जब तक वह हमारे पास है तब तक शोकाभिभूत होने की आवश्यकता नहीं। रवीन्द्रनाथ ने मृत्यु को कभी भीषण और अभाव-रूप में नहीं देखा। जीवन के अन्तिम दिनों में और मृत्यु के अव्यवहित पूर्व तक वे मृत्यु को वैसा ही समझते रहे। वस्तुतः वे मृत्युंजय होकर ही जीते रहे। उनका दृढ़ विश्वास था कि वे मृत्यु के अतीत हैं—"मृत्यु केवल राहु की भाँति छाया डालती है, वह जीवन के स्वर्गीय अमृत को ग्रास नहीं कर सकती यह बात मैं निश्चित रूप से जानता हूँ।...... जिसे मैंने सबसे बड़ा सत्य करके पाया है उसीमें सबसे बड़ी मिथ्या छद्मवेश धारण करके छिपी हुई थी; विश्व का विधान अस्तित्व के इस कलंक को नहीं सह सकता, यह मैं निश्चित रूप से जानता हूँ।......अस्तित्व के जिस साक्षी ने विश्व को 'है' के रूप में जाना था उसका सत्य परम 'मैं' के सत्य में है, यह बात मैं निश्चित रूप से जानता हूँ।"—

राहुर मतन मृत्यु शुधु फेले छाया,
पारे ना करिते ग्रास जीवनेर स्वर्गीय अमृत
जड़ेर कवले, ए-कथा निश्चित मने जानि।

सब चेये सत्य करे पेयेछिनु या’रे
सब चेये मिथ्या छिल तारि माझे छद्मवेश धरि’
अस्तित्वेर ए-कलंक कभु, सहित ना विश्वेर विधान,
ए-कथा निश्चित मने जानि ।
विश्वेरे ये जेनेछिल आछि बले
अस्तित्वेर साक्षी सेइ,
परम आमिर सत्ये सत्य तार
ए-कथा निश्चित मने जानि ॥ (शेषलेखा, २)

यह कविता मृत्यु के १५ महीने पहले की लिखी हुई है। मृत्यु के द्वार पर खड़े होकर उन्होंने अपने समस्त जीवन के विश्वास पर मानों सही की मुहर लगाई है। मृत्यु से लगभग डेढ़ वर्ष पहले अपनी महायात्रा के गन्तव्य के विषय में लिखा था—“बार बार मन में आता है कि अब मैं चला। कहाँ? जहाँ कोई नाम नहीं है, जहाँ विश्व का सारा परिचय लुप्त हो गया है, जहाँ ‘ना और हाँ’ एक होकर मिल गए हैं। जहाँ आलोकहीन, अंधकार-हीन अखण्ड दिन विराजमान है। जहाँ मेरे ‘मैं’ की धारा क्रमशः परिपूर्ण चैतन्य के समुद्र-संगम में मिल जाती है। मैं ठीक नहीं जानता कि अन्त में मेरा यह वाह्य आवरण नाना रूप-रूपान्तरों में होता हुआ क्या कालस्रोत में बहता फिरेगा। मैं अपनी स्वतंत्रता से उस बाहर के बहु पदार्थों के साथ जड़ित अजाने तीर्थ-यात्री को निरासक्त होकर देखूंगा”—

बार बार मने बलितेछि आमि चलिलाम—
येथा नाइ नाम,
येखाने पेयेछे लय
सकल विशेष परिचय,
नाइ आर आछे
एक हये येथा मिशियाछे।
येखाने अखण्ड दिन
आलोहीन अन्धकारहीन।
आमार आमिर धारा मिले येथा याबे क्रमे क्रमे
परिपूर्ण चैतन्येर सागर संगमे।
एइ बाह्य आवरण जानि ना तो शेषे
नाना रूपे रूपान्तरे कालस्रोते बेड़ाबे कि भेसे।

आपन स्वातंत्र्य हते निःसक्त देखिब तारे आमि
बाहिरे बहुर साथे जड़ित अजाना तीर्थगामी। (जन्मदिन)

मृत्यु उनके मत से सृष्टि को परित्राण करनेवाली है, वह मनुष्य का सबसे अन्तरंग है, वह ऐसा चरवाहा है जो सृष्टि को एक युग से दूसरे में, एक क्षेत्र से अन्य क्षेत्र में, चराती हुई ले जा रही है। एक कविता में उन्होंने लिखा था—"वे लोग मेरे पास आकर कहते हैं कि कवि, हम तुम्हारे मुँह से मृत्यु की बात सुनना चाहते हैं। मैं कहता हूँ, मृत्यु तो मेरा अन्तरंग है, मेरे देह के प्रत्येक तन्तु से वह उलझी हुई है, उसका छन्द मेरे हृत्स्पंदन में है, उसके रक्त में मेरे आनंद का प्रवाह है, वह बराबर कह रही है—चलो, चलो। बोझा फेंकते फेंकते चलो। पल-पल पर मरते मरते चलो—मेरे ही खिंचाव से, मेरे ही वेग से।......मैं मृत्यु, मैं चरवाहा हूँ जो सृष्टि को चराती हुई ले चल रही हूँ, एक युग से दूसरे युग में, नये नये चरागाहों में।......मैं सृष्टि को परित्राण करने आई हूँ, अन्तहीन नवीन-नवीन अनागत के रूप में।"—

ओरा एसे आमाके बले,—
कवि मृत्युर कथा शुनते चाइ तोमार मुखे।
आमि बलि,—
मृत्यु ये आमार अन्तरङ्ग,
जुड़िये आछे आमार देहेर सकल तंतु।
तार छन्द आमार हृत्स्पन्दने,
तार रक्ते आमार आनन्देर प्रवाह।
बल्‌चे से, चलो चलो,
चलो बोझा फेलते फेलते
चलो मरते मरते निमेषे निमेषे
आमारि टाने आमारि वेगे।

आमि मृत्यु राखाल, सृष्टिके चरिये चरिये निये चलेछि
युगे युगे युगान्तरे नव नव चारण क्षेत्रे।

आमि सृष्टि के परित्राण करते एसेछि
अन्तहीन नव नव अनागते॥ (शेष सप्तक)

मृत्यु सबसे बड़ा अन्तरंग ! सृष्टि की परित्राणकर्त्री शक्ति !! यह बात कुछ नई-सी सुनाई देती है। परन्तु बात बहुत पुरानी है। यह उस केन्द्रीय सत्ता में अटूट विश्वास का परिणाम है जो शाश्वत है, नित्य है, अक्षय है। क्योंकि रवीन्द्रनाथ ने कहा है कि "जो चैतन्य ज्योति मेरे अन्तराकाश में प्रदीप्त हो रही है वह प्राण की संकीर्ण सीमा में अकस्मात् आविर्भूत हुई कोई आकस्मिक ज्योति नहीं है जिसका आदि शून्यमय है और अन्त निरर्थक मृत्यु है, और जो कुछ क्षणों के लिये 'जो-कुछ है' उसका अर्थ उद्भासित करती रहती है। यह चैतन्य आकाश के कोने में आनंद-अमृत के रूप में विराजमान है। आदि प्रभात के जागरण के समय मेरे प्रत्येक मर्मस्थल में यह वाणी बज उठी है। यह वाणी सूर्य, ग्रह और ताराओं को किसी अस्खलित छन्द:सूत्र में गूंथती हुई अनि:शेष सृष्टि के उत्सव में चल रही है।"—

ये चैतन्य ज्योति
प्रदीप्त रयेछे मोर अन्तर गगने
नहे आकस्मिक ज्योति प्राणेर संकीर्ण सीमानाय
आदि यार शून्यमय अन्ते यार मृत्यु निरर्थक,
माझखाने किछु क्षण
याहा किछु आछे तार अर्थ याहा करे उद्भासित।
ए चैतन्य विराजित आकाशे आकाशे
आनन्द अमृत रूपे
आदि प्रभातेर जागरणे
ए वाणी उठिल बाजि' मर्मे मर्मे मोर
ए वाणी गाँथिया चले सूर्य-ग्रह-तारा
अस्खलित छन्दसूत्रे अनि:शेष सृष्टिर उत्सवे।

(रोगशय्याय)

इसी अक्षत शाश्वत सत्ता में रवीन्द्रनाथ के अखण्ड विश्वास के कारण मृत्यु उन्हें भयभीत नहीं कर सकी बल्कि उन्होंने उसे सृष्टि की परित्राण-कर्त्री समझा। मृत्यु के सात आठ दिन पूर्व उन्होंने एक कविता लिखी थी जिसमें कहा गया था कि "दु:ख की अंधकार-पूर्ण रात्रि बार बार मेरे द्वार पर आई है, उसका एकमात्र अस्त्र मैंने देखा है, जितने ही कष्ट के विकृत भान हैं, त्रास की विकट भंगियाँ हैं वे अंधकार में उसकी छलना की भूमिका हैं। जितनी बार मैंने उसके भय के मुखवास को विश्वास किया है उतनी ही बार व्यर्थ का पराजय हुआ है। हार-जीत का यह खेल, जीवन का मिथ्या कुहक है, यह विभीषिका बचपन से लेकर अब तक पद-पद पर

विजड़ित है, दुःख के परिहास से पूर्ण है। भय का यह विचित्र चलच्चित्र है—जो अंधेरे में फैली हुई मृत्यु की निपुण कारीगरी है।—

दुःखेर आँधार रात्रि बार बारे
एसेछे आमार द्वारे ;
एकमात्र अस्त्र तार देखेछिनु,
कष्टेर विकृत भान, त्रासेर विकट भंगी यत
अन्धकारे छलनार भूमिका ताहार।

यत बार भयेर मुखोस तार करेछि विश्वास
तत बार हयेछे अनर्थ पराजय
एइ हार-जित खेला, जीवनेर मिथ्या ए-कुहक
शिशुकाल हते विजड़ित पदे पदे एइ विभीषिका,
दुःखेर परिहासे भरा।
भयेर विचित्र चलच्छवि—
मृत्युर निपुण शिल्प विकीर्ण आंधारे॥

(शेष लेखा)

"मैंने एकान्त आग्रह के साथ जो-कुछ चाहा है उसके चारों ओर से जब बाहुओं का वेष्टन हट आता है तब उस बंधन के मुक्त-क्षेत्र में जो चेतना उद्भासित हो उठती है, प्रभात के आलोक में मैं उसका अभिन्न स्वरूप देखता हूँ। शून्य होने पर भी वह तो शून्य नहीं है। तब मैं ऋषि की उस वाणी को समझ पाता हूँ—आकाश यदि आनंद से परिपूर्ण न होता तो देह और मन जड़ता के नागपाश में निश्चल हो जाते"—

याहा किछु चेयेछिनु एकान्त आग्रहे
ताहार चौदिक हते बाहुर वेष्टन
अपसृत हय यबे
तखन से बंधनेर मुक्तक्षेत्रे
ये चेतना उद्भासिया उठे
प्रभात-आलोर साथे
देखि तार अभिन्न स्वरूप।
शून्य तबु से तो शून्य नय।

तखन बुझिते पारि ऋषिर से वाणी—
आकाश आनंदपूर्ण ना रहित यदि
जड़तार नागपाशे देह मन हइत निश्चल।

(रोगशय्याय)

इसीलिये एक स्थान पर वे कहते हैं—"मैंने इस जीवन में सुंदर मधुर का आशीर्वाद पाया है, मनुष्य के प्रीतिपात्र में उसी (सुंदर) के अमृत का आस्वाद पाता हूँ। दुःसह दुःख के दिनों में मैंने अक्षत अपराजित आत्मा को पहचान लिया है। जिस दिन मैंने आसन्न मृत्यु की छाया अनुभव की है उस दिन भय के हाथों मेरा दुर्बल पराभव नहीं हुआ, मैं महत्तम मानव के स्पर्श से वंचित नहीं हुआ हूँ, उनकी अमृत वाणी मैंने अन्तर में सञ्चित किया है। मैंने जीवन-विधाता का जो दाक्षिण्य अपने जीवन में पाया है, उसीकी स्मरणलिपि कृतज्ञता के साथ लिखे जाता हूँ"—

ए जीवने सुंदरेर पेयेछि मधुर आशीर्वाद,
मानुषेर प्रीतिपात्रे ताइ तारि सुधार आस्वाद।
दुःसह दुःखेर दिने
अक्षत अपराजित आत्मारे लयेछि आमि चिने।
आसन्न मृत्युर छाया ये दिन करेछि अनुभव
से दिन भयेर हाते हयनि दुर्बल पराभव।
महत्तम मानुषेर स्पर्श हते हइनि वञ्चित,
तादेर अमृत वाणी अन्तरेते करेछि सञ्चित।
जीवनेर विधातार ये दाक्षिण्य पेयेछि जीवने
ताहारि स्मरणलिपि राखिलाम सकृतज्ञ मने

(आरोग्य)

सन् १९३७ ई० में कवि जब पहली बार कठिन रोग से आक्रान्त हुए थे, जब वे घंटों तक संज्ञाहीन पड़े हुए थे उसके बाद उन्होंने कुछ ऐसी कविताएँ लिखी हैं जिन से प्रकट होता है कि मृत्यु का कुछ स्पष्ट स्वरूप उन्होंने उपलब्ध कर लिया था—"अवसन्न चेतना की गोधूलि वेला में मैंने देखा कि मेरा शरीर कालिंदी के कालेस्रोत में अपनी सारी अनुभूति-समूह को लिए हुए, समस्त विचित्र वेदनाओं को लिए हुए, किसी चित्रित आच्छादन में आजन्म की स्मृतियों को लपेटे हुए, अपनी वंशी लिए, बहा जा रहा है। ज्यों ज्यों मैं दूर से दूर होता गया त्यों त्यों उसका रूप म्लान होता आया, परिचित घाटों पर तरुच्छायाद्वारा आलिंगित लोकालयों में संध्या-

आरती की ध्वनि क्षीण होती गई, दीपशिखा ढक गई, नौका घाट पर बंध गई। दोनों किनारों पर पार आना जाना बंद हो गया, रात घनी होती गई, अरण्यों की शाखा-शाखा पर विहंगों के मौन गान ने महा निःशब्द पदतल में अपनी बलि रच दी। विश्व की समस्त विचित्रताओं पर, जल में और स्थल में, एक काली अरूपता उतर आई। अन्तहीन तमिस्रा में सारी देह छाया होकर विन्दु होकर मिलने लगी। नक्षत्रों की वेदी के नीचे अकेला स्तब्ध खड़ा रहकर मैंने हाथ जोड़कर ऊपर की ओर देखकर कहा—हे पूषन्, तुमने अपने रश्मि-जाल को समेट लिया है, इस बार अपना कल्याणतम रूप प्रकाशित करो ताकि मैं उस पुरुष को देख सकूँ जो तुममें और मुझमें एक होकर विराजमान है”—

देखिलाम अवसन्न चेतनार गोधूलिवेलाय
देह मोर भेसे याय कालो कालिन्दीर स्रोत बाहि
निये अनुभूतिपुञ्ज, निये तार विचित्रवेदना,
चित्रकरा आच्छादने आजन्मेर स्मृतिर संचय,
निये तार बाँशिखानि। दूर हते दूरे येते येते
म्लान हये आसे तार रूप, परिचित तीरे तीरे
तरुच्छाया आलिंगित लोकालये क्षीण हये आसे
संध्या आरतिर ध्वनि, घरे घरे रुद्ध हय द्वार,
ढाका पड़े दीपशिखा, नौका बाँधा पड़े घारे।
दुइ तटे क्षान्त हलो पारापार, घनालो रजनी,
विहङ्गेर मौन गान अरण्येर शाखाय शाखाय
महा निःशब्देर पाये रचि दिल आत्मबलि तार
एक कृष्ण अरूपता नामे विश्ववैचित्र्येर परे
स्थले जले। छाया हये विन्दु हये मिले याय देह
अन्तहीन तमिस्राय। नक्षत्रवेदीर तले आसि
एका स्तब्ध दाँड़ाइया, ऊर्ध्वे चेये कहि जोड़ हाते—
हे पूषन, संहरण करियाछ तव रश्मिजाल,
एबार प्रकाश करो तोमार कल्याणतम रूप,
देखि तारे ये पुरुष तोमार आमार माझे एक॥

(प्रान्तिक)

और “रंगमंच” पर से एक-एक करके जब सभी दीपशिखाएँ बुझ गईं, सभास्थल रिक्त हो

गया, उस समय किसी निःशब्द की तर्जनी-संकेत से मेरा चित्त उस सुषुप्ति की भाँति शान्ति हो गया जिसमें अंधकार की कालिमा के पुत जाने से स्वप्नों के चित्र मिट गए होते हैं। अब तक अपने नाट्य-परिचय के लिये मैंने जो वेश बनाया वह पहलीबार यवनिका के उठते ही क्षण भर में निरर्थक हो गया। मैंने अपने को नाना चिह्नों से नाना वर्ण के प्रसाधनों से चिह्नित किया था, वह मिट गया, अपनेमें आपही निगूढ़ पूर्णता ने मुझे स्तब्ध कर लिया, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्यास्त के अंतिम सत्कार पर दिनान्त की शून्यता में धरती की विचित्र चित्र-लेखा जब प्रच्छन्न हो जाती है तो बाधामुक्त आकाश अपने ही तारा-दीप्त परिचय से निर्वाक् विस्मय सहित स्तब्ध हो रहता है।"—

रंगमंचे एके एके निबे गेल यबे दीपशिखा
रिक्त होलो सभातल, आँधारेर मसी-अवलेपे
स्वप्नच्छवि-मुछेयाओया सुषुप्तिर मतो शान्त होलो
चित्त मोर निःशब्देर तर्जनी संकेते। एतकाल
ये साजे रचियाछिनु आपनार नाट्य परिचय
प्रथम उठिते यवनिका, सेइ साज मुहूर्तेइ
होलो निरर्थक। चिह्नित करियाछिनु आपनारे
नाना चिह्ने नाना वर्ण प्रसाधने सहस्रेर काछे,
मुछिल ता, आपनाते आपनार निगूढ़ पूर्णता
आमारे करिल स्तब्ध, सूर्यास्तेर अन्तिम सत्कारे
दिनान्तेर शून्यताय धरार विचित्र चित्रलेखा
यखन प्रच्छन्न हय, बाधामुक्त आकाश येमन
निर्वाक् विस्मये स्तब्ध तारादीप्त आत्मपरिचये।

(प्रान्तिक)

रवीन्द्रनाथ वास्तव में मृत्युंजय थे। वे मनुष्य के शाश्वत अमर व्यक्तित्व को जानते थे, ऋषि की उस वाणी को प्रत्यक्ष उपलब्ध कर चुके थे जो भूमा में परम आत्मा के अस्तित्व को बार-बार उद्घोषित कर चुकी है, इसीलिये वे मृत्यु को भयंकर और नाशात्मक न मानकर नवरूप-दाता और सर्जनात्मक समझते रहे। अपनी मृत्यु के बाद गाए जाने के लिये उन्होंने जो गान लिखा था उसमें यही भाव पाया जाता है। उस गान में उन्होंने कहा था कि "सामने शान्ति का समुद्र है, हे कर्णधार नैया बहा दो। तुम मेरे चिर संगी बनोगे, गोद पसारकर मुझे ले लो, असीम के मार्ग में ध्रुवतारका की ज्योति जलेगी। हे मुक्तिदाता, तुम्हारी दया और तुम्हारी क्षमा

मेरी चिरयात्रा का पाथेय होगा। ऐसा हो कि मर्त्य का बँधन क्षय हो जाय और विराट् विश्व भुजा पसारकर मुझे ले ले और अन्तर में महा अजाना का निर्भय परिचय पावे।"—

समुखे शान्ति-पारावार,
भासाओ तरणी हे कर्णधार।
तुमि हबे चिरसाथी,
लओ लओ हे क्रोड़ पाति',
असीमेर पथे ज्वलिबे
ज्योति ध्रुवतारकार।

मुक्तिदाता, तोमार क्षमा तोमार दया
हबे चिरपाथेय चिर यात्रार

हय येन मर्त्येर बन्धन क्षय,
विराट् विश्व वाहु मेलि' लय,
पाय अन्तरे निर्भय परिचय
महा अजानार।



मनुष्य और मशीन

["लाल कनेर" के संदेश पर एक दृष्टि]

गुरुदयाल मल्लिक

आज का ज़माना मशीन का ज़माना है। अपने दुरारूढ़ चक्रों में इस मशीन ने मनुष्य की पवित्र सत्ता को पीस डाला है। देव मंदिर को उसने आज अपावन कर रखा है। वह छल से नाना-रूप धारण कर लेती है और रक्तवीज की तरह उसके एक रूप का विनाश अनेक रूपों को जन्म देता है; उसकी विभीषिका कभी चुकने नहीं आती।

एक ओर वह मनुष्य की पाशविकता के लिये खूराक जुगाती है, दूसरी ओर उसकी अंतरात्मा की उज्ज्वलता की—उसकी संवेदना की—बुरी तरह लूट लेती है। इस मशीन ने उस अनंत वैचित्र्य को ही खत्म कर डालने का प्रयत्न किया है जो संपूर्ण सौन्दर्य का प्राण है। केवल हमारी वेश-भूषा, खान-पान और रीति-व्यवहार में ही इसने लोहे की कठिन जड़ता का संचार किया हो सो नहीं, हमारे भाव, आवेग, चिंता और आदर्श को भी एक वैचित्र्यहीन—निष्प्राणता द्वारा अचल कर रखा है।

मशीन के इस बेसुरे घर्घर शब्द का सृष्टि के छंद के साथ कहीं मेल नहीं है। उसने उर्वशी को लांछित किया है देव सभा में; छल से भुलाकर उसके नृत्य की लय और ताल को बार बार भंग कर डाला है। दुर्वासा की तरह यह मशीन हमारे हृदय का अर्घ्य माँगने आई है; हमारे सहज प्रेममय स्वागत के लिये पल भर रुकने का अवकाश उसके पास नहीं है; वह तो प्रेम को वसूल करना ही जानती है। इसीलिये अर्घ्य से वंचित होकर उसने हमें आनंद के जगत् से निर्वासित होने का अभिशाप दे डाला है।

मशीन का शासन निरंकुश है—राक्षसी है। उसके प्रकाण्ड पेट का गड्ढा कभी भर नहीं सकता—वह चिर-बुभुक्षु है। उसके भयंकर मस्तक से नरक का भयावह धुँआ लगातार निकल रहा है। उसके भूखे पेट का कहीं अंत नहीं मिलता। किंतु जिस तरह तनिक सी अतिरंजना भी संगीत की एकतानता से सही नहीं जाती, वैसे ही मनुष्य-मनुष्य के सहज और स्वच्छ संबंध पर भी मशीन के अनवरत आघात से चोट पहुँचती है। स्वल्पायु जूही के छोटे से फूल में सृष्टि का छंद अधिक प्रकाश पाता है, क्योंकि उसने अपने आवेग को शांत और संयत कर रखा है। जूही की सारी सत्ता गोपन है। दानव का आकार विपुल है, लोभ बृहत् है। वहाँ

संयम नहीं है, केवल अशेष क्षुधा और अदम्य कामना का ही चीत्कार है ; इसी कारण सौन्दर्य वहाँ अपने को व्यक्त नहीं कर पाता। रवीन्द्रनाथ सर्वशः कवि थे और इसीसे स्वभावतया सुकुमार किंतु सजीव जूही के ही पक्ष में थे, बृहदाकार मशीन-दानव के नहीं।

मशीन के प्रभाव से हमारा जीवन, हमारे भाव और चिंता की धारा एक यांत्रिक प्रक्रिया की पुनरावृत्ति-मात्र रह गई है। मनुष्य की मनुष्यता उससे छिन गई है। स्कूल हो या कालेज, दफ्तर हो या सेक्रेटेरियट, हर जगह मनुष्य का उल्लेख—उसकी गिनती—उसके हाथ-पैरों से या अधिक से अधिक मस्तिष्क से की जाती है। किंतु संचालकों का दल कभी श्रमिकों के भीतर हृदय के अस्तित्व का गुमान भी नहीं करता। संख्या तो केवल आकार को गिन सकती है, प्राणों को नहीं, क्योंकि प्राण एक हैं। तब भी मनुष्य के इसी प्राणवान् हृदय में ही सृष्टि के सौन्दर्यबोध की शक्ति होती है, आनंद को पहचानने की, प्रेम का अनुभव करने की क्षमता होती है। आधुनिकों का आदर्श है मधुमक्खी, जो हमेशा मधु-संचय में ही व्यस्त रहती है, लापरवाह तितली नहीं "जिसके पास पद्म-पुष्प को प्यार करने का विपुल अवकाश है।"

रवीन्द्रनाथ मनुष्य के व्यक्तित्व को प्रेम और श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। चाहे कोई संगठित कार्य हो, चाहे साम्प्रदायिक पूजा, अथवा 'लाल फीते' से बँधी शासन-व्यवस्था की फौजी हुकूमत ही क्यों न हो, यदि मनुष्य की सहज सत्ता के विकास में उससे बाधा पहुँचती, तो रवीन्द्रनाथ उसे सह नहीं सकते थे। उससे उनके मर्म में चोट लगती थी। पश्चिमी देशों की अंध राष्ट्रीयता, भारतीय सरकार की निर्मम शासन-व्यवस्था और फैक्टरियों का अमानुषीय प्रबंध—सबसे उनके भीतर विद्रोह बज उठता था और उनके कंठस्वर में अनायास ही मेघगर्जन का सुर आ मिलता था। वर्तमान सभ्यता की सबसे बड़ी असफलता यही है कि उसने मशीन के दानव के साथ मनुष्य को बुरी तरह लड़ा दिया है ; मनुष्य के लिये मानो सब तरफ़ से लाचारी ही लाचारी है, हार ही हार है। मानवीय व्यक्तित्त्व के नाना पहलुओं के बारे में हम आज बेख़बर हो गए हैं और अपनी दिव्य सत्ता को अमर उत्तराधिकार को—एकबारगी भूल ही गए हैं। तब भी कभी कभी रवीन्द्रनाथ अथवा गांधीजी-जैसे 'महामानव' हमारे बीच प्रकट हो जाते हैं जो हमारी उसी दिव्य सत्ता को उद्बुद्ध कर जाते हैं, हममें नये प्राण फूँक जाते हैं। हम अपना नवीन संगठन करना चाहते हैं, धीमी गति से ही सही, किंतु सुदृढ़ आधार पर।

रवीन्द्रनाथ के 'लाल कनेर' नाटक को पढ़ते हुए कुछ ऐसे ही विचार मन में जाग उठते हैं। यह रचना किसी राजनैतिक या सामाजिक समस्या-विशेष का निरूपण अथवा समाधान नहीं है, वह तो मशीन द्वारा निर्दिष्ट आधुनिक जीवन की दम घोंटनेवाली व्यवस्था और अव्याहत अत्याचार के मर्म को भेदकर उसकी बिभीषिका का बोध करानेवाली कवि-दृष्टि है। यदि कथानक

को समस्या का ही रूप देना हो तो कहा जा सकता है कि इस नाटक में रवीन्द्रनाथ ने संगठित अथवा व्यष्टिगत जीवन के उस वर्तमान रूप पर प्रकाश डाला है जो मनुष्य को जड़ कर देता है, उसे केवल एक-दो-तीन-चार की संख्या से अधिक कुछ नहीं मानता। मानों वह टीन के डिब्बों में पैक की हुई वस्तु-मात्र हो, जिसे चाहे जिस नंबर से पुकारा जा सकता है। इसीलिये उन्होंने कहीं कहा है : मनुष्य निर्दय होते हैं किंतु मानव करुणावान् है।

संगठित जीवन की यही निर्मम व्यवस्था इस रूपक में यक्षपुरी के अगोचर और दुर्गम राजा के रूप में प्रस्तुत की गई है। वह राजा अपने ही बनाए हुए जटिल जाल के आवरण के अंतराल में निवास करता है। स्वर्णपुरी के अक्लांत कर्मियों के निकट वह केवल एक जनश्रुति-मात्र है। इस स्वर्णपुरी में सुवर्ण के क्रूस पर प्रभु यीशु को जीवित लटका दिया गया है। इस मिथ्या राजा के विपरीत विरोध करने के लिये संपूर्ण मानव-रूप में नन्दिनी का आविर्भाव हुआ है। नारी-सुलभ सहज-बुद्धि से नन्दिनी जान गई है कि जीवन का चरम विकास प्रेम में ही है। उसके संस्पर्श में संजीविनी शक्ति है—वह छूते ही संख्या को नामों में, 'डिब्बों' को व्यक्तियों में, परिणत कर देती है। चिर अतृप्त लोभ के जटिल संगठन के साथ नन्दिनी, रंजन, और विशू-जैसी सरल आत्माओं का संघर्ष होता है, जिसमें अंत में इन्हीं भोले मानव प्राणियों की विजय होती है। रवीन्द्रनाथ का अत्यंत दृढ़ विश्वास था कि नारी में वह शक्ति सदा जाग्रत है जो हमारी इस लोभ-संकुल, मशीन-निर्मित सभ्यता को गले तक डुबानेवाले मोह और विनाश के पंक से मुक्त करेगी। इसीलिये इस रूपक की नायिका नन्दिनी है।

कई बरस बीते, रवीन्द्रनाथ ने एक चित्र आँका था जिसमें कठिन पाषाणमयी भूमिका पर एक सुकोमल फूल—बहुत करके लाल कनेर का फूल—स्वच्छ सूर्यालोक में खिलता हुआ दिखाई पड़ रहा था। चित्र के तले ये पंक्तियाँ लिखी हुई थीं :

"पत्थरों के स्तूपीकृत बोझ ने धरती की आवाज़ को दबा रखा था,
कि पहला फूल खिला और उसका अर्थ प्रकाशित हो गया।"

सोने के विपुल ढेर के नीचे दम घुटकर मरजाने वाली मनुष्यता को नन्दिनी ने इसी तरह मुक्त किया है।

आज की दुनिया की तरफ़ एक नज़र देख लेने पर ही मालूम हो जाएगा कि "लाल कनेर" के भीतर कवि की कैसी निविड़ वेदना—और कैसा उदात्त संदेश छिपा हुआ है। मनुष्य आज शांति के लिये प्यासा है; किन्तु यदि प्यास सचमुच ही बुझानी हो तो उसे किसी बुद्ध या यीशु की शरण लेनी होगी। बड़े-बड़े सभा-भवनों और राष्ट्र-संघों से उसे उसी तरह प्यासा लौटना होगा जिस तरह तृषित यात्री समुद्र के तह से और भी व्याकुल प्यास लेकर लौट आता है।

लाल कनेर का 'गूढ़' अर्थ

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आज आपकी पंचायती सभा में मेरे "नंदिनी" नाटक का अभिनय है। प्रायः आपका बुलावा कभी नहीं आता, इस बार आपको कौतूहल हुआ है। डर लगता है, संवाद खत्म होने पर मुझे भीख नहीं मिलेगी, आप कुत्ते ललकार देंगे। वे संवाद को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देने की चेष्टा करेंगे। भरोसा यही है कि वे कहीं दाँत नहीं गड़ा सकेंगे।

आप प्रवीण हैं। चशमा चढ़ाकर भीतर से एक गूढ़ अर्थ निकाल बाहर करने की कोशिश करेंगे। मेरा निवेदन यह है कि जो गूढ़ है उसे यदि प्रकट किया जाय तो उसकी सार्थकता जाती रहती है। हृत्पिण्ड पंजर की ओट में रहकर ही काम करता है। उसे बाहर निकालकर यदि उसकी कार्य-प्रणाली की जाँच की जाय तो काम बंद हो जायगा। दस सिरों और बीस हाथों वाले रावण की स्वर्णपुरी लंका में एक जंगल का बंदर जाकर पूँछ की आग से नगरी को जला आया, इस कहानी को यदि कवि-गुरु ने आज आपकी सभा में उपस्थित किया होता तो उसके गूढ़ अर्थ की खोज के लिये आपकी पंचायतों में एक तहलका मच गया होता आप सन्देह करते कि किसी एक सुप्रतिष्ठित विधि-व्यवस्था का मज़ाक उड़ाया जा रहा है। फिर भी सौ-सौ वर्षों से स्वभाव से ही सन्देहपरायण लोगों ने भी उसी रस का आस्वादन किया है जो उसका प्रकाश्य रस है—छिपे हुए अर्थ की चुटिया पकड़कर खींचतान नहीं की।

मेरे इस नाटक में एक राजा है। आधुनिक युग में मुझे यह हिम्मत नहीं हुई कि उसके एक से अधिक सिर और दो से अधिक हाथ दे सकूँ। आदि कवि के समान भरोसा होता तो देता। वैज्ञानिक शक्ति से मनुष्य के हाथ पाँव और सिर बहुत बढ़ गए हैं। मेरे संवाद के राजा उसी (वैज्ञानिक) शक्ति के द्वारा ही ग्रहण करते हैं और ग्रास करते हैं, ऐसा आभास नाटक में मिलेगा। त्रेता-युग के बहुसंग्रही, बहुग्रासी रावण विद्युत् और वज्र धारण करनेवाले देवताओं को अपने महल के सामने बाँध रखता और उनसे काम लिया करता था। उसका प्रताप चिरदिन ज्यों का त्यों बना रह सकता था। किन्तु उसकी देवद्रोही समृद्धि के बीच एक मानव-कन्या आ खड़ी हुई, बस उसी समय धर्म के देवता जग पड़े। मूक-निरस्त्र वानरों के द्वारा उन्होंने राक्षस को परास्त कराया। मेरे नाटक में ठीक ऐसा ही नहीं हुआ है किन्तु इसमें भी मानव-कन्या का आविर्भाव हुआ है। फिर कलियुग के राक्षस के साथ कलियुग के वानरों का युद्ध होगा, ऐसी एक सूचना भी है।

आदि कवि के सात काण्डों में स्थान की कमी नहीं थी, इसीलिये लंका पुरी में उन्होंने रावण और विभीषण को स्वतंत्र स्थान दिया था। किन्तु ऐसा आभास उन्होंने भी दिया था कि वे एक ही हैं, वे सहोदर भाई हैं। एक ही घोंसले में पाप और उस पाप का मृत्युबाण दोनों लालित हुए थे। मेरे छोटे-से नाटक में रावण का जो वर्तमान प्रतिनिधि है वह एक ही देह में रावण और विभीषण दोनों है ; वह अपनेको आप ही परास्त करता है।

बाल्मीकि के रामायण को भक्त पाठकगण सत्यमूलक समझते हैं। मेरे इस संवाद को जो लोग श्रद्धापूर्वक सुनेंगे वे भी समझ सकेंगे कि यह भी सत्यमूलक है। ऐतिहासिक के ऊपर प्रमाण एकत्र करने का भार देकर वे धोखा खाएँगे। इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि कवि के ज्ञान-विश्वास के अनुसार यह सत्य है।

घटना-स्थान के वास्तविक नाम के संबंध में भौगोलिकों से ऐकमत्य की आशा करना व्यर्थ है। स्वर्ण-लंका सिंहल में है या और कहीं, इस बात को लेकर आज कितनी ही आलोचनाएँ हो रही हैं। कवि-गुरु ने जो उस अनिर्दिष्ट, और फिरभी सुपरिनिर्दिष्ट, स्वर्ण-लंका का संवाद पाया था, इसमें कोई सन्देह नहीं। क्योंकि वह स्वर्ण-लंका यदि खनिज सोना में ही किसी विशेष स्थान पर स्थापित होती तो पूँछ की आग से भस्म न होकर वह और भी उज्ज्वल हो उठती।

स्वर्ण-लंका के समान ही हमारे संवाद के घटना-स्थल का एक नाम है। कवि उसे 'यक्षपुरी' नाम से जानता है। उसका कारण यह नहीं है कि वहाँ पौराणिक कुबेर का स्वर्ण-सिंहासन है। यक्ष का धन मिट्टी के नीचे गड़ा हुआ है। यहाँ का राजा पाताल में सुरंग खोदकर उसी धन को हरण कर रहा है। इसीलिये समझदार लोग इस पुरी को दुलार करके 'लक्ष्मीपुरी' कहते हैं। यक्षपुरी क्यों नहीं कहते ? क्योंकि लक्ष्मी का भाण्डार वैकुण्ठ में है और यक्ष का पाताल में।

रामायण की कहानी के साथ जो इसका एक साम्य है उसका यह कारण नहीं है कि, मेरी कहानी रामायण से ली हुई है। असली कारण यह है कि कवि-गुरु ने ही ध्यान-योग से मेरी कहानी पहले से ही उड़ाली है! यदि पूछो कि प्रमाण क्या है ? प्रमाण यह है कि सोने की लंका उनके ज़माने में ऐसी चोटी लेकर प्रकाशमान थी यह बात कोई नहीं मानेगा। यह जो वर्तमान काल की ही चीज़ है, इसके हज़ार प्रमाण हज़ार जगहों पर प्रत्यक्ष हो रहे हैं।

ध्यान की सेंध मारके महाकवि किस चतुराई से हाथ साफ़ किया करते थे उसका एक प्रमाण और दूँगा।

कर्षण-जीवी और आकर्षण-जीवी इन दो श्रेणी की सभ्यताओं में एक विषम द्वन्द्व चल रहा है, इस विषय में मैं प्रायः ही मित्रों से बात किया करता हूँ। मनुष्य को कृषि के कार्य

से छुड़ाकर हरण कार्य में खींच-खोंचकर कलियुग कृषि-जीवी ग्रामों को सिर्फ उजाड़ करता जा रहा है। इसके सिवा शोषण-जीवी सभ्यता की भूख-प्यास, द्वेष-हिंसा, विलास-विभ्रम, सुशिक्षित राक्षस के ही समान है। ज़रा ध्यान देने से ही समझ में आ जायगा कि मेरे मुख के इस वचन को आदि कवि ने अपने रूपकों में भुला-छिपाकर हथिया लिया है। नव-दूर्वादिल-श्याम रामचंद्र के वक्षसंलग्न सीता को स्वर्णपुरी के अधीश्वर दशानन ने हरण किया था, यह क्या उस ज़माने की बात है, या इस ज़माने की? उन दिनों क्या सोने के खदान के मालिकों ने नव-दूर्वादिल-विलासी किसानों की चुटिया पकड़कर खींचा था?

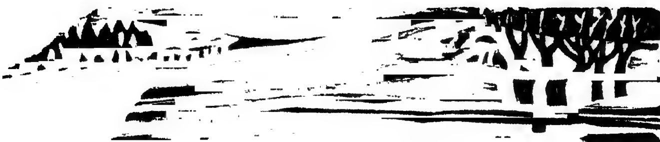
और भी एक बात याद रखनी होगी। दानवीय लोभ के आकर्षण से ही कृषि आत्मविस्मृत हो रही है उसी वृत्तान्त को ढककर कहने के लिये त्रेतायुग में सोना के मायामृग की वर्णना है। आज के ज़माने के राक्षस के मायामृग के लोभ से ही तो आज की सीता उसके द्वारा हरी जा रही है। नहीं तो गाँव की पंचवटी की छाया से शीतल कुटिया को छोड़कर इस ज़माने के किसान टीटागढ़ चटकल में मरने क्यों जाते हैं? बाल्मीकि के लिये यह सभी बातें परवर्तीकाल की हैं अर्थात् 'परस्व' हैं। [नोट—'परस्व' अर्थात् दूसरे का धन। परन्तु यहाँ इस शब्द के बंगला उच्चारण 'परश्व' पर श्लेष है। 'परश्व' अर्थात् आगामी परसों—ह० द्वि०।]

पंचों की प्रवीण मंडली से यह बात कहकर मैंने अच्छा नहीं किया। वे लोग सीताचरित इत्यादि पुण्य कथाओं के प्रति मुझे अश्रद्धावान् समझकर सन्देह करते हैं। यह मेरा दोष नहीं है, उनको भी दोष नहीं दे सकता, विधाता ने उन्हें ऐसी ही बुद्धि दी है। मैं समझता हूँ, मेरे साथ बार बार कौतुक करना ही उनका उद्देश्य होगा। मैंने पुण्यश्लोक बाल्मीकि के प्रति कलंक का आरोप किया है, इसलिये शायद वे फिर एक बार मुझे जाति-बहिष्कृत करने का प्रयत्न करेंगे। भरोसे की बात यह है कि कृत्तिवास नामक एक और बंगाली कवि मेरे दल के हैं।

इस प्रसंग में एक बात मन में उठ रही है। आधुनिक समस्या नाम की कोई वस्तु है ही नहीं, मनुष्य की सभी गुरुतर समस्याएँ चिरकाल की हैं। उसका प्रमाण हमें रत्नाकर की कहानी में मिलता है। रत्नाकर शुरू में डाकू थे, फिर डकैती का रोज़गार छोड़कर राम के भक्त बने। अर्थात् धर्षण-विद्या के प्रभाव को काटकर कर्षण-विद्या में जब दीक्षित हुए तभी सुंदर के आशीर्वाद से उनकी वीणा बज उठी। यह तत्त्व उस ज़माने के लोगों के चित्त में भी जगा था। एक समय जो डाकू थे वही जब कवि हुए तभी आरण्यकों से स्वर्णलंका के पराभव की वाणी उनके कंठ से इतने ज़ोरों के साथ बजी थी।

एकाएक ऐसा लग सकता है कि रामायण की कथा एक रूपक है। विशेष तौर पर

जब रामायण के दो नामों के दो विपरीत अर्थ स्पष्ट ही दिखते हैं। राम का अर्थ है आराम, शान्ति ; रावण का चीत्कार,अशान्ति। एक में नये अंकुर का माधुर्य है, पल्लव की मर्मरध्वनि है तो दूसरे में लोहे के बंधे रास्ते पर से भागते हुए दैत्य-रथ के सिंगे की आवाज़ है।' किन्तु तौ भी रामायण रूपक नहीं है और मेरे 'लाल कनेर' का संवाद भी रूपक नाट्य नहीं है। रामायण मुख्य रूप में मनुष्य के सुख-दुःख, विरह-मिलन, अच्छे-बुरे के विरोध की कथा है ; मानव की महिमा उज्ज्वल करके रखने के लिये ही चित्रपट पर दानव की पट-भूमिका है। यह विरोध एक तरफ़ तो व्यक्तिगत मानव का है और दूसरी तरफ़ श्रेणीगत मनुष्य का। राम और रावण एक तरफ़ तो दो मनुष्यों के व्यक्तिगत रूप हैं और दूसरी ओर मनुष्य की दो श्रेणियों के रूप हैं। मेरा नाटक भी एक ही समय व्यक्तिगत मनुष्य का भी है और मनुष्यगत श्रेणी का भी। श्रोतागण यदि कवि की सलाह की अवज्ञा न करें तो मैं कहूँगा कि श्रेणी की बात भूल जाइए। यही याद रखिए कि 'लाल कनेर' का सारा संवाद 'नंदिनी' नामक एक मानवी का चित्र है। चारों ओर के पीड़न के भीतर से उसका आत्मप्रकाश है। फ़व्वारा जिस प्रकार संकीर्णता के पीड़न से हँसी, आँसू और कलध्वनि के साथ ऊपर उच्छ्वसित हो उठता है, उसी प्रकार। उसी चित्र की ओर यदि संपूर्ण रूप से देखते रहेंगे तो शायद कुछ रस आपको मिल जायगा। नहीं तो लाल कनेर की पँपड़ियों के भीतर अर्थ खोजने जाकर कुछ अनर्थ घट जाय तो उसकी जवाबदेही कवि की नहीं होगी। नाटक के भीतर ही कवि ने आभास दिया है कि माटी खोदकर जिस पाताल में खनिज धन खोजा जाता है नंदिनी वहाँ की नहीं है ; मिट्टी के ऊपर जहाँ प्राणों का, रूप का, नृत्य है, जहाँ प्रेम की लीला है, नंदिनी उसी सहज सुख के, सहज सौंदर्य के देश की है।



शिल्प-तत्त्व

नंदलाल वसु

'विश्वभारती पत्रिका' के पिछले अंकों में मैंने शिल्प का साध्य और साधन, उसका छन्द आदि विषयों की आलोचना की है किन्तु शिल्प के तत्त्व की आलोचना नहीं की। ऐसा करना सहज नहीं है। यह उस विषय का विचार करने में प्रवृत्त हो रहा हूँ। आशा करता हूँ कि एतद्विषयक चिन्तन और अनुधावन से शिल्प-सृष्टि का रहस्य प्रकट हो जायगा।

खेलने की और शिल्प-सृष्टि करने की प्रवृत्ति का कारण एक ही है। खेलने से मन प्रफुल्ल होता है और शरीर स्वस्थ होता है लेकिन क्या यह सोचकर कोई खेलने में प्रवृत्त होता है कि उसके ऐसा करने से उसका चित्त प्रफुल्ल होगा और शरीर स्वस्थ और मज़बूत बन जायगा? शिक्षा के क्षेत्र में ऐसा कराया ज़रूर जाता है लेकिन यह भूलना नहीं चाहिए कि खेलते-खेलते सीखना और सीखने के लिये खेलना एक दम भिन्न वस्तुएँ हैं। शिक्षा बड़ी चीज़ है या खेलना, उसका विचार शिक्षकों का कार्य है। लेकिन शिल्पी या कलाकार खिलाड़ी ही होता है। वह नित्य नवीन खेल चाहता है। इस खेल में वह स्वयं नियम बनाता है, स्वयं उसका पालन करता है और अन्यान्य खिलाड़ियों के साथ इस खेल का आनन्द उपभोग करता है। जिस खेल में हार-जीत बड़ी हो जाती हैं, नियम बलवान् हो उठते हैं, वह खेल लड़ाई बन जाता है। खिलाड़ी हार-जीत को भी खिलाड़ी के मन से देखता है। वह हार-जीत को बड़ी करके आनन्द को छोटा नहीं करना चाहता, खेल के साथी के साथ विरोध भी नहीं करना चाहता।

मनुष्य जब खेलना चाहता है तो समझना चाहिए कि वह शरीर से और मन से स्वस्थ है। जो जाति शिल्प-सृष्टि में आनन्द अनुभव करती है वह जीवित है, ऐसा समझना चाहिए। इतिहास की आलोचना से जान पड़ता है कि मनुष्य आदिम युग से आज तक शिल्प-सृष्टि के खेल में मत्त है। जब तक मनुष्य जाति जीवित है तब तक वह किसी प्रकार बंद नहीं हो सकता।

इसीलिये शिल्पसृष्टि के क्षेत्र में देखा गया कि इसमें प्रवृत्त होने की जो प्रेरणा है वह मनुष्य के अज्ञात और उद्देश्यहीन भाव से होती है। इसमें लाभालाभ मुख्य नहीं हैं।

शिल्प-सृष्टि किसीकी फ़रमाइश से नहीं होती। शिल्प-रचना करते समय किसीसे भय या लज्जा नहीं होती, क्योंकि शिल्पी उस समय आनन्द में तन्मय होते हैं। शिल्प-सृष्टि की

प्रवर्तना, विषय और फलाफल सभी अज्ञेय और अव्यक्त हैं। इसीलिये उसकी व्याख्या करना असंभव है। परन्तु फिर भी मैं यथामति शिल्प-सृष्टि के निदर्शन की परख बता रहा हूँ—

श्रेष्ठ शिल्प प्राणवान् होता है। उसमें जीव-धर्म वर्तमान होता है। जिस प्रकार फूल से फल, फल से बीज और बीज से वृक्ष की उत्पत्ति होती है और फिर इस क्रिया की पुनरावृत्ति होती है, यही उद्भिद् जगत् की रीति है—यह कहना कठिन है कि वृक्ष से बीज होता है या बीज से वृक्ष—ठीक इसी प्रकार शिल्प-सृष्टि के क्षेत्र में भी एक आनंद की धारा कभी वस्तु की ओर से तो कभी मन की ओर से प्रवाहित हो रही है। वही आनन्द शिल्पी के हृदय और वस्तु के योग का कारण है। वह शिल्पी के हृदय और वस्तु को एक करके एकत्व ले आता है—एकत्व से ही आनंद की उत्पत्ति होती है। इसीको आनंद की प्रेरणा कहते हैं।

इसके बाद उस आनन्द की धारणा होती है। अर्थात् शिल्पी के हृदय में अंकुरित होती है, विराजमान होती है और क्रमशः परिवर्धित और प्रस्फुटित होती है। बाद में वह शिल्प-सृष्टि के रूप में लोकगोचर होती है और एक हृदय से दूसरे में संचरित होती है। अर्थात् शिल्पी के शिल्प-सृष्टि का आनन्द अन्य हृदयों में उस प्रकार संचारित होती है जिस प्रकार एक प्रदीप-शिखा से दूसरी प्रदीप-शिखा प्रज्वलित होती है। इस प्रकार शिल्प-सृष्टि दर्शक के हृदय में एक आनंद की प्रेरणा ले आती है। वह उसके हृदय में अंकुरित और ध्यान में वर्धित होती हुई शिल्प-रचना के रूप में प्रकट होना चाहती है। वह पुनरावर्तन करती है। इस तरह एक हृदय से दूसरे हृदय में संचारित होती हुई अपना अमरत्व ज्ञापन करती है। चिरन्तन आनन्द की उपस्थिति के कारण श्रेष्ठ शिल्प-निदर्शन अमर होता है।

उत्तम शिल्प सजीव देह की भाँति सदा ही उत्फुल्ल और सरस दिखाई देता है, वह दर्शक के निकट कभी पुराना नहीं होता। जिस प्रकार सजीव देह के स्वस्थ और उत्फुल्ल भाव का कारण प्राण है उसी प्रकार अच्छी शिल्प-सृष्टि में भी किसी परिपुष्ट रस का, एक अखण्ड छन्द का, समावेश होने से वह सतेज और उत्फुल्ल दिखती है।

शिल्प-सृष्टि में विषय और अंकन-कौशल के सिवा एक अरूप भाव विराजता रहता है। इसका मतलब यह है कि चित्र बनाने का विषय और कौशल दोनों ही गौण स्थूल हैं, वे केवल अरूप भाव या आनंद को प्रकाशित करने के इशारा-भर हो हो सकते हैं और वे जब तक मन के सामने से हटकर ओट में नहीं चले जाते तब तक वे दर्शक के भाव या आनन्द अनुभव करने में बाधक ही होते हैं।

महाशिल्पी के बनाए हुए, मानव-देह के ही समान यह भी आशुवेदन (सेंसिटिव्)

होता है। मानव-देह की एक उँगली काट लेने से जैसे शरीर की अंगहानि होती है और पीड़ा की अनुभूति होती है उसी प्रकार अच्छे चित्र में का भी एक-एक कण महत्त्वपूर्ण होता है, ज़रा सा कण भी हटाया नहीं कि चित्र की अंगहानि हुई और चित्र में एक प्रकार की पीड़ा का प्रादुर्भाव हुआ। एक कणा भी उसमें से हटाया गया तो शिल्पी और दर्शक का हृदय पीड़ित होता है।

ऊपर कही बात केवल रस-प्रधान (लिरिकल) चित्रों के संबंध में ठीक है किन्तु संयोग-प्रधान या एपिक चित्रों की बात और है। संयोग-प्रधान (एपिक) चित्र में शिल्प-सृष्टि के बड़े अंग से एक टुकड़ा निकाल कर देखा जा सकता है और उसका आनंद लिया जा सकता है। लेकिन बड़े अंग के मूल भाव ग्रहण करते समय उसे छोड़ा नहीं जा सकता। क्योंकि संयोग-प्रधान (एपिक) चित्रों में अनेकों भिन्न-भिन्न और रूपों के रस-चित्रों (लिरिक) का समावेश होता है।

उत्तम शिल्प-सृष्टि के विषय में निम्नलिखित कई बातें शिल्प-शास्त्र के शिक्षार्थी को भी जान रखनी चाहिए और उन लोगों को भी इनका ज्ञान आवश्यक है जो दर्शक रूप में शिल्प का रस लेना चाहते हैं।

(क) शिल्प-सृष्टि पूर्ण होती है। पूर्ण होने का कारण यह है—शिल्पी जब परिपूर्ण हृदय से आनन्द अनुभव करते हैं तभी आनन्द का छाप पूरी मात्रा में आता है। एक पूर्ण आतशी शीशे पर जब आलोक पूर्ण मात्रा में पड़ता है तभी उसमें दाहिका शक्ति उत्पन्न होती है और तभी वह अन्य वस्तु को जला सकती है। उसी प्रकार शिल्प-सृष्टि दर्शक के मन पर पूर्ण रूप से अधिकार करने में और आनन्द देने में समर्थ होती है।

(ख) वह सरल सहज और सुनिर्दिष्ट (डिफिनिट) होती है। हृदय में रस की स्पष्ट अनुभूति होने से या एक छन्द के संपूर्ण विकास होने से शिल्पी निर्भीक भाव से शिल्प-सृष्टि करने में समर्थ होता है। इस प्रकार उसमें किसी प्रकार की दुविधा का अभाव होता है और उसकी रचना में सरलता, सहज भाव और सुनिर्दिष्टता आती है।

(ग) वह बड़ी वस्तु की धारणा हृदय में जगाती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक बड़े वृत्त का अंश-भूत चाप बड़े वृत्त की धारणा को जगा देता है।

(घ) इसमें एक प्रकार के आभिजात्य या श्रेष्ठता का भाव रहता है। विषय जहाँ स्वभावतः ही श्रेष्ठ है या जहाँ वह प्रचलित आदर्श के अनुसार सामान्य है उसमें अभिजात या श्रेष्ठ का भाव ले आना, मूल्यवान् उपादान (मैटिरियल) व्यवहार करना या शिल्प-सृष्टि के लिये गृहीत सामान्य वस्तु को मूल्यवान् दिखाना, भद्र और संयत भाव का रहना, उसका कार्य है। पूर्व

शिल्पियों की चिन्ता और उनकी कला-कृतियों के देखने से और विचारने से मन में एक बुनियादी भाव आता है,—एक गांभीर्य प्रकाशित होता है।

(ङ) वह मन में शान्ति देती है और एक अपूर्व भाव विकसित करती है। मन की पूर्वानुभूति के बदले उच्चतर भाव की अनुभूति जगा देती है अर्थात् वह अपूर्व और अनन्य-साधारण होती है।

(च) शिल्प-सृष्टि के विषय में अन्तिम बात यह है कि आनन्द से ही उसका आरंभ होता है। वह सृष्टि की प्रक्रिया में भी शिल्पी को आनन्द देती है, बन जाने के बाद भी उसे आनन्द उपभोग कराती है और देखनेवालों को भी आनन्दित करती है। शुरू से लेकर अखीर तक इसमें आनन्द ही आनन्द है, केवल सृष्टि समाधान का ही आनन्द नहीं। वस्तुतः शिल्पी और दर्शक की आनन्दानुभूति ही मुख्य है। सभी जानते हैं कि आनन्द नामक वस्तु सुख और दुःख दोनों के अतीत है। शिल्प-सृष्टि होने पर आनन्द का होना ज़रूरी है, वह होकर ही रहेगा,—फिर उस शिल्प का विषय सुख का हो या दुःख का।

इस शिल्प-सृष्टि की शक्ति बीजरूप से शिल्पी के हृदय में रहती है। इसीलिये शिक्षक केवल उस शक्ति का उत्कर्ष साधन कर सकता है उसका आरोप नहीं कर सकता। शिल्पी की साधना का मार्ग प्रेमिक की साधना का मार्ग है। शिल्पी कभी कभी उस पथ को ग्रहण करता है—प्रेम में दृढ़ प्रतिष्ठित होने के लिये ही।

शिल्प-गुरु आचार्य अवनीन्द्रनाथ ठाकुर ने हमें शिल्प की शिक्षा देते समय कहा था—'तुम लोग शिल्पी होकर आओ, तभी तो मैं तुम्हारी सहायता कर सकता हूँ। फूल के पौधे तुम्हीं लोग हो, मैं तो सिर्फ माली हूँ।'



रुद्र की वैदिक कल्पना

बलदेव उपाध्याय

पत्रिका के गताङ्क में पाशुपत मत की चर्चा करते समय मैंने लिखा है कि रुद्र-शिव अग्निदेव के ही प्रतीक हैं। इस कथन की मीमांसा करना आवश्यक प्रतीत होता है, क्योंकि रुद्र के मूल स्वरूप तथा उदय को लेकर वेदानुशीलन-कर्ता विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। शिव के तान्त्रिक रूप की विशिष्ट चर्चा करने से पहले उनके वैदिक स्वरूप की पर्यालोचना करना आवश्यक है।

शिव की महत्ता के उदय होने का इतिहास बड़ा मनोरम है। पौराणिक काल में तथा आजकल रुद्र को जितना महत्त्व तथा प्राधान्य प्राप्त है उतना वैदिक काल में न था। आजकल विष्णु के साथ शिव ही हम हिन्दुओं के प्रधान देवता हैं, परन्तु इस प्रधानता का क्रमिक विकास धीरे धीरे अनेक शताब्दियों में सम्पन्न हुआ है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद, शतपथ ब्राह्मण आदि ग्रन्थों के अध्ययन करने से रुद्र के विषय में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता लगाया जा सकता है। ऋग्वेद में केवल तीन सूक्त—प्रथम मण्डल का ११४वां सूक्त, २मण्डल का ३३वां सूक्त तथा ७ मण्डल का ४६ वां सूक्त—रुद्र देवता के विषय में उपलब्ध होते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य देवताओं के साथ इनका नाम लगभग ५० बार आता है। ऋग्वेद में रुद्र का स्थान अग्नि, वरुण, इन्द्र आदि देवताओं की अपेक्षा बहुत ही कम महत्त्व का है, परन्तु यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में रुद्र का स्थान बहुत कुछ महत्त्व-संवलित है। यजुर्वेद का एक पूरा अध्याय ही इनकी स्तुति में प्रयुक्त किया गया है। यह 'रुद्राध्याय' यजुर्वेद की अनेक संहिताओं में थोड़े बहुत अन्तर के साथ उपलब्ध होता है। तैत्तिरीय संहिता के चतुर्थ काण्ड का पांचवां और सातवां प्रपाठक तथा शुक्ल यजुर्वेदीय संहिता का १६ वां अध्याय 'रुद्राध्याय' के नाम से विख्यात हैं। अथर्ववेद के ११ काण्ड के २य सूत्र में रुद्रदेव की स्तुति की गई है।

ऋग्वेद में रुद्र का स्वरूप इस प्रकार का वर्णित है: रुद्र के हाथ तथा बाहु हैं (ऋ० २।३३।७)। उनका शरीर अत्यन्त बलिष्ठ है। उनके ओठ अत्यन्त सुन्दर हैं (सुशिप्रः) उनके मस्तक पर बालों का एक जटाजूट है जिसके कारण वे 'कपर्दी' कहलाते हैं (ऋ० १।११४।१)। उनका रंग भूरा है (बभ्रु) तथा आकृति देदीप्यमान है। वे नानारूप धारण करनेवाले हैं (पुरुरूपः) तथा उनके स्थिर अङ्ग चमकनेवाले सोने के गहनों से विभूषित हैं। वे रथ पर सवार होते हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय में तथा अथर्व के रुद्रसूक्त में उनके स्वरूप का

इससे कहीं अधिक विशद वर्णन उपलब्ध होता है। रुद्र के मुख, चक्षु, त्वच्, अङ्ग, उदर, जिह्वा, तथा दाँतों का उल्लेख किया गया है (अथर्व ११ काण्ड, २ सूक्त ५-६ मन्त्र)। उनके सहस्र नेत्र हैं (सहस्राक्षः)। उनकी गर्दन का रंग नीला है (नीलग्रीवः), परन्तु उनका कण्ठ उज्ज्वल रंग का है (शितिकण्ठः)१। उनके माथे पर जटाजूट का वर्णन भी है, साथ ही साथ कभी कभी वे मुण्डित केश (व्युप्तकेश श० यु० १६।२९) भी कहे गए हैं। उनके केश लाल रंग या नीले रंग के हैं (हरिकेशः)। वे माथे पर पगड़ी पहननेवाले हैं (उष्णीषी यजु० १६।२२) रंग उनके शरीर का कपिल है (बभ्लुशः १६।१८)।

रुद्राध्याय के अनुसार रुद्र एक बलवान् सुसज्जित योद्धा के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनके हाथ में धनुष् तथा बाण हैं। उनके धनुष का नाम 'पिनाक' है (शु० यजुर्वेद १६।५१)। उनका धनुष सोने का बना हुआ, हज़ारों आदमियों को मारनेवाला, सैकड़ों बाणों से सुशोभित तथा मयूरपिच्छ से विभूषित बतलाया गया है (धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिनम्—अ० ११।२।१२) बाणों के रखने के लिये वे तरकस (इषुधि) धारण करते हैं जो संख्या में सौ हैं। उनके हाथ में तलवार भी चमकती रहती है (निषङ्गी) तथा इस तलवार के रखने के लिये उनके पास म्यान (निषङ्गधि) है। वे वज्र भी धारण करते हैं। वज्र का नाम सृक है (शु० य० १६।२१)। शरीर की रक्षा करने के लिये वे अनेक साधनों को पहने हुए हैं। माथे की रक्षा करने के लिये वे शिरस्त्राण धारण करते हैं (बिल्मी शु० य० १६।३५) और देह के बचाव के वास्ते कवच तथा वर्म पहने हुए हैं। महीधर की टीका के अनुसार वर्म कवच से भिन्न होता था२। कवच कपड़ों का सिला हुआ 'अँगरखा' के ढंग का कोई पहनावा था। वर्म खासा लोहे का बना हुआ ज़िरहबख़्तर था। कवच के ऊपर वर्म पहना गया था। रुद्र शरीर पर चर्म का कपड़ा पहनते हैं (कृत्तिं वसानः—शु० य० १६।५१)। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जिस तरह रथ पर चढ़कर धनुर्बाण से सुसज्जित योद्धा रणाङ्गन में शत्रुओं के संहार के लिये जाता है, उसी भाँति रुद्र सिर पर बिल्म तथा देह पर कवच और वर्म पहनकर रथ पर आसन मार धनुष पर बाण चढ़ाकर अपने भक्तों के बैरियों को मारने के लिये मैदान में उतरते हैं। वे धनुष पर बाण हमेशा चढ़ाए रहते हैं। इसीलिये उनका नाम है—आततायी। इनके अस्त्र-शस्त्र इतने भयानक हैं कि ऋषि इनसे बचने के लिये सदा प्रार्थना किया करते हैं—

१. नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च—शु० य० १६।२८

२. पटस्यूतं कर्पासगर्भं देहरक्षकं कवचम्। लोहमयं शरीररक्षकं वर्म।
—शु० य० १६।३५ पर महीधरभाष्य।

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाणवान् उत।
अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥

—शु० य० १६।१०

रुद्र का शरीर नितान्त बलशाली है। ऋग्वेद में वे क्रूर बतलाए गए हैं। वे स्वर्गलोक के रक्तवर्ण (अरुष) वराह हैं (ऋ० १।११४।५)। वे सबसे श्रेष्ठ वृषभ हैं; वे तरुण हैं और उनका तारुण्य सदा टिकनेवाला है ; वे शूरों के अधिपति हैं और अपने सामर्थ्य से वे पर्वतों में टिकी हुई नदियों में जल का प्रवाह उत्पन्न कर देते हैं। उन्हें न माननेवाले मनुष्यों को वे अवश्य अपने बाणों से छिन्न-भिन्न कर देते हैं, परन्तु उनके उपासक मनुष्यों के लिये वे अत्यन्त उपकारी हैं। इसीलिए वे 'शिव' नाम से भी पुकारे जाते हैं। उनके सम्बन्धियों का परिचय मन्त्रों के अध्ययन से चलता है। रुद्र मरुतों के पिता हैं (ऋ० १।११४।६)। यही कारण है कि अनेक मन्त्रों में मरुत् तथा रुद्र की स्तुति एक साथ की गई मिलती है। मरुतों के 'रुद्रिय' संज्ञा पाने का यही रहस्य है। रुद्र के मरुतों के पिता होने के विषय में षड्गुरुशिष्य ने 'सर्वानुक्रमणी' की 'वेदार्थदीपिका' में रोचक आख्यान दिया है। इसी प्रसङ्ग को लेकर द्या द्विवेद ने 'नीतिमञ्जरी' में यह उपदेश निकाला है—

दृष्ट्वा परव्यथां सन्त उपकुर्वन्ति लीलया।
दितेर्गर्भव्यथां हत्वा रुद्रोऽभून्मरुतां पिता ॥

पिछले ग्रन्थों में रुद्र के लिये 'त्र्यम्बक' शब्द का व्यवहार प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। इस 'त्र्यम्बक' का प्रयोग ऋग्वेद के केवल एक ही मन्त्र में किया गया है जो शुक्ल यजुर्वेद (अ० ३, ६० मं०) में भी उद्धृत पाया जाता है। रुद्र का स्तुतिपरक यह मन्त्र नितान्त प्रसिद्ध है :—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात् ॥

—ऋ० ७।५३।१४

'त्र्यम्बक' शब्द का अर्थ समस्त भाष्यकारों ने 'तीननेत्रवाला' किया है, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों को इस अर्थ में आस्था नहीं है। वे यहाँ 'अम्बक' शब्दको जननी वाचक मानकर रुद्र को तीन मातावाला बतलाते हैं, परन्तु यह स्पष्टतः प्रतीत नहीं होता कि रुद्र की ये तीन मातायें कौन सी थीं। वैदिक काल के अनन्तर रुद्र की पत्नी के लिये प्रयुक्त 'अम्बिका' शब्द का प्रथम प्रयोग वाजसनेयी संहिता (३।५७) में आता है, परन्तु इतना फर्क ज़रूर है कि यह उनकी पत्नी का नाम न होकर उनकी भगिनी का नाम बतलाया गया है—एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राऽम्बिकया, तं जुषस्व स्वाहैष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः (शु० य० ३।५७)। इनकी पत्नी के अन्य

नाम वैदिक ग्रन्थों में मिलते हैं। 'पार्वती' शब्द तैत्तिरीय आरण्यक में और 'उमा हैमवती' शब्द केनोपनिषद् में प्रयुक्त हुए हैं।

इस प्रकार ऋग्वेदीय देवमण्डली में रुद्र का स्थान नितान्त नगण्य-सा प्रतीत होता है, परन्तु अन्य संहिताओं में इनका महत्त्व बढ़ता-सा दीख पड़ता है। रुद्राध्याय में रुद्र के लिये भव, शर्व, पशुपति, उग्र, भीम शब्दों का प्रयोग ही नहीं मिलता, प्रत्युत हर एक दशा में वर्तमान प्राणियों के ऊपर इनका अधिकार जागरूक रहता है। विश्व में ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, चाहे वह स्वर्लोक में, अन्तरिक्ष में, भूतल के ऊपर या भूतल के नीचे हो, जहाँ भगवान् रुद्र का आधिपत्य न हो। यह समस्त विश्व सहस्रों रुद्रों की सत्ता से ओतप्रोत है। रुद्र जगत् के समग्र पदार्थों के स्वामी हैं। वे अन्नों के, खेतों के, बनों के अधिपति हैं। साथ ही साथ चोर, डाकू, ठग आदि जघन्य जीवों के भी वे स्वामी हैं। अथर्ववेद में रुद्र के नामों में भव, शर्व, पशुपति तथा भूतपति उल्लिखित हैं (११।२।१) पशुपति का तात्पर्य इतना ही नहीं है कि गाय आदि जानवरों के ही ऊपर उनका अधिकार चलता है, प्रत्युत 'पशु' के अन्तर्गत मनुष्यों की भी गणना अथर्ववेद को मान्य है :—

तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता
गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः (अ० ११।२।९)

इस प्रकार 'पशु' के तान्त्रिक अर्थ का आभास हमें अथर्व के इस मन्त्र में सर्वप्रथम मिलता है। जिसमें समग्र भुवन निवास करते हैं वह नाना वसुओं को धारण करनेवाला विस्तृत ब्रह्माण्डरूपी कोश रुद्र की अपनी वस्तु है। रुद्र का निवास अग्नि में, जलमें, औषधियों तथा लताओं में ही नहीं है, बल्कि उन्होंने इन समस्त भुवनों की रचना कर इन्हें सम्पन्न बनाया है—

यो अग्नौ रुद्रो य अप्स्वन्त-
र्य ओषधी वींरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाकॢपे
तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये ॥

—अथर्व ७।८३

यह सुन्दर मन्त्र रुद्र की महिमा को साफ़ शब्दों में प्रकट कर रहा है। यह तो हुई यजुः और अथर्व संहिताओं की बात। ब्राह्मण काल में तो रुद्र का महत्त्व और भी बढ़ता ही चला गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक दो उल्लेखों से ही रुद्र की महनीयता की पर्याप्त सूचना मिलती है। ३।३।३३ में प्रजापति के उनकी कन्या के सहगमन का प्रसङ्ग उठाकर रुद्र की उत्पत्ति की चर्चा की गई है वहाँ गौरव के खयाल से इनके नाम का उल्लेख नहीं किया गया है,

प्रत्युत 'एष देवोऽभवत्' कहकर संमाननीय शब्द ही व्यवहृत किया गया है। ऋग्वेद के एक विनियोग वाक्य में रुद्र का नाम प्रयुक्त किया गया है, वहाँ ऐतरेय की यह व्यवस्था है कि इस नाम को गौरव की दृष्टि से छोड़ देना चाहिए।

उपनिषदों में रुद्र की प्रधानता का परिचय हमें भली भाँति मिलता है। छान्दोग्य (३।७।४), बृहदारण्यक (३।९।४), मैत्री (६।५) महानारायण (१३।२), नृसिंहतापनी (१।२), श्वेताश्वतर (३।२,४) आदि प्राचीन उपनिषदों में रुद्र के वैभव तथा प्रभाव का वर्णन उपलब्ध होता है। श्वेताश्वतर में रुद्र की एकता, जगन्निर्माण में निरपेक्षता, विश्व के आधिपत्य, महर्षित्व तथा देवताओं के उत्पादक तथा ऐश्वर्यसम्पन्न बनाने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन स्पष्ट भाषा में किया गया है। 'एको रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः (३।२),

'यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं
स नो बुद्धया शुभया संयुनक्तु' (३।४)

आदि श्वेताश्वतर श्रुति के प्रसिद्ध मन्त्र इस विषय में प्रमाणरूप से उद्धृत किए जा सकते हैं। अवान्तरकालीन उपनिषदों में अनेक का विषय रुद्र-शिव की प्रभुता, महनीयता, अद्वितीयता दर्शाना है। अतः अथर्वशिर, कठरुद्र, रुद्रहृदय, पाशुपतब्रह्म आदि शिवपरक उपनिषदों के नामोल्लेखमात्र से हमें यहाँ सन्तोष करना पड़ता है।

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि जिस रुद्र को ऋग्वेद तथा पिछली संहिताएँ 'उग्र' के नामसे पुकारती हैं उस रुद्र का प्राकृतिक आधार क्या था? प्रकृति के किस व्यक्त तथा दृश्य पदार्थ का निरीक्षण कर उसे 'रुद्र' की संज्ञा प्रदान की गई है। 'रुद्र' शब्द की व्युत्पत्ति से इस समस्या के हल होने की तनिक भी सूचना नहीं मिलती। प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में सर्वत्र 'रुद्र' की व्युत्पत्ति 'रुद्' (रोना) धातु से निष्पन्न बतलाई गई है। शतपथ ब्राह्मण (६।१।३।८) में रुद्र की उत्पत्ति की मनोरम कहानी दी गई है कि प्रजापति ने जब सृष्टि करना आरम्भ किया तब एक कुमार का जन्म हुआ जो जनमते ही अपने नामकरण के लिये रोने लगा। नामकरण आगे किया गया अवश्य, परन्तु जन्म के समय ही रोदन-क्रिया के साथ सम्बद्ध होने के कारण उस कुमार का नाम 'रुद्र' रखा गया (यदरोदीत् तस्मात् रुद्रः)। बृहदारण्यक (३।९।४) में इसी प्रकार दशों इन्द्रियों तथा मन को एकादश रुद्र के रूप में ग्रहण किया गया है। इन्हें 'रुद्र'[1]

१. 'रुद्र' की अन्य व्युत्पत्तियों के लिये देखिए ऋ० १।११४।१ का सायण भाष्य।

कहने का तात्पर्य यही है कि जब ये शरीर छोड़कर बाहर निकल जाते हैं, तो मृतक के सगे सम्बन्धियों को रुलाते हैं (ते यदास्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्ति अथ रोदयन्ति। तद् यद् रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति)। पाश्चात्य वेदानुशीली विद्वानों ने रुद्रके प्राकृतिक आधार को ढूंढ़ निकालने का विशेष परिश्रम किया है (इन सब मतों के लिये डा० ए. बी. कीथ का 'रिलिजन ऐण्ड फिलासफ़ी आफ़ वेद' पृ० १४६-७ देखिए।) डा० वेबर रुद्र को तूफ़ान का देवता मानते हैं। डा० हिलेब्रान्त की सम्मति में ये ग्रीष्मकाल के देवता हैं तथा किसी विशिष्ट नक्षत्र से भी इनका सम्बन्ध है। डा० आदेर के विचार में मृतात्माओं के प्रधान व्यक्ति को देवत्व का रूप प्रदानकर रुद्र मान लिया गया है, क्योंकि यह वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है कि मृतकों की आत्माएँ आँधी के साथ उड़कर ऊपर जाती हैं। डा० ओल्डेनवर्ग इस मत में आस्था रखते हुए रुद्र का सम्बन्ध पर्वत तथा जङ्गल के साथ स्थापित करना श्रेयस्कर मानते हैं। रुद्र का सम्बन्ध पर्वत के साथ अवश्य है। उनकी पत्नी उमा भी हैमवती कही जाती हैं। अतः इस मत के लिये भी कुछ आधार है। परन्तु इन कथनों में कल्पना का विशेष उपयोग किया गया है। रुद्र के पूर्व वर्णित स्वरूप का पूरा सामञ्जस्य इन कथनों से कथमपि नहीं बैठता। इस विषय में प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध सामग्री रुद्र के मौलिक तथ्य पर प्रकाश डालती है।

वस्तुतः रुद्र अग्नि के ही प्रतीक हैं। अग्नि के दृश्य, भौतिक आधार पर रुद्र की कल्पना खड़ी की गई है। अग्नि की शिखा ऊपर उठती है। अतः रुद्र के ऊर्ध्व लिङ्ग की कल्पना की गई है। अग्नि वेदी पर जलते हैं। इसी कारण शिव जलधारी के बीच में रखे जाते हैं। अग्नि में घृत की आहुति दी जाती है। इसीलिये शिव के ऊपर जल से अभिषेक किया जाता है। शिवभक्तों के लिये भस्म धारण करने की प्रथा का भी स्वारस्य इसी सिद्धान्त के मानने से भली भाँति हो जाता है। इस सिद्धान्त के पोषक वैदिक प्रमाणों पर अब ध्यान दीजिए। ऋग्वेद (२।१।६) ने 'त्वमग्ने रुद्रो' कहकर इस एकीकरण का संकेत मात्र किया है। अथर्व (७।८३) 'तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये' मन्त्रमें इसी ओर इङ्गित करता है। शतपथ (३।१।३) ब्राह्मण का प्रमाण नितान्त स्पष्ट है। 'अग्निर्वै रुद्रः' अत्यन्त स्पष्ट भाषा में दोनों की एकता का प्रतिपादन कर रहा है। रुद्र की आठ मूर्तियाँ आठ भौतिक पदार्थों की प्रतिनिधि हैं। 'रुद्र' अग्नि है ; 'शर्व' जलरूप है ; 'पशुपति' औषधि है, 'उग्र' वायु है ; 'अशनि' विद्युत् है ; 'भव' पर्जन्य है ; 'महान् देव' (महादेव) चन्द्रमा है, 'ईशान' आदित्य है। शतपथ से पता चलता है कि रुद्र को प्राच्यलोग (पूरब के निवासी) 'शर्व' के नाम से तथा बाहीक (पश्चिम के निवासी) लोग 'भव' नाम से पुकारते थे, परन्तु ये सब वस्तुतः अग्नि के ही नाम हैं :—

अग्निर्वै स देवः। तस्यैतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाहीकाः, पशूनां पती रुद्रोऽग्निरिति तान्यस्याशान्तान्येवेतराणि नामानि, अग्निरित्येव शान्ततमम्। —शतपथ १।७।३।८

शुक्लयजुर्वेद (३९।८) में अग्नि, अशनि, पशुपति, भव, शर्व, ईशान, महादेव, उग्र—ये सब एकही देवता के पृथक् पृथक् नाम कहे गए हैं। शतपथ की व्याख्या के अनुसार 'अशनि' का अर्थ है विद्युत्। इस प्रकार यजुर्वेद के प्रमाण से स्पष्ट है कि पृथ्वीतल पर जो रुद्र देवता अग्निरूप से निवास करते हैं, आकाश में काले मेघों के बीच से चमकनेवाली विद्युत् के रूप में वे ही प्रकट होते हैं। अतः रुद्र को विद्युत् का अधिष्ठातृ देव मानना नितान्त उचित प्रतीत होता है। अथर्ववेद में एक स्थान पर (११।२।१७) रुद्र के संसार को लीलने के लिये जीभ लपलपाने का वर्णन मिलता है। मुझे जान पड़ता है कि 'जिह्वया ईयमानम्' शब्दों के द्वारा काले बलाहकों के बीच में कौंधनेवाली क्षण क्षण में चमकनेवाली बिजुली की ओर स्पष्ट संकेत है। इसीको पुष्ट करनेवाली अथर्ववेदीय प्रार्थना है कि हे रुद्र, दिव्य अग्नि से हमें संसक्त न कीजिए। यह जो बिजुली दीख रही है उसे मेरे शिर पर न गिराकर कहीं अन्यत्र गिराइए—

मा नः सं स्त्रा दिव्येनाग्निना
अन्यत्रास्मद् विद्युतं पातयैताम्—अ० ११।२।२६

इस विवेचन की सहायता से हम रुद्र के 'शिवत्व' को भली भाँति पहचान लेते हैं। वह भयानक पशु की भाँति उग्र तथा भयद अवश्य है, परन्तु साथ ही साथ वह अपने भक्तों को विपत्तियों से बचाता है तथा उनका मंगल साधन करता है। उसके रोग निवारण करने की शक्ति का अनेक बार उल्लेख आता है। उसके पास हजारों औषधियाँ हैं जिसके द्वारा वह ज्वर (तक्मन्) तथा विष का निवारण करता है। वैद्यों में वह सबसे श्रेष्ठ वैद्य है (भिषक्-तमं त्वा भिषजां शृणोमि—ऋ० २।३३।४)। इस प्रसङ्ग में रुद्र के दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते हैं—जलाष (ठंढक पहुँचानेवाला) तथा जलाषभेषज (ठंढी दवाओं को रखनेवाला)

क्व स्य ते रुद्र मृलयाकु-
र्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः। ऋ० २।३३।७

वस्तुतः अग्नि के दो रूप हैं—घोरातनु और अघोरातनु। अपने भयङ्कर घोर रूप से वह संसार के संहार करने में समर्थ होता है, परन्तु अघोर रूप में वही संसार के पालन में भी शक्तिमान् है। यदि अग्नि का निवास इस महीतल पर न हो, तो क्या एक क्षण के लिये भी प्राणियों में प्राण का संचार रह सकता है? विद्युत् में संहारकारिणी शक्ति का निवास अवश्य है, परन्तु वही विद्युत् भूतल पर प्रभूत जलवृष्टि का भी कारण बनती है और जीवों के जीवित रहने

में मुख्य हेतु का रूप धारण करती है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर प्रलय में भी सृष्टि के बीज निहित रहते हैं, संहार में भी उत्पत्ति का निदान अन्तर्हित रहता है। महाकवि कालिदास को अग्नि की संहारकारिणी शक्ति में भी उपादेयता दीख पड़ती है—

कृष्यां दहन्नपि खलु क्षितिमिन्धनेद्धो
बीज प्ररोह जननीं ज्वलनः करोति। रघु० ९।८०

अतः उग्ररूप के हेतु से जो देव 'रुद्र' हैं, वे ही जगत् के मंगल साधन करने के कारण 'शिव' हैं। जो रुद्र है, वही शिव है। रुद्र और शिव की अभिन्नता अवान्तर वैदिक ग्रन्थों में सुस्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित की गई है, परन्तु इस अभिन्नता की प्रथम सूचना ऋग्वेद में ही उपलब्ध होती है (२।३३।७)। ऋग्वेदीय ऋषि गृत्समद के साथ साथ रुद्रदेव से हम भी प्रार्थना करते हैं कि रुद्र के बाण हमलोगों को स्पर्श न कर दूर से ही हट जायँ तथा हमारे पुत्र और सर्ग-सम्बन्धियों के ऊपर उस दानशील की दया सतत बनी रहे :—

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्याः
परि त्वेषस्य दुर्मतिर्मही गात्।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व
मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृळ ॥ (ऋ० २।३३।१४)

'भर-सक-भला' पुकार उठा—हे 'और-भी-भला' भाई!
किस स्वर्गीय जगत् में तुमने निज आभा फैलाई?
'और-भी-भला' रोकर बोला,—पूछो नहीं बसेरा,
अकर्मण्य दम्भी के अक्षम ईर्ष्या में घर मेरा!!

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर (अनुवादित)

मज्मअ'-उल्-बहरैन या दो समुद्रों का संगम

बिक्रमाजीत हसरत

मज्मअ'-उल्-बहरैन या दो समुद्रों का संगम युवराज दाराशिकोह की लिखी हुई पुस्तक है। युवराज ने इसे ४२ वर्ष की उम्र में सन् १०६५ हिज़री में समाप्त किया था। यह पुस्तक भारतीय अद्वैतावाद और सूफ़ी साधना के पारिभाषिक शब्दों का तुलनात्मक अध्ययन है और यद्यपि दाराशिकोह के अन्य ग्रन्थों की तुलना में इसमें आध्यात्मिक आलोचना की मात्रा बहुत कम है, तथापि धर्मों के तुलनामूलक अध्ययन की दृष्टि से यह पुस्तक बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि यह अपने ढंग का अकेला एक ऐसा प्रयास है जो आपात दृष्टि से विरुद्ध दिखनेवाले दो धर्ममतों में साम्य प्रतिपादन करता है। यह हिन्दूधर्म और इस्लाम में समानता और एकता दिखाने का प्रयत्न करता है और इस प्रकार उन पहलुओं को सामने रखता है जहाँ इन दो धर्म रूपी समुद्रों के किनारे मिलते हैं।

इन दोनों धर्मों के धार्मिक सिद्धान्तों के पार्थक्य के विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है और दाराशिकोह के बताए हुए कथनों और परिभाषाओं को दोनों पक्षों के पंडित आसानी से खंडन कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, रूह (आत्मा) की इस्लामिक धारणा वेदान्तिओं से मौलिक रूप में भिन्न है। इस्लाम आत्मा को परमात्मा के साथ एक करके नहीं देखता और रूह (आत्मा) और नफ्स (आपा) में एम सूक्ष्म भेद की कल्पना करता है जब कि उपनिषदों का केन्द्रीय विचार आत्मा और परमात्मा के ऐक्य में है। इसी विचार को ज़ोर देकर प्रतिपादन भी किया गया है। ये और ऐसे ही अन्यान्य असमानतासूचक प्रतिपादनों को मज्मअ'-उल्-बहरैन से बहुत अधिक संख्या में खोजा जा सकता है। फिर भी इस पुस्तक का महत्त्व है। दारा के इस ग्रन्थ को मानवीय रस (human interest) का उत्तम निदर्शन कहा जा सकता है। इसमें आलोचित मुक्ति और नजात, बहिश्त और स्वर्गलोक आदि की समानताएँ तथा ईश्वर के गुण, लोक-भेद, पंचभूत आदि की तुलनामूलक आलोचनाएँ, बाह्य और आन्तर इन्द्रियों की चर्चा आदि विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। यह ध्यान देने की बात है कि इस ग्रन्थ ने भारतवर्ष में एक बहुत ही शुभ भविष्य का सूत्रपात किया था क्योंकि इसके बाद ही युवराज दारा शिकोह ने उपनिषदों, योगवाशिष्ठ और गीता आदि का फ़ारसी में उल्था किया था। परन्तु दुर्दैव को उस शुभ भविष्य को जल्दी पनपने देना अभीष्ट नहीं था। जो हो, इस प्रयत्न के अन्तर्निहित उद्देश्यों की महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

इस पुस्तक की भूमिका बहुत ही आलोकपूर्ण है। शुरू में ही यह कहकर भूमिका शुरू की गई है कि हिंदू और मुसल्मानी धर्म में कोई मौलिक भेद नहीं है। दोनों ही भगवान् की प्राप्ति के मार्ग को दिखाते हैं। दोनों धर्मों ने समान भाव से घोषणा की है कि भगवान् एक हैं और उनकी महिमा की तुलना किसी दूसरे से नहीं हो सकती। दारा शिकोह को जब सूफ़ी साधना के ग्रन्थों का सत्य मालूम हो गया और धर्म का रहस्य अधिकारी फ़क़ीरों से ज्ञात हो गया तब भारतीय अद्वैत वेदान्तियों की साधना का रहस्य उन्होंने जानना चाहा और उक्त साधना के सिद्धों और आचार्यों से लंबी आलोचना और सत्संग करने के बाद उन्हें इस धर्म-साधना का रहस्य भी मालूम हुआ। दोनों धर्मों के गूढ़ भेदों को जानकर दारा शिकोह ने देखा कि वस्तुतः इन दोनों धर्मों में जो अंतर है वह बाह्य और मौखिक है। इन दोनों धर्मों की जो एकता युवराज ने दीर्घ अध्ययन और सत्संग के बाद अनुभव की उसे मज्मअ'-उल्-बहरैन के रूप में उन लोगों के उपकारार्थ लिखा गया जो उक्त रहस्य के जिज्ञासु हैं।

पुस्तक २२ भागों में विभक्त है जिनमें क्रमशः पंचतत्त्व (अनासिर), इन्द्रिय (हवास), यौगिक समाधि (अशग़ाल), सगुण ब्रह्म (सिफ़ाते आल्लाह ता'ला), आत्मा (रूह), वायु (बाद), चार अवस्थाएँ (अहवाले अरबअः), शब्द (आवाज़), तेजस् (नूर), साक्षात्कार (रूयत), भगवन्नाम (अस्माए आल्लाह ता'ला), अर्हत्त्व (नबूव्वत व विलायत), ब्रह्माण्ड, दिक् (जिहात), आकाश (आसमान), भूमि (ज़मीन), भूविभाग (किस्माते ज़मीं), बर्ज़ख (स्वर्ग और नरक का मध्यवर्ती स्थान), क़यामत, मुक्ति, दिवारात्रि (रोज़ व शब) और अनन्तत्व (बे निहायती-ए-अदवार) का विवेचन है। सरकार तथा सियर-उल-मुताख्खेरीन के लेखक के मत से यह ग्रन्थ ही युवराज की मृत्यु का कारण हुआ। तत्कालीन यूरोपियन यात्रियों ने भी इस मत का समर्थन किया है। इस ग्रन्थ में प्रकट किए हुए विचार कट्टर मुसलमान पंडितों को बुरे लगे थे, इसके प्रमाण दिए जा सकते हैं। आलमगीरनामा में उसे "स्वतंत्र विचारक और काफ़िरों के विचारोंवाला" कहा है, और उसके पास रहनेवाले ब्राह्मण पंडितों को 'भ्रान्ति के शिक्षक अपदार्थ' व्यक्ति कहा गया है। इन बातों का ही परिणाम यह हुआ कि दारा शिकोह सन् १६५९ ई० में मृत्युदंड का भागी बना। पर कट्टर मुल्लों ने जो कुछ भी क्यों न कहा हो और दारा शिकोह को उसका जो भी फल क्यों न भोगना पड़ा हो, इस बात में कोई संदेह नहीं कि यह ग्रन्थ धर्मों के तुलनामूलक अध्ययन का आदि मार्गदर्शक है, और आज के युग में यह प्रत्येक व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि दारा का रास्ता ही ठीक था और उस मार्ग को यदि धार्मिक उन्मादना ने बंद नहीं कर दिया होता तो भारतवर्ष शायद कुछ और होता।

नीचे हम पाठकों की सुविधा के लिये मज्मअ'-उल्-बहरईन की आलोचनाओं की कुछ

बानगी दे रहे हैं। इससे पाठकों को पुस्तक की प्रतिपादन-रीति को समझने में कुछ सहायता मिलेगी :

रूह या आत्मा—आत्मा दो प्रकार का है : साधारण आत्मा और आत्माओं का आत्मा (अबुल अरवाह); इन दोनों को भारतीय शास्त्रों में क्रमशः 'आत्मा' और 'परमात्मा' कहा गया है। जब विशुद्ध आत्मा (ज़ाते वहद) अभिभूत और बद्ध होता है—यह बंधन पापजन्य हो या पुण्यजन्य—तो अपने सूक्ष्म रूप में वह आत्मा (रूह) कहा जाता है और स्थूल रूप में जस्द (शरीर) कहा जाता है। उक्त प्रकार से बद्ध आत्मा को 'रूहे आ'ज़म' कहते हैं। यह भी सर्वव्यापक परमात्मा से अभिन्न है। जिस आत्मा में समस्त आत्माएँ अन्तर्भुक्त होती हैं उसे परमात्मा (अबुल अरवाह) कहते हैं। जो संबंध जल और जल की तरंगों में है वही संबंध शरीर और आत्मा में भी है। तरंगों के समुच्चय की तुलना परमात्मा के साथ की जा सकती है जब कि जल को केवल 'हज़रते वजूद' (शुद्ध या चेतन) के रूप में समझा जा सकता है।

ईश्वर का नाम—भारतीय भाषा में ज़ाते मुतलक़, ज़ाते वहद, ज़ाते सर्फ, गैबुलगैब और हज़रते-वाजिबुलवजूद के लिये क्रमशः असंग, त्रिगुण, निराकार, निरंजन और सत्त्वचित्त नाम दिया गया है। परमात्मा के ज्ञानमय स्वरूप को भारतीय मनीषी 'चेतन' कहते हैं और मुसल्मान लोग उसीको 'अलीम' कहते हैं। 'अल-हक़' के लिये वे लोग अनन्त शब्द का व्यवहार करते हैं, इसी तरह 'क़ादिर' के लिये 'समर्थ', 'समी' के लिये 'श्रोता', 'बसीर' के लिये 'द्रष्टा' और 'कलीम' के लिये 'वक्ता' का प्रयोग उन (हिंदू) लोगों में प्रचलित है। जब 'पर' आत्मा व्यष्टि रूपमें प्रकट होता है तो हिंदू लोग उसे 'व्यक्त' कहते हैं। उनकी भाषा में 'अल्लाह' के लिये 'ओम्', 'रू' के लिये 'सः' और 'फ़रिश्ता' के लिये 'देवता' शब्द प्रचलित हैं। 'वही' या दैवी आदेश को वे लोग 'आकाशवाणी' कहते हैं और 'मज़हरे आतम' या परिपूर्ण व्यक्तीभाव को 'अवतार'।......'रूयत' या परमात्मदर्शन को वे लोग 'साक्षात्कार' कहते हैं।

शब्द (आवाज़)—शब्द या आवाज़ उसी परमात्मा की साँस (नफ्सुर्रहमान) से पैदा हुई है जो सृष्टि के समय 'कुन' (हो जा) शब्द से प्रकट हुई थी। इसी ईश्वरी शब्द या खुदाई आवाज़ को भारतीय साधक 'सरस्वती' कहते हैं। बाक़ी और सभी आवाजें इसीसे पैदा हुई हैं। (फ़ारसी के कवि की सूक्ति है कि) "जो-कुछ तू सुनता है वह उसीका नग़मा है, ऐसी लंबी आवाज़ और किसने सुनी है?" हिन्दू अद्वैतवादियों के यहाँ यह आवाज़ 'नाद' के नाम से प्रसिद्ध है। यह नाद तीन प्रकार का बताया गया है—(१) 'अनाहत' अर्थात् वह आवाज़ जो त्रिकाल-स्थायी है। सूफ़ी लोग इसी आवाज़ को 'आवाजे मुतलक़' और 'सुलतानुल अज़कार' कहते हैं। यह आवाजे मुतलक़ अनादि और अनन्त है और इससे महाकाश की

अनुभूति होती है। इस आवाज़ तक दोनों गिरोह के बड़े लोग (योगी और सूफ़ी) ही पहुँच सकते हैं। (२) 'आहत' वह आवाज़ है जो दो वस्तुओं के आघात से पैदा होती है, (३) 'शब्द' उस आवाज़ को कहते हैं जो ध्वनियों के तरतीब से स्फुट रूप में उच्चरित होती है। शब्द का संबंध सरस्वती से है और इसी शब्द से अहले इसलाम का 'इस्मे आज़म' और हिंदू साधकों का वेदमुख या प्रणव (ओंकार) प्रकट हुआ है। भारतीय साधकों के यहाँ 'इस्मे आज़म' या प्रणव का अर्थ यह है कि परमात्मा ही हर तीनों सिफ़ात (त्रिगुण) अर्थात् ईजाद, इबक़ा और इफ़ना का मालिक है। फिर फ़तह, ज़म्मा और कसरा, जिनको भारतीय भाषा में अकार उकार और मकार कहते हैं, भारतीय साधक के यहाँ इसी शब्द की एक खास सूरत है जो इस्मे आज़म से पूरी समानता रखता है। इसी लफ़्ज़ से 'अनासिरे खमसा' (पंचभूत) प्रकट हुए हैं।

क़यामत और महाप्रलय—क़यामत के विषय में आलोचना करते हुए दारा शिकोह ने बताया है कि अद्वैत वेदान्तियों का यह मत है कि स्वर्ग या नरक में आत्मा के लंबे अवस्थान के बाद महाप्रलय होता है। पवित्र-कुरान से भी यही बात सिद्ध की जा सकती है। इसके प्रमाण-स्वरूप ग्रन्थकार ने निम्नांकित आशय के दो मंत्रों को उद्धृत किया है—"जब क़यामते कुबरा बरपा हो जायगी" (७९।३४) और "जब इसराफील अलएहिस्सलाम सूर फूंकेंगे तो ज़मीन और आसमान में रहनेवाले सब बेहोश हो जायँगे, लेकिन जिनको खुदा चाहेगा उन्हें बेहोश होने से बचा लेगा" (३९।६८)। दारा के मत से इस विषय का हिंदू सिद्धान्त यह है कि स्वर्गों और नरकों के नाश के पश्चात् जब ब्रह्माण्ड की आयु समाप्त हो जायगी तब स्वर्ग और नरक के रहनेवाले मुक्ति पाएंगे अर्थात् भवावदात्मा में विलीन हो जायँगे। यह विचार कुरान-पाक (५५।२६-२७) में प्रकट किए गए विचारों से मिलता है। उक्त मंत्रों का आशय इस प्रकार है—"जो कुछ धरती पर है वह सब नष्ट हो जायगा और बाक़ी महज़ खुदाए जुल जलाल की ज़ाते पाक रह जायगी।" इस प्रकार मज्मअ'-उल-बहरैन के लेखक के मत से भारतीय और इस्लामिक मुक्ति की धारणा एक जैसी ही है। पवित्र कुरान के २०।७२ वें मंत्र में जो-कुछ कहा गया है वह भारतीय मुक्ति के विचार के समान ही है। उक्त मंत्र का भाव यह है कि "महान् स्वर्ग (रिज़वाने अकबर) में दाखिल होना एक बड़ी नजात (मुक्ति) है।"

त्रिधा मुक्ति—मुक्ति तीन प्रकार की होती है। पहली जीवन्मुक्ति है अर्थात् मनुष्य जीवित अवस्था में ही मुक्त होता है। सत्य और ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर यह मुक्ति साधक को जीवित अवस्था में ही प्राप्त होती है। उस अवस्था में वह समस्त विश्व को 'एकमेवाद्वितीयम्' समझता है, उनके समस्त कर्म—चाहे वे अच्छे हों या बुरे—उसकी गति, उसके आचार-विचार, सब-कुछ भगवदर्पण बुद्धि से होते हैं। वह भूतमात्र से अपनी एकता अनुभव

करता है। दूसरी मुक्ति 'सर्वमुक्ति' कहलाती है। इसमें आत्मा समस्त प्रकार के बंधनों से मुक्त होकर सच्चिदानंद रूप परमात्मा में लीन हो जाता है। यह मुक्ति समस्त प्राणियों को प्राप्त हो सकती है। "आकाश, पृथ्वी, स्वर्ग, नरक, ब्रह्माण्ड और दिवारात्रि के क्षय के पश्चात् सभी प्राणी भगवान् के आत्मा में विलीन होकर मुक्ति पा जायँगे।" ग्रंथकार ने इस प्रकार की मुक्ति का प्रमाण पवित्र कुरान (१०।६२) में पाया था। इसमें कहा गया है कि "अल्लाह के मित्र वे निश्चय ही भयमुक्त और शोकमुक्त होंगे।" तीसरी मुक्ति को 'सर्वदा मुक्ति' कहते हैं। यह साधक (आ'रिफ़) बनने में आध्यात्मिक उन्नति की प्रत्येक सीढ़ी पर मुक्ति और स्वरूपोपलब्धि के रूप में प्राप्त होती है। पवित्र कुरान के ९।२२ वें मंत्र में कहा गया है कि "बहिश्त में हमेशा रहता है"। यहाँ 'बहिश्त' (स्वर्ग) से ब्रह्मज्ञान का तात्पर्य है और 'हमेशा' शब्द से इसी सर्वदा मुक्ति की ओर इशारा किया गया है। मनुष्य जिस अवस्था में भी क्यों न हो भगवान् को जानने की योग्यता और सनातन कृपा पाने की आवश्यकता उसे रहती ही है। इसीलिये पवित्र कुरान के ९।२१-२२ वें मंत्र में कहा गया है कि "खुदाता'ला ने उन (साधकों) को अपनी रहमत और फिरदौसें बाँटीं और उन्हें उन बहिश्तों की खुशखबरी देता है जिनमें उनके लिये सर्वदा नियामतें और अनन्त मुक्ति हैं। बेशक खुदाता'ला के यहाँ उनके लिये बड़ा पुरस्कार है।" इसी तरह कुरानपाक के १८।२-३ मंत्रों में कहा गया है कि "उन मोमिनों (विश्वासियों) को जो सद्व्यवहार करते हैं खुशखबरी देता है कि उनके लिये अच्छा पुरस्कार है।" इन मंत्रों में मुक्ति पाने के अधिकारियों को अच्छा संदेश दिया गया है।

ये दो चार उदाहरण ग्रंथकार की युक्तियों की धारणा कराने के लिये पर्याप्त हैं। ऊपर के संक्षिप्त विचार दाराशिकोह की गंभीर दृष्टि को व्यक्त करते हैं। इन विचारों से यह आसानी से समझा जा सकता है कि दाराशिकोह पर यह दोषारोप कितना निराधार है कि उसने 'कूट कौशल से हिंदू धर्म को इस्लामिक धर्म के मत्थे मढ़ना चाहा था'। सारी पुस्तक दारा के पवित्र और महान् उद्देश्यों की साक्षी है। उसने दो महान् धर्ममतों का समन्वय करना चाहा था। धर्म के विषय में उनका मत उदार था और एक बृहत्तम पट-भूमिका पर प्रतिष्ठित था। मज़हबी कट्टरता ने उस उदार मतवाद को थोड़े समय के लिये पनपने से रोक दिया परन्तु साधु उद्देश्य कभी निष्फल नहीं होता। निस्सन्देह युवराज दाराशिकोह का प्रयास भी निष्फल नहीं हो सकता।

मध्य एशिया में प्राचीन पोथियाँ

प्रह्लाद प्रधान

यूरोप में सिर्फ भारत से ही नहीं, पहले जिन जिन देशों में पोथियाँ गई थीं, वहाँ से भी भारतीय प्राचीन पोथियाँ यूरोप में जाने लगीं। 'विश्वभारती पत्रिका' के प्रथम दो अंकों में बताया गया है कि ये पोथियाँ किन किन देशों में गई थीं। चीन में जितनी पोथियाँ गई थीं, अनुवाद हो जाने के बाद बहुतों का मूल नष्ट हो गया है। लंका श्याम इत्यादि देश में अवश्य अधिक पालि बौद्ध ग्रन्थ मिले हैं। सुवर्णभूमि से भी कुछ संस्कृत ग्रन्थ मिले हैं। किन्तु सबसे ज्यादा और सबसे प्राचीन पोथियाँ मिलने लगीं मध्य एशिया, पूर्वी तुर्किस्तान, मध्यचीन इत्यादि देशों से। पहले कहा गया है कि खोटान भारतीय संस्कृति का एक केन्द्र हो उठा था। उन प्रदेशों में मरूभूमि होने के कारण जलवायु शुष्क है और पोथियों को बहुत दिनतक सुरक्षित रखने के अनुकूल है। मरुभूमि में बालू ढक जाने से द्वितीय शताब्दी की भी पोथियाँ मिली हैं। भारत में इतने दिन तक पोथियाँ नहीं रह सकती हैं। यूरोपीय विद्वानों को हिन्दुस्तान में एकादश शताब्दी के पहले की पोथी नहीं मिली। वे लोग इस सिद्धान्त पर पहुँचे थे कि उससे प्राचीन भारतीय पोथियाँ मिल ही नहीं सकतीं और रह भी नहीं सकती हैं। कारण यहाँ का जलवायु आर्द्र है और पोथियों में कीड़े लग जाते हैं। नैपाल में अवश्य कुछ नवम शताब्दी की और गिलगिट् से ५ वीं ६ वीं शताब्दी की पोथियाँ मिली हैं। किन्तु उन दिनों यूरोपीय पंडितों को यह ज्ञात नहीं था। इसलिये पहले पहल जब मध्य एशिया की प्राचीन पोथियों की खबर लगी, तो यूरोप में सनसनी फैल गई। इसके बाद यूरोपीय परिव्राजक और पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने उन प्रदेशों में एकाधिक अभियान किए और नये नये तथ्य और पोथियों का अनुसन्धान करने लगे।

इस दिशा में लेफ़्टेनेन्ट बावर सर्वप्रथम स्मरणीय हैं। वे कुच में ब्रिटिश रेज़ीडेण्ट थे। १८९० ई० में दो तुर्कों ने भूर्जपत्र की कुछ प्राचीन पोथियाँ लाकर उनके पास बेंच दीं। ये पोथियाँ उन लोगों को कासगड़ के एक बौद्ध ध्वंसस्तूप से मिली थीं, इस प्रकार के स्तूप उस अञ्चल में प्रचुर हैं। लेफ़्टेनेण्ट बावर ने उन पोथियों को बंगाल की एसियाटिक सोसायटी के पास भेज दिया। हर्नले साहब ने उनकी परीक्षा करके देखा कि वे पोथियाँ पंचम या चतुर्थ शताब्दी के द्वितीयार्ध की थीं और अनुमान किया कि उत्तर भारत में प्रचलित गुप्ताक्षर में लिखित होने के कारण उत्तर भारत की होंगी।

बावर की पोथियों पर हर्नले साहेब के यह मन्तव्य प्रकाश करने के बाद उस अञ्चल में और ज़ोरों से अनुसन्धान चला। रूसीय आर्किओलजिकल सोसायटी ने इस प्रकार और प्राचीन पोथियाँ संग्रह करने के लिये कासगड़ के रूसीय कौंसल जेनरल से अनुरोध किया। १८९१ ई० में पेट्रोवस्की उस पद पर थे और उन्होंने भी पोथियाँ संग्रह कीं जो उन्हींके नाम से प्रसिद्ध हैं और पेट्रोग्राड् में सुरक्षित हैं। अंग्रेज़ भी उन दिनों चुप नहीं बैठे थे। ब्रिटिश सरकार ने भी काश्मीर, लदाक और कासगड़ के पोलिटिकल एजेंटों से इस प्रकार प्राचीन पोथियाँ संग्रह करने के लिये कहा। उन लोगों के उद्योग से भी कुछ पोथियाँ संगृहीत हुईं। बावर-पोथियों के बाद हर्नले के पास वेवर और मेकार्टनी के पास से कुछ पोथियाँ आईं जो उन लोगों के नाम से प्रसिद्ध हैं। वेबर लदाक में एक पादरी प्रचारक थे और तिब्बत की अद्‌भुत चीजें संग्रह करने की उन्हें झक थी। मेकार्टनी कासगड़ में पोलिटिकल एजेंट थे। गड़ी हुई सम्पत्ति पाने की आशा से खोदते खोदते कुइगर में एक स्तूप से एक अफ़ग़ान सौदागर को अनेक प्राचीन पोथियाँ मिलीं, जो वेबर साहब के पास लाईं गईं। मेकार्टनी को चीनीय विदेशी वाणिज्य के मैनेजर तिसङ्ग के मारफ़त पोथियाँ मिली थीं। १८९४ ई० में कुच के अम्बन् (मैजिस्ट्रेट) ल्यु ने १०० फ़ीट ऊँचे एक स्तूप को ३ महीने तक खोदवाने के बाद कुछ छिन्न लिखित पत्रों का उद्धार किया। ल्यु ने इन्हें तिसङ्ग के पास भेजा और तिसङ्ग ने मेकार्टनी को दिया। वे पोथियाँ फिर काश्मीर के ब्रिटिश रेजीडेन्ट और शिमला के विदेशीय आफ़िस होकर कलकत्ता पहुँची।

बावर पोथियों के बाद दिलदार खाँ को कुच से पोथियों का एक पूरा संग्रह मिला था, जिसके तीन भाग कर उन्होंने पेट्रोवस्की, वेबर और मेकार्टनी के के हाथ बेंचा। ये पोथियाँ उनके घर में लड़कों के खिलौनों के तौर पर बहुत दिन तक थीं। मेकार्टनी ने नव संग्रह भेजे थे, जिसमें १४५ पोथियाँ थीं। इनमें तालपत्र भूर्जपत्र और कागज़ तीनों प्रकार की पोथियाँ थीं। हर्नले का कहना हैं कि इनमें की कुछ पोथियाँ ३७० ई० या उससे पहले की हैं। इसके बाद गड्फ्रे ने भी कुच अञ्चल से कुछ पोथियाँ भेजीं। हर्नले के हाथ में पहुँचते पहुँचते एकाधिक हाथ होने के कारण गड्फ्रे-पोथियाँ कागज़ के टुकड़े हो गई थीं फिर भी हर्नले साहब की पत्नी के असीम अध्यवसाय से उनका उद्धार हो सका।

१८९२ ई० में और एक बड़ा भारी आविष्कार हुआ। दत्रुइल्-द-रिन्स नामक एक फ्रांसीसी परिब्राजक को भ्रमण करते करते खोटान में तीन पोथियाँ मिलीं, जिन्हें उन्होंने पेरिस भेज दिया। उनपर रिपोर्ट प्रकाशकर सिनर ने पेरिस की ओरिएण्टल कांग्रेस में सनसनी फैला दी। यह पोथी खरोष्ठी लिपि में लिखी गई थी, जो लिपि भारत के उत्तरी-पश्चिमी सीमा के सिर्फ अशोक के शिलालेखों में मिलती थी। इनमें धम्मपद की एक पोथी थी जिसकी भाषा प्राकृत थी। यह

भाषा अशोक के शिलालेख की पाली से खूब मिलती जुलती थी और यह धम्मपद पालि धम्मपद का एक दूसरा संस्करण था। इसके पहले प्राकृत धम्मपद का अनुसन्धान किसीको नहीं था। पुरातत्त्व के प्रमाणों से यह भी ज्ञात हुआ कि यह पोथी कम से कम दूसरी शताब्दी में लिखित हुई होगी। उस कांग्रेस में ओल्डनबर्ग भी उपस्थित थे। उन्होंने कहा कि उसी पोथी का और कुछ अंश पेट्रोग्रेड में है। फिर सिनर ने सब मिलाकर उसको प्रकाशित किया। ये पोथियाँ जब संगृहीत हो रही थीं, स्वेन्हेडिन् नामक एक स्वीडेन आविष्कारक तक़लामकान् मरुभूमि में खोजकर रहे थे। उनको वहाँ अज्ञात अक्षरों में अनेक पोथियाँ तथा बौद्ध मूर्तियाँ मिलीं और एक पुराने शहर का अनुसन्धान मिला। उनका कहना है कि वहाँ के अधिवासी बौद्ध हिन्दू (शायद हिन्दुस्तान के) थे। यह नगर ८वीं शताब्दी के पहले का था।

इसके बाद सरकारों की तरफ़ से कितने आविष्कारक—गवेषक—भेजे गए। रूस ने क्लेमेन्ज् को भेजा, फिर रेडलफ़ को। जिनके उद्योग से मध्य और पूर्वी एशिया में अनुसन्धान की आन्तर्जातिक समिति नाम की एक संस्था क़ायम हुई। किन्तु सबसे अधिक काम किया है सर आरलस्टाइन् ने। उनको १९०१ ई० के प्रथम अभियान से खोटान्‌निया अंचल से अनेक चीनी, हिब्रु और खरोष्ठी पोथियाँ और काग़जात मिले। इस अभियान से और एक बड़ा काम हुआ कि उन्होंने नक़ली पोथियों का पता लगाया। पोथियों की माँग बढ़ जाने के कारण इस्लाम आखुन् नामक एक व्यक्ति ने नक़ली पोथियों का व्यवसाय चलाया था।

सर आरलस्टाइन के सफल होने के बाद जर्मनी से १९०२ ई० में ग्रुन्वेडेल् और हुथ् के अधिनायकत्व में तुर्फ़ान् में एक अभियान हुआ। इस बीच पिशेल् के उद्योग से एक जर्मन रिसर्च कमिटी गठित हुई और सरकारी सहायता से १९०४ और १९०७ ई० में लि-कक् और ग्रुन्वेडेल के अधिनायकत्व में दो अभियान भेजे गए। उन लोगों ने कुच और तुर्फ़ान अंचल को ठिकाने से अनुसन्धान किया और खूब सफलता पाई।

१९०६-१९०८ ई० में सर आरलस्टाइन फिर दूसरे अभियान में निकले। इस अभियान में सबसे अधिक सफलता मिली तुङ्गहुआङ्ग या सहस्र-बुद्ध गुहा में। एक ताओ-धर्मावलंबी पूजक ने उक्त गुहा के एक प्रकोष्ठ का पता लगाया जो संभवतः एकादश शताब्दी में बन्द कर दिया गया था। इस प्रकोष्ठ में हज़ारों पोथियों की एक बड़ी भारी लाइब्रेरी थी। उस संग्रह से ’स्टाइन को अनेक पोथियाँ हाथ लगीं। यह खबर सुनकर कुछ दिन के बाद एक फ्रांसीसी पंडित पिलिअट भी वहाँ पहुँचे जो उस अंचल में अनुसन्धान कर रहे थे। ’स्टाइन के अनेक पोथियाँ ले जाने के बाद भी वहाँ अनेक पोथियाँ थीं। पिलिअट् स्वयं लिखते हैं कि उनके हाथ के सामने १५००० लपेटी पोथियाँ थीं। ’स्टाइन साहब को एक दूसरे प्रकोष्ठ का पता नहीं था,

इस प्रकार रूसी० तुङ्ग-हुआङ्ग से पिलिअट को अनेक पोथियाँ मिलीं। जापान भी पीछे नहीं था। जापानी सरकार ने भी एक बौद्ध भिक्षु को भेजा और अनेक पोथियाँ और अन्य वस्तुएँ संग्रह कीं। उस भिक्षु ने ध्वंस से बचाने के लिये तुङ्ग-हुआङ्ग लाइब्रेरी का अवशिष्ट अंश पिकिङ्ग के जातीय पुस्तकालय में भेज दिया।

इस प्रकार अन्यान्य पुरातात्त्विक वस्तुओं के साथ हजारों पोथियाँ संगृहीत हुईं। ये सब चीजें और पोथियाँ पेट्रोग्राड, लंडन, आक्सफोर्ड, कलकत्ता, बर्लिन, पेरिस, टोकियो और पिकिंग की लाइब्रेरी और म्यूज़ियमों में सुरक्षित हैं। आज कल युद्ध में क्या गति हुई होगी, पता नहीं। ये पोथियाँ, तालपत्र, भूर्जपत्र, काठ, बाँस, चमड़ा कागज और सिल्क (रेशम) पर हैं। पोथियाँ भी कितनी ही लपेटी हुई हैं तो कितनी चपेटी हुई; और कितनी भारतीय पोथियों की तरह हैं तो कितनी पाश्चात्य किताबों की तरह। उन पोथियों की भाषा भी अनेक हैं जैसे—प्राकृत, संस्कृत, कुची, तुखारी, पह्लवी, ईरानी चीनी, तिब्बती इत्यादि। भाषा के समान लिपि भी अनेक हैं; यथा—ब्राह्मी, खरोष्ठी, गुप्त (कुटिल), मेनिसियन, तुर्की, उइगर, ससानियन्, सिरिआक, चीनी, तिब्बती इत्यादि। इनमें सबसे प्राचीन कागज की पोथियाँ हैं जो द्वितीय शताब्दी की हैं और कुछ बाँस के टुकड़े पर हैं जो ई० ९८ वर्ष की हैं। उन पोथियों से कुछ नूतन भाषाओं का पता चला (जैसे कुची, जो बिल्कुल लुप्त हो गई है) और कुछ नूतन धर्मों का (जैसे मेनिसियन, जो भूमध्यसागर अंचल में खीष्ट धर्म का प्रबल प्रतिद्वन्दी था और सिर्फ अगष्टाइन के लेखों से जिसका अनुमान किया जाता था)। इनके सिवा कुछ और नूतन तथ्यों का पता भी लगा। लेकिन यहाँ प्रसंग है भारतीय पोथियों का, इसलिये उनकी कुछ चर्चा नहीं की जा रही।

सबसे पहले जो ४५० ई० की पोथियाँ मिलीं जो बावर-पोथी के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें आयुर्वेद के सात ग्रन्थ भूर्जपत्र पर और गुप्ताक्षर में और संस्कृत भाषा के हैं। इनमें से प्रथम में लशुन की चिकित्सा है, विशेष कर यह कि आँख के रोग में किस प्रकार उपयोग किया जाता है। द्वितीय ग्रन्थ 'नावनीतक' है। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है और इसमें १४ अध्याय हैं। तृतीय ग्रन्थ में ७२ श्लोकों में १४ दवाइयाँ बताई गईं हैं। साँप के कुछ झाड़-फूँक के मन्त्र हैं। ३४० ई० की एक मेकार्टनी-पोथी में भी अर्क, प्रियङ्गु, स्वर्ण, रौप्य, लोह, ताम्र इत्यादि का उल्लेख पाया जाता है।

प्राकृत—पहले कहा गया है देत्रल्-द-रिन्स् और पेट्रोवस्की द्वारा संगृहीत खंडित पोथियों से खरोष्ठी लिपि में लिखित एक प्राकृत धम्मपद का उद्धार सिनर ने किया है। उस प्राकृत में और कागज भी मिले हैं। निया अंचल से इस प्रकार लिखित काठ और चमड़े के शताधिक टुकड़े मिले हैं।

संस्कृत—पिशेल ने कुछ टुकड़ों को पढ़ा जिन्हें पीछे सिल्वाँ लेवी ने 'संयुक्तागम' (संयुक्त निकाय) का अंश साबित किया। यह संस्कृत में है। इसके बाद और संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का पता लगा। बर्लिन-संग्रह से एक उदान वर्ग (संस्कृत धर्मपद) का उद्धार ५०० विच्छिन्न पन्नों से किया गया है। ये ५०० पन्ने भी १०० विभिन्न पोथियों के हैं। इसी अंचल से प्राप्त "सद्धर्मपुण्डरीक" और "सुवर्णभाससूत्र" की सम्पूर्ण प्रति बर्लिन और पेट्रोग्राड में है। हर्नले ने भी अनेक संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों का उद्धार किया है, यथा—विनय के कुछ अंश, हीनयान के संगीतसूत्र और आटानटियसूत्र, मध्यमागम के उपालिसूत्र और शुकसूत्र, संयुक्तागम के प्रवारणसूत्र, चन्द्रोदयसूत्र और शक्तिसूत्र, महायान की वज्रच्छेदिका, रत्नकूट के रत्नराशिसूत्र, महासन्निपात या महावैपुल्य के रत्नध्वज, चन्द्रगर्भ और यदुपालसूत्र तथा सद्धर्मपुण्डरीक, सुवर्ण प्रभासोत्तमसूत्र, अनन्तमुख धारणी, सुरंगम समाधिसूत्र, सितातपत्रमहाप्रत्यंगिरा धारणी, शतपञ्चाशिकास्तोत्र, चतुःशतकस्तोत्र और कुछ अज्ञातनामा ग्रन्थ। हर्नले साहब ने जितनी पोथियों का प्रकाशन किया है उनको दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, संस्कृत और अनूदित। उपर्युक्त ग्रन्थ सब संस्कृत में हैं। अनूदित ग्रन्थों में कुछ खोटानी में हैं, यथा—वज्रच्छेदिका, अपरिमितायुःसूत्र और दो अज्ञात ग्रन्थ ; कुछ कुची में हैं, यथा—प्रातिमोक्ष तथा प्रायश्चित्तिक और प्रतिदेशनीय ; कुछ चीनी में, यथा—शतसाहस्रिक प्रज्ञापारमिता। उन्होंने तिब्बती के कुछ कागज़ों का भी प्रकाशन किया है। तुखारी भाषा में अनूदित वज्रच्छेदिका, अपरिमितायुःसूत्र, सुवर्णभाससूत्र, संघातसूत्र और अध्यर्धशतिक प्रज्ञापारमिता बर्लिन में भी हैं।

यह तो हुआ बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के सम्बन्ध में। धर्म ग्रन्थ के अतिरिक्त अनेक काव्य और नाटक भी मिले हैं। अभी जो शतपञ्चाशिकास्तोत्र और चतुःशतकस्तोत्र का उल्लेख किया गया है, ये दो काव्यरत्न हैं। इत्सिङ्ग ने उन श्लोकों के माधुर्य की स्वर्गीय पुष्पों से और प्रतिपाद्य विषय की पर्वत के शिखर से तुलना की है। उन दिनों भारत में ये सर्वत्र गाए जाते थे। ये मातृचेट के हैं। मातृचेट के श्लोकों की मधुरता से लोग इतने मुग्ध हुए थे कि वे इनको पूर्व जन्म की वह बुलबुल कहने लगे जिसने बोधिसत्व को गान सुनाया था। इसके अतिरिक्त अश्वघोष के बुद्धचरित और सौंदरानन्द भी मिले। काव्य क्षेत्र में सबसे भारी आविष्कार हुआ सूत्रालंकार के विषय में। चीनी अनुवाद में अश्वघोष के सूत्रालंकार नाम से एक ग्रन्थ प्रसिद्ध है जिसको हूबर ने फ़रासी में अनुवाद किया। लेकिन लूडर साहब की मध्य एशिया की उन खंडित पोथियों से एकका प्रकाशन करने पर पता चला कि चीनी अनुवाद में विद्यमान अश्वघोष का सूत्रालंकार नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ वस्तुतः सूत्रालंकार नहीं है। वह कुमारलात की कल्पनामण्डितिका है। कुमारलात अश्वघोष के थोड़े दिन बाद हुए थे। इसलिये चीन में सूत्रालंकार नाम से प्रसिद्ध

ग्रन्थ में अश्वघोष के बुद्धचरित का दो बार नाम आना और कनिष्क का राजत्व अतीत काल में लिखित होना युक्तियुक्त ही है। इसके लिये विद्वानों में बहुत दिनों तक नाना प्रकार की कल्पना-जल्पना चली थीं।

इससे और भी एक बड़ा आविष्कार हुआ नाटक साहित्य में। तुर्फान से एक पोथी मिली जिसमें तीन नाटक थे। उनमें एक तो है शारिपुत्रप्रकरण या शारद्वतिपुत्रप्रकरण जिसकी पुष्पिका से पता लगता है कि उसके रचयिता सुवर्णाक्षीपुत्र अश्वघोष हैं। अन्य दोनोंकी पुष्पिका प्राप्त नहीं है। किन्तु रचना-सादृश्य और एक पोथी में होने के कारण अनुमान किया जाता है कि उनके लेखक भी अश्वघोष ही होंगे। प्रबोधचन्द्रोदय के समान उनमें से एकके पात्र बुद्धि, कीर्ति, धृति इत्यादि हैं और अन्य एक प्रकरण है जिसमें मगधवती नायिका है, कुमुदगंध विदूषक है और सम्भवतः सोमदत्त दुष्ट-नायक है। इन नाटकों ने और गणपति शास्त्री के पद्मनाभपुरम् और त्रिवेन्द्रम् में प्राप्त भास के नाटकों ने नाटक-साहित्य का इतिहास बदल दिया है।

मध्य एशिया, पूर्वी तुर्किस्तान और चीनी तुर्किस्तान से प्राप्त पोथियों से इस प्रकार और अनेक भारतीय ग्रन्थों का अनुसन्धान हुआ है और उन भाषाओं के साहित्यों में भारतीय साहित्य का प्रभाव—सिर्फ बौद्ध-साहित्य का ही नहीं ब्राह्मण-साहित्य का भी—ज्ञात हुआ है। महाभारत के भीम और हिडम्बिकी के स्वयंवरण की कहानी भी मिली है। मेनिसियन् साहित्य में स्वप्न-लक्षण की एक पोथी भी मिली है। इस प्रकार और बहुत-सी पुस्तकें भी उक्त साहित्य में प्राप्त हुई हैं। फिर भी सारा संग्रह अभी संपूर्ण पठित नहीं हुआ है; जब सम्पूर्ण पठित और प्रकाशित हो जायगा तो और कितने नूतन तथ्यों का अनुसन्धान मिलेगा, यह सुधी पाठक-वर्ग खुद समझ सकते हैं।

भारत के बाहर सिर्फ इस अंचल से ही नहीं अन्यान्य अंचलों से भी यूरोप में पोथियाँ जाने लगीं। अवश्य भारत में भी कुछ लौट आईं। ऊपर सूत्रालंकार का प्रसंग छेड़ा गया है। सूत्रालंकार के प्रश्न पर एक दिन विद्वानों की दृष्टि इतनी पड़ी थी कि सिल्वाँ लेवी उसके मूल संस्कृत की खोज में खुद निकल पड़े। उनको नैपाल में उसी नाम की एक पोथी मिली किन्तु वह अर्वाचीन साबित हुई। तो भी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। फिर वह जापान गए। वहाँ भी मूल पोथी नहीं मिली। किन्तु एकका अनुसन्धान करते करते दूसरेका अनुसन्धान मिला। जापान में अश्वघोष के महायानश्रद्धोत्पाद नामक एक ग्रन्थ का पता चला। उनको सुवर्णद्वीप में नारायणाथर्वशीर्षोपनिषद्, वेदपरिक्रमसार, संहिताकिरण, बुद्धवेद इत्यादि ग्रन्थ मिले जिनका उल्लेख पहले हो चुका है।

इस प्रकार और और देशों से भी यूरोप में पोथियाँ जाने लगीं। यूरोप में उन दिनों

पोथी संग्रह करने का एक प्रबल आन्दोलन चल रहा था। भारत भी चुप नहीं बैठा था। वह भी यथासाध्य उस दिशा में अपनी शक्ति नियोजित कर रहा था। वहाँ भी यहाँ के लिये पोथियाँ संगृहीत की जाती थीं। उन दिनों भारत को एक बड़े भारी आघात का सामना करना पड़ा था। यहाँ अंग्रेज़ी साम्राज्य बढ़ रहा था। अंग्रेज़ी शिक्षा प्रचलित की जाने-वाली थी। मैकाले ने शिक्षा-योजना तैयार की और अंग्रेज़ी के माध्यम से अंग्रेज़ी पढ़ाने के पक्ष में अपना यह मत व्यक्त किया कि संस्कृत और अरबी में कोई संस्कृति नहीं है, विशेषकर संस्कृत में व्याकरण-विवाद और न्याय-वाग्वितण्डा के सिवाय कोई साहित्य नहीं है। इसमें न विज्ञान है न काव्य, न कला न संस्कृति। यह हिन्दुस्तान के लिये एक चैलेंज था। यह कथन इतना अज्ञानपूर्ण है कि इसका प्रतिवाद करना भी मूर्खता है।

मैकाले के इस चैलेंज के बाद यहाँ अनेक पोथियाँ संग्रह को जाने लगीं। इस दिशा में सर्वप्रथम नाम लिया जा सकता है पंडित राधाकिशन का। वे पंजाबकेशरी रणजीत सिंह के राजपुरोहित पं० मधुसूदन के लड़के थे। उन्होंने १८६८ ई० में गवर्नर जेनरल लार्ड लारेंस के पास एक चिट्ठी लिखी कि संस्कृत पोथियों के संग्रह की ओर दृष्टि दी जाय, नहीं तो सब पोथियाँ नष्ट हो जायँगी। इस चिट्ठी को पाकर लार्ड लारेंस ने २४००० रुपये वार्षिक मंजूर कर दिए। किन्तु कौंसल के होम डिपार्टमेंट के सेक्रेटरी स्टोकूस ने मंजूरी चिट्ठी भेजते समय एक अड़चन डाल दी कि सूचीपत्र बनाने के लिये वे पोथियाँ यूरोप भेज दी जायँ क्योंकि हिन्दुस्तान में इस काम के योग्य कोई व्यक्ति नहीं है, और अगर है भी तो किसी यूरोपियन के बराबर दक्ष नहीं है। यह भारतीयों के पांडित्य पर दूसरा मिथ्या दोषारोप और अपमान था। आपाततः काम शुरू हो गया। खूब काम हुआ और खूब पोथियाँ मिलीं। किन्तु जब पोथियों को इंगलैंड भेजने का प्रश्न आया तो जनता ने तीव्र प्रतिवाद किया। फलस्वरूप पोथी भेजना रुक तो गया किन्तु ज़िद नहीं गई। संधि के रूप में प्रबन्ध यह हुआ कि पोथियाँ यहाँ से भेजी जायँगी, सूचीपत्र यूरोप में बनेगा और उन पोथियों के लौट आने पर फिर दुबारा पोथियाँ भेजी जायँगी। इस प्रकार सूचीपत्र का काम होगा। सब तय हो गया। कीलहर्न ने इस काम का भार लिया। उन्होंने और चार विद्वानों का निर्वाचन किया। पोथियाँ भेजी गईं, लौट भी आईं। किन्तु सूचीपत्र कहाँ? यह काम बढ़ने नहीं पाया, वहीं खतम हो गया। जो हो, मध्य-एशिया में पाई गई पोथियों का जो-कुछ भी उद्धार हुआ है उसने भारतीय साहित्य के इतिहास की अद्भुत समृद्धि और प्रसार का समाचार दिया है।

आख़िरी रात

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मौसी !

सो जाओ यतीन, रात हो आई है।

होने दो ना रात, मेरे दिन तो अब बहुत नहीं हैं। मैं कह रहा था मणि को अपने बाप के यहाँ—भूला जा रहा हूँ उसके पिता आजकल कहाँ—

सीतारामपुर।

हाँ, सीतारामपुर। वहीं भेज दो मणि को, और कितने दिन रोगी की सेवा करेगी वह ? उसका शरीर तो वैसा तन्दुरुस्त नहीं है।

सुनो भला ! तुम्हें ऐसी हालत में छोड़कर बहू जाना ही क्यों चाहेगी बाप के घर ?

डाक्टरों ने क्या कहा है सो क्या वह—

मान लो नहीं भी जानती डाक्टरों की बात—आँखों से तो देख रही है। उस दिन बाप के घर जाने की बात इशारे से ज़रा कही नहीं है कि बहू रो-रोकर बेचैन हो गई।

मौसी की इस बात में सत्य का कुछ अपलाप था, उसे यहाँ बतलाना ज़रूरी है। उस दिन मणि के साथ इस प्रसंग में उनकी जो बातचीत हुई थी वह इस प्रकार थी।

बहू, तुम्हारे बाप के यहाँ से कुछ खबर आई है शायद ? तुम्हारे चचेरे भाई अनाथ को देखा हो जैसे।

हाँ, माँ ने कहला भेजा है अगले शुक्रवार को छोटी बहन का अन्नप्राशन है। इसीसे सोचती हूँ—

अच्छा तो है बिटिया, एक सोने का हार भेज दोना, तुम्हारी माँ खुश हो जाएँगी।

सोचती हूँ मैं चली जाऊँगी। अपनी छोटी बहन को तो देखा नहीं है, देखने को बहुत मन करता है।

यह कैसी बात है, यतीन को अकेली छोड़ जाओगी ? डाक्टर ने क्या कहा है सुना तो है ?

डाक्टर तो कहता था "अभी ऐसा कुछ खास—"

सो कहने दो, उसकी ऐसी हालत देखते हुए जाओगी ही कैसे ?

हमारे तीन भाइयों की पीठ पर यही एक बहन है, बड़े दुलार की बच्ची है—सुना है खूब धूमधाम से अन्नप्राशन होगा—मेरे न जाने से माँ बहुत—

तुम्हारी माँ का भाव, बिटिया, मैं कह नहीं सकती। लेकिन यतीन के ऐसे समय में तुम अगर जाओ तो तुम्हारे पिता अवश्य गुस्सा करेंगे यह मैं कहे रखती हूँ।

सो जानती हूँ। तुम्हें सिर्फ एक लकीर लिख देनी होगी कि कोई चिंता की बात नहीं है—मेरे जाने से कोई खास—

तुम्हारे जाने से कोई नुक़सान ही नहीं है सो क्या मालूम नहीं है ? लेकिन तुम्हारे पिता को अगर लिखना ही पड़े तो मेरे मन में जो कुछ है सो सब खोलकर ही लिख दूँगी।

अच्छा, खूब, तुम लिख ही दो ना। उन्हें जाकर सब कुछ बतलाते ही वे—

देखो बहू, बहुत सहा है—लेकिन इसे लेकर अगर तुम यतीन के पास जाओगी तो किसी तरह नहीं सह सकूँगी। तुम्हारे बाप तुम्हें खूब अच्छी तरह ही पहचानते हैं, उन्हें नहीं भुला सकोगी।

यह कहकर मौसी चली आईं। मणि बहुत देर तक बिछौने पर ही नाराज़ पड़ी रही।

पड़ोस के घर से सखी ने आकर पूछा, यह क्या सखी, कोप क्यों है ?

देखो तो सही, भाई, मेरी एकमात्र बहन की पसनी है—ये लोग मुझे जाने नहीं देना चाहते।

ओ माँ, सो कैसी बात है, जाओगी कहाँ ? पति जो बीमार पड़ा है ?

मैं तो कुछ भी नहीं करती, कर भी नहीं पाती ; घर में सब लोग गुम-सुम, मेरे तो प्राण हाँफ उठते हैं। इस तरह मुझसे नहीं रहा जाता।

तुम धन्य स्त्री-जात हो !

सो मैं तो, भाई, तुम लोगों की तरह लोगों को दिखलाने का नाटक नहीं रच पाती। पीछे कोई क्या सोचेगा, इसलिये मुँह सीकर घर के कोने में पड़े रहना मेरा काम नहीं है।

सो क्या करोगी सुनूँ ?

मैं जाऊँगी ही, मुझे कोई पकड़कर नहीं रख सकेगा।

इश्, तेज देखकर तो जिंदा नहीं बच सकती। चली, मेरा काम पड़ा है।

२

पिता के घर जाने की बात सुनकर मणि रो पड़ी थी—इस खबर से विचलित होकर

यतीन ने सरहाना पीठ की तरफ़ खींचा और कुछ उठकर टिकते हुए बैठ गया। बोला—मौसी, यह खिड़की ज़रा और खोल दो, और उस चिराग़ की इस कमरे में ज़रूरत नहीं है।

• खिड़की खोलते ही स्तब्ध रात्रि अनंत तीर्थपथ के पथिक की भाँति रोगी के द्वार के निकट आकर चुपचाप खड़ी हो गई। कितने युग के कितने ही मृत्युकाल के साक्षी के समान आकाश के तारे यतीन के मुँह की तरफ़ ताकते रह गए।

यतीन ने मानो उस बृहत् अन्धकार के पट पर अपनी मणि का प्रिय मुख देखा। बड़ी-बड़ी दोनों आँखें मानों बड़ी-बड़ी आँसुओं की बूँदों से भरपूर हैं—वे आँसू जैसे चुक ही नहीं पाते, जैसे हमेशा के लिये छल छल करते रह गए हैं।

उसे बहुत देरतक चुपचाप देखकर मौसी निश्चिंत हो गईं। सोचा यतीन को नींद आ गई है।

इसी समय वह हठात् कह उठा—मौसी, तुमलोग लेकिन हमेशा यही समझती आई हो कि मणि का मन चञ्चल है—हम लोगों के यहाँ बिलमता नहीं : लेकिन देखो—

ना बेटा, ग़लत समझा था मैंने—वक़्त आने पर ही आदमी को पहचाना जाता है।

मौसी!

यतीन, सो जाओ बेटा!

मुझे तनिक सोचने दो—तनिक बात कहने दो! खीझ मत उठना मौसी!

अच्छा, कहो बेटा।

मैं कह रहा था, आदमी को अपना ही मन ठीक-ठीक समझते कितना वक़्त लगता है! एक दिन जब हम सोचते थे मणि का मन ही नहीं पा सके तब मैंने चुपचाप सब कुछ सहा है। तुम लोग तब—

ना भैया, सो मत कहो—मैंने भी सहा है।

मन तो मिट्टी का ढेला नहीं है—बीन लेने से ही तो हाथ नहीं लग जाता। मैं जानता था मणि खुद ही अपने मन को अब तक समझ नहीं पाई है—जिस दिन कोई चोट खाकर समझेगी उस दिन फिर—

सच्ची बात है यतीन।

इसीलिये उसके लड़कपन की तरफ़ मैंने कभी कोई ख्याल नहीं किया!

मौसी ने उस बात का कोई जवाब नहीं दिया—सिर्फ मन ही मन लंबी साँस ली। कितने दिन उन्होंने लक्ष्य किया है, यतीन ने बरामदे में ही रात काट दी है, पानी की बौछार आती रही है तब भी घर में नहीं गया है। कितने ही दिन वह सिर-दर्द लेकर बिछौने पर जा लेटा है—

एकान्त इच्छा रही है कि मणि आकर सिर पर ज़रा-सा हाथ फेर देगी। मणि तब सखियों के साथ दल बनाकर थियेटर जाने की तैयारी कर रही है। मौसी यतीन को पंखा करने आई हैं, उन्हें उसने खीझकर लौटा दिया है। उस खीझ के भीतर कितनी व्यथा रहती थी, उन्हें मालूम था। कितनी बार उन्होंने यतीन से कहना चाहा है—बेटा, तुम उस छोकरी की तरफ़ इतना ज्यादा मन मत देना—वह ज़रा चाहना सीखे—आदमी को थोड़ा रुलाना चाहिए।—लेकिन ये सब बातें कहने की नहीं होतीं, और कहने पर कोई समझता भी नहीं। यतीन के मन में नारी-देवता का एक पीठस्थान था, वहीं उसने मणि को बिठा रक्खा था। उस तीर्थक्षेत्र में नारी का अमृतपात्र उसके भाग्य में सदा ख़ाली ही बना रहेगा—यह बात सोच सकना यतीन के लिये सहज नहीं था। इसीसे पूजा चल रही थी, अर्घ्य भर-भर उठता था, वरलाभ की आशा हार मानना ही नहीं चाहती थी। मौसी जब फिर आश्वस्त होकर सोच रही थीं कि यतीन सो गया है तभी वह सहसा कह उठा—

मुझे मालूम है, तुम समझती थीं मणि को लेकर मैं सुखी नहीं हो सका, इसीसे तुम उस पर नाराज़ रहती थीं। किंतु मौसी, सुख नाम की चीज़ आसमान के उन तारों की तरह है, अंधकार सब कुछ नहीं लीप पाता, बीच बीच में संध रह ही जाती है। जीवन में कितनी गलतियाँ करते हैं, कितनी बार गलत समझ लेते हैं, तब भी क्या संध-संध से स्वर्ग का दीपक नहीं जलता? न जाने कहाँ से मेरा अंतर आज इस तरह आनंद से भर उठा है!

मौसी हौले-हौले यतीन के कपाल पर अपना स्निग्ध हाथ फेरने लगीं। अंधकार में उनकी दोनों आँखों से होकर जो आँसू झर-झर बह रहे थे उन्हें कोई नहीं देख पाया।

मैं सोच रहा हूँ मौसी, उसकी कच्ची उम्र है, वह क्या लेकर रह सकेगी?

कच्ची उम्र कैसी यतीन? यह तो उसकी ठीक उम्र है। हम लोगों ने भी तो बेटा, कच्ची उम्र में ही देवता को संसार की तरफ़ बहाकर अंतर में बैठा रक्खा है—उससे क्या कोई क्षति हुई है? और मैं तो यह भी कहती हूँ कि आखिर सुख की ही ऐसी कौन-सी ज्यादा ज़रूरत है?

मौसी, जैसे ही मणि के मन के जागने का समय हुआ कि मैं—

इतनी चिंता क्यों यतीन? मन यदि जागे तब वही क्या कम सौभाग्य है?

हठात् बहुत दिनों का सुना हुआ एक पुराना बाउल-गीत यतीन को याद आया

ओरे मन, यखन जागलि ना रे
तखन मनेर मानुष एल द्वारे।

तार चले यावार शब्द शुने
भाङ्लो रे घुम,
ओ तोर भाङ्लो रे घुम अन्धकारे ॥

[अरे मन, जब तू जागा नहीं था तभी मन-भाया मानुस दरवाजे आया। उसके चले जाने की आवाज़ सुनकर तेरी नींद टूटी ; ओरे, नींद अन्धकार के बीच टूटी ।]

मौसी, कितने बजे हैं ?

नौ बजने वाले हैं।

कुल नौ ? मैं समझ रहा था शायद दो, तीन या ऐसे ही कुछ बजे होंगे। साँझ के साथ ही साथ मेरी रात भीगनी शुरू हो जाती है।—तो तुम मेरी नींद के लिये इतनी व्यस्त क्यों हो गई थीं ?

कल भी साँझ से इसी तरह बातें करते-करते कितनी रात तक फिर तुम्हें नींद नहीं आई—इसीसे आज तुम्हें सबेरे-सबेरे सो जाने के लिये कह रही हूँ।

मणि क्या सो गई ?

ना, वह तुम्हारे लिये मसूर की दाल का सूप तैयार करके सोने जाती है।

कहती क्या हो मौसी, मणि क्या तब—

वही तो तुम्हारा सब पथ्य बनाती है। उसे क्या चैन है ?

मैं समझता था मणि शायद—

लड़कियों को क्या यह सब सीखना पड़ता है रे ? बखत पड़ने पर खुद ही कर लेती हैं सब।

आज दुपहरी को मुरल मछली का जो झोल बना था उसमें एक बहुत ही सुंदर अपना स्वाद था। मैं समझ रहा था तुम्हारे ही हाथ का बना है।

कहाँ मेरे भाग ! मणि क्या कुछ करने देती है ? तुम्हारा गमछा-तौलिया अपने हाथ से धो-फींचकर सुखाकर रखती है। जानती है कि तुम कहीं कुछ भी गंदा नहीं देख पाते। अपना बाहर का बैठकखाना अगर तुम एक बार देखो तो जानोगे कि दोनों शाम सब अपने हाथों झाड़-पोंछकर कैसा झकझक कर रखा है मणि ने। मैं अगर उसे तुम्हारे इस कमरे में हमेशा आने दूँ तो क्या फिर कुशल रहेगी ! वह तो खूब चाहती है यही।

मणि की तबीयत शायद—

डाक्टर लोग कहते हैं रोगी के कमरे में उसे हमेशा आने जाने देने में—यों कुछ भी नहींहै। लेकिन उसका मन बड़ा नरम है ना, तुम्हारा कष्ट देखकर दो दिन में ही उसकी देह टूट जाएगी।

मौसी, उसें तुम बहला क्योंकर पाती हो ?

मुझे वह बहुत मानती है इसीसे बहला पाती हूँ। तब भी बीच-बीच में जाकर' उसे ख़बर दे आनी पड़ती है—यही मेरा एक और काम आ जुटा है।

आकाश के तारे मानों करुणा-विगलित आँखों के जल की तरह दमकने लगे। जो जीवन आज विदा लेने के लिये राह में आ खड़ा हुआ है, यतीन ने उसे मन ही मन प्रणाम किया—और सामने अंधकार रात्रि के भीतर से बढ़ाए हुए आसन्न मृत्यु के दाहिने हाथ पर स्निग्ध विश्वास के साथ अपना रोगक्लांत शीर्ण हाथ रख दिया।

एक बार निःश्वास फेंककर, थोड़ा-सा चंचल होकर यतीन बोला—मौसी, मणि अगर जाग ही रही हो तो ज़रा उसे एक बार—

अभी बुला देती हूँ, बेटा।

मैं बहुत देर उसे इस कमरे में नहीं अटका रखना चाहता—सिर्फ पाँच मिनट—दो-एक बातें कहनी हैं—

मौसी लंबी साँस छोड़तीं मणि को बुलाने आईं। यहाँ यतीन की नाड़ी बहुत तेज़ हो गई। उसे मालूम है वह आज तक कभी मणि के साथ अच्छी तरह बातचीत जमा ही नहीं पाया। दोनों बाजे दो अलग सुरों में बाँधे गए हैं, एक ही साथ आलाप चलना बहुत कठिन है। मणि अपनी सहेलियों के साथ अनर्गल बकबक किए जा रही है, हँस रही है, दूर से ही सुनकर यतीन का मन कितनी ही बार ईर्ष्या से पीड़ित हो आया है। उसने खुद को ही दोष दिया है—वह क्यों इसी तरह मामूली चाहे-जो लेकर बातचीत नहीं कर पाता ? नहीं कर पाता—सो भी तो नहीं है, अपने बंधु-बान्धवों में बैठकर क्या वह मामूली विषय लेकर बोलता नहीं है ? लेकिन पुरुषों का 'चाहे-जो' तो स्त्रियों के 'चाहे-जो' के साथ मिल नहीं पाता। बड़ी-बड़ी बातें अकेले ही एक तरफ़ से कह जाने पर भी काम चल ही जाता है, अन्य पक्ष ने ध्यान दिया कि नहीं इसका ख्याल करना ज़रूरी नहीं होता ; किंतु छोटी-छोटी बातों में तो बराबर दोनों पक्षों का सहयोग ज़रूरी होता है ;—बाँसुरी अकेली ही बज सकती है लेकिन दो के योग के बिना करताल की चटकार नहीं जमती। इसीलिये कितनी ही साँझ जब यतीन मणि के साथ खुले बरामदे में चटाई फैलाकर बैठा है, तब दो चार खींची-तानी बातों के बुनाव के बाद ही बातचीत का तार एकबारगी टूट ही गया है और जगह नितांत खाली पड़ गई है। तब उसे ऐसा लगा है जैसे संध्या की नीरवता लज्जा से गड़ जाना चाहती हो। यतीन ने ठीक समझ लिया है कि मणि अगर भाग जाय तो जान बचे ; मन ही मन एकांत कामना की है कि इसी समय कोई एक तीसरा आदमी अगर आ पड़ता ! कारण, दो जनों की बातचीत मुश्किल होती है, तीन जनों की सहज।

मणि के आने पर आज किस तरह बात शुरू करेगा, यतीन यही सोचने लगा। सोचने से बात मालूम नहीं कैसी अजब-अस्वाभाविक भाव से भारी हो उठती है—वह सब नहीं चलने का! यतीन को आशंका होने लगी—आज की रात के पाँच मिनिट भी व्यर्थ ही जाएँगे। तथापि उसके जीवन में ऐसे निभृत पाँच मिनिट और कितने बाक़ी हैं?

३

यह क्या बहू, कहीं जा रही हो क्या?

सीतारामपुर जाऊँगी।

यह कैसी बात? किसके साथ जाओगी?

अनाथ ले जा रहा है।

लच्छमी बहू मेरी, तुम जाना, मैं रोकूँगी नहीं, लेकिन आज मत जाओ।

टिकिट खरीदकर डिब्बा रिज़र्व करा लिया है।

सो होगा, वह नुक़सान हम सह लेंगे—तुम कल खूब सवेरे चली जाना—आज मत जाओ।

मौसी, मैं तुम लोगों के तिथि-वार नहीं मानती—आज जाने में क्या दोष है?

यतीन ने तुम्हें बुलाया है, तुमसे उसे कुछ कहना है।

अच्छी बात है, अब भी तो थोड़ा वक्त बाकी है, मैं उनसे मिले आती हूँ।

ना, यह नहीं कहना है कि जा रही हो।

अच्छी बात, कुछ भी नहीं कहूँगी, लेकिन मैं देरी नहीं कर सकती। कल ही अन्नप्राशन है—आज अगर न जाऊँ तो नहीं चलेगा।

मैं हाथ जोड़ती हूँ बहू, मेरी बात आज एक दिन के लिये रखो। आज मन तनिक शांत करके यतीन के पास जाकर बैठो—जल्दी मत मचाओ।

सो तुम्हीं कहो क्या किया जाय, गाड़ी तो हमारे लिये बैठी नहीं रहेगी। अनाथ चला गया है, दस मिनिट बाद ही आकर मुझे ले जाएगा। इसी बीच जाकर उनसे निबट आऊँ।

ना, तब रहने दो—तुम जाओ। इस तरह उसके पास तुम्हें नहीं जाने दूँगी, अरी अभागिन, तूने जिसे इतना दुःख दिया वह तो सब विसर्जन करके आज नहीं तो कल चला जायगा—लेकिन तू जितने दिन जीती रहेगी—इस दिन की बात तुझे चिरकाल याद रहेगी—भगवान् हैं, भगवान हैं, इसे एक दिन समझेगी।

मौसी, तुम इस तरह शाप मत देना, कहे देती हूँ !

अरे बाप रे, अब और किस लिये बची हुई है रे बाप ? पाप की तो हद नहीं है—मैं अब और नहीं बरका सकूँगी।

मौसी ज़रा अबेर करके रोगी के कमरे में गईं। सोचा यतीन सो गया होगा। किंतु कमरे में घुसते ही देखा वह बिछौने पर हिल-डुल रहा है, सोया नहीं है। मौसी बोलीं, यह एक काण्ड कर बैठी है !

क्या हुआ ? मणि नहीं आई ? इतनी देरी क्यों की मौसी ?

जाके देखती हूँ वह तुम्हारा दूध उबालने जाकर सब जला बैठी है और इसीसे रो रही है। कहती हूँ, आखिर हुआ क्या, और भी तो दूध पड़ा है। लेकिन लापरवाही से तुम्हारे पीने का दूध जो जला दिया है सो उसकी शरम किसी तरह नहीं कट रही है। उसे खूब समझा-बुझाकर शांत करके बिछौने पर सुला आई हूँ। आज नहीं लाई इसीसे—थोड़ा सो ले वह।

मणि नहीं आई—सुनकर यतीन की छाती में जैसे एक तरफ़ आघात लगा वैसे ही आराम भी मिला। उसे आशंका हो रही थी कि कहीं पीछे मणि सशरीर आकर मणि की ध्यानमाधुरी के प्रति ज़ुल्म न कर जाए। ऐसा अनेक बार हुआ है उसके जीवन में। दूध जला बैठने के कारण मणि का कोमल हृदय अनुताप से व्यथित हो उठा है—इसी बात के रस से यतीन का हृदय बार-बार भर-भर आने लगा।

मौसी !

क्या बेटा ?

मैं खूब जानता हूँ मेरे दिन चुकने को आए हैं। लेकिन कोई खेद नहीं है मेरे मन में। तुम मेरे लिये शोक मत करना।

ना बेटा, मैं शोक नहीं करूँगी। जीवन ही मंगलमय है और मरण नहीं, यह बात मैं नहीं मानती।

मौसी, मैं सच कह रहा हूँ मृत्यु मुझे मधुर जान पड़ रही है।

अँधियारे आकाश की तरफ़ ताककर यतीन देख रहा था, उसकी मणि ही आज मृत्यु का वेश धारणकर आ खड़ी हुई है। वह आज अक्षय यौवन से पूर्ण है—वह गृहिणी है, वह जननी है ; रूपसी है, कल्याणी है। उसीके खुले केशों पर वे आकाश के तारे—लक्ष्मी के अपने हाथों के आशीर्वाद की माला हैं। दोनोंके सिर पर ताने हुए इस अंधकार के मंगलवस्त्र की छाया में मानों उनका नया विवाह हुआ, नवीन शुभदृष्टि हुई। मणि की अनिमेष प्रेमदृष्टि से रात का यह विपुल

अंधकार भरपूर हो उठा। इस घर की वधू मणि, वह छोटी-सी, तनिक-सी मणि आज विश्वरूप धरे हुए है—जीवन-मरण के संगमतीर्थ में उन नक्षत्रों की वेदी पर उसने आज अपना आसन ग्रहण किया है—निस्तब्ध रात्रि मंगलघट के समान पुण्यधारा भर लाई है। यतीन ने हाथ जोड़कर मन-ही-मन कहा : इतने दिन के बाद घूँघट खुला है, इस घोर अंधकार के बीच आवरण मुक्त हुआ है—तुमने बहुत रुलाया है—सुन्दर, हे सुन्दर, अब और नहीं छल सकोगे!

४

कष्ट हो रहा है मौसी, किंतु जैसा तुम समझ रही हो वैसा तो कुछ भी नहीं है। अपनी ही तकलीफ़ के साथ मानो धीरे-धीरे मेरा ही विच्छेद होता आ रहा है। इतने दिन भारवाही नाव के समान वह मेरे जीवन-जहाज़ के साथ बँधी हुई थी, आज जैसे बंधन कट गया है—वह मेरा सारा बोझा लेकर मानों बह चली है। देख तो पाता हूँ उसे लेकिन अब वह मेरी नहीं लगती। ये दो दिन मणि को एक बार भी नहीं देख पाया मौसी!

पीठ के पास एक और सिरहाना दूँ क्या यतीन?

मुझे लगता है मौसी, मणि भी जैसे चली गई हो—मेरी उसी बंधन-कटी हुई दुःख की नाव के समान।

बेटा, ज़रा-सा बेदाने का रस खाओ, तुम्हारा गला सूख रहा है।

मेरा वसीयतनामा कल लिखा जा चुका है—तुम्हें दिखा चुका हूँ कि नहीं—ठीक याद नहीं पड़ता।

मेरे देखने की ज़रूरत नहीं है यतीन।

माँ जब मरीं तब मेरा तो कुछ भी नहीं था। तुम्हारा ही खाकर तुम्हारे हाथों बड़ा हुआ हूँ। इसीसे कह रहा था—

यह तू क्या कह रहा है यतीन? मेरा तो सिर्फ एक घर और थोड़ी-मामूली-सी सम्पत्ति थी। बाक़ी सभी तो तूने रोज़गार करके बनाया है।

लेकिन यह घर तो—

कैसा घर! कितने दर-दालान तुमने बढ़ाए हैं, वह मेरी ज़रा-सी जगह तो खोजे नहीं मिलती।

मणि तुम्हें भीतर ही भीतर खूब—

सो क्या जानती नहीं हूँ यतीन! तू इस वक्त ज़रा सो जा।

मैंने सब कुछ लिख तो दिया है मणि को लेकिन रहा सब तुम्हारा ही, मौसी। वह तो तुम्हें कभी भी अमान्य नहीं करेगी।

इसके लिये तुम इतना सोचते ही क्यों हो, बेटा।

तुम्हारे ही आशीर्वाद से मेरा सब है, तुम मेरा वसीयतनामा देखकर ऐसा किसी दिन मत सोचना—

यह कैसी बात है यतीन ? तुम अपनी चीज़ मणि को दिए जा रहे हो इस कारण क्या मैं ख्याल करूँगी ? ऐसा ही जला मन है क्या मेरा ? अपनी वस्तु तुम मणि के नाम लिख पा रहे हो इससे तुम्हें जो सुख है वही तो मेरे सब सुखों से बढ़कर है भैया !

किंतु तुम्हें भी मैं—

देखो, यतीन, अब की मैं गुस्सा करूँगी। तू चला जायगा और मुझे रुपये देकर भुला रक्खेगा ?

मौसी, रुपये से बड़ा कुछ और तो तुम्हें—

दिया है, यतीन, ढेर दिया है। मेरा सूना घर तूने भर दिया था यह मेरे अनेक जन्मों का सौभाग्य था। इतने दिन तो अंक-भरकर पाया है ; आज अगर मेरा पावना चुक ही जाए तो शिकायत नहीं करूँगी। दे दो, सब लिख दो, लिख दो घर-द्वार, गाड़ी-घोड़ा, ज़मीन-जायदाद, गाँव-गन्ना—जो कुछ है सब मणि के नाम लिख दो—यह बोझा मुझसे नहीं सहा जायगा।

भोग में तुम्हारी रुचि ही नहीं है—किंतु मणि की उम्र तो कम है इसीसे—

ऐसा मत कहियो, यतीन, ऐसा मत कहियो। धन-संपद देना चाहता है तो दे लेकिन भोग करने—

भोग क्यों नहीं करेगी, मौसी ?

ना रे ना, कर ही नहीं सकेगी, नहीं कर सकेगी ! मैं कहती हूँ उसके मुँह में रुचेगा ही नहीं ! गला सूखकर काठ हो जायगा, किसी भी तरह रस नहीं पाएगी !

यतीन चुप सुनता रहा। उसके अभाव में संसार मणि के लिये बेस्वाद हो उठेगा यह बात सच है कि मिथ्या, खुशी की है कि दुःख की, वह सोचकर कुछ भी ठीक नहीं कर पाया। आकाश के तारे मानो उसके हृदय में घुसकर कानोंकान उससे कहने लगे, ऐसा ही तो है—हम तो हज़ारों बरसों से देखते आ रहे हैं, संसार भर में विस्तृत यह संपूर्ण आयोजन ऐसी ही छलना है !

यतीन एक बहुत गहरी साँस छोड़कर बोला, देने योग्य वस्तु तो कुछ भी नहीं दे पाया।

कम, क्या दिये जा रहे हो भैया ? घर-द्वार रुपये-पैसे के बहाने तुम उसे क्या दे गए सो उसका मूल्य क्या वह किसी दिन नहीं समझेगी ? जो तुम दिए जा रहे हो उसे सिर झुकाकर ग्रहण करने की शक्ति उसे विधाता दें, यही आशीर्वाद देती हूँ।

और थोड़ा बेदाने का रस दो, गला सूखता आ रहा है। कल क्या मणि आई थी—मुझे ठीक याद नहीं आ रहा है।

आई थी, तब तुम सो रहे थे। सिरहाने के निकट बैठी-बैठी बहुत देरतक तुम्हें हवा करती रही, फिर धोबी को तुम्हारे कपड़े देने चली गई।

आश्चर्य है! लगता है मैं ठीक उसी समय सपना देख रहा था जैसे मणि मेरे कमरे में आना चाह रही है—दरवाज़े में ज़रा-सी संध हो गई है—वह ठेल रही है लेकिन उससे ज्यादा और जगह नहीं खुल पाती। किंतु मौसी, तुम लोग ज़रा ज्यादती कर रही हो—उसे देखने दो कि मैं मर रहा हूँ—नहीं तो मृत्यु को वह हठात् सह नहीं पाएगी।

बेटा, तुम्हारे पावों पर यह ऊनी शाल खींच दूँ—तलुवे ठंडे हो गए हैं।

ना मौसी, देह पर कुछ भी ओढ़ते अच्छा नहीं लगता।

तुझे मालूम है यतीन ? यह शाल मणि ने काढ़ा था, इतने दिन रात-रात जागकर उसने तैयार किया था। कल खत्म किया है।

यतीन ने शाल दोनों हाथों में लेकर कुछ इधर-उधर डुलाया। उसे लगा जैसे ऊन की कोमलता मणि के मन की वस्तु है—उसने खूब चित्त देकर यतीन के लिये रात जाग-जागकर इसे बुना है—उसके मन की भावना ही जैसे इसके साथ गुँथ गई है। इसीसे जब मौसी ने शाल उसके पावों पर खींच दिया तब उसे लगा मानों मणि रात-रात जागकर उसकी पदसेवा कर रही है।

किंतु मौसी, मैं तो समझता था मणि सिलाई करना ही नहीं जानती, उसे सिलाई पसंद ही नहीं है।

मन लगाकर सीखते कितनी देर लगती है ? उसे दिखला दिया गया था; और फिर इसमें बहुत-सी भूलें भी हैं।

सो रहने दो ना भूल, उसे पैरिस-एक्ज़िबिशन में तो कुछ भेजना नहीं है— ग़लत सिलाई से भी मेरे पाँव ढांकने का काम मजे में चल जाएगा।

सिलाई में बहुत-सी भूल-त्रुटि रह गई है यही सोचकर यतीन को और भी आनंद हुआ। बेचारी मणि जानती नहीं है, बनता भी नहीं है, बार-बार भूल करती है, फिर भी कितने धीरज

से रात-पर-रात जागकर सिलाई करती जा रही है—यह कल्पना उसे बहुत करुण, बहुत मधुर लगी। उस भूलों-भरे शाल को उसने फिर एक बार ज़रा हिला लिया।

मौसी, डाक्टर शायद नीचे के कमरे में हैं ?

हाँ, यतीन, आज रात रहेंगे।

किंतु मुझे आज झूठ-मूठ नींद की दवा न दी जाय। देखा तो है, उससे मुझे नींद तो आती नहीं सिर्फ तकलीफ़ बढ़ जाती है। मुझे अच्छी तरह जागते रहने दो। जानती हो मौसी, वैशाख द्वादशी की रात हम लोगों का ब्याह हुआ था—कल वही द्वादशी आ रही है—कल उसी दिन के समान आकाश के सब तारे जला दिए जाएँगे। मणि को शायद याद नहीं है—मैं उसे यही बात याद करा देना चाहता हूँ;—तुम उसे सिर्फ दो मिनिट के लिये बुला दो। चुप क्यों रह गईं ? शायद डाक्टर ने तुम लोगों से कह रखा है कि मेरा शरीर दुर्बल है, इस समय जिससे मेरे मन में कोई—किंतु मैं तुम्हें ठीक बताता हूँ मौसी, आज रात उसके साथ दो बातें कर ले सकने से मेरा मन खूब शांत हो जाएगा—तब फिर शायद और सोने की दवा नहीं देनी पड़ेगी। मेरा मन उससे कुछ कहना चाह रहा है इसीसे मुझे ये दो रात नींद नहीं आई। इसी कारण मैं मणि को बुलवा रहा हूँ। मुझे लगता है आज जैसे अपना यह भरा हृदय उसके हाथों दे जा सकूँगा। उससे कितने ही दिन कितनी ही बातें करनी चाही हैं, कह नहीं पाया, किंतु अब और एक पल की भी देरी मत करो मौसी, उसे अभी बुला दो—इसके बाद मुझे फिर वक्त नहीं मिलेगा।—ना मौसी, तुम्हारी यह रुलाई मुझसे सही नहीं जाती। इतने दिन तो तुम शांत थीं, आज क्यों ऐसा हो रहा है ?

ओरे यतीन, सोचती थी मेरी सारी रुलाई चुक गई है—किंतु देखती हूँ अब भी बाक़ी है, आज तो और नहीं सहा जा रहा है।

मणि को बुला दो—उससे कह दूँ कल की रात के लिये जिससे—

जाती हूँ बेटा। शम्भू दरवाजे के पास रहा, कुछ ज़रूरत हो तो उसे पुकार लेना।

मौसी मणि के सोने के कमरे में जाकर फ़र्श पर बैठ गईं और पुकारकर कहने लगीं—ओ री आ, एक बार आ, ओ राक्षसी, जिसने तुझे अपना सब कुछ दे डाला है उसकी आखिरी बात रख जा—वह खुद मरने के लिये बैठा है, उसे और मत मार!

यतीन पैरों की आवाज़ सुनकर चौंक पड़ा, बोला—मणि!

ना, मैं हूँ शंभू, मुझे पुकारा था आपने ?

एक बार अपनी बहू-ठकुरानी को बुला दे।

किसको ?

बहू-ठकुरानी को।

वे तो अभी लौटी नहीं हैं।

कहाँ गई हैं ?

सीतारामपुर।

आज गई हैं ?

ना, आज तो तीन दिन हुए गए।

पल भर के लिये यतीन का सारा शरीर झनझना गया—आँखों में अँधियारी छा गई। इतनी देर तक तकिये से टिककर बैठा था, अब लेट रहा। पैरों पर वही ऊनी शाल ढका हुआ था—उसे पावों से दूर झटक दिया।

बहुत देर बाद जब मौसी आईं, यतीन ने मणि की कोई बात नहीं पूछी। मौसी ने समझा वह बात उसे अब भूल गई है।

हठात् एक बार यतीन कह उठा—मौसी, तुम्हें क्या अपने उस दिन के सपने की बात मैंने कही थी ?

कौन-सा सपना ?

वही—मणि मानों मेरे कमरे में आने के लिये दरवाज़ा ठेल रही है—किसी भी तरह कपाटों के बीच इतनी-सी से ज्यादा संध नहीं हो पा रही है ? वह बाहर से ताकती है किंतु किसी भी तरह घुस नहीं पाती। मणि हमेशा मेरे घर के बाहर ही खड़ी रह गई। उसे बहुत तरह से पुकारा लेकिन उसके लायक यहाँ जगह न हो सकी।

मौसी कुछ न कहकर चुपचाप रह गईं। सोचने लगीं कि यतीन के लिये मिथ्या के द्वारा वे जो तनिक-सा स्वर्ग रच रही थीं वह और नहीं टिक सका। दुःख जब आए उसे स्वीकार कर लेना ही अच्छा है—धोखे की सहायता से विधाता की मार को दूर रखने की चेष्टा कुछ मतलब नहीं रखती।

मौसी, तुम्हारे निकट जो प्यार पाया है वह मेरे जन्म-जन्मांतर का पाथेय है, उसीसे अपने संपूर्ण जीवन को भरकर मैं चला। अगले जन्म में तुम ज़रूर मेरी लड़की होकर पैदा होगी, मैं तुम्हें छाती से लगाकर बड़ा करूँगा।

कहता क्या है यतीन, फिर लड़की का ही जनम लेना होगा ?—न हो, तेरी गोद में लड़का होकर जनम लूँ—ऐसी ही कामना कर ना।

ना ना, लड़का नहीं। बचपन में जैसी सुंदर थीं वैसी ही अपरूप सुन्दरी होकर ही तुम मेरे घर में आना। मुझे खूब मालूम है मैं तुम्हें किस तरह सजाया करूँगा।

अब और मत बक यतीन,—थोड़ा सो जा।

तुम्हारा नाम दूँगा लक्ष्मीरानी।

यह तो आजकल का नाम नहीं हुआ।

ना, आजकल का नाम नहीं है। मौसी, तुम मेरा बीता युग हो,—वही बीता युग लेकर तुम मेरे घर आना।

तेरे घर लड़की होने का बोझा और दुःख लेकर आऊँ—मैं तो ऐसी कामना ही नहीं कर सकती।

मौसी, तुम मुझे दुर्बल समझती हो,—मुझे दुःख से बचाना चाहती हो?

बेटा, मेरा स्त्री का मन जो है, मैं ही दुर्बल हूँ—इसीसे बहुत डर-डरकर तुझे सारी आपद-विपद से हमेशा बचा रखना चाहा है। लेकिन मेरी शक्ति ही कितनी है? कुछ भी तो नहीं कर पाई।

मौसी, इस जनम की शिक्षा इसी जनम काम में लाने का वक्त नहीं मिला। लेकिन यह सब जमा रहेगा; अगली बार, आदमी क्या कर सकता है सो मैं दिखला दूँगा। चिर दिन केवल अपनी ही तरफ़ ताकते रहना कितनी बड़ी मिथ्या शून्यता है सो मैंने समझ लिया है।

चाहे जो कहो बेटा, तुमने स्वयं कुछ नहीं लिया, दूसरों को ही सब कुछ देते आए!

मौसी, एक बात का गर्व मैं बराबर कर सकता हूँ, सुख के ऊपर मैंने ज़बर्दस्ती नहीं की—किसी दिन यह नहीं कहा कि जहाँ मेरा दावा है वहाँ मैं ज़ोर चलाऊँगा। जो नहीं पाया उसके लिये कभी खींचातानी भी नहीं की। वही चीज़ चाही जिसपर किसी का हक़ नहीं है—सारे जीवन हाथ-जोड़े सिर्फ राह ही देखता रहा; मिथ्या को नहीं चाहा इसीलिये इतने दिन यों वंचित बैठे रहना पड़ा—इस बार शायद सत्य की कृपा होगी। वह कौन है—मौसी, कौन है वह?

कहाँ, कोई तो नहीं है यतीन।

मौसी, तुम एक बार ज़रा वह कमरा तो देख आओ, मैंने जैसे—

ना बेटा, कोई तो नहीं दिखता।

लेकिन मैंने जैसे साफ़—

कुछ नहीं है यतीन, यह देख डाक्टर बाबू आए हैं।

देखिए, आपके पास बैठने से वे बहुत बोलते रहते हैं। कितनी रातें तो इसी तरह जागते काट दी हैं! आप सोने जाइए, हमारा वह आदमी यहाँ रहेगा।

ना मौसी, तुम्हें नहीं जाने दूँगा। ना ना, तुम मेरे पास ही बैठी रहो—मैं तुम्हारा हाथ

किसी तरह नहीं छोड़ता—आखिर तक नहीं। मैं तुम्हारे ही हाथों बड़ा हुआ हूँ, तुम्हारे ही हाथ से भगवान् मुझे ले लें।

अच्छी बात है, लेकिन आप बातचीत न करें यतीन बाबू। वह दवा पिलाने का वक्त हो गया—

वक्त हो गया? झूठी बात है। वक्त बीत चुका—अब दवा पिलाना सिर्फ़ झूठमूठ मन को बहलाना है। मुझे अब इसकी बिल्कुल ज़रूरत नहीं है। मैं मरने से नहीं डरता। मौसी, यम की चिकित्सा चल रही है, तिसपर इतने सारे डाक्टर क्यों इकट्ठा कर रखे हैं—विदा कर दो, सबको विदा कर दो। इस समय मेरी एकमात्र तुम्हीं हो—और मुझे किसीकी ज़रूरत नहीं—किसीकी नहीं—किसी भी मिथ्या की नहीं!

आपकी यह उत्तेजना तो अच्छी नहीं है।

तो चले जाओ—मत करो मुझे उत्तेजित! मौसी, डाक्टर गया? अच्छा, तब तुम इस बिछौने पर आकर बैठो—मैं ज़रा तुम्हारी गोद में सिर रखकर लेटूँ।

अच्छा भैया, मेरा राजा बेटा, ज़रा-सा सो जा!

ना मौसी, सोने के लिये मत कहो···सोते-सोते शायद फिर कभी नींद ही नहीं टूटे। अभी मुझे और भी जागते रहने की ज़रूरत है। आहट नहीं सुन पा रही हो? वह आ रहा है! अभी आ जाएगा!

५

बेटा यतीन, ज़रा इधर ताक···यह देख आ गई है!

कौन आया है? सपना है क्या?

सपना नहीं है बेटा, मणि आई है—तुम्हारे ससुर आए हैं।

तुम कौन?

पहचान नहीं पा रहा है भैया, वही तो तेरी मणि है।

मणि? वह दरवाजा क्या सब खुल गया है?

सब खुल गया है, बेटा मेरे, सब खुल गया है।

ना मौसी, मेरे पावों पर वह शाल मत डालो, वह शाल झूठ है, छलना है।

शाल नहीं है यतीन। बहू तुम्हारे पावों पर पड़ी हुई है...उसके सिर पर हाथ रखकर ज़रा असीस दे दे।···इस तरह मत रो बहू, रोने का वक्त आता है···अभी ज़रा चुप रह!

सं० १९७१-आश्विन] [अनु०—मो० वाजपेयी

पुस्तक-समीक्षा

अहिंसा-विवेचन : लेखक—किशोरलाल घ० मश्रूवाला। प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली। पृ०—११८। मूल्य आठ आना।

आज हमारे देश में अहिंसानीति के बारे में काफी आलोचना की ज़रूरत है। यह मानना होगा कि गान्धीजी के व्यक्तित्व के प्रभाव से अहिंसा की धारा देश में फैल गई है, मगर जब तक हम इस नीति को सर्वतोभाव से अपने जीवन में अङ्गीभूत नहीं कर सकेंगे तब तक उसकी प्रतिष्ठा कमज़ोर ही रहेगी। अगले ज़माने में, जब गान्धीजी राह बताने के वास्ते मौजूद नहीं रहेंगे, तब ऐसी नीति के क्षीण होने की काफ़ी संभावना है। इसलिये आज तत्त्व और प्रयोग, दोनों दृष्टियों से अहिंसा-नीति की चर्चा होनी चाहिए।

हमारी दृष्टि में जितने पण्डित इस विषय पर ध्यान रखते हैं और तात्त्विक विचार भी करते हैं, उनमें श्रीकिशोरलालजी मश्रूवाला एक नामी आचार्य हैं। अहिंसा के विषय पर उनकी आलोचना बहुत ही प्राञ्जल और रोचक होती है।

बहुत लोग कहते हैं कि अहिंसा नीति ऐसी गहरी है कि उसे सिर्फ साधु-जन ही इस्तेमाल कर सकते हैं, आम संसारी आदमी के वास्ते वह नहीं है। आलोच्य पुस्तक में श्रीकिशोर-लालजी ने खास तौर से इसी ग़लत ख़याल का निरसन किया है। पहले अध्यायों में, व्यावहारिक अहिंसा किस हद तक पहुँचती है और संसार में पूरी अहिंसा तथा व्यावहारिक अहिंसा के प्रयोग से जो दो संस्कृतियाँ पैदा हुई हैं उनका मुक़ाबिला और विचार किया गया है। हमारे देश में पुराने ज़माने से सन्तों ने अहिंसा की शिक्षा दी है। इस वातावरण का सुयोग हमें ज़रूर लेना चाहिए। हमारे सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में व्यावहारिक अहिंसा किस हद तक और कैसे क़ायम की जा सकती है, उसका कौशल भी ग्रन्थकर्त्ता ने विस्तार से वर्णन किया है।

'मनुष्य की स्वभावगत अहिंसा'—नामक अध्याय में श्रीकिशोरलालजी कहते हैं कि मानव-जाति की उन्नति के साथ ही साथ दुनिया में अहिंसा का असर बढ़ता जा रहा है। भिन्न-योनि प्राणियों में हिंसा या द्वेष स्वाभाविक चीज़ है, मगर जब हम मनुष्य-जैसे एक योनि के जीवों के भीतर लड़ाई देखते हैं तब वह वस्तु विकृति-सी मालूम होती है।

अब एक सवाल हमारे सामने पैदा हो जाता है। प्रकृति के अन्दर जितनी चीज़ें हमारी नज़र में आती हैं उनमें भलाई और बुराई दोनों मौजूद हैं। इन्सान अपनी क़ौम के वास्ते कुरबानी करता है यह भी जैसा सच है, एक क़ौम खुदग़रज़ी से दूसरी क़ौमों का शोषण करती है या उनपर हमला जारी करती है, यह भी वैसा ही सच है। दोनों कुदरती चीज़ें हैं। किसीको भला कहना और किसीको बुरा मानना, यह तो हम खुद अपने अखलाक के तौल से करते हैं। अगर हमारी कोशिश दुनिया की भलाई के वास्ते हो तब हम एक ख़ास भाव की चर्चा और साधन करेंगे, और जिस भाव से दुनिया को नुक़सान पहुँचे उसको कमज़ोर कर देंगे। दुनिया में साधु-

सन्तों ने एक विशेष भाव की शिक्षा दी है और सामाजिक संघटन की वजह से उसके फैल जाने पर आज इन्सान की इतनी तरक्की हुई है। अगर ऐसा न होता और तमाम दुनिया में इन्सान डूब जाता, तब भी प्रकृति को कोई परवाह न होती। आदमी के साथ मुक़ाबिले में आखिरकार जङ्गली जानवर या हैजा-आदि बीमारी के बीज ठहर ही जाएँ तो इसमें प्रकृति की कोई पसन्द-गैर-पसन्द शायद नहीं है। इन्सान की तरक्क़ी या नुक़सान दोनों ही कुदरती क़ायदे से होते हैं। इसलिये इन्सानी तरक्क़ी को बढ़ानेवाले भाव को मानव-प्रकृतिजात, और नुक़सान पहुँचानेवाले भाव को विकृतिजात मानना शायद ही ठीक होगा।

मेरी समझ में मानव जाति की तरक्क़ी आखिरकार पुरुषकार की बुनियाद पर खड़ी है, दैव पर नहीं। यही मानना हमें अच्छा मालूम होता है। इस विचार से दुनिया की तरक्की के बारे में हर इन्सान की ज़िम्मेदारी बढ़ती है और उन्नति की उम्मीद भी ज्यादा होती है। समाज की भलाई और बुराई में हर शख्स की कोई ज़िम्मेदारी नहीं है, सिर्फ समाज के क़दम के साथ क़दम मिलाए चलने का ही उसको हक़ है, यह मानने से हम आखिर कहाँ जा पहुँचते हैं—सो आज यूरोप और एशिया में जहाँ जहाँ लड़ाई फैल गई है वहाँ बहुत साफ़ ही दिखाई दे रहा है। अहिंसानीति का यह एक बहुत बड़ा लाभ है कि वह पुरुषकार को एक नया गौरव दान करती है।

श्रीमश्रूवालाजी ने भी सारी किताब में दिखाया है कि अगर हम अहिंसा की बुनियाद पर अपने जीवन और संस्कृति को तैयार करना चाहें तो कितनी साधना, कितने साफ़ विचार और कार्यकुशलता की ज़रूरत होती है। अहिंसा की बुनियाद वस्तुतः पुरुषकार पर ही है यह सिद्धान्त उन्होंने बहुत कामयाबी से साबित किया है। इस साधना के साथ शूरता का गहरा सम्बन्ध है; अहिंसा का कायरता, शारीरिक या मानसिक सुस्ती आदि भाव से कोई ताल्लुक़ नहीं, यह भी उन्होंने अच्छी तरह से प्रमाणित किया है। अगर पाठक के दिल में ऐसा कोई संशय हो तो उसका ज़रूर निरसन हो जायगा। आखिरी अध्याय में श्रीमश्रूवालाजी ने कई पहेलियों का बहुत सफलतापूर्वक समाधान किया है।

अहिंसानीति के बारे में अनुरागी सब सज्जनों से यह किताब पढ़ने का अनुरोध करता हूँ।

—निर्मलकुमार वसु

बच्चों की कुछ समस्याएँ—ले० श्रीकालूलाल श्रीमाली ;
प्रकाशक, विद्याभवन, उदयपुर (राजपूताना)।

इस पुस्तक में बच्चों के संबंध में मनस्तत्त्वमूलक नाना प्रकार की आलोचनाएँ की गई हैं। साधारण मनस्तत्त्व से संबंध रखनेवाली कुछ पुस्तकें आधुनिक भारतीय भाषाओं में लिखी तो ज़रूर गई हैं लेकिन ऐसी पुस्तकें बहुत कम हैं जिनमें बच्चों के मन और उसकी समस्याओं पर विचार किया गया हो। इसीलिये इस दृष्टि से प्रस्तुत पुस्तक बहुत ही प्रयोजनीय है।

सभ्य-शिक्षित मनुष्य-समाज की आधार-शिला युवक-समुदाय ही है। इन्हींको आश्रय करके प्रौढ़ों और वृद्धों की कर्मशक्ति टिकी रहती है। इसीलिये किसी समाज में युवकों का चरित्र

जितना ही उच्च होगा वह समाज भी उतना ही ऊँचा होगा। यह बात निर्विवाद है। किन्तु बहुत लोगों की दृष्टि इस बात से हटी हुई जान पड़ती है कि युवकों का चरित्र अति शैशवकाल से ही धीरे धीरे गठित होता रहता है। आजकल संसार के विभिन्न देशों में शिशुओं की मानसिक अवस्था की जांच के लिये नाना प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोग हो रहे हैं और उसे अभीष्ट मार्ग की ओर प्रवृत्त करने के उपाय सोचे जा रहे हैं। हमारे देश में ऐसा कुछ भी नहीं हो रहा। जो कुछ हो रहा है वह इस विशाल देश को देखते हुए अत्यन्त नगण्य है। फिर इन प्रयोगों के विषय में तो पुस्तकों और पैम्फलेटों का अभाव ही है।

बच्चों का अधिकांश पूर्व जीवन अपनी उन माताओं के साहचर्य में बीतता है जो बच्चों की मनोवृत्ति की जानकारी बिल्कुल नहीं रखतीं। बच्चों को डर दिखाना इस देश में अत्यन्त परिचित प्रणाली है, पर कोई नहीं सोचता कि इस डर दिखाने का भावी जीवन पर कैसा बुरा असर होता है। बच्चे की मानसिक दुर्बलता सारा जीवन उसका पिण्ड नहीं छोड़ती। यह बच्चों के चित्त पर अभिभावकों के ध्यान न देने का ही परिणाम है कि एक ही घर के बच्चे भिन्न भिन्न स्वभावों और प्रवृत्तियों के हो जाते हैं और घर के आदमी उनके आचरणों से घबरा जाते हैं। इसका आघात पड़ता है भावी युवक-समाज पर। परन्तु दुःख की बात है कि भारतीय भाषाओं में इस विषय पर जानने योग्य पुस्तकों का प्रायः अभाव ही है। यह आशा तो करना ही अन्याय है कि सभी माताएँ अंग्रेज़ी पढ़कर उक्त विषय की पुस्तकों से ज्ञानार्जन कर सकेंगी।

यह आशा की जा सकती है कि यह पुस्तक कुछ अंशों में इस अभाव को दूर करेगी। इसके प्रतिपाद्य को दो भागों में बाँट लिया जा सकता है। 'बच्चों की दुनिया' नामक अध्याय से लेकर 'आदत' नामक अध्याय तक प्रथम भाग और 'युवा' से 'शिक्षा और समाज' तक दूसरा। पहले भाग का विषय माता-पिता—विशेषकर माता—को अवश्य जानना चाहिए। दूसरे भाग के विषयों की जानकारी पिता, शिक्षक तथा अभिभावकों को होनी चाहिए।

पुस्तक के अन्त में 'काम-शिक्षा' नामक जो प्रबंध है उसपर पाठकों में दो मत हो सकते हैं लेकिन जो लोग इस अंश को ध्यान से पढ़ेंगे उन्हें स्वीकार करना पड़ेगा कि इस युग में यह विषय आवश्यक है। पुस्तक का नाम यद्यपि 'बच्चों की समस्याएँ' है, परन्तु वास्तव में बच्चों के पालक-पालिकाओं की समस्या भी इसमें शामिल है।

पुस्तक की भूमिका प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० गिरीन्द्रशेखर वसु की लिखी हुई है। पुस्तक के लेखक उदयपुर के विद्याभवन के प्रधानाध्यापक हैं। इसीलिये पुस्तक में उन्होंने केवल किताबी विद्या की आलोचना ही नहीं की है। उनके हाथ में एक साश्रम विद्यालय है जहाँ वे बच्चों के विषय में प्रत्यक्ष जानकारी हासिल करने का अवसर पाते रहते हैं। नित्य ही उनको बच्चों की वास्तविक समस्याओं का सामना करना होता है। उनका 'बालहित' नामक पत्र भारतवर्ष में अपने ढंग का अकेला प्रयत्न है। उनके नानाविध अनुभवों का निचोड़ इस पुस्तक में आ गया है। मुझे पूरी आशा है कि बच्चों के अभिभावकगण इस पुस्तक से उपकृत होंगे।

—नित्यानंद विनोद गोस्वामी

जर्मन्स बियाण्ड जर्मनी : (प्रबन्ध-संग्रह : अंग्रेज़ी) : सम्पादक और भूमिका-लेखक—विलेम हास ; प्रकाशक—दी इण्टरनेशनल बुकहाउस लिमिटेड, बम्बई ; सन् १९४२ ; मूल्य—४) ; पृष्ठ-संख्या—५४+३०८

किसी भी विदेशी संस्कृति के बारे में सुलझी हुई बुद्धिपूर्वा धारण बनाते समय सबसे बड़ी बाधा तब उपस्थित होती है जब हम वहाँ के 'राष्ट्रीय' अथवा 'जातिगत' विश्वासों पर ही अपने विचार खड़े करने लगते हैं। प्रत्येक देश की संस्कृति वहाँ के इतिहास सामाजिक प्रगति, शिल्प-साहित्य, धर्म और आचारनीति आदि के भीतर से पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने को भविष्य के हाथों सौंपती चलती है। अतएव सबसे उचित और सही तरीक़ा इस समूची सांस्कृतिक जानकारी को समाजशास्त्रीय अथवा मनस्तात्त्विक दृष्टि से जाँचना होगा। प्रस्तुत संग्रह के संपादक ने ठीक यही तरीक़ा अख्तियार किया है। उसकी भूमिका जर्मनी की परिचायक आज तक प्रकाशित समस्त रचनाओं में अन्यतम श्रेष्ठ है।

पुस्तक का दृष्टिकोण प्रधानतया साहित्यिक है किंतु जर्मन साहित्य में समाजशास्त्रीय अथवा मनस्तात्त्विक आलोचना के योग्य सामग्री का अभाव नहीं है। साधारण पाठक को शायद यह न मालूम हो कि लगभग समूचा जर्मन साहित्य आज तक विदेशी की पहुँच के बाहर है। गेटे, शिलर, हाइने, नीत्शे आदि की रचनाओं का हमें केवल वही अंश मिला है जिसके प्रकाशन के लिये जर्मन सरकार ने अनुमति दे दी है। इसीसे जर्मन मनीषा, जर्मन सभ्यता, जर्मन साहित्य आदि के बारे में ठीक अर्थों में हम कुछ भी नहीं कह पाते। जो साहित्यिक जर्मनी के प्रकृत स्वरूप का अपेक्षाकृत ठीक प्रतिनिधित्व करते हैं, संहार और अंधकार की ओर उसके स्वाभाविक झुकाव का सही सही परिचय देते हैं (उदा० क्लाइस्ट, हैल्डरलीन, नोवालिस), उन्हें जर्मनी के बाहर कोई नहीं जानता। प्रस्तुत संग्रह की साफ़-सुथरी भूमिका में जर्मन साहित्यिकों को दो सुस्पष्ट समूहों में विभाजित किया गया है ; एक वह जो अल्पसंख्यक है, मानवता का उपासक है और जिसने अपनेको अपने ही देशवासियों तथा शासकों से सर्वथा मुक्त रखा है ; दूसरा वह जो संख्या में विपुल है, देश का प्रतिनिधि है, जिसने अपनी समस्त प्रेरणा अंधकारयुग की रक्तपिपासा, आत्मघाती युक्तिहीनता, बर्बर युयुत्सा से ही जुगाई है। स्वतंत्र जर्मन राष्ट्र का इतिहास आद्यंत इसका साक्षी है। जर्मन संस्कृति और साहित्य की "यथार्थ महिमा" का संबंध गेटे, शिलर, हाइने आदि के प्रशांत सौन्दर्य और क्लासिकल संयम से नहीं है ; वह तो अविच्छेद्य भाव से जुड़ा हुआ है। उसी विकृत, स्नायविक भंजनलिप्सा के साथ, जो कभी-कभी तो "यथार्थ" उन्माद की हद तक ही पहुँचकर रुकती है। यह महज़ संयोग की ही बात नहीं जो तीन सबसे बड़े जर्मन लेखकों में से दो (हैल्डरलीन और नीत्शे) ने ज़िंदगी का आखिरी हिस्सा पागलखाने में गुज़ारा और तीसरे (क्लाइस्ट) ने आखिरकार खुदकुशी कर ली। नोवालिस शोपेनहावर, वैगनर तथा साहित्यिक इतिहास के 'स्टार्म एण्ड स्ट्रैस' नामक युग के प्रायः सभी लेखकों में ऐसे ही जान-बूझकर वरण किए हुए पागलपन का परिचय मिलता है। यह युग जर्मनी का सबसे कम ज्ञात अथच सबसे अधिक प्रतिनिधि युग है।

शायद पाठक को यह सब राजनैतिक प्रचारबाज़ी से अधिक न जान पड़े, मगर, बात ऐसी नहीं है। प्रमाण कुछ बहुत दुर्लभ नहीं हैं। हर जर्मन किताब अथवा जर्मन साहित्य का इतिहास 'महत्ता' और 'गौरव' की ऐसी ही परिभाषा करेगा जो मनुष्य की सहज बुद्धि के एकबारगी बाहर पड़े। जहाँ युग के आदि से आज तक उन्माद की ही पूजा होती आई है, जहाँ एक साथ रहने की कला पिछली सदी के शुरू तक मध्य एशिया की बर्बर जातियों से बेहतर नहीं थी, वहाँ यदि सर्वश्रेष्ठ मनीषी अथवा स्रष्टा अपनेको परदेसी-जैसा अनुभव करते रहें हों तो कुछ अजब नहीं। इसीसे जर्मन इतिहास की हर शताब्दी में देश-निर्वासन होता आया है—निर्वासन की एक सुदीर्घ परंपरा बन गई है। प्रस्तुत संग्रह में ऐसे ही मनीषी निर्वासितों की रचनाएँ संकलित हैं। इन मुट्ठी-भर प्रवासियों ने सर्वसाधारण की बर्बर क्षमाहीनता के विरुद्ध बार बार विद्रोह किया था, लेकिन इनकी आवाज़ जनता के तुमुल कोलाहल के ऊपर नहीं उठ सकी, अथवा उसका इस तरह गला घोंट दिया गया कि कोई उसे कभी सुन ही नहीं पाया।

सच बात तो यह है कि हर जगह ऐसे अपांक्तेय निर्वासितों की एक संख्या है : अंग्रेज़ हैं इंग्लैण्ड से बाहर, फ्रेंच हैं फ्रान्स से बाहर और भारतवासी भी हैं भारतवर्ष से बाहर। किंतु जब बर्नार्ड शा के मखमली व्यंग्य अथवा रोमे रोलाँ की मर्मस्पर्शिणी वाणी के साथ हम हाइने के तिलमिला देनेवाले व्यंग्य, गेटे के कटु और तीक्ष्ण भ्रमनिवारण अथवा नीत्शे की अनाविल घृणा की तुलना करते हैं तभी हम जान पाते हैं कि दोनों में कितना बड़ा प्रभेद है।

पुस्तक का प्रकाशन बहुत मौक़े से हुआ है—खासकर भारत के लिये। अनिश्चित और अप्रामाणिक कल्पनाओं के प्रचार से इस देश में जर्मनो के संबंध में नाना भ्रमपूर्ण धारणाएँ फैल गई हैं। ऐसी पुस्तक की सख्त ज़रूरत थी जो समाज-मनोविज्ञान की दृष्टि से जर्मन साहित्य की परख करे, उसकी महानता और क्षुद्रता में भेद कर सके और खतरे के उन बादलों से हमें सावधान करे जो हमारी ही लापरवाही से सिर पर घिरते आ रहे हैं।

—ए० एरन्सन

राजस्थान में हिंदी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज (प्रथम भाग)—
लेखक, पं० मोतीलाल मेनारिया एम्. ए. ; प्रकाशक हिंदी विद्यापीठ, उदयपुर ; मूल्य ३)

यह ग्रन्थ हिंदी विद्यापीठ उदयपुर का महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है। इस पुस्तक के लेखक श्रीयुत मेनारिया जी ने उदयपुर के विभिन्न पुस्तकालयों में सुरक्षित १२००' ग्रन्थों की १४०० प्रतियाँ देखी हैं। उनमें उन्होंने फ़िलहाल ३०० के नोटिस लिए हैं जिन में काग़ज की दुर्मूल्यता के कारण सिर्फ १७५ ग्रन्थों (२०१ प्रतियों) का विवरण इस भाग में प्रकाशित किया जा सका है। मेनारिया जी ने उदयपुर के प्रसिद्ध सरस्वती भंडार के ग्रन्थों को १०० वर्ष से भी अधिक काल के बाद देखा है। सन् १८३४ के बाद किसी भी दूसरे व्यक्ति को इसे सांगोपांग रूपमें

देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ था। इस खोज का महत्त्व इसी बात से प्रकट है कि इसमें ४४ ग्रन्थकारों के रचे हुए ऐसे ५० ग्रन्थों का पता चला है जिनके नाम मिश्रबंधु-विनोद में नहीं हैं। कुल मिलाकर ८० के लगभग ग्रन्थ इस खोज में नये मिले हैं। खोज में केवल पुस्तकों के नाम-धाम बताकर ही कर्तव्य को समाप्त नहीं कर दिया गया है, आरंभ में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका देकर पाठकों को राजस्थानी साहित्य में प्रवेश करने योग्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। जब कि अन्यान्य प्रादेशिक साहित्य-सम्मेलन और विद्यापीठ ऊपरी ऊपरी बातों में ही अपनी शक्ति व्यय कर रहे हैं, राजस्थान साहित्य-सम्मेलन की प्रेरणा पर उदयपुर हिंदी विद्यापीठ का यह कार्य बहुत ही उत्साह-प्रद है। मेनारियाजी सरस्वती भंडार के ऐसे अन्य ग्रन्थों का भी विवरण संग्रह करते जो संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश में लिखे गए हैं तो बहुत अच्छा होता। हिंदी की संस्थाएँ अपना माध्यम हिंदी रखकर संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंश आदि के साहित्यों का भी अनुसंधान करें तो अच्छा हो। हिंदी हमारा माध्यम है, यही भाव मन में रहना चाहिए। इस अनुकरणीय प्रयत्न के लिये उदयपुर का हिंदी विद्यापीठ बधाई का पात्र है।

—ह० द्वि०

औपनिवेशिक स्वराज्य या वैधानिक परिषद्—ले० श्री राजनारायण यादवेन्दु; प्रकाशक—नवयुग-साहित्य-निकेतन, राजामण्डी, आगरा, यू० पी०; पृ० सं० ७६; मूल्य ॥=)

प्रस्तुत पुस्तिका में कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि ब्रिटिश उपनिवेशों में स्वायत्त-शासन के विकास का ऐतिहासिक विवेचन किया गया है। साथ ही हमारे देश भी राजनीति में अत्यधिक प्रयुक्त शब्द 'वैधानिक-परिषद्' अथवा 'स्वराज्य-पंचायत' के ऐतिहासिक स्वरूप और कार्य-पद्धति का भी विभिन्न दृष्टियों से विवेचन किया गया है। पुस्तिका जानकारी से भरी हुई है। अवश्य ही लेखक के परिणामों से पाठकों को मतभेद हो सकता हैं। 'स्वराज्य-पंचायत' के बारे में गांधीजी के विभिन्न वक्तव्यों को उद्धृत करके लेखक ने यह नतीजा निकाला है कि गांधीजी ब्रिटिश-शासन की मातहती में 'स्वराज्य-पंचायत' का आयोजन नहीं चाहते, जैसा कि आस्ट्रेलिया में हुआ था। लेकिन बात ऐसी नहीं हैं। गांधीजी के वक्तव्य स्पष्ट ही एक क्रान्ति की प्रक्रिया में ध्वंस हुई ब्रिटिश सत्ता के बाद 'स्वराज्य-पंचायत' की कल्पना नहीं करते।

पुस्तक में पृ० ३१ पर लिखा है "तत्कालीन भारत-मंत्री स्व० मान्टेग्यु चेम्सफ़ोर्ड···"। वास्तव में मांटेग्यु-चेम्सफ़ोर्ड सुधार के साथ लिए जानेवाले उक्त नाम में दो नाम शामिल हैं। मांटेग्यु थे भारत-मंत्री और चेम्सफ़ोर्ड भारत के वाइसराय। आशा है, यह भद्दी भूल अगले संस्करण से पहले ही सुधार दी जायगी।

—सुरेन्द्र बालूपुरी

बंगला छन्द की प्रकृति

प्रबोधचन्द्र सेन

[मेरे पास बंगाल के बाहर के विद्वानों के ऐसे पत्र आए हैं जिनमें बंगला छन्दों के बारे में प्रश्न किए गए हैं। कुछ ऐसे ही पत्र 'विश्वभारती पत्रिका' के संपादक श्रीहजारीप्रसाद द्विवेदी जी के पास भी आए हैं। द्विवेदीजी ने मुझे बताया है कि ऐसे पत्र महाराष्ट्र बिहार और युक्तप्रान्त से आए हैं और उनमें उठाए गए प्रश्नों से जान पड़ता है कि बंगाल के बाहर बंगला छन्दों की वैज्ञानिक आलोचना की जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। साधारणतः संस्कृत उच्चारण और छन्दोनियमों से बंगला छन्दों के समझने की चेष्टा के कारण प्रश्नकर्त्ता सज्जनों के मन में कई प्रकार की शंकाएँ उपस्थित हुई हैं। इस लेख से बंगला उच्चारण की विशेषता और उसका संस्कृत के नियमों से प्रभेद दिखाकर मैंने बंगला छन्द की विशेषता बताने का प्रयत्न किया है। यथा-संभव गैर-बंगाली पाठकों का ध्यान रखकर ही यह लेख लिखा गया है।]

कविता का छन्द एक ध्वनि-संबंधी कला है। किन्तु इस ध्वनि का संबंध यंत्र से नहीं, मनुष्य के कंठ से है। हमारी कंठध्वनि की भी तीन विचित्र दिशाएँ हैं—(१) उसकी तीव्रता या 'पिच' से सम्बद्ध, (२) उसकी कालव्याप्ति या 'ड्यूरेशन' से संबद्ध और (३) उच्चारण के प्रस्वर या 'एक्सेण्ट' से संबद्ध। जहाँ तक कविता के छन्दोगठन का प्रश्न है वहाँ तक कंठस्वर की तीव्रतावाले रूप का कोई संबंध नहीं है जब कि यह तीव्रतावाला रूप ही संगीत-कला का प्राण है। हमारे साधारण उच्चारण के कालव्याप्तिमय और प्रस्वरमय रूप ही काव्य छन्द के प्रधान उपादान हैं। और एक तीसरा उपादान है यति या ध्वनि-विराम ('पाज़')। हम जब कुछ कहते रहते हैं या कुछ पढ़ते रहते हैं तो हमारी कंठध्वनि अविराम प्रवाह के रूप में नहीं बहती रहती, बल्कि नाना विचित्र भङ्गियों में बीच बीच में विरत होती रहती है। केवल बातचीत या गद्य पढ़ने के समय ही नहीं, कविता के छन्द पढ़ते समय भी ध्वनि की गति के समान ही यति भी अत्यन्त आवश्यक है। काव्य के छन्दोनिर्माण के समय ध्वनि की इस यति को नाना विचित्र कौशलों से काम में लगाना पड़ता है। इसलिये हमारी उच्चारित ध्वनि की कालव्याप्ति, प्रस्वर और यति ये तीनों ही बातें छन्दःशास्त्र की प्रथम और प्रधान बातें हैं। यहाँ हम इन तीनों के विषय में संक्षिप्त आलोचना करने जा रहे हैं। इसके पहले उस ध्वनि के विषय में थोड़ी चर्चा कर लेना नितान्त आवश्यक है जिसको लेकर ही छन्दःशास्त्र का कारबार है।

हम लोग यद्यपि आसानी से ही बातचीत किया करते हैं, पर ज़रा ध्यान से देखा जाय तो मालूम होगा कि किसी शब्द का उच्चारण करना बहुत आसान काम नहीं है। वाग्यंत्र को बहुत विचित्र पद्धतियों से संचालन करने के बाद कोई ध्वनि निकलती है। यह विषय उच्चारण-तत्त्व से संबद्ध है। छन्द की चर्चा करते समय यह ज़रूरी नहीं है कि हम उक्त विज्ञान की

प्रत्येक छोटी-बड़ी बातों की आलोचना करें, परन्तु जितना इस विषय के लिये नितान्त आवश्यक है उतने की चर्चा तो हमें करनी ही पड़ेगी।

वागूयंत्र के एक ही प्रयास से जो ध्वनि उच्चरित होती है उसे अंग्रेज़ी में 'सिलेबिल' कहते हैं; संस्कृत या हिंदी में ऐसा कोई शब्द नहीं है जिससे निस्सन्दिग्ध रूप में इस शब्द से प्रकट होने वाले भाव को प्रकट किया जाय। संस्कृत के वर्ण और अक्षर शब्दों से कभी कभी 'सिलेबिल' का भी भाव लिया जाता है और कभी कभी हरफ़ का भी। उदाहरण के लिये 'छन्दस्' शब्द को द्विवर्ण या द्व्यक्षर शब्द भी कहा जा सकता है और फिर यह भी कहा जा सकता है कि इस शब्द में ६ वर्ण या अक्षर हैं (छ्-अ-न्-द्-श-स्)। तो भी संस्कृत में वर्ण और अक्षर इन दो शब्दों का एक निर्दिष्ट अर्थ में व्यवहार भी हुआ है। छन्दःशास्त्र की पुस्तकों में इनका मतलब 'सिलेबिल' ही होता है, व्याकरण-शास्त्र में 'लैटर' या हरफ़ के अर्थ में भी प्रयोग होता है। हिंदी और बंगला दोनों ही भाषाओं में इन शब्दों का प्रयोग और भी अनिश्चित है। इनसे 'सिलेबिल' और हरफ़ दोनों का ही बोध होता है। वर्ण-परिचय, अक्षर-परिचय, निरक्षर आदि शब्दों में इनका अर्थ है हरफ़ या अक्षर। लेकिन साधारणतः अक्षर शब्द से बंगला में 'सिलेबिल' और हरफ़ दोनों का बोध होता है। उदाहरणार्थ, प्रचलित बंगला अर्थ में महत् शरत् आदि शब्दों में तीन अक्षर माने जाते हैं। साधारण बंगला अर्थ में पुण्यवान् और पुण्यवती इन दोनों शब्दों में चार चार अक्षर होते हैं यद्यपि यह स्पष्ट है कि पुण्यवान् में तीन 'सिलेबिल' हैं और पुण्यवती में चार। हरफ़ भी दोनों में बराबर नहीं हैं। इसीलिये बंगला में सिलेबिल के लिये वर्ण या अक्षर शब्द का व्यवहार करना युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि उस शब्द का वैज्ञानिक परिभाषा के रूप में व्यवहार नहीं होना चाहिए जिसके एकाधिक अर्थ हों। लेकिन इतना ही भर नहीं है। सिलेबिल के लिये वर्ण और अक्षर शब्द का व्यवहार न करने में और प्रबलतर युक्ति है। ये दोनों शब्द वस्तुतः शब्द के लिपि-रूप के ही बोधक हैं, ध्वनि-रूप के नहीं। उदाहरणार्थ, लिपिगत अक्षर के हिसाब से छन्द में दो अक्षर हैं, छ और न्द। किन्तु इस शब्द का सिलेबिल के रूप में ध्वनि-विभाग होता—छन् और द। इसका मतलब यह हुआ कि किसी शब्द का अक्षर-गत और सिलेबिल-गत विभाग एक नहीं हैं। वस्तुतः शब्द का अक्षर-विभाग उसके लिपि-रूप से संबंद्ध होता है और सिलेबिल-विभाग ध्वनि-रूप से या उच्चारण से। इस कारण से भी अक्षर और सिलेबिल को समानार्थक नहीं माना जा सकता।

यह जानी हुई बात है कि ध्वनि का कारबार शब्द के ध्वनि-रूप से है, अर्थात् छन्द का विचार करते समय हमारे लिये उसके लिपि-विभाग या अक्षर विवेच्य नहीं हैं, बल्कि उच्चारण-विभाग या सिलेबिल ही विचारणीय विषय है। इसीलिये बंगला में और अन्यान्य भारतीय भाषाओं में भी सिलेबिल के लिये अक्षर को उसका समार्थक मानना ठीक नहीं है, बल्कि इसके लिये कोई नया प्रतिशब्द व्यवहार करना ही वाञ्छनीय जान पड़ता है। बंगला छन्दों के सिलसिले में हम सिलेबिल के लिये "ध्वनिव्यष्टि" या केवल "ध्वनि" शब्द का व्यवहार करेंगे। जैसे, छन्द (छन्-द) और संगीत (सं-गीत्) शब्दों में दो दो ध्वनियाँ है, किन्तु रवीन्द्र (र-वीन्-द्र), कल्पना (कल्-प-ना) प्रभृति शब्दों में तीन तीन ध्वनियाँ हैं। यह कहना ही व्यर्थ है कि स्वरवर्ण की सहायता के बिना ध्वनि का उच्चारण नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरवर्ण ही ध्वनि का प्राण

होता है। वस्तुतः व्यंजनवर्णों से जिनका संस्पर्श नहीं है ऐसे प्रत्येक स्वरवर्ण को भी एक एक स्वतंत्र ध्वनि के रूप में स्वीकार करना चाहिए। इसीलिये प्रत्येक ध्वनि में अनधिक एक पूर्णस्वर होना ही चाहिए और किसी शब्द में स्वरों की संख्या जितनी होगी उतनी ही ध्वनियों की भी संख्या होगी। जैसे कवि, छन्द आदि में ध्वनि की संख्या दो है, क्योंकि स्वरों की संख्या भी उतनी ही है। कविता, रवीन्द्र आदि में स्वर-संख्या तीन है इसलिये ध्वनि की संख्या भी उतनी ही होगी। इसीलिये द्विध्वनिमय शब्दों को द्विस्वर और त्रिध्वनिमय शब्दों को त्रिस्वर शब्द कहा जा सकता है।

इसलिये ध्वनि की कालव्याप्ति का विचार करते समय ध्वनि के प्राण-स्वरूप स्वरवर्ण के ह्रस्व-दीर्घ का विचार करना आवश्यक है। जो बात गैरबंगाली पाठकों को अधिक सावधानी से जान रखनी चाहिए वह यह है कि यद्यपि बंगला की वर्णमाला में संस्कृत के अनुसार ही अ, आ इ ई प्रभृति ह्रस्व और दीर्घ स्वर रखे गए हैं तथापि ह्रस्व और दीर्घ की यह सुनिर्दिष्ट रीति बंगला उच्चारण से बिल्कुल मेल नहीं खाती। हिंदी आदि आधुनिक भाषाओं और संस्कृत प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं में यह उच्चारण-रीति ठीक उन भाषाओं की उच्चारण-प्रकृति के अनुकूल है। बंगला में संस्कृत के ह्रस्वस्वरों का उच्चारण तो ह्रस्व है ही, अधिकन्तु दीर्घस्वरों का उच्चारण भी ह्रस्वत्व-प्राप्त हो गया है। बंगला छन्द बंगाली जनता की स्वाभाविक उच्चारण-रीति पर अवलंबित है अतः संस्कृत के दीर्घ स्वरों की दीर्घता बंगला छन्दों में स्वीकृत नहीं हुई है। बंगला उच्चारण और बंगला छन्द में दिनेश और दीनेश इन दो शब्दों के ध्वनिकाल-संबंधी मूल्य में कोई पार्थक्य नहीं है। इसी प्रकार उमा और ऊषा शब्दों की कालव्याप्ति समान ही है। लेकिन कोई शब्द या शब्दांश ह्रस्वस्वरान्त हो या दीर्घस्वरान्त, यदि वह एक-ध्वनिमय या 'मोनो-सिलेबिक' है तो बंगला में उसका उच्चारण दीर्घान्त ही होता है, इसलिये ऐसी ध्वनियाँ बंगला छन्द में भी दीर्घ ही मानी जाती हैं। चा, ना, मा, घि, के आदि शब्दों के स्वर ज़रा प्रलंबित भाव से ही उच्चारित होते हैं किन्तु चाका, नारी, माके, छिनु, छिपि इत्यादि में जो चा, ना, मा आदि हैं उनका उच्चारण ह्रस्व ही है। इसका कारण यह है कि चाका, नारी प्रभृति शब्दों की आदिध्वनियाँ स्वतंत्र भाव से उच्चारित नहीं होती; परवर्ती ध्वनियों के संस्पर्श में आकर वे ह्रस्वत्व को प्राप्त हुई हैं। चा, ना आदि एकध्वनिमय शब्द सुविधानुसार परवर्ती शब्दों के साथ युक्त होकर ही उच्चरित होते हैं, क्योंकि साधारण तौर पर ये अकेले या पृथक्‌रूप में उच्चारित नहीं होते। पूर्ववर्ती या परवर्ती ध्वनियों के साथ उच्चारित होने के कारण इनकी कालव्याप्ति में भी संकोच होता है। बंगला छन्दों में एक-ध्वनिमय स्वरान्त शब्दों का स्वतंत्र उच्चारण बहुत कम होता है इसीलिये उनके दीर्घत्व का दृष्टान्त भी कम ही मिलता है। स्वतंत्र उच्चारण के सिवाय और भी किसी किसी जगह बंगला स्वरान्त शब्दों का दीर्घ उच्चारण होता है पर छन्दों के मामले में उसकी ज़रूरत नहीं है इसलिये हम यहाँ उसकी चर्चा नहीं कर रहे।

व्यावहारिक दृष्टि से बंगला की स्वर ध्वनियाँ ६ ही हैं—अ, आ, इ, उ, ए, ओ। कालव्याप्ति की दृष्टि से ये साधारणतः ह्रस्व ही उच्चारित होती हैं। एकार का उच्चारण बंगला में दो प्रकार का है—संवृत और विवृत। लेखा, शेखा, भेद आदि शब्दों में यह संवृत रूप में है और देखा, एका (जिनका उच्चारण दैखा, ऐका-जैसा होता है) विवृत रूप में। संवृत रूप

ही एकार का मूल संस्कृत उच्चारण है।' कालव्याप्ति की दृष्टि से ये दोनों ही उच्चारण बंगला में ह्रस्व होते हैं, यद्यपि अवस्था-विशेष में अन्यान्य स्वरध्वनियों की भाँति इनका उच्चारण भी दीर्घ या प्रलंबित हो सकता है।

ऋकार को बंगला में विशुद्ध स्वर के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता क्योंकि इसका उच्चारण-रूप है 'रि' जो स्पष्टतः ही स्वरान्त व्यंजन है। फिर भी संस्कृत रीति के अनुसार ऋ को एक स्वतंत्र स्वरध्वनि के रूप में उच्चारण करने का प्रयास देखा जाता है। वैसे कृपा, मातृ, मसृण आदि शब्दों का जो उच्चारण है वह क्रिपा, मात्रि, मस्रिण से भिन्न नहीं है क्योंकि यहाँ ऋ को पूर्णतः 'रि' के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। किन्तु विकृत, स्वीकृत, प्रभृति आदि शब्दों को विक्रित, प्रभ्रिति के रूप में उच्चारण नहीं किया जाता। वस्तुतः बंगला में विक्रित आदि शब्दों का उच्चारण है विक्-क्रित, प्रभ्-भृति आदि और विकृत प्रभृति आदि का उच्चारण है वि-क्रित, प्र-भ्रिति। दूसरी तरफ़ बंगला छन्दों में अनादृत सरीसृप आदि शब्दों का उच्चारण अना-द्रित और अनाद्-द्रित तथा सरी-स्रिप और सरीस्-स्रिप दोनों ही तरह से हुआ करता है। ऐसी अवस्था में 'ऋ' को न तो पूरा स्वर ही कह सकते हैं और न पूरा 'रि' ही। इसलिये इसे अर्द्धस्वर कहना ही समीचीन जान पड़ता है। कालव्याप्ति के हिसाब से यह स्वर सदा ह्रस्व है, कभी भी प्रलंबित नहीं होता।

जो हो, बंगालियों की उच्चारित स्वरध्वनियों में संस्कृत के समान सुनिर्दिष्ट दीर्घ-ह्रस्व-भेद नहीं है और बंगला लिपि-रीति में भी स्वरध्वनियों के ह्रस्व-दीर्घ-प्रदर्शन की कोई सुसमंजस व्यवस्था नहीं है। एक और बात है जिसने बंगला को संस्कृत से अलग विशिष्टता दी है। वह है स्वरध्वनि का अयुग्म-युग्म-भेद। संस्कृत स्वरमाला की प्रायः सब ध्वनियाँ अयुग्म हैं, सिर्फ दो स्वरों में युग्म ध्वनियाँ हैं। वे हैं ऐ और औ। ये दोनों किसी भी अन्य विशुद्ध ध्वनि के दीर्घायित या प्रलंबित रूप नहीं हैं। वस्तुतः ये दो दो स्वतंत्र ध्वनियों के संश्लिष्ट रूप हैं। ऐ का वास्तविक उच्चारण है अइ् और औ का अउ्। इसीलिये बंगला में खै और खइ, बौ और बउ ये दो दो रूप चलते हैं। इसीलिये इन दोनोंको दीर्घस्वर न कहकर युग्म स्वर या द्वैत स्वर कहना ही उचित है। प्रचलित संकृत व्याकरण और छन्दःशास्त्र में इन दो ध्वनियों का यथार्थ स्वरूप स्वीकृत नहीं होता। जो हो, यदि इन दो स्वरों को युग्म स्वर ('डिफ्थाङ्') कहा जाय तो अ आ इ आदि को अयुग्म स्वर ('मोनोफ्थाङ्') कहना पड़ेगा।

संस्कृत स्वरवर्णमाला में युग्म स्वर सिर्फ दो हैं किन्तु बंगाली के कंठाश्रित स्वरों में युग्मस्वर अनेक हैं—कम से कम सत्रह तो हैं ही। जैसे अइ् या ऐ (उच्चा० ओइ्) अउ् या औ (उच्चा० ओउ्), अओ्, आइ् आउ्, आए् (= आय्) आओ्, इउ्, उइ्, एउ्, एओ्, ऐए्, ऐओ्, ओए् (= ओय्), ओओ्। यह कहना बाहुल्य मात्र है कि दो स्वरध्वनियों के पास-पास रहने से ही युग्मस्वर नहीं उत्पन्न हो जाता। परवर्ती स्वर का उच्चारण जब पूर्ववर्ती स्वर पर निर्भर होता है तभी दोनों मिलकर एक युग्मस्वर बनाते हैं। उदाहरण के लिये बंगला जाओ (उच्चा० = जाव् के आसपास) में ओ का उच्चारण आ पर अवलंबित होने से दोनों मिलकर एक युग्म स्वर बन गए हैं, पर येओ (उ०=जेयो) में ए और ओ स्वतंत्र भाव से उच्चरित होते हैं अतएव भिन्न भिन्न अयुग्म स्वर हैं। युग्मस्वर का प्रथमांश स्वाधीन होता है और दूसरा पहले पर निर्भरशील अर्थात्

युग्मस्वर के प्रथमार्ध को आश्रयदाता और द्वितीयार्ध को आश्रित कहा जा सकता है। इसीलिये युग्मस्वर को 'आश्रितान्त स्वरध्वनि' भी कहा जा सकता है। पास पास रहनेवाले दो स्वरों से युग्मस्वर का बनना बताने के लिये आश्रित स्वर को किसी चिह्न से चिह्नित करना चाहिए। हमने '्' इस चिह्न का प्रयोग किया है और इसका नाम आश्रय चिह्न दिया है। साधारणतः इस चिह्न को हल् (= व्यंजन) चिह्न कहने की प्रथा है पर यदि हम इसी नाम से इसे पुकारें तो युग्मस्वर के आश्रित स्वर पर इसे नहीं लगा सकते, क्योंकि वह स्वर हल् (= व्यंजन) नहीं है। इसीलिये 'आश्रय चिह्न' शब्द ही उचित जान पड़ता है। यहाँ यह कह रखना ज़रूरी है कि छन्द की आलोचना के समय युग्म ध्वनि को ज़रूरत के मुताबिक द्वैत ध्वनि या आश्रितान्त ध्वनि कह सकते हैं और इसीलिये अयुग्म ध्वनि को अनाश्रितान्त स्वर कह सकते हैं। युग्म स्वर (जैसे शिउ्लि में 'शिउ्') और व्यंजनान्त स्वर (जैसे छन्द में 'छन्') दोनों का ग्रहण होगा। फिर अनुस्वार और विसर्ग को व्यंजन ध्वनि ही मानना उचित है, इस प्रकार 'दुःख' शब्द में का प्रथमार्ध युग्मध्वनि है।

हमने पहले ही देखा है कि बंगाली के उच्चारण में समस्त अयुग्मस्वरान्त ध्वनियाँ साधारणतः ह्रस्व (अर्थात् अल्पकालव्यापी) समझी जाती हैं। कोई ध्वनि दृश्यमान लिपि में दीर्घस्वरान्त लिखी जाने पर भी बंगला उच्चारण और श्रुति में ह्रस्व ही स्वीकार की जाती है। इसीलिये छन्द में भी ह्रस्वध्वनि की मर्यादा ही पाती है। जैसे, प्रीति और माला शब्दों की प्रत्येक ध्वनि ही बंगाली के मुँह और कान के लिये ह्रस्व है, यही कारण है कि छन्दोरचना में भी उसका मूल्य वैसा ही है। यद्यपि, जैसा कि पहले ही कहा गया है, अवस्था-विशेष में सभी अयुग्म स्वरान्त ध्वनियाँ दीर्घ हो सकती है, पर छन्दों में ऐसा कम ही होता है।

बंगला छन्द में युग्मध्वनि की कालव्याप्ति संबंधी प्रयोग अत्यन्त विचित्र है और इन ध्वनियों के प्रयोग-कौशल पर ही छन्द का वैचित्र्य बहुत-कुछ निर्भर करता है। युग्मध्वनियों का कालव्याप्ति संबंधी परिमाण सुनिर्दिष्ट नहीं होता। अवस्था-विशेष में उसके उच्चारण में तारतम्य आ जाता है अर्थात् एक अवस्था में जो युग्मध्वनि ह्रस्व उच्चारित होगी वही दूसरी अवस्था में दीर्घ भी उच्चारित हो सकती है। हम इस कालव्याप्ति के ह्रास और वृद्धि को संकोचन और प्रसारण कहेंगे। छन्द में युग्मध्वनि का संकुचित ह्रस्व रूप और संप्रसारित दीर्घरूप ही स्वीकृत होता है, इन दोनों की कोई मध्यवर्ती अवस्था नहीं मानी जाती। युग्मध्वनि के संश्लिष्ट उच्चारण में संकोच होता है और विश्लिष्ट उच्चारण में प्रसार होता है।

वैज्ञानिक आलोचना के लिये विभिन्न द्रव्यों के माप के लिये एक पैमाना स्थिर करना आवश्यक होता है। छन्द के लिये भी कालव्याप्ति की मात्रा का माप जानना आवश्यक है। जिस आदर्श परिमापक से किसी वस्तु का माप निर्णय किया जाता है उसे अनेक समय 'मात्रा' कहा जाता है। कहना बेकार है कि द्रव्य-भेद से वह परिमापक 'मात्रा' भी भिन्न हो जाती है और अवस्था भेद से एक ही द्रव्य विभिन्न मात्राओं की सहायता से मापा जाता है०। संस्कृत के छन्दःशास्त्र में ध्वनि के कालगत परिमाप के लिये एक ही मात्रा है। ह्रस्व स्वर या ह्रस्वस्वरान्त ध्वनि के उच्चारण में जो समय लगता है उसे मात्रा कहा गया है। इसीसे संस्कृत में ध्वनियों का परिमाण मापा जाता है। इसीका विशिष्ट नाम है 'कला' और इसीका साधारण नाम है 'मात्रा'। संस्कृत छन्द में ध्वनि के एकाधिक परिमापक नहीं हैं इसलिये कला और मात्रा में

कोई अर्थगत अन्तर नहीं है ; अन्तर होने का कोई अवकाश भी नहीं है। किन्तु बंगला में यह बात नहीं है, वहाँ मात्रा शब्द के अर्थ को लेकर गोलमाल होने की संभावना है। इसीलिये मेरे विचार से बंगला में ध्वनिकालगत के आदर्श परिमापक को कला कहने से ही अर्थ की गड़बड़ी की आशंका नहीं रहेगी। अर्थात् कला ही ध्वनि के परिमाण-निर्णय की मात्रा है।

जो हो, बंगला में ध्वनि-परिमाप के प्रधान विषय ये हैं—(१) अयुग्मध्वनि साधारणतः एक कला मानी जाती है, (२) अयुग्म ध्वनि यदि अवस्था-विशेष में प्रलंबित भाव से उच्चारित हो तो उसका परिमाण दो कला के समान होता है, (३) संश्लिष्ट भाव से उच्चारित अर्थात् संकुचित युग्मध्वनि का परिमाण एक के बराबर होता है और (४) संप्रसारित युग्मध्वनि का परिमाण दो कला के समान होता है। प्रथम नियम सर्वत्र समान भाव से प्रयोज्य है किन्तु द्वितीय नियम का व्यवहार बहुत कम होता है। तृतीय और चतुर्थ नियम कहाँ किस भाव से प्रयुक्त होता है इसपर छन्द की रीति और प्रकृति अधिकांश में निर्भर करती है। यहाँ यह कह रखना उचित है कि छन्द में संगीत की नाईं ऐसा कभी नहीं होता कि कोई ध्वनि संकुचित होकर एक कला से कम हो जाय या प्रसारित होकर दो कला से अधिक हो जाय। अर्थात् छन्दोरचना में आधी चौथाई प्रभृति भिन्न-गत मात्राएँ नहीं होती और तीन या चार जैसी बहुमात्रिक ध्वनियाँ भी साधारणतः नहीं होती। बंगला में प्रीति और माला शब्दों में प्रायः सर्वदा ही दो कलाएँ मानी जाती हैं। 'छन्द' शब्द में अवस्था-विशेष में कभी दो और कभी तीन कलाएँ गिनी जाती हैं। इसी प्रकार संगीत चंचल प्रभृति शब्दों में कभी चार और कभी तीन कलाएँ मानी जाती हैं। किस प्रकार छन्द-विशेष में ध्वनियों की कला-गणना की जाती है, इसकी चर्चा फिर कभी की जायगी।

भक्तिभाजन

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

रथयात्रा लोकारण्य महा धूमधाम,
भक्तेरा लुटाये पथे करिछे प्रणाम।
पथ भावे आमि देव रथ भावे आमि,
मूर्ति भावे आमि देव, हासे अन्तर्यामी।

(भावानुवाद)

रथयात्रा की भीड़ में धूमधाम सब ओर,
पथ पर झुक झुक भक्तजन करते प्रणति अथोर।
पथ, रथ, मूर्ति सभी यही सोचें—मैं हूँ देव।
अन्तर्यामी देवता हँसते लखकर भेव॥

अपनी बात

गुरुदेव की पुण्यतिथि

पूज्य गुरुदेव की प्रथम पुण्यतिथि गत श्रावणी पूर्णिमा को सारे भारतवर्ष में मनाई गई। शान्तिनिकेतन में वह जिस रूप में मनाई गई उसका एक विशेषत्व है। इसका कारण सहज ही समझ में आ सकता है। शान्तिनिकेतन में उनकी उज्ज्वल आत्मा की ज्योति आश्रम के सूक्ष्म वातावरण में साफ़ झलकती हुई नज़र आती है। पद-पद पर उनकी याद आती है क्योंकि उसका हर एक कण उनकी स्मृति से जड़ित है।

श्राद्ध के दिन गुरुदेव के गीतों से आश्रम मुखरित था। बार-बार उनकी चरणध्वनि हृदय में सुनाई देती थी और मन यह गवाही देता था कि अगर गुरुदेव आज हमारे बीच होते तो अपने शान्त स्वभाव के अनुसार आज भी ज़ोर से सारे जगत को शान्तं शिवं अद्वैतम् का मन्त्र सुनाते,—वह मन्त्र जिस पर उन्होंने सारा जीवन ध्यान किया था। चारों तरफ़ अशान्ति है, अनर्थ है और जो एक है उसको टुकड़े टुकड़े कर के, सीमाबद्धकर के, रखने का झगड़ा हर जगह चल रहा है, ऐसे वक्त में गुरुदेव के प्रति श्रद्धा प्रगट करने का केवल एक ही तरीक़ा है। उनकी तरह हम भी अपनी तुच्छ आत्मिक शक्ति के अनुसार शान्तं शिवं अद्वैतं का अपने अपने जीवन में अमली जामा पहनाएँ।

गान्धीजी

इस वक्त सारे संसार में अगर कोई एक ऐसा महापुरुष है जिसने शान्तं शिवं अद्वैतं मन्त्र को अपने जीवन में उतारा है तो वह महात्मा गान्धी हैं। उनको उनके ७४ वें जन्मदिन पर हम प्रेम-पूर्वक प्रणाम करते हैं। गांधीजी को स्मरण करते करते मालूम हो जाता है कि शान्ति का प्रचार करना इस दुनिया में यद्यपि कठिन है, फिर भी उस शान्ति को पाया जा सकता है। उसे पहले स्वयं अपने हृदय में पाना होगा। अपना जीवन शिवं की सेवा में खर्च कर डालना ही उसका एकमात्र उपाय है। और शिवं है क्या? अद्वैतं में अगाध दृढ़ विश्वास। क्योंकि जब तक उस एक प्रभु में हमारा पूरा विश्वास नहीं होगा तब तक हमारा जीवन या कार्य कल्याणमय नहीं हो सकता। बहुत से लोग प्रभु में विश्वास तो रखते हैं पर स्वार्थ की सीमा तक। जब उनका अपना या उनकी अपनी जाति या धर्ममण्डली या अपने देश का कल्याण होता रहता है तब तक उनका प्रभु अच्छा है। लेकिन जब वही प्रभु और जातियों या देशों का कल्याण करता है तब उनका प्रभु उनके लिये एक "विशेष संस्करण" का रूप धारण करता है। यहीं से मारामारी शुरू होती है। आजकल जो-कुछ हो रहा है वही इसका प्रमाण देता है।

गुरुदेव ऋषि थे और कवि थे। गान्धीजी भी ऋषि और कवि हैं। अंग्रेजी भाषा में "कवि" शब्द का अर्थ "निर्माता" है। तो क्या गान्धीजी ने अपने कर्ममय जीवन को

शान्तं शिवं अद्वैतं मन्त्र की एक कविता नहीं बनाई ? आज इस शुभ अवसर पर हम भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि विश्व के कल्याण के लिये और समस्त मानवता के आत्यन्तिक हित के लिये महात्माजी दीर्घायु हों और हमारा मार्ग-प्रदर्शन करते रहें ।

—गुरुदयाल मल्लिक

साहित्यिक गोष्ठी, संभाषण और प्रवचन

साहित्यिक स्फूर्ति और प्रेरणा पाने के लिये साहित्य-सेवियों का परस्पर मिलना आवश्यक है । हालही में पं० बनारसीदास जी चतुर्वेदी ने साहित्यिक गोष्ठियों, संभाषणों और प्रवचनों के के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण लेख लिखा है । उसका आवश्यक अंश हम उद्धृत कर रहे हैं—

"कई वर्ष तक लगभग एकान्तवास करने के बाद हमें यह कटु अनुभव हुआ कि उपयुक्त साहित्यिक वातावरण के अभाव में अच्छे लेखों के मज़मून ही नहीं सूझते । साहित्यिक रचनाओं लिये एक खास वायुमण्डल चाहिए । साहित्यिक गोष्ठियों का महत्त्व इसीलिये है कि उनमें लेखकों तथा कवियों को एक दूसरेके निकट सम्पर्क में आने के अवसर मिलते हैं । ये गोष्ठियाँ महीने में तीन बार से अधिक न होनी चाहिए, बल्कि बेहतर यही होगा कि वे पन्द्रह दिन बाद की जावें । साप्ताहिक गोष्ठी का क्रम हमारे यहाँ कुछ दिन चला था ; पर वह निभ नहीं सका । प्रति सप्ताह नवीन विषय भी तो बातचीत के लिये नहीं मिल सकते ।

"साहित्यिकों के लिये कोई भी विषय त्याज्य नहीं । राजनैतिक, सामाजिक, शिक्षा-संबंधी अथवा साहित्यिक समस्याओं पर विचार किया जा सकता है । हाँ, साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक विषयों से यथासंभव दूर रहना चाहिए ; क्योंकि उनसे व्यर्थ वाद-विवाद उठ खड़ा होगा और मनोमालिन्य उत्पन्न हो जायगा ।

"कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने आत्म-चरित में इस बात पर खेद प्रकट किया था कि अब साहित्यिक मजलिस की प्रथा बिल्कुल उठ-सी गई है । लोग एक दूसरे से मिलने जाते हैं ; पर व्यापार, कारबार इत्यादि मतलब की बातें करने के लिये । बैठक पर सांस्कृतिक या साहित्यिक वार्तालाप करने के लिये शायद ही कोई जाता हो । महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के उदारतापूर्ण आतिथ्य से उनके कुटुम्ब के बाल-बच्चों को कितना लाभ हुआ होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है । जो महानुभाव अपनी सन्तान के लिये सुसंस्कृत वातावरण चाहते हैं उन्हें अपने यहाँ विद्वानों को निमंत्रण करना ही चाहिए । किन्तु किसी एक ही साधन-सम्पन्न व्यक्ति द्वारा की जानेवाली साहित्यिक गोष्ठियों में एक खतरा है, वह यह कि कहीं संरक्षकता का भाव उन में प्रवेश न कर जाय । उस दशा में वे मध्यकालीन युग के दरबारी चापलूसों की बैठक बन जावेंगी ।

"सच्चे साहित्यिक स्वाधीन सिंहों की तरह हैं और उन्हें पालतू बनाकर सरकस खोलने का प्रयत्न हास्यास्पद है ।

"स्फूर्तिप्रद सम्भाषण दुर्लभ वस्तु हैं । निम्न कोटि के मज़ाक करने वाले गप्पी आदमियों की बात हम नहीं कहते, क्योंकि वे तो सर्वत्र सुलभ हैं । हलारा अभिप्राय उन आदमियों से है जिनके वचनों के पीछे कोई दृढ़ व्यक्तित्व है और जो अपने जीवन में कोई हृदय भी रखते

हैं। सुकरात से किसी बुद्धिमान पुरुष ने कहा था, 'जीवन की माप उन घंटों से है जो आप जैसे महापुरुषों से सम्भाषण करते हुए बीते हों।' यदि हम हिसाब लगाने बैठें तो पता लग जायगा कि जीवन भर में ऐसे दिनों की संख्या कितनी कम है जब हमें उत्साहप्रद बातचीत सुनने के लिये मिली हो। वास्तव में भारत का वह युग सतयुग था, जब भगवान महावीर या भगवान गौतम बुद्ध जंगम तीर्थों के रूप में इस भूमि को पवित्र कर रहे थे। आज भी भिन्न भिन्न धर्मों के उपदेशक उनकी नक़ल कर रहे हैं, पर उनमें से अधिकांश की वाणी ओजहीन है। मूर्ख जनता को छोड़कर और कोई उनसे प्रभावित नहीं हो सकता। घंटे भर की बातचीत से आपको पता लग सकता है कि धर्म का धंधा करनेवाले ये महानुभाव मनुष्यता की सबसे नीची सीढ़ी पर खड़े हुए हैं; बल्कि यों कहना चाहिए कि बैठे हैं। मुख्य प्रश्न यह नहीं है कि आप क्या कहते हैं; पर यह कि आप क्या करते हैं?

"जिन व्यक्तियों के मन, वचन और कर्मों में सामञ्जस्य है, उन्हींके सदुपदेशों को हम प्रवचन के नाम से पुकार सकते हैं।

"यहाँ हम अपनी रुचि की एक बात कह दें। टेबिल मैनर्स वाली बातचीत हमें बिल्कुल कृत्रिम जंचती है। जहाँ पर किसी प्रकार का बन्धन है, कृत्रिमता है अथवा दिखावट है वहाँ उच्च कोटि का स्फूर्तिप्रद वार्तालाप हो ही नहीं सकता।

"यद्यपि हम साहित्य-सेवियों के लिये गोष्ठियों की आवश्यकता मानते हैं; पर एकान्त उनके लिये और भी ज्यादा ज़रूरी है। उस साहित्यिक से अधिक दयनीय कोई भी अन्य प्राणी नहीं जो दूसरों के मनोरंजन का साधन बन जाय। थोरो से जब कभी कोई कहता था कि मैं आपके साथ टहलने के लिये चलना चाहता हूँ तो वे प्रायः अस्वीकार ही कर देते थे। हम लोगों को यह बात न भूलनी चाहिए कि गोष्ठी अथवा एकान्त दोनों का उद्देश्य एक ही होना चाहिए, अपने-अपने व्यक्तित्वों का विकास। जो भी चीज़ इसमें बाधक हो, उसे तुरन्त त्याग देना चाहिए। पालतू अथवा फालतू प्राणियों का संग्रह करना हमारा लक्ष्य थोड़े ही है। इस दुनिया में ऐसे महानुभावों की संख्या कम नहीं है जो दिन भर खूब पैसा कमाकर शाम को किसी साहित्य-सेवी के द्वारा अपना मनोरंजन करना चाहते हैं। जिस किसीको गम्भीर और ठोस साहित्यसेवा करनी है उसे अपने समय की रक्षा करनी पड़ेगी, चाहे निरर्थक आगन्तुकों के साथ उसे अशिष्टता का बर्ताव ही करना पड़े।

"आज जब कि सम्पूर्ण देश में एक भिन्न प्रकार का वायुमंडल तय्यार हो रहा है, हमें एक बात हर्गिज़ न भूलनी चाहिए; वह यह कि हमारे विनोद तथा आनन्द सर्वथा निर्दोष हों और उनमें किसी प्रकार का भी हलकापन न आने पावे। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, साहित्यिकों के लिये कोई भी विषय त्याज्य नहीं; पर उस विषय पर जो वाद-विवाद हो, उसमें तदनुरूप गम्भीरता होनी चाहिए।"

आज की सामाजिक कृपणता

गुरुदेव ने अपनी 'जीवन स्मृति' में ऐसी गोष्ठियों के उठ जाने पर भी बड़ा दुःख प्रकट किया है जो निरुद्देश आनन्दके लिये होती थीं। वह हमारे देश की सामाजिक

उदारता का उत्तम निदर्शन थीं। आज उनके न रहने से हम सामाजिक कृपणता के शिकार हुए हैं—

"उन दिनों की बात जितना ही सोचता हूँ उतना ही मेरे मन में सिर्फ एक ही बात उठती है, उन दिनों 'मजलिस' नामक एक वस्तु थी जो आज उठ गई है। पहले के ज़माने में जो एक निविड़ सामाजिकता थी उसकी मानों अन्तिम अस्तच्छटा हमने अपने बाल्यकाल में देखी थी। उन दिनों आपस का मिलना-जुलना खूब घनिष्ठ था इसीलिये मजलिस उन दिनों की एक आवश्यक सामग्री थी। जो लोग मजलिस जमा सकते थे उनका उन दिनों विशेष आदर होता था। आजकल लोग काम-काज के लिये आते हैं, लेकिन बैठक गुलज़ार करने कोई नहीं आता। लोगों को समय भी नहीं हैं, घनिष्ठता भी नहीं है। उन दिनों घर में कितने ही लोगों का आना-जाना चलता रहता, हँसी मज़ाक ओर वार्तालाप से बरामदा और बैठकखाना मुखरित होता रहता। चारों ओर से नाना श्रेणी के लोगों को जमा लेना और उनके साथ हँसी मज़ाक और वार्तालाप जमा देना एक शक्ति है—वह शक्ति आज न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गई है। मनुष्य है फिर भी वे बरामदे और बैठकखाने मानों सूने हो गए हैं। उन दिनों के आसबाब-आयोजन, क्रिया-कर्म, सभी बाहर के दस आदमियों के लिये होते थे—इसीलिये उनके भीतर जो तड़कभड़क थी वह उद्धत नहीं दिखती थी। आजके बड़े आदमियों की गृहसज्जा उन दिनों की अपेक्षा कहीं अधिक है लेकिन वह निर्मम है, वह बिना हिचक और झिझक के उदार भाव से बुलाना नहीं जानती—खुले बदन, मैली चादर, और हँसते चेहरे वहाँ बिला हुकुम प्रवेश करके आसन जमाकर नहीं बैठ सकते। हमने आज जिन लोगों की नकल करके घर बनाना और सजाना शुरू किया है, उनके भी अपने ढंग का समाज है और उनकी सामाजिकता भी बहुत व्याप्त है। हमारी कठिनाई यह है कि हमारी अपनी सामाजिक पद्धति भी टूट गई है, साहेबी सामाजिक पद्धति गढ़ डालने का कोई उपाय भी नहीं है—फल यह हुआ है कि प्रत्येक घर निरानन्द हो गया है। आजकल काम के लिये, देशहित के लिये, दस आदमियों को जुटाकर हम सभा किया करते हैं किन्तु और कुछ के लिये नहीं, सिर्फ दस आदमियों के लिये ही दस आदमियों को जमा करके बैठना—मनुष्य को मनुष्य अच्छा लगता है, सिर्फ इसी बात के लिये मनुष्यों को एकत्र करने के नाना उपलक्ष्यों की सृष्टि करना—यह बात आजकल एक दम उठ गई है। इतनी भद्दी सामाजिक कृपणता के समान भोंडी चीज़ दुनिया में कोई और नहीं जान पड़ती इसीलिये उन दिनों जिन लोगों ने प्राण-खुली हँसी की ध्वनि से प्रतिदिन संसार के भार को हल्का कर रखा था, आज उनको देखने से ऐसा जान पड़ता है जैसे वे किसी और देश के रहनेवाले हों।"